卐 अनन्तशक्तिसम्पन्न श्री अनन्तजिनाय नमः 卐

आत्मवैभव

श्री समयसार के परिशिष्ट में भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा वर्णित ४७ आत्मशक्तियों पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के विशिष्ट प्रवचन

गुजराती लेखक :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

ॐ

अनन्त शक्तिसम्पन्न श्री अनन्त जिनाय नमः

आत्मवैभव

श्री समयसार के परिशिष्ट में भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव
द्वारा वर्णित ४७ आत्मशक्तियों पर पूज्य गुरुदेवश्री
कानजीस्वामी के विशिष्ट प्रवचन

गुजराती लेखक :

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2079

वीर संवत
2549

ई. सन
2022

—: प्रकाशन :—
श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का
आचार्यपदवी आरोहण दिवस के पावन अवसर पर
दिनांक 16 दिसम्बर 2022

—: प्राप्ति स्थान :—
1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

ॐ

श्री चैतन्यऋद्धिधारी सन्तों को नमो नमः

प्रकाशकीय

श्री वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में से सम्प्राप्त निजवैभव से भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने श्री समयसारजी शास्त्र जो कि अद्वितीय जगत चक्षु है, उसकी अपूर्व रचना की है, समर्थ टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अनन्त शक्तिमान आत्मा की अनन्त शक्तियों में से ४७ शक्तियों का अलौकिक वर्णन समयसार के परिशिष्ट में किया है। इस प्रकार श्री समयसार के रचयिता और टीकाकार दोनों धर्मधुरंधर आचार्य भगवन्तों ने निज वैभव की अत्यन्त प्रसिद्धि की है।

वीतरागी सन्तों की परम्परा में अपूर्व चैतन्यऋद्धिधारी परमपूज्य आत्मज्ञ सन्त गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने समयसार में वर्णित ४७ शक्तियों का गहन अवगाहन करके सूक्ष्म रहस्यपूर्ण प्रवचनों द्वारा निजात्मवैभवनिधान स्पष्ट किये हैं। जगत के समक्ष ऐसे अमूल्य चैतन्यनिधान की प्रसिद्धि करने के बदले उक्त सर्व महात्माओं को अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार करके उनका उपकार स्मरण करते हैं।

४७ शक्तियों के इन प्रवचनों का अत्यन्त उल्लसित भाव से गुजराती भाषा में संकलन करके ब्रह्मचारी श्री हरिलालभाई ने पूज्य गुरुदेवश्री से सम्प्राप्त किया हुआ वैभव अत्यन्त सावधानी पूर्वक इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है, तदर्थ उन्हें धन्यवाद के साथ ही उनका आभार मानते हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ की अनेक हिन्दी भाषी मुमुक्षु भाई-बहिनों द्वारा हिन्दी भाषा में प्रकाशन की माँग को देखते हुए सभी हिन्दी भाषी मुमुक्षु जन भी इसका लाभ प्राप्त करें, तदर्थ प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां, राजस्थान द्वारा किया गया है।

इस आत्मवैभव पुस्तक में प्रगट किया हुआ बहुत मूल्यवान वैभव कि जिसके समक्ष जगत के सर्व लौकिक वैभव अत्यन्त तुच्छ भासित होते हैं, उसका संग्रह सब मुमुक्षु अपने हृदय में करें और चैतन्यानन्द का आस्वादन करें, इसी भावना के साथ।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

हमारे आत्मवैभव द्वारा कहा जाता है—

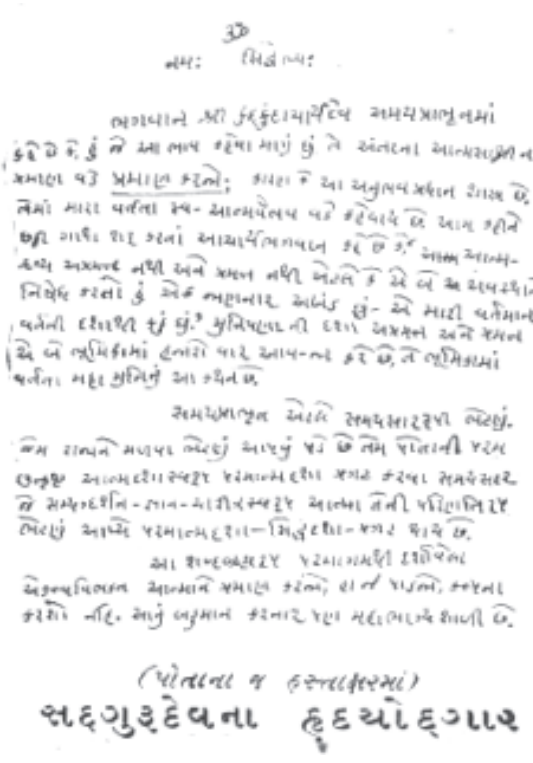

ભગવાન શ્રી કુન્દકુન્દચાર્યદેવ
સમયપ્રાભૃત મેં કહતે હૈં કિ મૈં જો યહ
ભાવ કહના ચાહતા હૂઁ, ઉસે અન્તર કે
આત્મસાક્ષી કે પ્રમાણ દ્વારા પ્રમાણિત
કરના, ક્યોંકિ યહ અનુભવપ્રધાન
શાસ્ત્ર હૈ, ઇસમેં મેરે વર્તતે હુએ નિજ
આત્મવૈભવ દ્વારા કહા હૈ – ઐસા કહ
કર છઠવીં ગાથા કા પ્રારમ્ભ કરતે હુએ
આચાર્ય ભગવાન કહતે હૈં કિ
'આત્મદ્રવ્ય અપ્રમત્ત નહીં હૈ ઔર પ્રમત્ત
નહીં હૈ; અર્થાત્, ઇન દોનોં અવસ્થાઓં
કા નિષેધ કરતા હુઆ મૈં એક જાનનહાર
અખણ્ડ હૂઁ' – યહ મૈં અપની વર્તમાન
વર્તતી દશા સે કહતા હૂઁ। મુનિપને કી
દશા, અપ્રમત્ત ઔર પ્રમત્ત – ઇન દોનોં
ભૂમિકાઓં મેં હજારોં બાર આતી-જાતી
રહતી હૈ, ઉસ ભૂમિકા મેં વર્તનેવાલે મહામુનિ કા યહ કથન હૈ।

સમયપ્રાભૃત અર્થાત્, સમયસારરૂપી ભેંટ! જિસ પ્રકાર રાજા સે મિલને કે લિએ ભેંટ દેના આવશ્યક હૈ; ઉસી પ્રકાર જો અપની પરમ ઉત્કૃષ્ટ આત્મદશાસ્વરૂપ પરમાત્મદશા કો પ્રગટ કરને કે લિએ સમયસાર અર્થાત્ સમ્યગ્દર્શન-જ્ઞાન-ચારિત્રસ્વરૂપ આત્મા કો, અપની પરિણતિરૂપ ભેંટ દેતા હૈ, ઉસે પરમાત્મદશા યા સિદ્ધદશા પ્રગટ હોતી હૈ।

ઇસ શબ્દબ્રહ્મરૂપ પરમાગમ સે દર્શાએ હુએ એકત્વ-વિભક્ત આત્મા કો પ્રમાણ કરના, હાઁ હી કરના; કલ્પના મત કરના, ઇસકા બહુમાન કરનેવાલા ભી મહાભાગ્યશાલી હૈ।

(– ગુરુદેવશ્રી કે સ્વહસ્તાક્ષરિત ગુજરાતી અંશ કા હિન્દી રૂપાન્તર)

— समर्पण —

आत्मवैभव प्राप्त करने की पावन प्रेरणा प्रदान कर जो इस बालक के जीवन में महान उपकार कर रहे हैं—

—ऐसे स्वानुभवी सन्तों को परम भक्तिपूर्वक अर्पण।

—हरि (ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

'आत्मस्वरूप को प्रसिद्ध करनेवाले ये प्रवचन अद्‌भुत हैं, जैनशासन के अनेक रहस्यों को, विशेषरूप से आत्मअनुभव के उपाय को गुरुदेव ने इन प्रवचनों में बारम्बार इस प्रकार घोंटा है कि शान्तचित्त से इनका स्वाध्याय करने से चैतन्यपरिणति मानो कि आत्मस्वभाव के आसपास घूमती हो... ऐसा लगता है। शुद्ध चैतन्यतत्त्व की महिमा तो इन प्रवचनों में धारावाहीरूप से भरपूर है... चैतन्यमहिमारूपी डोरी के आधार से ही यह लेखमाला गूँथी हुई है, इसलिए इसका सलंग स्वाध्याय करते-करते मुमुक्षु आत्मार्थी जीवों को ऐसी चैतन्यमहिमा जागृत होती है कि मानो अभी ही उसमें उतरकर उसका साक्षात् अनुभव कर लें.... वास्तव में इन प्रवचनों द्वारा 'आत्मप्रसिद्धि' की राह बतलाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जीवों पर महा उपकार किया है। इन प्रवचनों के लेखन में उपयोग के समय, उसमें दर्शाये गयी आत्ममहिमा का बारम्बार घोंटने होने से मेरी आत्मरुचि को बहुत पोषण मिला है; और वह रुचि आगे बढ़कर भगवान आत्मा की प्रसिद्धि के मेरे पुरुषार्थ को सफल बनाओ—ऐसी परम कृपालु गुरुदेव के चरणों में मेरी नम्रभाव से प्रार्थना है।'

— 'आत्मप्रसिद्धि' पुस्तक के निवेदन में से लिया हुआ ऊपर का लेख इस 'आत्मवैभव' पुस्तक को भी उतना ही लागू पड़ता है।

निवेदन

जगत में जो कुछ सुन्दरता, पवित्रता और विभुता है, वह सब तेरे चेतन में ही भरी है—ऐसी अपनी आत्मपरिणति द्वारा प्रसिद्ध करके जगत को जिन्होंने दर्शाया है, ऐसे भगवन्त अरिहन्तदेव को हृदय में स्थापित करके नमस्कार करता हूँ; कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा अमृतचन्द्राचार्य इत्यादि मुनिभगवन्त —कि जिन्होंने निज-आत्मवैभव द्वारा जगत को आत्मवैभव दर्शाया, उन्हें, और उनकी वाणीरूप जिनवाणी माता को नमस्कार करता हूँ।

समयसार में आचार्य भगवान ने 'ज्ञायकभाव' दिखलाया है। ज्ञायकभाव अर्थात् अनेकान्तस्वरूप शुद्ध आत्मा। उस आत्मा के 'ज्ञानमात्रभाव' में समाहित अनन्तशक्तिरूप वैभव ४७ शक्तियों के वर्णन द्वारा आचार्यदेव ने प्रसिद्ध किया है। यह आत्मशक्तियाँ पूज्य गुरुदेव को अतिशय प्रिय है; आज तक समयसार पर १४ बार प्रवचन पूर्ण हुए हैं तथा दो बार इन शक्तियों पर अलग प्रवचन हुए हैं अर्थात् कुल १६ बारह इन शक्तियों पर विस्तृत प्रवचन हुए हैं। उसमें बीस वर्ष पहले संवत् २००४ में जो आठवीं बार के प्रवचन हुए, वे विशिष्ट चैतन्यमस्ती से भरपूर थे; वे प्रवचन, उनमें आगे-पीछे दूसरे चार बार के प्रवचनों का सार लेकर, 'आत्मप्रसिद्धि' पुस्तकरूप से पूर्व में प्रकाशित हो चुके हैं।

तत्पश्चात् जैसे-जैसे बारम्बार इन ४७ शक्तियों पर प्रवचन होते गये, वैसे-वैसे इनके गहन रहस्य अधिक से अधिक खुलते गये। उसमें यह (१४वीं बार के) प्रवचन बहुत-बहुत आत्ममहिमा से भरपूर थे; वे ही प्रवचन गुरुदेवश्री की प्रेरणा झेलकर इस 'आत्मवैभव' रूप से प्रसिद्ध हुए हैं। प्रवचनों के दौरान हुए इस विषय से लगती चर्चा इत्यादि भी इसमें समाहित कर दी गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीमुख से इन प्रवचनों के श्रवण के समय तो परम उल्लास और बहुमान जगता ही था, तदुपरान्त इन प्रवचनों को पुस्तकारूढ़ करते समय डेढ़ वर्ष तक आत्मशक्तियों का बहुत-बहुत घोलन हुआ, सभी पहलुओं से उन्हें विचार करने पर गुरुदेव के हृदय के अधिक से अधिक गहन रहस्य समझ में आते गये... और इन शक्तिस्वभावों का कितना गहन मंथन कर-करके गुरुदेव ने इनके भाव खोले हैं, यह देखकर आश्चर्यसहित परम भक्ति से हृदय खिल उठता था और उसके वेदन के लिये आत्मा झनझना उठता था! गुरुदेव को यह आत्मशक्तियाँ कितनी प्रिय हैं!—यह आत्मवैभव कितना प्रिय है—इसका ख्याल इससे आयेगा कि प्रतिदिन प्रातः चार बजे जागृत होकर गुरुदेव अन्तरमंथनरूप से जो स्वाध्याय-मनन करते हैं, उसमें नियमितरूप से प्रतिदिन इन ४७ शक्तियों का पर्यटन वे करते हैं; मात्र पर्यटन ही नहीं परन्तु, 'अभी भी इसकी गहराई में से कुछ नया रहस्य निकलेगा' ऐसी लगनी से अधिक से अधिक गहरा मंथन करते हैं और किसी-किसी समय उसमें से अपूर्व भाव उल्लसित हो जाते हैं।

गुरुदेव को परम प्रिय ऐसी इन आत्मशक्तियों के प्रवचन शीघ्र प्रकाशित हों और जगत के जीव आत्मवैभव को जाने, इसके लिए भी गुरुदेव को बहुत ही लगन थी; जैसे पद्मप्रभमुनिराज को नियमसार की टीका के लिये बारम्बार मन में घोलन होता था, उसी प्रकार गुरुदेव को भी इन आत्मशक्तियों की प्रसिद्धि के लिये बारम्बार घोलन होता था; बारम्बार वे इसके लिए परम वात्सल्य भरी प्रेरणा प्रदान करते थे। यद्यपि यह कार्य बहुत बड़ा था और उस समय की परिस्थिति अनुसार मेरी अल्प शक्ति देखते हुए इतने बड़े कार्य की जवाबदारी सिर पर लेने की हिम्मत नहीं होती थी; परन्तु एक बार गुरुदेव के श्रीमुख से 'यह शक्तियाँ हरिभाई के हाथ से लिखी जाये तो अच्छा' ऐसे कृपा भरपूर उद्‌गार सुनकर, मुझमें इस कार्य के लिये हिम्मत जागृत हुई, गुरुदेव के एक वाक्य ने मुझे अपार शक्ति प्रदान की, और मैंने उत्साह से मेरी शक्ति को इस कार्य में केन्द्रित करके जैसे बने वैसे समय पर पुस्तक तैयार हो जाये तदर्थ प्रयत्न किया। इस कार्य को गुरुदेव का ही एक उत्तम कार्य समझकर अतिशय भक्तिपूर्वक सर्वांग सुन्दर बनाने के लिये मैंने प्रयत्न किया है। और इस प्रवचन में गुरुदेव के भाव सम्पूर्णरूप से बने रहें, इसकी मैंने पूरी सावधानी रखी है। जब इस पुस्तक का तैयार हुआ लेखन वाँचने के लिये गुरुदेव से प्रार्थना की, तब गुरुदेव ने कृपापूर्वक सम्मति प्रदान करते हुए कहा कि 'तुम्हारा लिखा हुआ है, इसलिए वाँचने की आवश्यकता नहीं, छपाना चालू करा दो।'

गत वर्ष मगसर शुक्ल १२ को जब गुरुदेव पालेज—जिनमन्दिर के दशवर्षीय महोत्सव प्रसंग पर पालेज विराजमान थे, तब मंगल मुहूर्तरूप से इस पुस्तक का पहला फर्मा वहाँ भेजा था, उसे देखकर गुरुदेव ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। यद्यपि गत वैशाख महीने में जन्म-जयन्ती प्रसंग पर यह पुस्तक प्रकाशित कर देने की भावना थी, परन्तु उस दौरान यात्रा-प्रवास में जयपुर उत्सव, बयाना में जीवन्तस्वामी-सीमन्धरनाथ की प्राचीन प्रतिमा के दर्शन, शिखरजी तीर्थ की यात्रा इत्यादि महान प्रसंगों में पूज्य गुरुदेव के साथ ही प्रवास का महान लाभ महाभाग्य से मुझे प्राप्त हुआ... इसलिए उस दौरान लगभग छह महीने इस कार्य में विलम्ब हुआ। सोनगढ़ आने के पश्चात् यह कार्य शीघ्रता से एकधारा शुरु हुआ... गुरुदेव की भी प्रेरणा मिली... और गुरुदेव की कृपा के प्रताप से आज यह 'आत्मवैभव' अपने को मिल रहा है.... मुझे स्वयं को भी कल्पना नहीं थी कि आत्मवैभव का संकलन इतना सुन्दर भावभीना होगा! वास्तव में महात्माओं की मीठी नजर जिस कार्य में पड़ती है, वह कार्य अतिसुन्दर बन जाता है।—महात्माओं का ऐसा ही कोई प्रभाव है। आज यह 'आत्मवैभव' देखकर, और इस प्रकार गुरुदेव के इस कार्य की पूर्णता देखकर मुझे ऐसी प्रसन्नता होती है कि मानों अब गुरुप्रताप से मेरा आत्मवैभव साधने का कार्य पूर्ण होने की तैयारी ही हो! हे गुरुदेव! आपश्री के मंगल आशीर्वाद-प्रताप से मैं मेरा आत्मवैभव साधूँ—यही प्रार्थना।

वीर संवत् २४९४ मागसर शुक्ल एकम्
सोनगढ़

— ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से

मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में

कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा

पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

ॐ

सम्पूर्ण आत्मवैभवधारी नेमिनाथजिनाय नमः

नेमिवैराग्यधाम-सहस्त्राम्रभवन में आत्म वैभव का मंगलाचरण

(संवत् २४९२, वैशाख कृष्ण दूज)

हे प्रभु! सम्पूर्ण संसार से आत्मवैभव खोलने के लिये आप यहाँ—गिरनार के सहस्त्रभ्रवन में पधारे; अन्तर में देखे हुए निजात्म वैभव का, मुनि होकर आप प्रचुर संवेदन करने लगे और फिर इसी वन में शुद्धोपयोग की उग्र धारा द्वारा क्षपकश्रेणी में आरूढ़ होकर आपने केवलज्ञान प्रगट किया। महा आनन्द प्रगट किया; आत्मा का समस्त वैभव आपको प्रगट हो गया। अहा! उस आत्मवैभव की क्या बात!

समयसार में ४७ शक्ति द्वारा अमृतचन्द्राचार्यदेव ने आत्मवैभव की अपार महिमा प्रसिद्ध की है। उसे अनुसरकर, उस आत्मवैभव का विस्तृत विवेचन करके पूज्य कानजीस्वामी आत्मवैभव की प्राप्ति का पन्थ बतला रहे हैं। आत्मवैभव में सम्पूर्ण प्रगटने के आपके इस शान्तधाम में मैं भी इस आत्मवैभव को भाता हूँ—चिन्तवन करता हूँ।

अहा! कैसा यह उपशान्त धाम! और कैसा अचिन्त्य चैतन्यवैभव! जिस स्थान में आत्मवैभव साधने के लिये आपने अन्तर में लीन होकर मुनिपना प्रगट किया और वापस उग्र जहाँ आपने सम्पूर्ण आत्मवैभव को खोला तथा जहाँ दिव्यध्वनि द्वारा करोड़ों-अरबों जीवों को यह आत्मवैभव दिखलाया, ऐसे इस दीक्षाकल्याणक और ज्ञानकल्याणक धाम में आपने दर्शाया हुआ आत्मवैभव खोलने की शुरुआत होती है। अन्तर के मेरे भाव में और बाहर में इस लेखन में—दोनों प्रकार से 'आत्मवैभव' को शीघ्र पूर्ण करने, हे नेमिजिनेन्द्र! मैं आपको मेरे हृदय में स्थापित करता हूँ।

महामंगलरूप यह आत्मवैभव स्व-पर का कल्याण करो।

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ क्रमांक
अनन्त शक्ति का उपोद्घात	१
जीवत्वशक्ति	११
चितिशक्ति	२७
दृशिशक्ति	४१
ज्ञानशक्ति	४७
सुखशक्ति	५७
वीर्यशक्ति	६९
प्रभुत्वशक्ति	९३
विभुक्तशक्ति	१२९
सर्वदर्शित्वशक्ति	१४१
सर्वज्ञत्वशक्ति	१४९
स्वच्छत्वशक्ति	१६७
प्रकाशशक्ति	१७७
असंकुचितविकासत्वशक्ति	१९३
अकार्यकारणत्वशक्ति	१९९
परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति	२१३
त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति	२२५
अगुरुलघुत्वशक्ति	२३५
उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति	२४१
परिणामशक्ति	२६३
अमूर्तत्वशक्ति	२७३

विषय	पृष्ठ क्रमांक
अकृर्तत्वशक्ति	२८३
अभोक्तृत्वशक्ति	३०१
निष्क्रियत्वशक्ति	३१५
नियतप्रदेशत्वशक्ति	३१९
स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति	३२५
साधारण-असाधारण-साधारणासाधरणधर्मत्वशक्ति	३३१
अनन्तधर्मत्वशक्ति	३३५
विरुद्धधर्मत्वशक्ति	३३९
तत्त्वशक्ति, अतत्त्वशक्ति	३४३
एकत्वशक्ति, अनेकत्वशक्ति	३५३
भावशक्ति, अभावशक्ति	३६१
भाव-अभावशक्ति, अभाव-भावशक्ति	३७५
भाव-भावशक्ति	३९१
अभाव-अभावशक्ति	३९७
भावशक्ति	४११
क्रियाशक्ति	४२३
कर्मशक्ति	४२९
कर्तृशक्ति	४४३
करणशक्ति	४५३
सम्प्रदानशक्ति	४५९
अपादानशक्ति	४६९
अधिकरणशक्ति	४७५
सम्बन्धशक्ति	४८१

ॐ

अनन्तशक्तिसम्पन्न श्री अनन्त जिनाय नमः

आत्मवैभव

(समयसार के परिशिष्ट में वर्णित ४७ आत्मशक्तियों पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के विशिष्ट प्रवचन)

अनन्त शक्ति का उपोद्घात

आचार्य भगवान ने इस समयसार में 'ज्ञायकभाव' कहकर आत्मा का शुद्धस्वरूप बतलाया है। बहुत अलौकिक प्रकार से आत्मा का शुद्धस्वरूप 'ज्ञानमात्र' कहकर बतलाया है। उस ज्ञानमात्र आत्मा को स्वसन्मुखी ज्ञानलक्षण द्वारा अनुभव में लेने से उस अनुभव में अकेला ज्ञान ही नहीं आता, परन्तु ज्ञान के साथ आनन्द, प्रभुता, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि अनन्त धर्मोंसहित आत्मा अनुभव में आता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र आत्मा अनेकान्तस्वरूप है। ऐसे अनेकान्तस्वरूप आत्मा में ज्ञान के साथ कैसी-कैसी शक्तियाँ इकट्ठी परिणमती है, उसका आचार्यदेव ने अद्भुत वर्णन किया है; आत्मा की अनन्त शक्तियों का वैभव खुल्ला करके बतलाया है। जिसे आत्मा को जानना हो, जिसे सुखी होना हो और इस भवभ्रमण के दुःख से छूटना हो, उसे अनन्त शक्ति के वैभववाले आत्मा को पहिचानना चाहिए। एक-एक आत्मा अपनी अनन्त शक्ति से भरपूर भगवान है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ एक साथ रही हुई है और उसकी पर्याय क्रम-क्रम से होती है। अनन्त शक्ति में प्रत्येक शक्ति की पर्याय वर्तती है—इस अपेक्षा से तो अनन्त

शक्ति की अनन्त पर्यायें एक साथ ही हैं। कोई पहले थोड़ी सी शक्ति की पर्यायें परिणमे और फिर दूसरी शक्तियों की पर्यायें परिणमे—ऐसा शक्ति के परिणमन में क्रम नहीं है, एक साथ ही सभी शक्तियाँ परिणमती है परन्तु एक गुण की तीन काल सम्बन्धी जो अनन्त पर्यायें हैं, वे सभी पर्यायें एक साथ ही नहीं हो जाती परन्तु क्रम-क्रम से होती है। इस प्रकार अक्रमरूप एक साथ रहे हुए ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुण और उनकी क्रम-क्रम से होनेवाली निर्मल पर्यायें—ऐसे गुण-पर्यायों का पूरा पिण्ड ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होता है और उसे ही आत्मा कहते हैं। ज्ञानलक्षण द्वारा जो लक्षित हो, उसे आत्मा कहा जाता है।

✦ ज्ञानलक्षण द्वारा जड़ या परचीज़ लक्षित नहीं होती। ज्ञानलक्षण द्वारा राग लक्षित नहीं होता। ज्ञानलक्षण द्वारा मात्र एक गुण लक्षित नहीं होता;

✦ ज्ञानलक्षण द्वारा अनन्त गुण-पर्यायों का शुद्ध पिण्ड लक्षित होता है।

जिसे स्वतन्त्र होना हो, प्रभुता प्रगट करनी हो और धर्म प्रगट करना हो, उसे ऐसे गुण-पर्यायवाले अपने आत्मा की कीमत जानना चाहिए। रागरहित अपने अनन्त गुण-पर्याय से परिपूर्ण आत्मा के वैभव की कीमत होती है तो पर की और राग की कीमत उड़ जाती है। अर्थात् कि उसकी रुचि छूट जाती है और रुचि का वेग आत्मस्वभाव की ओर ढल जाता है।—यह सम्यग्दर्शन की पद्धति है।

भाई! वीतरागी सन्त तुझे तेरा आत्मवैभव दिखलाते हैं। तेरे आत्मा का अपार वैभव—जिसका पूरा कथन सर्वज्ञ की वाणी भी नहीं कर सकती, ऐसे निज वैभव को देखने का उत्साह तो कर। सच्चे हीरे को पहिचाने नहीं, तब तक काँच के झपकारे की कीमत लगती है, परन्तु जहाँ सच्चे हीरा को पहिचाने, वहाँ काँच के टुकड़े की कीमत उड़ जाती है। इसी प्रकार यह चैतन्य हीरा—जिसमें अनन्त गुण-पर्याय के पासा की चमक है। वह क्या चीज़ है, उसे जाने बिना अज्ञानी को देहादि के संयोग का या पुण्य के झपकारे का माहात्म्य तथा अधिकता भासित होती है परन्तु जो चैतन्य हीरा का सच्चा माहात्म्य जाने अर्थात् कि अपने अपार चैतन्य वैभव को जाने तो विकार का या संयोग का माहात्म्य रहे नहीं। इसलिए परिणति निजस्वभाव की ओर ढलने से उसमें निर्मल

ज्ञान-आनन्द का प्रगट परिणमन होता है। उसे 'आत्मा प्रसिद्ध हुआ' ऐसा कहने में आता है। पहले भी शक्तिरूप से तो ऐसा आत्मा था ही, परन्तु जब तक अन्तर्मुख होकर स्वयं अपने को अनुभव में नहीं लिया, वहाँ तक वह अप्रगट था और अनुभव में लेने पर प्रगट-प्रसिद्ध हुआ। उस प्रसिद्ध हुए आत्मा की शक्ति का यह वर्णन है। अर्थात् कि ज्ञानलक्षण द्वारा जो स्वानुभव में आया, उस आत्मा का वैभव कैसा है, उसका यह वर्णन है।

- ✦ देह की क्रिया से लक्षित हो, वह आत्मा नहीं
- ✦ राग लक्षण द्वारा लक्षित हो, वह आत्मा नहीं
- ✦ गुण-भेदरूपी विकल्प द्वारा लक्षित हो, वह आत्मा नहीं
- ✦ अन्तर में ढले हुए ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित हो, वह आत्मा।

— ऐसे लक्ष्यरूप आत्मा में विकार नहीं, संयोग नहीं। शुद्ध अनन्त गुण-पर्यायें उसमें समाहित है। अनुकूल निमित्त के संयोग मुझे लाभ करें और प्रतिकूल निमित्तों के घेरे मुझे नुकसान करते हैं—ऐसा जिसने माना, उसने आत्मा की महत्ता को नहीं जाना परन्तु संयोग की महत्ता मानी है। उसने संयोग को अपने में माना परन्तु संयोग से पृथक् अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा को नहीं जाना।

भाई! आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने पर उसमें कितना वैभव समाता है, उसे यदि तू जाने तो तुझे पर की-संयोग की-विकार की और अल्पज्ञता की महिमा नहीं रहती। उनकी महिमा छूटकर आत्मा के स्वभाव की महिमा-रुचि-दृष्टि जगे और अनन्त गुण की निर्मलता खिलने लगे अर्थात् कि मोक्षमार्ग शुरु हो। पर की-विकार की और अल्पज्ञता की महिमा में अटके, वहाँ तक परिणति वहाँ से हटकर स्वभावसन्मुख कभी होती नहीं।

अनन्त गुण होने पर भी आत्मा में ज्ञानमात्रपना किस प्रकार है? उसके उत्तर में ४७ शक्तियों का अलौकिक वर्णन करके आचार्यदेव ने 'ज्ञानमात्र' का अनेकान्तपना सिद्ध किया है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहा, वह तो पर का और विकार का उसमें अभाव बतलाने को कहा है। परन्तु ज्ञानमात्र कहने पर वह स्व-रूप से सत् है और पर-रूप से

असत् है।—ऐसा अनेकान्तपना आ ही जाता है। 'ज्ञानमात्र' आत्मा है, वह स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं। यदि पररूप से भी सत् हो तो अपना अस्तित्व स्वतन्त्र न रहे। दूसरे के अस्तित्व में उसका अस्तित्व मिल जाये; और जैसे पररूप से असत् है, स्व-रूप से भी असत् हो तो आत्मा का अभाव हो जाये। इस प्रकार 'ज्ञानमात्र' कहने से उसमें सत्पना, असत्पना इत्यादि अनेक धर्म इकट्ठे हैं; इसलिए 'अनेकान्त' की स्वयमेव सिद्धि हो जाती है।

ऐसा अनन्त शक्तिवाला अपने आत्मा का स्वरूप है परन्तु जीव ने निजस्वरूप को कभी लक्ष्य में लिया नहीं। अनन्त शक्तिवाले अपने आत्मा को यदि एक सेकेण्ड भी लक्ष्य में ले तो अपूर्व कल्याण हो। यहाँ ज्ञानमात्र आत्मा में अनन्त धर्म समाहित हैं। ज्ञानमात्रभाव में अनन्त धर्मों की सिद्धि हो जाती है, वह यहाँ समझाना है। न समझ में आये, उसे ऐसा लगता है कि 'ज्ञान... ज्ञान' करते हैं, परन्तु भाई! 'ज्ञान' में तो अनन्त शक्तियों का महा खजाना भरा है। वह अनन्त गुण का खजाना खोलकर यहाँ सन्त तुझे बताते हैं।

भाई! तेरे आत्मा में अनन्त गुण हैं; वह प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न स्वभाववाले हैं। एक गुण दूसरे गुणरूप हो नहीं जाता, तथापि 'ज्ञानमात्र' निर्मल भाव में सब गुणों का रस एक साथ स्वाद में आता है। ज्ञान, आनन्द, जीवत्व, प्रभुत्व, अस्तित्व इत्यादि शक्ति के कार्य भिन्न-भिन्न हैं; ऐसी अनन्त शक्तियाँ एक आत्मा में एक काल में एक क्षेत्र में रही हुई है। उनमें लक्षणभेद से भिन्नता होने पर भी एक ज्ञानमात्र आत्मा के अनुभव में वे सभी शक्तियाँ समाहित हो जाती हैं। अहा, आत्मा की शक्ति की क्या बात! अचिन्त्य अनन्त जिसकी सामर्थ्य! एक-एक शक्ति भी बेहद स्वभाव के सामर्थ्य से भरपूर है और ऐसी अनन्त शक्ति के सामर्थ्य से भगवान आत्मा भरपूर है।

ऐसा आत्मा स्वानुभव से जब ज्ञानमात्ररूप से परिणमता है, तब वह ज्ञानमात्र परिणमन अनन्त शक्ति के निर्मल परिणमन से भरा हुआ है। एक समय की जाननक्रिया अनन्त गुणों के भावों को साथ में लेती प्रगट होती है। आनन्द और ज्ञान, स्वच्छता और प्रभुता, जीवत्व और कर्तृत्व—ऐसी अनन्त शक्तियाँ परिणमन में एक साथ उल्लसित होती है। पहले समय में एक, वह दूसरे समय में दूसरी—ऐसे क्रम-क्रम से शक्तियाँ

परिणमित नहीं होती परन्तु एक साथ सभी शक्तियाँ परिणमती है, इसलिए ऐसे आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने पर भी उसमें अनन्त धर्मरूप अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकाशित होता है।

भगवान तीर्थंकरदेव कहते हैं कि हमारे ज्ञान में अनन्त धर्म ज्ञात होने पर भी हमने आत्मा को ज्ञानमात्र कहा, उसका क्या करण? कि ज्ञानमात्र कहकर पूरा आत्मा लक्ष्यगत कराया है। ज्ञान में प्रसिद्ध है, इसलिए उसके द्वारा अनन्त गुणवाला पूरा आत्मा प्रसिद्ध कराया है। उस ज्ञानमात्र आत्मा के परिणमन में अनन्त गुणों का वैभव एक साथ परिणमित होता है। भाई! तेरा आत्मवैभव तो देख! पिताजी का उत्तराधिकार क्या है, उसकी घर के भण्डार में खोज करता है। तो यहाँ केवली भगवान परमपिता तुझे तेरे स्वघर का भण्डार बताते हैं, उसे तो एक बार प्रेम से देख! तेरा वैभव देखने से तुझे परम आनन्द होगा।

जैसे पिता अपने सुपुत्र को वैभव का उत्तराधिकार सौंपे और पुत्र उत्साह से उसे सम्हाले; उसी प्रकार यहाँ आत्मा की अनन्त शक्तिरूप वैभव का उत्तराधिकार सर्वज्ञपिता साधकजीवरूपी सुपुत्रों को सौंपते हैं, और साधक जीव परम प्रेम से आत्मवैभव को सम्हालते हैं। मुनि तो बड़े नन्दन हैं। केवलज्ञानी के बड़े पुत्र हैं और समकिती वह केवलज्ञानी का छोटा पुत्र है। भले छोटा, परन्तु है तो सर्वज्ञ का उत्तराधिकारी! सर्वज्ञपिता की पूँजी उसने देखी है अर्थात् आत्मा के अनन्त गुण का वैभव उसने स्वानुभव से देखा है। पिता की पूँजी क्या है, वह देखना नहीं और उनका उत्तराधिकारी होना है—यह कैसे हो सकता है? इसी प्रकार तीर्थंकर पिता सर्वज्ञदेव ने अनन्त शक्तिरूप जो आत्मवैभव कहा है, उस वैभव को जानना नहीं और उनके उत्तराधिकारी (मोक्षमार्गी) होना है—यह कैसे हो सकता है? भगवान ने प्रगट किये हुए अनन्त शक्तिरूप आत्मवैभव को जो जानता है, वही भगवान का वास्तविक नन्दन कहलाता है, वह सर्वज्ञ का उत्तराधिकारी हुआ और अब अल्प काल में स्वयं सर्वज्ञ होगा। अहो! आत्मा के वैभव की ऐसी बात सन्त सुनाते हैं, उसे सुनते हुए किसे उल्लास नहीं आयेगा?

हे भाई! ज्ञानमात्र तेरा आत्मा, उसमें एकसाथ अनन्त शक्तियाँ उल्लसित होती है; उल्लसित होती है अर्थात् परिणमती है। उन शक्तियों को प्रदेशभेद नहीं; आत्मा के असंख्य प्रदेश में से अमुक भाग में एक शक्ति और दूसरी शक्ति दूसरे भाग में—ऐसा उनमें

क्षेत्रभेद नहीं है। प्रत्येक शक्ति आत्मा के सर्व प्रदेशों में भरी हुई है, अर्थात् जो ज्ञान का क्षेत्र है, वही आनन्द का क्षेत्र है, वही प्रभुता का क्षेत्र है, वही वीर्य का क्षेत्र है, ऐसी सब शक्तियों को एकक्षेत्रपना है, जैसे क्षेत्रभेद नहीं, वैसे कालभेद भी नहीं है, अर्थात् एक शक्ति पहले परिणमे और दूसरी शक्ति बाद में परिणमे—ऐसा भेद उनमें नहीं है। क्षेत्र और काल से एक साथ होने पर भी प्रत्येक शक्ति का कार्य (लक्षण) भिन्न-भिन्न है, इसलिए लक्षणभेद है अर्थात् कार्य से भेद है, भाव से भेद है। यदि भावभेद न हो तो भिन्न-भिन्न अनन्त शक्तियाँ सिद्ध नहीं होती। जैसे कि जीवत्वशक्ति का कार्य आत्मा को चैतन्य प्राण से जिलाना; ज्ञान का कार्य जानना; (कार्य कहो या लक्षण कहो)। श्रद्धा का कार्य प्रतीति करना; चारित्र का कार्य लीनता करना; वीर्य का कार्य स्वरूप की रचना करना; सुख का का कार्य अनाकुल शान्ति का वेदन करना; प्रभुता का कार्य स्वतन्त्रता से शोभित होना; प्रकाशशक्ति का कार्य स्वयं—प्रत्यक्ष स्वानुभव करना;—इस प्रकार अनन्त शक्तियों को परस्पर लक्षणभेद—कार्यभेद अथवा भावभेद है परन्तु द्रव्यभेद नहीं, क्षेत्रभेद नहीं, कालभेद नहीं।

आत्मा में शक्तियाँ अनन्त होने पर भी उनका क्षेत्र तो असंख्य प्रदेशी ही है। असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र में अनन्त शक्तियाँ रही हुई हैं। अनन्त शक्ति को रहने के लिये क्षेत्र भी अनन्त चाहिए—ऐसा कुछ नहीं है। छोटे में छोटा क्षेत्रवाला जो एक परमाणु अथवा कालाणु, उसमें भी अनन्त शक्तियाँ रही हुई हैं। जितनी शक्तियाँ सिद्ध परमात्मा में है, उतनी ही शक्तियाँ एक-एक परमाणु में है। भले शक्ति की जाति में अन्तर है, परन्तु संख्या दोनों में समान।—जैसे कि आत्मा में चेतनशक्ति है तो परमाणु में जड़त्वशक्ति है। आत्मा में अरूपीत्व है तो परमाणु में रूपीत्व है। इस प्रकार जितनी शक्तियाँ आत्मा में है, उतनी ही शक्तियाँ परमाणु में है। अहा, एक प्रदेशी परमाणु में अनन्त शक्तियाँ!—कोई अचिन्त्य वस्तुस्वभाव है, वह तर्क का विषय नहीं। जिसका पार नहीं ऐसा आकाश द्रव्य, उसमें उसका अस्तित्व पूरा-पूरा है। उसी प्रकार आकाश के अनन्तवें भाग का जो एक प्रदेशी परमाणु, उसमें उसका अस्तित्व पूरा-पूरा है। वह भी अनादि-अनन्त अपने स्वतन्त्र अस्तित्व में रहा हुआ है।

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त शक्तिरूप अपना-अपना वैभव है, परन्तु यहाँ तो भगवान

आत्मा के वैभव की बात है। असंख्य प्रदेशी आत्मा अनन्त गुण से भरपूर है। असंख्य प्रदेशी आत्मवस्तु, वह गुणी और उसके सर्वक्षेत्र में सर्व काल में अनन्त शक्तिरूप गुण रहे हुए हैं।

मुमुक्षु : आत्मा एक, और उसे असंख्यप्रदेश हों?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; यह वस्तुस्थिति है। जैसे अरूपी आकाश एक अखण्ड द्रव्य होने पर भी, उसके प्रदेशों में परस्पर भेद है; यदि उस प्रकार का प्रदेशभेद न हो तो अनन्त प्रदेशीपना ही सिद्ध नहीं होगा। शास्त्र में इसका दृष्टान्त दिया है: जैसे कि—आकाश में दो मुनि ध्यान में बैठे हैं, तो उन दोनों मुनियों का क्षेत्र एक है या भिन्न? यदि एक क्षेत्र हो तो दो मुनि भिन्न नहीं रहते; और यदि दोनों मुनियों का क्षेत्र भिन्न है—ऐसा स्वीकार करो तो आकाश में भेदकल्पना सिद्ध हो गयी। अनन्त गुणस्वरूप जो एक अखण्ड आत्मद्रव्य, उसे असंख्यप्रदेशीपना है। उन प्रदेशों को एक-दूसरे के बीच भेद है (अर्थात् जो पहला प्रदेश है, वह दूसरा प्रदेश नहीं—ऐसा भेद है), परन्तु असंख्य प्रदेश में रही हुई जो अनन्त शक्तियाँ, उनमें परस्पर प्रदेशभेद नहीं है। जहाँ जानने की शक्ति है, वहाँ ही सुख का वेदन है, प्रभुता का भी वहाँ ही है—ऐसी सब शक्तियाँ एक क्षेत्र में रही हुई है। जो ज्ञानशक्ति है, वही कहीं सुखशक्ति नहीं, परन्तु जहाँ ज्ञानशक्ति है, वहाँ ही सुखशक्ति है। इसलिए अनन्त शक्तियों में इस प्रकार भाव अपेक्षा से भेद होने पर भी क्षेत्र अपेक्षा से भेद नहीं है। ऐसा वस्तुस्वरूप है।

भाई! यह जो कुछ कहा जाता है, वे सब प्रकार तेरे आत्मा में ही है। यह कोई दूर-दूर की दूसरे किसी की बात नहीं है परन्तु—**'मेरो धनी नहिं दूर दिसन्तर, मोहिमें है मोहि सूझत नीके।'** आत्मा के स्वरूप में जो वैभव भरा है, उसकी यह बात है और स्वसंवेदन द्वारा ज्ञानी को वह स्पष्ट भासित होता है। स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष हो सके, ऐसा आत्मा का स्वरूप है। (यह बात १२वीं प्रकाशशक्ति में बहुत सरस आयेगी)।

जैसे उत्कृष्ट जाति के चावल पकने के लिये उसके योग्य क्षेत्र होता है, उसी प्रकार जहाँ केवलज्ञान और अनन्त आनन्द के चावल का पाक पके, वह क्षेत्र कौन सा? कि असंख्यप्रदेशी आत्मा ऐसा क्षेत्र है कि जिसमें अनन्त आनन्द की रेलमछेल पके और जिसमें केवलज्ञान का पाक पके। शरीर या विकारी पुण्य-पाप के भाव, वे कहीं आनन्द

पकने का क्षेत्र नहीं है। हे जीव! अनन्त ज्ञान-आनन्द के पाक पकने का धाम जो तेरा अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा, उसके स्वक्षेत्र में एकाग्र होने पर तेरी पर्याय में सम्यग्दर्शन—ज्ञान और आनन्द का अपूर्व फल पकेगा। अनन्त गुणसम्पन्न आत्मा के लक्ष्य से समय-समय में व्यवहार के अभावरूप और निश्चय के परिणमनरूप पाक पकता है। वही मोक्षमार्ग है और वही धर्म है।

आनन्द का पाक कहाँ पके? केवलज्ञान का पाक कहाँ पके? रत्नत्रय का पाक कहाँ पके? असंख्यप्रदेशी आत्मप्रदेश में ही वह सब पाक पकते हैं, परन्तु इसके लिये स्वसन्मुख रुचि का सिंचन चाहिए। भाई! यह तेरे स्वक्षेत्र की—स्वघर की बात है। जैसे घर के क्षेत्र की चारों दिशा बराबर निश्चित करते हैं, वैसे अनन्त गुण से भरपूर तेरे स्वक्षेत्र का स्वरूप चारों पहलुओं से निश्चित कर। तेरे गुणों की निर्मलता प्रगटाने के लिये तेरे स्वक्षेत्र में नजर कर और उसमें ही एकाग्र हो। सब तुझमें ही भरा है। पर में कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है।

बारोट आकर सात पीढ़ी के बाप-दादा के गुणगान सुनावे, वहाँ गौरव मानता है और उत्साह से सुनता है। यहाँ सर्वज्ञ भगवान की पुस्तकों में से सन्त तेरे अनादि-अनन्त काल का महावैभव बतलाकर तुझे तेरे गुणगान सुनाते हैं तो उसकी महिमा लाकर उल्लास प्रगट कर तो वह वैभव पर्याय में भी परिणम जायेगा। इसमें तेरी वास्तविक शोभा और गौरव है।

गुण का वैभव त्रिकाल है और पर्याय का वैभव एक समय का है; गुण त्रिकाल और पर्याय एक समय की, तथापि क्षेत्र दोनों का समान है। द्रव्य, गुण और पर्याय इन सबका क्षेत्र एक ही है। द्रव्य-गुण का आनन्द जब पर्याय में भी व्याप्त हुआ (अर्थात् परिणमित हुआ), तब भान हुआ कि अहा! ऐसा आनन्द का पूर्ण पिण्ड मैं हूँ और ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड मैं हूँ। निर्मल परिणति में उन अनन्त गुणों का परिणमन एक साथ उछलता है।

कोई कहते हैं कि आत्मा में ज्ञानमात्र भाव का परिणमन दिखता है परन्तु शान्ति का या आनन्द का परिणमन नहीं दिखता, तो उसकी बात सत्य नहीं है; उसने गुणों को सर्वथा भिन्न माना है। उसे अनेकान्त की खबर नहीं और उसने ज्ञानस्वरूप आत्मा को

जाना नहीं। एक ज्ञानमात्रभाव में तो अनन्त गुण का परिणमन इकट्ठा ही है। इसलिए ज्ञानमात्रभाव को जानने से उसमें अनन्त गुण का निर्मल परिणमन और उसकी प्रतीति इकट्ठी आ ही जाती है। यह भूमिका बाँधकर ज्ञानमात्र आत्मा में जो अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं, उनका अब वर्णन करना है।

आत्मा में सामर्थ्य से तो अनन्त शक्तियाँ हैं, वे संख्या से भी अनन्त शक्तियाँ हैं। एक-दो-तीन-चार ऐसे क्रम-क्रम से गिनने बैठे तो अनन्त काल में भी पूरा न हो, इतनी शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में है। ज्ञान में जानने का अनन्त सामर्थ्य; श्रद्धा में प्रतीति का अनन्त सामर्थ्य; वीर्य में स्वरूप की रचना का अनन्त सामर्थ्य—ऐसे अनन्त सामर्थ्यवाली प्रत्येक शक्ति और ऐसी अनन्त शक्ति का पिण्ड वह भगवान आत्मा; 'ज्ञानमात्र' कहने पर ऐसी शक्तिवाला पूरा आत्मा पहिचाना जाता है। अरे! ऐसी अनन्त शक्तियों का धनी आत्मा, वह अपनी प्रभुता भूलकर, दीनरूप से परभाव में भटकता हुआ देह धारण कर-करके संसार में भटक रहा है। उसे उसकी शक्ति का वैभव बतलाकर सन्त जगाते हैं कि हे जीव! तू जाग। तू विकार जितना पामर नहीं परन्तु सिद्ध परमात्मा जैसा प्रभु है। तेरी शक्ति के एक टंकार से केवलज्ञान ले, ऐसी तेरी सामर्थ्य है, उसे तू सम्हाल!

अनन्त शक्तियाँ वचन से तो किस प्रकार कही जाये? विकल्प में भी जो नहीं समाती, वे वाणी में तो कहाँ से आवे? एक-एक शक्ति कहने में एक-एक सेकेण्ड जाये तो भी अनन्त शक्ति कहने में अनन्त सेकेण्ड अर्थात् अनन्त काल लग जाये।—परन्तु इतना तो किसी का आयुष्य होता नहीं, इतने शब्द भी जगत में नहीं और साधकदशा का इतना लम्बा काल भी नहीं। इसलिए विशिष्ट प्रयोजनभूत कितनी ही शक्तियाँ आचार्यदेव ने वर्णन की है। उसमें अनन्त शक्ति का सार समाहित हो जाता है। स्वसंवेदन से आत्मा की जो महिमा अनुभव में आयी, वह सब वाणी में नहीं आ सकती; वाणी में तो अमुक इशारा आता है। इसलिए कहते हैं कि ज्ञानमात्रभाव से उछलती कितनी ही शक्तियों का वर्णन करते हैं। उनमें सबसे पहली शक्ति—जीवत्वशक्ति!

(इस प्रकार शक्तियों के वर्णन की भूमिका हुई)।

* * *

आत्मा के वीतरागी वैभव की बात

हे जीव!

वीतरागी सन्त तुझे तेरा 'आत्मवैभव' दिखलाते हैं। जिसे देखने से तुझे अपार आनन्द होगा। जैसे मधुर बीन के नाद से सर्प जहर को भूलकर डोल उठता है; उसी प्रकार हे जीव! आत्मशक्तिरूप मधुर बीन के नाद से सन्त तुझे कहते हैं कि—तू जाग... जाग! तेरी आत्मशक्ति की क्या बात!—जिसे जानते हुए विकार का जहर उतर जाये और आनन्द के अनुभव में आत्मा डोल उठे—ऐसी यह ४७ शक्ति का नाद है। यह तो वीतराग ने जानी हुई, वीतराग ने कही हुई और वीतराग होने के लिये आत्मा के वीतरागी वैभव की बात है।

[१]

जीवत्वशक्ति

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः।

आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसी जीवत्वशक्ति। (आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र-भावरूपी भावप्राण का धारण करना जिसका लक्षण है, ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भाव में-आत्मा में उछलती है)।१।

अहा, आचार्य भगवान ने स्वानुभव का घोलन कर-करके एक-एक शक्ति निकाली है। एक-एक शक्ति के वर्णन में स्वानुभव का रस प्रवाहित किया है। यह तो वीतरागी सन्तों की वाणी! यह आत्मभाषा है, वाणी तो यद्यपि जड़ है, परन्तु आत्मा के अनुभव का निमित्त लेकर निकली हुई सन्तों की भाषा वह 'आत्मभाषा' है। इसके भाव को जो समझे, उसे अपूर्व आत्मजीवन प्रगट होता है।

देखो, यह पहले नम्बर की शक्ति!

चैतन्यमात्र भावप्राण को धारण करना, वह जीवत्वशक्ति का लक्षण है। चैतन्यरूप भाव प्राण द्वारा ही आत्मद्रव्य सदा टिक रहा है। चैतन्यप्राण द्वारा जीव का जीवन है, इसलिए ऐसे चैतन्य प्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति है। स्वानुभवगम्य जो ज्ञानमात्र आत्मा, उसके परिणमन में यह जीवत्वशक्ति भी इकट्ठी ही है। सबसे पहला ही आत्मा का जीवन बतलाया। अनन्त शक्तियों में कहीं नम्बर या क्रम नहीं है, वे तो सब एकसाथ हैं। परन्तु वर्णन में क्रम पड़ता है। उसमें सबसे पहली जीवशक्ति है।

यह समयसार की शुरुआत में मंगलाचरण के बाद दूसरी ही गाथा में जीव की व्याख्या करते हुए कहा है कि —

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउं तं हि ससमयं जाण।

—इस प्रकार 'जीव' से शुरुआत की थी। जीव का जीवन कैसा होता है, वह उसमें बताया है। मंगलाचरण की गाथा में '**वंदित्तु सव्वसिद्धे**' कहकर अनन्त सिद्ध भगवन्तों को आत्मा में स्थापित किये हैं, ज्ञानभूमिका में उतारे हैं। हमने हमारे ज्ञान में सिद्ध को स्थापित किया है और हे श्रोताओ! तुम तुम्हारे ज्ञान में भी सिद्ध को स्थापित करके यह समयसार सुनना। जिस ज्ञान में सिद्ध को स्थापित किया, उस ज्ञान में विकार की रुचि नहीं रह सकती। अनन्त सिद्धों को तेरी ज्ञानपर्याय में स्थापित कर तो पर्याय में राग नहीं रहेगा। इस प्रकार सिद्धों को ज्ञानपर्याय में रखकर हम समयसार द्वारा शुद्धात्मा कहेंगे, ऐसी अपूर्व शुरुआत करके शुद्धात्मा बतलाते-बतलाते अब अन्त में उसकी अनन्त शक्तियाँ बतलाकर पूरा करते हैं।

यह पंचम काल के मुनिराज पंचम काल के श्रोताओं को कहते हैं कि अनन्त सिद्धों को ज्ञान में समाहित कर दे, ऐसी महान सामर्थ्य तुम्हारी ज्ञानपर्याय में है। लगभग दो हजार वर्ष पहले जब कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने '**वंदित्तु सव्वसिद्धे**' कहकर सिद्धों की स्थापना की, तब जितने सिद्ध भगवन्त थे, उसकी अपेक्षा अभी बीस लाख जितने सिद्ध बढ़ गये हैं। परन्तु जातिरूप से सब सिद्ध भगवन्त समान ही हैं। उन सब सिद्धभगवन्तों को ज्ञान में उतारकर तू तेरे आत्मा को भी वैसे स्वरूप से देख। तेरा आत्मा सिद्ध जैसा है। उसकी हाँ करना; ना करना नहीं।

इतने छोटे (मति-श्रुत) ज्ञान में सिद्ध समायेंगे ?—तो कहते हैं कि हाँ; वह ज्ञान स्वभावसन्मुख होने पर अनन्त गुणों से भरपूर पूरा आत्मा सिद्ध जैसा अनुभूति में समा जाता है। एक समय का ज्ञान अनन्त केवली को और सिद्ध को प्रतीति में ले लेता है, इसलिए तेरे ज्ञान में सिद्ध को स्थापित करके तू तेरी शक्तियों को प्रतीति में ले।

जीव में ऐसी जीवनशक्ति है कि अपने चैतन्यभाव को धारण करके वह सदा जीता है। इसलिए दूसरा कोई उसे जिलाये तो वह जीये—यह बात नहीं रहती। जीव में अपने में चैतन्यभावरूप जीवत्वशक्ति न हो तो वह अजीव हो जाये। परन्तु जीव कभी अजीव नहीं होता, क्योंकि जीवत्वशक्ति उसमें त्रिकाल है। जीवत्वशक्ति सर्व गुणों में व्याप्त है, इसलिए जीवत्वशक्ति ने अनन्त गुणों को जीवन दिया है। ऐसे आत्मा के एक-एक गुण में अनन्त सामर्थ्य है; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में वह व्याप्त है; ध्रुवपना और क्षणिकपना ऐसे उपादान द्वारा वह स्वकार्य को करती है; प्रत्येक शक्ति में उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव है; प्रत्येक शक्ति में कारण-कार्यपना समाहित है। इस प्रकार प्रत्येक शक्ति अनन्त वैभव से भरपूर है और ऐसी अनन्त शक्तियों से भगवान आत्मा भरपूर है।

अहा! आचार्य भगवान ने स्वानुभव का घोलन कर-करके एक-एक शक्ति निकाली है। एक-एक शक्ति के वर्णन में स्वानुभव का रस उड़ेला है। अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की शैली! उन्होंने तो तीर्थंकर की वाणी को समयसार में उतारा है और हजार वर्ष पश्चात् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका रचकर गणधर जैसा काम किया है। दिगम्बर सन्तों की बत ही कोई अलौकिक है।

देखो, इस एक जीवत्वशक्ति में कितने भाव भर दिये हैं! चैतन्यभाव को धारण करनेरूप जीवत्व वह आत्मद्रव्य को कारणरूप है—ऐसा कहकर द्रव्यप्राण निकाल दिये अर्थात् कि व्यवहारजीवत्व निकल दिया। दस प्रकार के द्रव्यप्राण का धारण, वह आत्मिक द्रव्य को कारणभूत है, ऐसा नहीं कहा क्योंकि उन द्रव्यप्राण बिना भी आत्मद्रव्य जीवित रहता है। अहा! दस प्राण से जीनेरूप व्यवहारजीवत्व, वह वास्तव में आत्मा का जीवन ही नहीं है। आत्मा का जीवन तो शुद्ध चैतन्यप्राण से जीना, वह है। वही आत्मा का शाश्वत् जीवन है।

शरीर को धारण करके जीवे या आयुष्य से जीवे, वह आत्मा।—तो कहते हैं कि

नहीं; यह आत्मा की सच्ची पहिचान नहीं है। चैतन्यप्राण द्वारा जीवे, वह आत्मा, यह आत्मा की सच्ची पहिचान है। यह चैतन्यरूप भावप्राण सिद्ध में भी है। द्रव्यप्राण से जीवे, वह जीव—ऐसा कहो तो सिद्धभगवान में जीवत्व ही सिद्ध नहीं होगा।—वे अजीव हो जायेंगे! यहाँ तो कहते हैं कि दस प्राण को धारणरूप व्यवहारजीवत्ववाला जीव, वह वास्तव में जीव नहीं है। वाह, देखो! व्यवहार अभूतार्थ और निश्चय भूतार्थ—यह बात इस जीवत्वशक्ति के वर्णन में भी आ जाती है। वीतरागी सन्तों की एक ही धारा चली आती है।

आत्मा के अनन्त धर्मों में जीवत्व नाम का एक शाश्वत् धर्म है। इसलिए चैतन्यप्राण से आत्मद्रव्य शाश्वत् टिका हुआ है। यह शुद्ध चैतन्यरूप भावप्राण सिद्ध में भी है और यही सच्चे जीवन का कारण है—ऐसा कहकर सब व्यवहार कारण निकाल दिये हैं।

पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस प्राण जड़ हैं, इनके संयोग से जीवन और इनके वियोग से मरण—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वास्तव में उन जड़ प्राणों से आत्मा नहीं जीता, अनन्त गुण-सम्पन्न भगवान आत्मा ने जड़ प्राणों को अपने में कभी धारण नहीं किया। उनसे तो वह भिन्न ही है। आत्मा की अनन्त शक्तियों में, जड़ प्राण को धारण करे, ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है।

अब, जड़ प्राण तो मानो पृथक् और उन्हें धारण करने की योग्यतारूप जो अशुद्ध भावप्राण, वह भी वास्तव में जीव का मूलस्वरूप नहीं है। पर्याय में एक समय की योग्यतारूप जो व्यवहार है, वह शुद्धदृष्टि में अभूतार्थ है। उससे जीवे, वह सच्चा जीवन नहीं है।

भावप्राण अर्थात् शुद्ध ज्ञानादि, उसे धारण करनेरूप आत्मद्रव्य पर दृष्टि देने से पर्याय में ज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि प्रगट होते हैं, वह जीव का सच्चा जीवन है, और वह जीवत्वशक्ति का वास्तविक कार्य है। ऐसे जीवत्व से जीवे, उसे वास्तविक जीव कहा है।

भाई! यह तेरे जीवत्व की बात चलती है। द्रव्य-गुण-पर्याय तेनों में व्यापकर परिणमे, तब जीवत्वशक्तिवाले आत्मा को जानना कहलाये।

देखो, यह जैनदर्शन की बात! पर्याय में अशुद्धता की योग्यता और निमित्तरूप दस जड़ प्राण—ऐसा व्यवहार जीवत्व है सही, परन्तु उसे वास्तविक जीव नहीं कहा; शुद्ध चैतन्यप्राण से जीवे, ऐसा जो निश्चय जीवत्व, उसे ही जीव कहा है। और उस निश्चयजीवन में व्यवहारजीवन का अभाव कहा है। इस प्रकार व्यवहार का निषेध और निश्चय का आश्रय करने की बात इसमें आ गयी; मोक्षमार्ग आ गया। एक समय में अनन्त स्वभाव-सामर्थ्य से भरपूर द्रव्य पर लक्ष्य गया, तब पर्याय में मोक्षमार्गरूप परिणमन हुआ, उसमें अनन्त गुण का परिणमन भरा हुआ है।

जीवत्वशक्ति एक, तथापि द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों व्यापक; एक जीवत्व के परिणमन के साथ ही अनन्त गुणों का परिणमन वर्त रहा है, परन्तु व्यवहारप्राण का परिणमन उसमें नहीं वर्तता—ऐसा अनेकान्त प्रकाशित करता है।

आत्मा में यह जीवत्व इत्यादि शक्तियाँ तो अनादि की हैं, परन्तु उनके भान बिना वह पर्याय में व्यापती नहीं थी। अज्ञानी में भी अनन्त शक्तियाँ परिणमती तो हैं ही परन्तु उसे उसका भान नहीं है, इसलिए उनका विकारी परिणमन होता है। भान करने पर निर्मल परिणमन होता है। उसे 'सर्वगुणांश, वह सम्यक्त्व' कहा जाता है। शुद्ध जीवत्वशक्तिवाले आत्मस्वभाव पर जहाँ दृष्टि गयी, वहाँ पर्याय में ऐसा निर्मल चैतन्यजीवन प्रगट हुआ कि अशुद्ध प्राण से या द्रव्यप्राण के संयोग से जीने की दृष्टि छूट गयी अर्थात् कि व्यवहार का आश्रय छूट गया।

जड़ प्राण (शरीर-इन्द्रियाँ इत्यादि) से जीव को पहिचानना, वह तो 'असद्भूत व्यवहार' है अर्थात् कि वास्तव में जीव के स्वरूप में उसका सद्भाव नहीं है।

भावेन्द्रियाँ इत्यादि अशुद्ध भावप्राण से जीव को पहिचानना, वह 'अशुद्ध सद्भूत व्यवहार' है। जीव में एक समय की वैसी योग्यता है, परन्तु जीव के शुद्धस्वरूप में वह नहीं है।

त्रिकाली शुद्ध चैतन्यभावप्राणरूप जीवत्व से जीव को पहिचानना, वह निश्चय है; और उसकी सन्मुखता से पर्याय में चैतन्य का जो निर्मल परिणमन प्रगट हुआ, वह 'शुद्ध सद्भूत व्यवहार' है।

इस प्रकार प्रत्येक शक्ति के वर्णन में निश्चय-व्यवहार इत्यादि नय भी आ जाते हैं। एक-एक शक्ति में अनन्त रहस्य समाहित हैं। यह तो आत्मा का अखूट वैभव है, इसे खोला ही करो तो भी कभी कम पड़े, ऐसा नहीं है।

भाई! यह तेरे आत्मा के 'भाव' की बात चलती है। हीरा-माणिक का भाव, सोने का भाव, अनाज का भाव—ऐसे सभी वस्तु के भाव को तू जानता है, तो तुझमें तेरा 'भाव' क्या है, उसे तो जान। आत्मा की निजशक्ति, वह उसका निजभाव है। अनन्त शक्तिरूप निजभाव से भरपूर भगवान आत्मा, उसकी कीमत अर्थात् कि उसकी महिमा जीव ने कभी जानी नहीं। यदि जाने तो उपयोग उसमें ढले बिना रहे नहीं। भाई! विकल्प द्वारा या संयोग द्वारा तेरी कीमत आंकी जा सके, ऐसा तू नहीं है। अनन्त शक्ति का भाव तुझमें है। एक-एक शक्ति के भेद से भी उसका लक्ष्य नहीं हो सकता। परन्तु एक-एक शक्ति के साथ दूसरी अनन्त शक्तियाँ परिणम रही है, उन अनन्त शक्ति के पूरे पिण्ड को लक्ष्यगत करने की यह बात है। क्योंकि—

जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण, केवली बोले ऐम;
प्रगट अनुभव आत्म का, निर्मल करो सप्रेम... रे...
चैतन्यप्रभु! प्रभुता तेरी चैतन्यधाम में।

गुण का समुद्र और सुख से भरपूर—ऐसा तू है। तेरी शक्ति कितनी और उसका कार्य कितना, उसे लक्ष्य में ले, तो विकार में से और पर में से तेरी दृष्टि हट जायेगी। शक्ति का वर्णन करके यहाँ अनन्तगुण का पिण्ड ज्ञानमात्र आत्मा की दृष्टि कराना है। अनुभव में आत्मा की प्रसिद्धि करानी है। इसलिए टीका का नाम भी 'आत्मप्रसिद्धि' है।

लोग शक्ति को पूजते हैं। मोरबी के पास शनाणा गाँव है, वहाँ संवत् २०१० में गये थे। वहाँ शक्तिमाता का मन्दिर है। यहाँ कहते हैं कि भाई! वास्तविक शक्तिदेवी का मन्दिर तो तेरा आत्मा है; आत्मा के एक-एक गुण में दैवीशक्ति है। उस शक्तिदेवी को भज। ईश्वरता तो उसमें ही है। निजशक्ति के सेवन बिना आत्मा का कल्याण कभी नहीं होगा। जीवत्वरूप दैवीशक्ति बिना आत्मा एक क्षण भी जी नहीं सकता। ऐसी निजशक्ति को भूलकर अज्ञानी लोग भ्रम से बाहर की देवी को पूजते हैं, परन्तु उसमें कुछ कल्याण

नहीं है। निजशक्ति से भरपूर भगवान आत्मदेव का भजन (श्रद्धा-ज्ञान) करने से अपूर्व कल्याण होता है।

(वीर निर्वाण संवत् २४९१, मगसिर कृष्ण ४)

इस आत्मवस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं; वे सब शक्तियाँ आत्मा के साथ तादात्म्यरूप है अर्थात् कि अनादि-अनन्त एकरूप है। ऐसे आत्मा में अन्तर्दृष्टि करके स्वसन्मुख परिणमने से पर्याय में उस शक्ति की खिलावट होती है, उसका यह वर्णन है।

अनन्त शक्तिवाला परमेश्वर यह आत्मा ही है। उसे स्वयं अपने को ध्येय बनाने पर पर्याय में ईश्वरता प्रगट होती है। शक्ति का सत्त्व पर्याय में व्यक्त होकर परिणमता है। भगवान सर्वज्ञदेव को अनन्त आत्मशक्ति प्रगट हो गयी है और ऐसा ही अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रत्येक आत्मा भगवान ने देखा है, और जगत को बतलाया है। भाई! तू दूसरे की शक्ति की महत्ता मानता है, परन्तु तेरी अनन्त शक्ति की महत्ता तुझमें भरी है, उसे तू जान और विश्वास में ले, तो सर्वज्ञ जैसी ही शक्तियाँ तेरी पर्याय में खिल जायेंगी। अन्दर में 'सत्' है, उसके विश्वास से वह अनुभव में आता है।—यह धर्म की पद्धति है।

मुमुक्षु : इसमें धर्म कहाँ आया!

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म अर्थात् आत्मा की शक्तिरूप जो स्वभाव, उसका विश्वास करने पर उसमें से प्रगट हुई जो निर्मलदशा, वह धर्म है, मोक्षमार्ग है। अनन्त शक्तिसम्पन्न परन्तु ज्ञानमात्र भगवान आत्मा को स्वसन्मुखी उपयोगलक्षण द्वारा लक्षित कराने के लिये यह वर्णन है।

भाई! यह तो पहले धड़ाके निर्णय कर कि परद्रव्य को और मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। मेरा एक भी अंश पर में नहीं, पर का कोई अंश मुझमें नहीं। शरीर के रजकण में क्या आत्मा रहता है?—नहीं; रागपरिणाम में क्या आत्मा रहता है?—नहीं, उसका तो अभाव हो जाता है। भगवान आत्मा तो अपनी अनन्त शक्ति में और उसके निर्मल परिणमन में रहता है अर्थात् कि ज्ञानमात्रभाव में ही वह सदाकाल रहा हुआ है। 'ज्ञानमात्रभाव' में शोधे तो आत्मा मिले। विकार में या जड़ में शोधे तो आत्मा मिलता नहीं।

देखो, यह आत्मकथा! भूले हुए भगवान को कैसे शोधना, उसकी यह पद्धति! जिसमें परमेश्वरता भरी है, ऐसे तेरे स्वभाव में दृष्टि कर तो तुझे परमेश्वर की भेंट होगी और तुझमें ही परमेश्वरपना प्रगट होगा। ज्ञान ने अपने अन्तर में नजर करके आत्मा का लक्ष्य किया, वहाँ ज्ञान का सम्यक्परिणमन हुआ; उस ज्ञानभाव के साथ परम आनन्द, सुख, श्रद्धा, वीर्य, प्रभुता इत्यादि अनन्त भाव भी साथ ही परिणमते हैं। ऐसे अनेकान्तस्वरूप आत्मा है; 'ज्ञानपरिणति' में वह प्रसिद्ध हुआ है।

ऐसी ज्ञानपरिणति अभव्य को कभी नहीं होती। उसमें ज्ञानगुण और उसका परिणमन है तो सही, परन्तु आत्मा में तन्मयता बिना एकान्त परसन्मुखी परिणाम को 'ज्ञानपरिणति' नहीं कहते। ज्ञान आत्मा का, और आत्मा को जाने नहीं—उसे तो ज्ञान कौन कहे? जो परिणति ज्ञानस्वभाव की ओर ढलकर, उसमें तन्मय होकर, आत्मा को जाने, उसे ही ज्ञानपरिणति कहते हैं। जाननेवाला स्वयं जिस ज्ञान में नहीं आया, उस ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते, वह अज्ञान है, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। यहाँ तो जिस ज्ञान में आत्मा की प्रसिद्धि होती है, उसकी बात है।

अहो, आत्मा की शक्ति की यह बात! इसे उत्साह से सुनते हुए अनादि की मूर्च्छा उतर जाती है—ऐसी है। पुराण में विशल्या की बात आती है।—उसके नजदीक आने से ही लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर होने लगी; उसी प्रकार शल्यरहित ऐसी विशल्या ज्ञान-परिणति जहाँ प्रगट हुई, वहाँ सभी गुणों में से मिथ्यापने की मूर्च्छा उतर गयी और सब गुण स्वशक्ति की सम्हाल करते हुए जागृत हुए। विशल्या पूर्व भव में चक्रवर्ती की पुत्री थी; एक बार जंगल में अजगर उसे निगल गया; उसका आधा शरीर अजगर के मुख में और आधा बाहर था। अजगर के मुख में से उसे छुड़ाने के लिये चक्रवर्ती ने धनुष्यबाण तैयार किया, परन्तु विशल्या के जीव ने उसे रोकते हुए कहा—पिताजी! मैं तो अब बचनेवाली नहीं हूँ, मेरे लिये अजगर को नहीं मारना। इस प्रकार के शुभपरिणाम के फल में उस विशल्य को ऐसी ऋद्धि थी कि उसके स्नान के जल के छिड़काव से चाहे जैसा विष या मूर्च्छा उतर जाये। वह विशल्य उन लक्ष्मण की पत्नी होनेवाली थी। जब राजा रावण के साथ के युद्ध में रावण की शक्ति के प्रहार द्वारा लक्ष्मण मूर्छित होकर ढल पड़े और चारों ओर हाहाकार हो गया; रामचन्द्र भी हताश हो गये; हनुमान इत्यादि

बड़े-बड़े विद्याधर राजकुमार भी बैठे थे। यदि सवेरे तक इसका उपाय नहीं मिले तो लक्ष्मण के जीने की आशा नहीं थी। अन्त में किसी ने उपाय बताया कि यदि विशल्यदेवी के स्नान का जल छिड़का जाये तो लक्ष्मण बच जायेंगे। फिर तो तुरन्त ही विशल्य को लाया गया, वह नजदीक आते ही लक्ष्मण को लगी हुई रावण की शक्ति भाग गयी और लक्ष्मणजी अपनी शक्तिसहित जागृत हो गये।

उसी प्रकार चैतन्यलक्षणी लक्ष्मण ऐसा यह आत्मा, वह अनादि से निजशक्ति को भूलकर मोहशक्ति से बेभान बना हुआ है, परन्तु जहाँ शल्य से विरहित ऐसी निःशल्य— निःशंक श्रद्धारूपी सम्यक्त्वशक्ति जागृत हुई, वहाँ मोहशक्तियाँ भाग गयीं और चैतन्यलक्षी भगवान आत्मा अपनी अनन्त शक्तियों के सम्यक् परिणमन से जागृत हो उठा। अज्ञान में आत्मशक्ति मूर्छित हो गयी थी, परन्तु ज्ञानपरिणति शल्यरहित होकर जहाँ जागृत हुई, वहाँ तो मूर्छा भागी और अनन्त शक्ति की टंकार करता हुआ आत्मा जाग उठा और अपनी प्रभुता के सामर्थ्य से विभावरूपी रावण का नाश किया।

हे जीव! ऐसी आत्मशक्तियों की पहिचान कराकर सन्त तुझे जगाते हैं। तेरा आत्मद्रव्य किसी दूसरे के आधार से टिका हुआ नहीं है, परन्तु तेरी अपनी जीवत्वशक्ति से ही तेरा आत्मद्रव्य टिका हुआ है। अपने चैतन्यमात्र भाव को धारण करनेरूप जीवत्वशक्ति से आत्मा सदा जीवरूप से टिकता है; यह जीवत्वशक्ति आत्मा को कभी अजीव नहीं होने देती, उसे जीवरूप से सदा जीवित रखती है।

ज्ञान-दर्शन-सुख और सत्ता, यह आत्मा के भावप्राण कहे जाते हैं। आत्मा के स्वभाव में द्रव्य-गुणरूप से तो वे त्रिकाल हैं; और पर्याय में वह सम्यक्रूप से प्रगटे, उसकी यह बात है। त्रिकाली स्वभाव में है, उसका लक्ष्य करने से पर्याय में भी उसका सम्यक्रूप से परिणमन हो जाता है।

'ज्ञानमात्रभाव' अर्थात् अनन्त शक्तिवाला आत्मा, उसके सन्मुख होकर उसका ज्ञान करने से द्रव्य-गुण जैसा जीवन पर्याय में प्रगट होता है। अनन्त काल से पर्याय में जो जीवन नहीं था, वह प्रगट हुआ। और अनन्त काल से जो भावमरण होता था, वह टला। अनन्त गुण पर्याय में जीवत्वरूप हुए, सम्यक्रूप से प्रगट हुए।

अहो! अन्तर के पहलू खोलकर चैतन्य परमात्मा को देखने की यह बात है। जिसे आत्मा की गरज हो और भव का भय हो, उसके लिये यह बात है। आत्मा में भरा हुआ सहज अद्‌भुत चैतन्यवैभव खुल्ला करके सन्तों ने इस समयसार में दिखलाया है। ज्ञान की पर्याय को अन्तर्मुख करके वह परम अद्‌भुत आत्मवैभव वेदन में आता है।

देखो, यह वीतरागी सन्तों की वाणी! यह 'आत्मभाषा' है। भाषा तो यद्यपि जड़ है परन्तु आत्मा के अनुभव का निमित्त लेकर निकली हुई सन्तों की भाषा, वह 'आत्मभाषा' है। आत्मा का भान होने पर सभी गुणों में नया जीवन प्रगट हुआ, अनन्त गुण जीवित हुए। पहले भी वे थे तो सही, परन्तु दृष्टि बिना उनका फल आता नहीं था। अब उनका सम्यक् परिणमन होने पर फल आया। अर्थात् निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसमें आत्मा का वास्तविक जीवन है। रागादि तो वास्तव में अजीवतत्त्व था क्योंकि उसमें कहीं आत्मा का जीवन नहीं था। उसमें चैतन्यप्राण नहीं थे। जीवत्वशक्तिवाले आत्मस्वभाव का भान होने पर, अनन्त गुण जो पहले अज्ञानपर्याय में मर गये थे, वे अब ज्ञानपर्याय में जीवित हुए, प्रगट हुए। इस प्रकार जीवत्वशक्ति आत्मा के अनन्त गुणों को जिलाती है।

अरे जीव! यह देख तो सही, तेरी शक्ति का भण्डार! तेरी शक्ति के विस्तार का पार नहीं। और तो भी स्वानुभव में एक क्षण में वह सब समाहित हो जाती है। समझण करके स्वसन्मुख हो तो मार्ग अत्यन्त सरल है। बाकी परसन्मुखता से तो अनन्त काल में भी मार्ग हाथ आवे, ऐसा नहीं है।

इस टीका का नाम '**आत्मख्याति**' है। टीका अर्थात् विस्तार, ख्याति अर्थात् प्रसिद्धि। भाई! आत्मा की शक्ति में जो भरा है, उसका ही विस्तार करके सन्त उसे प्रसिद्ध करते हैं। आचार्यदेव ने आत्मा की शक्तियों का ऐसा अद्‌भुत वर्णन किया है कि उसे समझने पर स्वानुभूति में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है।

सर्वज्ञदेव ने जो प्रत्यक्ष जाना और सम्यग्दृष्टि के अनुभव में जो आया, ऐसे आत्मस्वभाव का यह वर्णन है। देह के रजकणों से अत्यन्त भिन्न और रागादि भावों से भी पृथक् ऐसा आत्मस्वभाव ज्ञायकभावमय है। शरीरादि अजीव है; रागादि आस्रव है और ज्ञायकभावरूप आत्मा, वह जीव है। उसके ज्ञायकभाव में उसकी अनन्त शक्तियाँ समाहित होती हैं, परन्तु रागादिभाव उसमें समाते नहीं हैं।

आत्मा की एक-एक शक्ति में पाँच भाव इस प्रकार लागू पड़ते हैं—आत्मा की जीवत्व इत्यादि शक्तियाँ अनादि-अनन्त **पारिणामिकभाव** से है; रागादि **उदयभावों** का उनमें अभाव है; और उस शक्तिवाले आत्मा के सन्मुख होने पर पर्याय में **उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकरूप भाव** नये प्रगट होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शक्ति में पाँच भावों में से जो लागू पड़ें, वह समझना चाहिए। (जैसे कि ज्ञानपर्याय में उपशमभाव नहीं होता)।

जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्मा; एक-एक आत्मा के प्रदेश असंख्य, शक्तियाँ अनन्त, सामर्थ्य अनन्त; परन्तु उसमें कोई प्रदेश में या किसी शक्ति में विकार को करे, ऐसा गुण नहीं है। पुण्य-पाप के विकल्पों से भिन्न होकर ऐसी अनन्त गुणसम्पन्न आत्मवस्तु को अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शन होता है। इसका नाम आत्मप्रसिद्धि है।

पर्याय में जो दस जड़ प्राण को धारण करके जीने की अशुद्ध योग्यता है, वह व्यवहारनय का विषय है; वह परमार्थ जीव का स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि का परमार्थ जीवन कैसा होता है? कि अशुद्धता से जीवे, वह सम्यग्दृष्टि का जीवन नहीं है; जड़ प्राण के संयोग से जीवे, वह सम्यग्दृष्टि का जीवन नहीं है; गुण के धाम ऐसे शुद्धद्रव्य पर लक्ष्य जाने से पर्याय में सम्यक् परिणमन खिला, वह सम्यग्दृष्टि का जीवन है। वह जीवन चैतन्यप्राण से भरपूर है, उसमें आनन्द भरा है, प्रभुता भरी है, जीव का ऐसा जीवन, वही सच्चा जीवन है।

भाई! यह बात तेरे स्वघर की है और तुझे समझ में आये, ऐसी है। यह बात कठिन है और मुझे नहीं समझ में आयेगी—ऐसा करके यदि समझने का निरुत्साह करे तो उसे आत्मा का वास्तविक प्रेम नहीं है। विषय-कषायों की बात में तो उत्साह से पड़ता है और आत्मस्वरूप की बात आवे, वहाँ कठिन कहकर उसकी समझ का उद्यम छोड़ देता है, तो ऐसे जीव को स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा कहा है। भाई! आत्मा का स्वरूप कठिन पड़ता है—ऐसा कहकर तूने तो आत्मा में जाने के लिये अरुचिरूपी वज्र की दीवार खड़ी की है। तेरे परिणाम को तू आत्मसन्मुख किस प्रकार ले जायेगा? मेरा स्वरूप प्राप्त करना सुगम है और अन्तर के उद्यम द्वारा मैं अवश्य प्राप्त करूँगा, ऐसा रुचि का उल्लास जगा तो तेरे परिणाम उस ओर ढलेंगे और आत्मा की प्राप्ति होगी।

देखो, यह तो जीव किसे कहना, उसकी व्याख्या है। जीव कैसा है, उसकी ही जिसे खबर नहीं, उसे सच्चा जीवन कहाँ से प्रगट हो? सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के काल में अन्तर में स्वद्रव्य पर दृष्टि जाती है और उस समय पर्याय में एकसाथ अनन्त गुणों का निर्मल कार्य प्रगट होता है। ऐसी पर्यायसहित का जीवन, वह धर्मात्मा का जीवन है। जो पुण्य-पाप जितना ही आत्मा मानता है, उसे चैतन्य के जीवन की खबर नहीं है। आत्मा की जीवत्वशक्ति को वह नहीं जानता। चैतन्यरूप भावप्राण द्वारा सदा जीवित अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा सम्यग्दृष्टि की नजर में आ गया है, इसलिए उसकी जीवत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में पसर गयी है। इस प्रकार जब जीवत्वशक्ति का निर्मलभाव पर्याय में प्रगट हुआ, तब जीवत्वशक्तिवाले आत्मा को जाना कहलाये और तब जीवतत्त्व को पहिचाना कहलाये। परमार्थ से इन्द्रिय आदि जड़प्राणवाला ही आत्मा को जो मान ले, उसने तो अजीव को जीव माना है। इन्द्रिय इत्यादि के कार्य मेरे, और उनके बिना मेरे ज्ञानादि टिक नहीं सकते—ऐसा माननेवाले भी वास्तव में जड़ को ही आत्मा मानते हैं, जड़ से भिन्न चैतन्यप्राणवाले आत्मा को वे जानते नहीं। दुनिया तो बाहर में सब मान बैठी है। परन्तु मुक्ति का मार्ग अन्तर में कुछ अलग ही है।

भाई! तुझे धर्म करना हो और धर्मी बनना हो तो तेरे चैतन्यमय जीवत्व को जान। इस जीवत्वशक्ति ने आत्मा के सभी गुणों को जीवरूप रखा है। जीवत्वशक्ति न हो तो आत्मा के सभी गुण अजीव हो जायें। वास्तव में आत्मा अजीव तो होता नहीं, परन्तु उसकी मान्यता विपरीत होती है, इसलिए उसे धर्म नहीं होता—सच्चा जीवन प्रगट नहीं होता। सच्चा जीवन अर्थात् कि सुखी जीवन, जीवत्वशक्ति के भान द्वारा प्रगट होता है। जीवत्वशक्ति ऐसा बतलाती है कि आत्मा शुद्ध चैतन्यप्राणमय है। अशुद्धता जितना ही जीव माने, उसने वास्तव में अजीव को जीव माना है। दस प्राण को धारण करने की योग्यतारूप जो अशुद्धता, उससे जीव को पहिचानना, वह तो 'व्यवहारनय का जीव' है; 'निश्चयनय का जीव' वह नहीं है। जीव नहीं है अर्थात् कि अजीव है। त्रिकाली चैतन्यस्वरूप जीव, वह निश्चयनय का जीव है।

देखो, यह वीतरागमार्ग में निश्चय-व्यवहार। जीव में भी निश्चय जीव और व्यवहार जीव, ऐसे दो प्रकार बतलाकर यथार्थ स्वरूप की पहिचान करायी है। जीव की

पर्याय में अशुद्धता की योग्यता है, परन्तु वह सम्यग्दर्शन के विषय में नहीं आती। सम्यग्दर्शन—पर्याय प्रगट होती है, वह कैसे आत्मा को दृष्टि लेने से प्रगट होती है? उसकी यह बात है। अनन्त गुणों से अभेद, अनादि-अनन्त पारिणामिकभावस्वरूप जो परम ज्ञायकभाव, उसके आश्रय से क्षायिकसम्यक्त्वादि निर्मल भाव प्रगट होते हैं। ऐसे भावरूप ज्ञानपरिणति ज्ञानी को ही होती है। अज्ञानी को ज्ञानपरिणति नहीं, क्योंकि वह ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नहीं करता। राग के आश्रय से ज्ञानपरिणति कैसे प्रगटे? ज्ञानपरिणति तो उसे कहा जाता है कि जो ज्ञानस्वभाव में तन्मय होकर परिणमे और राग से पृथक् पड़े। ऐसी ज्ञानपरिणति प्रगट होने पर उसमें श्रद्धा का-ज्ञान का-आनन्द का ऐसा अनन्त गुणों का निर्मल जीवत्व प्रगट हुआ, उसे जीवत्वशक्ति का कार्य कहा जाता है। राग या दस जड़ प्राणों को धारण करना, वह जीवत्वशक्ति का वास्तविक कार्य नहीं है। जीवत्वशक्ति में विकल्प की नास्ति है। इसलिए उसका भान होने पर पहले विकल्प से लाभ माना था, उसकी भी नास्ति हो गयी। अर्थात् व्यवहार का अवलम्बन छूटा और निश्चय जीवन प्रगट हुआ। ऐसा अनेकान्तपना साधक की पर्याय में वर्तता है।

जैसे विशाल जिनमन्दिर पर स्वर्ण का कलश चढ़ाते हैं। उसी प्रकार इस समयसाररूपी विशाल मन्दिर पर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ४७ शक्तिरूपी सुवर्ण कलश चढ़ाया है। आत्मा की शक्ति का अपार वैभव प्रसिद्ध करके बतलाया है। एक-एक शक्ति के वर्णन में गम्भीर रहस्य भर दिये हैं। अनन्त शक्तिवाले ऐसे आत्मा को प्रतीति में और स्वानुभव में लेकर निर्मलपर्याय में सभी शक्तियों का रस एकसाथ समाहित होता है। सभी शक्तियाँ निर्मलरूप से उल्लसित होती है। ऐसे परिणमनसहित आत्मा, वह सच्चा आत्मा है। हे भाई! ऐसी शक्तिवाले तेरे आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना तू सच्चा जीव हुआ—ऐसा ज्ञानी नहीं कहते। जड़ को और राग को अपना कर्तव्य माननेवाला जीव का जीवन जीवित नहीं है परन्तु विकार के कर्तृत्व द्वारा वह जीव के जीवन को घात डालता है। चैतन्य के भावप्राण को घात करता है, यही महा भावहिंसा है। यह हिंसा मिटे और आत्मा का आनन्दमय सच्चा जीवन प्रगट हो, ऐसी बात यहाँ आचार्य भगवान ने समझायी है।

आत्मा में अनन्त शक्ति का वैभव, उसमें एक-एक शक्ति के छहों कारक अपने

में ही समाहित होते हैं। अन्त में छह कारकरूप छह शक्तियाँ भी आचार्यदेव वर्णन करेंगे। एक-एक शक्ति के परिणमन में छहों कारक भी साथ ही समाहित होते हैं। जीवत्वशक्ति से आत्मा स्वयं ही कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरणरूप होकर अपने चैतन्यप्राणरूप जीवत्व को धारण करता है। आत्मा के जीवत्व का दूसरा कोई साधन नहीं। दस प्राण या रागादि अशुद्धता या खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय—ऐसे व्यवहार को साधन बनाकर आत्मा ने अपने चैतन्यप्राण को धारण नहीं किया, परन्तु अपने स्वभावभूत ऐसी जीवत्वशक्ति से ही अपने चैतन्य प्राण को धारण किया है। इसमें निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण आ गया कि व्यवहार साधन द्वारा आत्मा का जीवत्व नहीं, अपने निश्चयस्वभाव से ही अपना जीवत्व है। दस प्राण की ओर के विकल्प अथवा तो खण्ड-खण्डरूप पराश्रित ज्ञान, वह तो अशुद्धप्राण है, उससे आत्मा का वास्तविक जीवन नहीं है; उसमें तो आत्मा का जीवत्व नष्ट होता है। आत्मा को दस जड़ प्राण द्वारा जीनेवाला माने अर्थात् कि दस प्राण को आत्मा का स्वरूप माने तो वह जीव चैतन्य की अनन्त शक्ति के प्राण को उल्टी श्रद्धा द्वारा घात करता है अर्थात् भावहिंसा करता है। व्यवहार के विकल्प आत्मा के चैतन्यजीवन को लाभ करता है, ऐसा नहीं बनता। असत्य में से सत्य नहीं आता; व्यवहार के विकल्प शुद्धस्वभाव में असत् हैं, वह आत्मा की पर्याय को लाभ करे या उसका साधन हो, ऐसी ताकत उसमें नहीं है; तथापि उसे साधन कहना, वह व्यवहार है, उपचार है; वह सत्यस्वरूप नहीं। जीव का सत्यस्वरूप तो शुद्ध चैतन्यप्राण है। चैतन्यभाव में अक्रमरूप अनन्त शक्तियाँ और उन शक्तियों का क्रम-क्रम से होनेवाला निर्मल परिणमन—ऐसे क्रम-अक्रमरूप अनन्त धर्म समाहित होते हैं, परन्तु विकार उनमें समाहित नहीं होता। 'ज्ञान' लक्षण द्वारा अर्हन्त भगवान ने ऐसा आत्मा बतलाया है।

अरे जीव! तू जाग... और तेरी शक्ति को सम्हाल! लक्ष्मण में रावण को मारने की शक्ति थी, परन्तु मूर्च्छा में से जगे बिना वह किस काम की? जहाँ जगा, वहाँ रावण को मारा। इसी प्रकार परभावों को घात करने की सामर्थ्यवाला चैतन्यशक्ति का पिण्ड यह आत्मा स्वशक्ति के लक्ष्य बिना मोहमूर्छा में सो रहा है। जीवत्वशक्तिरूपी संजीवनी द्वारा सन्त उसे जगाते हैं। रे जीव! तू जाग और तेरी शक्ति को सम्हाल। अनन्त शक्ति तुझमें

है। परन्तु तू जागे नहीं और तेरी शक्ति को न सम्हाले तो वह शक्ति किस काम की ? जहाँ स्वलक्ष्य का सिंहनाद करता हुआ 'लक्ष्मण' जागृत हुआ, वहाँ निजशक्ति के टंकार द्वारा वह परपरिणति को तोड़ डालता है। ४७वें कलश में आचार्यदेव ने कहा था कि अहो! यह अत्यन्त प्रचण्ड और अखण्ड ज्ञान का उदय परपरिणति को उखेड़ डालता है और भेदवाद को तोड़ देता है। शक्ति का ऐसा निर्मल कार्य पर्याय में प्रगट हो, तब जीव का सच्चा जीवन प्रगट हुआ कहलाये। स्वलक्ष्य द्वारा जहाँ जीवत्वशक्ति जगी, वहाँ अनन्त शक्तियाँ एक साथ जाग उठीं, अर्थात् अनन्त शक्ति के निर्मल कार्य से भगवान आत्मा ज्वाजल्यमान जीवन्त हो गया। अब विकारी परभावों के साथ कर्ताकर्मपने का सम्बन्ध उसे जरा भी नहीं रहा।

देखो, यह जीवत्वशक्ति का कार्य! अब इसमें नव तत्त्व लेते हैं—

- ✦ त्रिकाल चैतन्यप्राण से जीनेवाला अनन्त शक्तिसम्पन्न ज्ञायकभाव, वह जीव।
- ✦ उसके आश्रय से शुद्ध पर्याय प्रगट हुई, वह संवर-निर्जरा और मोक्ष।
- ✦ अशुद्धभावरूप जो आस्रव और बन्ध थे, वे टलने लगे।
- ✦ शरीर और इन्द्रियाँ इत्यादि जड़ प्राण के संयोग को अपने से भिन्न अजीव जाना।

* * *

अतीन्द्रिय आत्मा के स्वसंवेदन द्वारा आनन्दमय आत्मजीवनजीवी सन्तों को नमस्कार हो!

वे सन्त हमें आत्मजीवन प्रदान करें।

आपने जीवत्वशक्ति पढ़ी; अब दूसरी चितिशक्ति शुरु होती है। आत्मा चेतनास्वरूप अर्थात् कि उपयोगस्वरूप है; उस उपयोग के स्वकार्य द्वारा शान्ति को साधता है। इस सन्दर्भ में गुरुदेव के मंगल हस्ताक्षर पढ़िये—

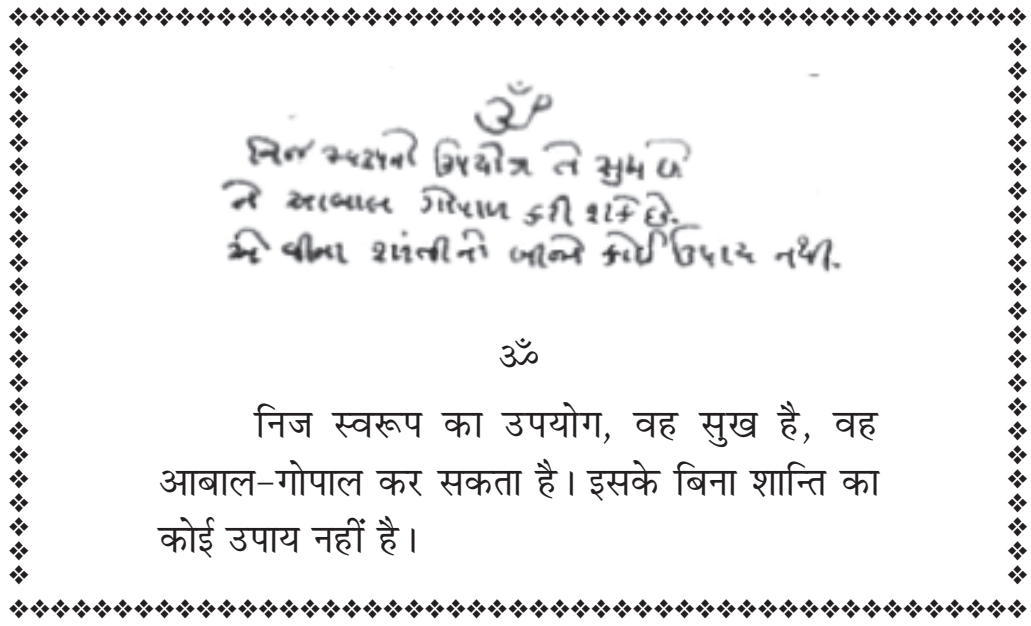

ॐ

निज स्वरूप का उपयोग, वह सुख है, वह आबाल-गोपाल कर सकता है। इसके बिना शान्ति का कोई उपाय नहीं है।

[२]

चितिशक्ति

अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः।

अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति (अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है ऐसी चितिशक्ति।)।२।

आचार्यदेव ने स्वानुभव का घोलन कर-करके यह आत्मशक्तियाँ वर्णन की हैं। एक-एक शक्ति के वर्णन में स्वानुभव का रस नितरता है। भाई! यह तेरे आत्मवैभव का वर्णन है। तेरा आत्मवैभव कैसा सुन्दर है! उसका प्रेम करके अनुभव में ले।

पहली शक्ति में आत्मा का जीवन बतलाया; वह जीवन कैसा है ? यह इस दूसरी शक्ति में बतलाते हैं। चैतन्यप्राण को धारण करके आत्मा जीता है अर्थात् उसका जीवन चैतन्य से भरपूर है और जड़पना उसमें जरा भी नहीं है। जड़ता के अभावरूप अर्थात् अजड़त्वस्वरूप ऐसी चितिशक्ति आत्मा में है।

आत्मा के स्वभाव में चेतनपना पूरा-पूरा है और जड़पना जरा भी नहीं। पुण्य-पाप के विकल्प भी वास्तव में चैतन्यप्रकाश रहित होने से जड़ हैं। उनसे रहित आत्मा का अजड़स्वभाव है। भगवान आत्मा तो स्व-परप्रकाशी चेतकस्वभावी है। स्वयं अपने को जाने ऐसा है, और शुभाशुभराग तो स्व-पर को नहीं जाननेवाला है। उसे दूसरा जानता है, तब वह ज्ञात हो, ऐसा वह है। अर्थात् वह जड़स्वभावी है। आत्मा ऐसे जड़स्वभाव रहित है और ऐसे स्वभाव के सन्मुख जो परिणमन हुआ, उसमें भी जड़त्व का अभाव है। उस परिणमन में चैतन्यपना भरा हुआ है परन्तु जड़पने से वह खाली है। उसमें विकार का परिणमन नहीं। ज्ञान के परिणमन में अनन्त गुण का परिणमन है परन्तु विकार का परिणमन नहीं। इसका नाम वास्तविक 'अजड़त्व' है।

सामान्यरूप से 'आत्मा जड़ नहीं' ऐसा तो सब कहते हैं, परन्तु जड़ नहीं अर्थात् आत्मा चितिशक्तिवाला है और चितिशक्ति के परिणमन में विकार भी नहीं—ऐसा अन्दर का भेदज्ञान तो ज्ञानी को ही होता है। एक-एक शक्ति में तो बहुत रहस्य भरा है। आचार्यदेव ने स्वानुभव का घोलन कर-करके एक-एक शक्ति निकाली है। एक-एक शक्ति के वर्णन में स्वानुभव का रस नितरता है; अहो ! समयसार में तो सन्तों ने स्वानुभव का रस उड़ेला है।

भाई ! यह तेरे आत्मा का वर्णन है; तेरा आत्मा कैसा सुन्दर है, उसकी बात है। सुन्दर अर्थात् शुद्ध; शुद्धता में सुन्दरता है, अशुद्धता में सुन्दरता नहीं—शोभा नहीं। जगत में जो कुछ सुन्दरता या पवित्रता है, वह सब तेरे चेतन में ही भरी है। उसका प्रेम करके अनुभव में ले।

यह आत्मा स्वयं अनन्त शक्तिसम्पन्न परमेश्वर है। स्वयं भगवान है, उसकी यह भागवत कथा है। जैन भगवान ने कहा हुआ यह वास्तविक भागवत है। जिसने एक

समय में तीन काल-तीन लोक को जाना तथा अपने समस्त आत्मवैभव को खोला, ऐसे सर्वज्ञ भगवान की वाणी में से आया हुआ यह समयसार महा भागवत है।

आचार्यदेव स्वसंवेदन से कहते हैं कि अहो! यह चैतन्यशक्ति तो जागृतस्वरूप है, इसमें जड़पना जरा भी नहीं है। अनन्त शक्ति से भरपूर अकेला चैतन्यपिण्डरूप ही आत्मा अनुभव में आता है। यद्यपि ऐसी चितिशक्ति सभी जीवों में है, परन्तु अज्ञानी को उस ओर झुकाव नहीं है, इसलिए उसे उसका निर्मल परिणमन प्रगट नहीं होता। वह तो अशुद्धरूप से परिणमता है, इसका नाम संसार है। और निजशक्ति का भान होने पर शुद्ध द्रव्य के लक्ष्य से शक्तियों का निर्मल परिणमन प्रगट होता है, उसे मोक्षमार्ग और मोक्ष कहते हैं।

वास्तविक चितिशक्ति अर्थात् चेतना उसे कहा जाता है कि जो अपने को चेते—जाने; जो स्वयं अपने को न जान सके तो उसे चेतना कहे कौन?—वह तो जड़ता हुई। गाथा ७२ में आत्मा और आस्रव के बीच भेदज्ञान कराते हुए कहा है कि आस्रव स्वयं अपने को या पर को जान नहीं सकते, इसलिए उन्हें जड़स्वभावपना है, चैतन्य से अन्यपना है; और भगवान आत्मा तो स्वयं ही स्व-पर को जाननेवाला चेतक है, इसलिए उसे चैतन्यस्वभावपना है—इस प्रकार आत्मा को और रागादि आस्रवों को भिन्नता है। यही बात यहाँ चितिशक्ति में बतलायी है।

आत्मा की चितिशक्ति कैसी है? अजड़स्वरूप है। उसमें जड़ता नहीं, अज्ञान नहीं। रागरूप और अज्ञानरूप जो परिणमन होता है, उसे चितिशक्ति का परिणमन कहते नहीं। चैतन्यप्राणरूप आत्मा का जीवत्व है; जीवत्व के साथ चितिशक्ति यदि न हो तो आत्मा जड़ हो जाये। चेतनारहित जीव वर्ते किसमें?

✦ क्या राग-द्वेष में वर्ते, वह जीव का जीवपना है? .....नहीं।

✦ चेतना में तन्मयपने वर्ते, वही जीव का जीवपना है।

जीव के ऐसे जीवन की सम्यग्दृष्टि को ही खबर है, अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है। 'जीव' किसे कहना, उसे ही वह नहीं जानता, तो फिर जीव का सच्चा जीवन तो उसे कहाँ से प्रगट होगा? जीव का सच्चा जीवन राग में नहीं, जीव का सच्चा जीवन तो चेतना में है।

अनन्त जीव मोक्ष प्राप्त हुए, अनेक तीर्थंकर और लाखों केवली भगवन्त मध्यलोक में अरिहन्तरूप से विचरते हैं, करोड़ों सन्त मुनि, असंख्यात श्रावक और असंख्यात सम्यग्दृष्टि जीव अभी हैं, उन सबने जीव का जीवपना इस प्रकार से जाना है। चैतन्यप्राण से जीनेवाला जीव, उसमें जड़पना अर्थात् कि इन्द्रियाँ या राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेष में तन्मय वर्ते, वह जीव नहीं है। एकेन्द्रियादिपना इत्यादि जो व्यवहारजीवत्व है, वह वास्तव में जीव नहीं है। इन्द्रिय के संयोग से जीव को पहिचानना, वह सच्चे जीव की (परमार्थ जीव की) पहिचान नहीं है। चैतन्यभाव में वर्ते, वही सच्चा जीव है। (जीवत्वशक्ति में इस सम्बन्धी बहुत विवेचन आया है)।

अज्ञान के कारण अनादि से देह में और रागादिभावों में अपनेरूप से वर्तता था, तब अशुद्ध परिणमन था, उसमें जीव का वास्तविक जीवत्व नहीं था, शोभा नहीं थी। स्वलक्ष्य से सम्यग्दर्शन होने पर चेतना का सम्यक् परिणमन हुआ, उसमें जीव का वास्तविक जीवत्व है और उसमें जीव की शोभा है।

जीव का सच्चा जीवत्व और जीव की शोभा किसमें है?

✦ क्या राग में वर्ते, वह जीव का जीवत्व है?

— नहीं; राग में वर्ते, उसमें जीव की शोभा नहीं।

✦ क्या व्यवहार के विकल्प में वर्ते, उसमें जीव की शोभा है?

— नहीं; विकल्प में वर्ते, वह जीव का सच्चा जीवत्व नहीं है।

✦ क्या देह और इन्द्रियों में जीव का जीवत्व है?

— नहीं; उसमें भी जीव की शोभा नहीं है, जीवत्व नहीं है।

यह तो सब अ-जीव है; जीव का स्वभाव नहीं, इसलिए अजीव है; उसके आधार से जीव का सच्चा जीवत्व प्रगट नहीं होता।

भाई! यह तेरे स्वभाव की बात है। आत्मा का सत्स्वभाव जैसा है, वैसा जाने बिना कभी सत् प्रगट नहीं होगा और असत्पना टलेगा नहीं। एक बार धीरज से अन्दर देख तो सही कि अनन्त गुण से भरपूर तेरा तत्त्व कैसा है?

कोई उकताहट से कहता है कि 'यह बात कठिन लगती है।' तो कहते हैं कि अरे, भगवान आत्मा की भावना तूने छोड़ दी और विकार की भावना की है, इसलिए तुझे विकार सुगम लगता है और आत्मा तुझे कठिन लगता है। इसलिए तू आत्मा की चाहरहित का बहिरात्मा है। आत्मा का कामी हो, उसे उसकी भावना में अरुचि नहीं आती, परन्तु बारम्बार उसकी भावना करने का उत्साह होता है और उसमें आनन्द आता है। विषय-कषाय के भावों में चौबीस घण्टे वर्तते हुए उसमें तुझे उकताहट नहीं आती और आत्मा की भावना में तुझे उकताहट आती है!—तो तू ही निर्णय कर ले कि तेरी रुचि का झुकाव कहाँ है? अरे! यह तो वीतरागी सन्त तुझे तेरा 'आत्मवैभव' दिखलाते हैं। जिसे देखने पर तुझे अपार आनन्द होगा और आत्मा की वास्तविक रुचि करके समझना चाहे तो अपना स्वरूप सुगमता से समझ में आये, ऐसा है। यह कोई पर की वस्तु नहीं परन्तु अपनी ही वस्तु है; स्वयं अपना स्वरूप समझना चाहे तो न समझ में आये, ऐसा कैसे बने?

भगवान आत्मा महान पदार्थ, वह अपनी चैतन्यशक्ति बिना किसमें टिके? किसमें वर्ते? किसमें रमे? राग में और परभाव में रमे, उसे तो वास्तविक आत्मा कौन कहे? अनन्त गुणों में व्याप्त अपनी चैतन्यशक्ति में जीव वर्तता है—रमता है—टिकता है। यदि वह शक्ति न हो तो आत्मा जड़ हो जाये। यह चैतन्यशक्ति आत्मा को कभी जड़ नहीं होने देती, इसलिए इसका लक्षण 'अजड़त्वस्वरूप' है। ऐसी अजड़त्व लक्षणवाली चेतनाशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। ऐसे आत्मा को जो जानता है, उसे तो अनुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है; और ऐसा हो, तब सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है। सम्यग्दर्शन बिना आत्मा को पहिचाना कहाँ से? और पहिचान बिना धर्म कैसा?

आत्मा जहाँ स्वानुभव करता हुआ जागृत हुआ और उसकी चैतन्यशक्ति का निर्मल परिणमन हुआ, उसमें शुभविकल्प इत्यादि व्यवहार का अभाव है। यहाँ 'अजड़त्व' ऐसा कहकर उस अभाव की बात बतला दी है। आत्मा के निर्मल परिणमन में चितिशक्ति की अस्ति, और उसमें जड़ता की नास्ति—ऐसे एक शक्ति के वर्णन में अस्ति-नास्ति दोनों समाहित हो जाते हैं। निर्मल गुण-पर्याय, वह जीव—ऐसी अस्ति कहने पर, व्यवहार के विकल्प इत्यादि जीव नहीं—ऐसा नास्ति का ज्ञान उसमें आ गया। शुद्ध जीव

को 'अजड़' कहकर वास्तव में तो उनसे अन्य सब भावों को जड़ के पक्ष में डाल दिया—इस प्रकार स्पष्टरूप से दो भाग विभाजित कर दिये।

आत्मा की चितिशक्ति में राग-द्वेष की उत्पत्ति करनापना नहीं है, वह तो चैतन्यभाव को ही उत्पन्न करनेवाली है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को लक्ष्य में लेते ही राग-द्वेष रहित चैतन्यपर्याय प्रगटी; निर्मलशक्ति के साथ उस पर्याय की एकता हुई और रागादि के साथ की एकता टूटी। ऐसे स्वभाव की अस्ति और विभाव की नास्ति (निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध), ऐसी दोनों बातें साथ की साथ ही है। एक पहलू यथार्थ जानने पर सब पहलुओं का ज्ञान उसमें आ जाता है।

शुभराग द्वारा चैतन्यभाव प्रगटे, ऐसा कारण-कार्यपना नहीं है, परन्तु चितिशक्ति के आश्रय से चैतन्यभाव प्रगटे, ऐसा कारण-कार्यपना है तथा चैतन्यभाव की अस्ति में राग की नास्ति—ऐसा अस्ति-नास्तिपना है।

यहाँ 'चितिशक्ति के आश्रय से चैतन्यभाव प्रगटे' ऐसा कहा, उसमें चितिशक्ति का आश्रय कहने से चितिशक्तिवाले पूरे आत्मा का आश्रय समझना, उसके आश्रय से चैतन्यभाव अर्थात् अनन्त गुणों की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। बाकी एक गुण को पृथक् लक्ष्य में लेकर आश्रय करने जाने से तो विकल्प होता है, निर्मलता नहीं होती।

अपनी आत्मशक्ति को भूलकर जीव ने अनन्त बार शुभभाव किये, परन्तु उसमें कहीं धर्म था? वह तो राग था। वह कहीं आत्मा की चितिशक्ति का काम नहीं था। यदि चितिशक्ति राग को करने लगे तो आत्मा 'अ-जड़' न रहे परन्तु जड़रूप हो जाये, अर्थात् कि स्व-पर को जान न सके। चितिशक्ति के कारण पूरा आत्मा (उसके सब गुण-पर्यायें) अजड़रूप है। इस शक्ति का कार्य स्व-पर को चेतने का है; राग उसका कार्य नहीं, क्योंकि राग में कहीं स्व और पर को चेतने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए तो उसे जड़स्वरूप कहकर अत्यन्त भेदज्ञान कराया है। वाह! एक ओर अजड़स्वरूपी भगवान आत्मा, तथा दूसरी ओर जड़स्वरूप रागादि समस्त भाव। स्पष्ट विभाजन करके भेदज्ञान कराया है।

जहाँ इतना स्पष्ट भेदज्ञान कराया है, वहाँ शुभराग से स्वभाव प्रगट हो, यह बात

कहाँ रही? निर्मल पर्याय प्रगटी, वह स्वभाव के आश्रय से प्रगटी है, कोई पर या शुभविकल्प उसका कारण नहीं है। चितिशक्ति को (या आत्मा की किसी भी शक्ति को) राग के साथ कारणकार्यपना नहीं है। चितिशक्ति में (या आत्मा की एक भी शक्ति में) राग कहाँ है कि वह राग को करे? शक्ति में तो राग का अभाव है; शक्ति में से राग प्रगट नहीं होता और शक्ति राग को करती नहीं। शुभाशुभराग होता है, वह कहीं आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं है। निर्मलपर्यायों के साथ ही शक्ति को कारण-कार्यपना है। यह बात भी खास समझने योग्य है। निश्चय-व्यवहार इत्यादि के स्पष्टीकरण इसमें समाहित हो जाते हैं।

अब यहाँ इन जीवत्व इत्यादि शक्तियों में उपशमादि पाँचों भावों में से कौन से भाव लागू पड़ते हैं—यह बात लेते हैं। यहाँ 'ज्ञानमात्र भाव' के साथ परिणमती शक्तियों की बात है अर्थात् कि निर्मलरूप से परिणमती शक्तियों की बात है। इसलिए उदयभाव इसमें लागू नहीं पड़ता क्योंकि वह तो विकार है। त्रिकाली शक्ति, वह पारिणामिकभाव से वर्तती है। और उसके आश्रय से जो निर्मल परिणमन हुआ, उसमें उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकरूप निर्मलभाव समाहित होता है; उदयभाव उसमें समाहित नहीं होता। अज्ञानी को उदयभाव है तथा साधक को भी भूमिकाप्रमाण उदयभाव वर्तता है परन्तु उसे वास्तव में शक्ति का भाव नहीं कहते। शक्ति, वह पारिणामिकभाव से और उसकी पर्याय उपशमादि निर्मलभावरूप से है। (इतनी विशेषता है कि ज्ञान इत्यादि कितने ही गुणों की पर्याय में उपशमभाव नहीं होता, उसमें क्षयोपशम और क्षायिकभाव होता है। उदयभाव को तो यहाँ भिन्न ही गिना है, क्योंकि वह वास्तव में शक्ति का कार्य नहीं है।)

एक-एक शक्ति में अपने स्वतन्त्र छह कारक, चार निर्मल भाव इत्यादि वैभव भरा हुआ है और ऐसी अनन्त शक्ति का वैभव आत्मा में है। यह कहीं रट-रटकर जबरदस्ती याद रखना पड़े, ऐसा नहीं है परन्तु अन्तर में वस्तु है, उसे दृष्टि में लेने का है। दृष्टि करते ही यह सब दौलत (आत्मवैभव) प्राप्त होता है।

जैसे आत्मस्वभाव अनादि-अनन्त सहजस्वभाव से वर्तता है, वैसे उसकी ज्ञानादि अनन्तशक्तियाँ भी किसी निमित्त बिना अहेतुकरूप से अनादि-अनन्त परमपारिणामिकभाव

से वर्तती है और उस पर दृष्टि करने से वह उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभावरूप से परिणमती है। इस प्रकार यहाँ शक्ति में चार भाव लागू पड़ते हैं, यहाँ उदयभाव लागू नहीं पड़ता। पाँच भावों में से सिद्ध को दो भाव होते हैं; साधक को पाँचों भाव होते हैं, परन्तु उसमें से उदयभाव को वास्तव में जीव नहीं कहते। शक्ति के साथ अभेदरूप ऐसा निर्मलभाव प्रगट हो, उसे ही जीव कहते हैं।

अहो! ऐसी वस्तु को जानने से आत्मा स्वयं केवलज्ञान के भणकार करता हुआ जागता है, क्योंकि आत्मा में 'सर्वज्ञत्वशक्ति' है, इसलिए उसे जानने से केवलज्ञान का भणकार आता है। आत्मा की शक्ति में केवलज्ञान भरा है तो उसमें से प्रगट होता है। केवलज्ञान कहीं वज्रदेह में से नहीं आता, पुण्य-पाप में से नहीं आता; अल्पज्ञपर्याय में से नहीं आता; परन्तु शक्ति में से आता है। जिसमें जो भरा हो, उसमें से ही वह आता है; न हो उसमें से नहीं आता। आत्मा में ज्ञानशक्ति भरी है, इसलिए उसमें से ज्ञान आता है परन्तु उसमें से राग नहीं आता। जिसमें केवल...ज्ञान भरा हो, उसमें एकाग्र होने पर केवलज्ञान आवे या राग आवे? ज्ञान में से ज्ञान आता है परन्तु राग नहीं आता; चितिशक्ति पारिणामिकभाव से है और उसमें से केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह क्षायिकभाव से है, सिद्ध भगवन्तों को ये दो भाव होते हैं। अरिहन्त-भगवन्तों को भी ये दो भाव होते हैं; जरा उदयभाव है परन्तु उसकी आत्मा में गिनती नहीं है, क्योंकि पहले से ही उदयभाव का निषेध करते-करते अरिहन्त हुए हैं, साधक को पहले से ही उदयभाव का निषेध करके पारिणामिकस्वभाव की ओर झुकाव हुआ है—तब तो साधकभाव शुरु हुआ है।

इस प्रकार शक्ति में पाँच भाव की बात की; अब उसमें नौ तत्त्व लें तो—

त्रिकाली ज्ञानादि शक्ति, वह शुद्धजीवतत्त्व;

उस शक्ति की जो निर्मलपर्याय हुई, वह संवर-निर्जरा और मोक्षतत्त्व

अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव और बन्ध, ये तत्त्व इस शक्ति में नहीं आते, शक्ति के निर्मल परिणमन में उनका अभाव है।

इस प्रकार प्रत्येक शक्ति में उसके स्वतन्त्र छह कारक, पाँच भाव तथा नव तत्त्व लागू करके समझना चाहिए।

किसी को यह सूक्ष्म लगे, परन्तु मेरे आत्मा के अपने वैभव की बात है—ऐसा लक्ष्य में लेकर उत्साहपूर्वक समझने का प्रयत्न करना चाहिए, तो अवश्य समझ में आये ऐसा है। प्रभु! तेरी प्रभुता क्या काम करती है, इसकी तुझे खबर नहीं, वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। पर्याय ने अन्तर्मुख होकर जहाँ द्रव्य की शरण ली, वहाँ निर्मलता प्रगट हुई, उसमें उपशमादि तीन भाव तथा संवर-निर्जरा और मोक्षतत्त्व समाते हैं। तुझमें ऐसी प्रभुता सदा भरी है परन्तु उस प्रभुता को भूलकर तू पामर हुआ है कि मुझे राग बिना नहीं चलता। अज्ञानी लोग संयोग के और राग के गीत गाते हैं, यहाँ सन्त आत्मा की प्रभुता के वीतरागी गीत सुनाते हैं।

लोग कहते हैं कि अनाज-पानी की असुविधा में जीना कैसे? परन्तु भाई! अनाज-पानी से जीया जाये, वह जीवन ही तेरा नहीं है; चैतन्यप्राण से जीया जाये, ऐसा जीवन तुझमें है। तुझमें ऐसी जीवत्वशक्ति है कि अनाज इत्यादि संयोग बिना तेरा जीवन टिके। और तेरी चेतनाशक्ति आत्मा को कभी जड़ नहीं होने देती। राग बिना भी जीवे, ऐसा तेरा स्वभाव है। राग में भी तेरा वास्तविक जीवन नहीं, तेरा जीवन तो ज्ञानमय है। ऐसे चैतन्यस्वभाव में दृष्टि होने पर रागरहित अजड़त्वरूप अर्थात् कि चेतनरूप परिणमन प्रगट होता है; उस चेतना में जड़ता का अभाव है। भगवान आत्मा 'अ-जड़' है , जड़ का (अर्थात् कि शुद्ध जीव से भिन्न अन्य समस्त भावों का और शरीरादि का) एक अंश भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है; और उसका भान करने पर पर्याय में भी ऐसा परिणमन प्रगट होता है।

आत्मा चेतन का स्वामी है, जड़ का स्वामी नहीं, इसलिए अजड़ है। जड़ का स्वामी जड़ होता है, जड़ का स्वामी चेतन नहीं होता; क्योंकि स्व और स्वामी दोनों की जाति एक होती है। राग का विकल्प, वह भी वास्तव में चेतनता से बाहर है, उसे जो निजरूप मानता है, वह वास्तव में आत्मा को जानता नहीं है। चितिशक्तिवाले आत्मा का अनुभव होने पर पर्याय में से विकाररूप जड़ता छूटकर चेतनभाव प्रगट होता है। विकार के एक अंश का भी कर्तृत्व रहे या उसमें लाभबुद्धि रहे तो चेतना का पिण्ड आत्मा अनुभव में नहीं आता। आत्मा निर्मल गुण-पर्याय का पिण्ड है, उसके साथ के राग को या शरीर को आत्मा नहीं कहते।

जैसे मधुर मुरली के नाद से सर्प जहर को भूलकर डोल उठता है, उसी प्रकार हे जीव! आत्मा की शक्तिरूपी मधुर मुरली के नाद से सन्त तुझे कहते हैं कि अरे जीव! तू जाग... जाग। तेरी आत्मशक्ति के क्या गुणगान! तेरी शक्ति का क्या माप! एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थ्य से भरपूर;—ऐसे तेरे स्वभाव को अभिन्नरूप से जान, उसमें तन्मय होकर जान, और रागादि को भिन्नरूप जान। जिसे जानने से विकार का जहर उतर जाता है और आनन्द के अनुभव में आत्मा डोल उठता है, ऐसी यह ४७ शक्तियों की मुरली है। ऐसी आत्मस्वरूप की कथा, वह सच्ची धर्मकथा है। देह की क्रिया से या राग से लाभ हो—ऐसे श्रवण का प्रेम, वह तो विकथा का श्रवण है, उसमें मिथ्यात्व का सेवन होता है, उसे धर्मकथा नहीं कहते। यह तो वीतराग ने जानी हुई, वीतराग ने कही हुई और वीतराग होने के लिये आत्मा के वीतरागी वैभव की बात है। जो राग से लाभ मानता है, उसे आत्मा के वीतरागी वैभव की खबर नहीं। वह तो राग को ही आत्मा का वैभव मानता है। जिससे लाभ माने, उसका सेवन कैसे छोड़े? राग से लाभ माननेवाले ने आत्मा को चितिशक्तिवाला नहीं जाना, परन्तु रागवाला जाना, जड़ जाना। हे चैतन्य! जागृत होकर तेरे निजस्वभाव की खान में दृष्टि कर! उसमें राग का अंश नहीं, परमाणु उसे स्पर्शे नहीं—ऐसे चित्स्वभाव में जो पर्याय उन्मुख हुई, उसमें जड़पना टलकर अजड़पना हुआ, चितिशक्ति का प्रकाश प्रगट हुआ। ऐसा हो, तब ही चितिशक्तिवाले आत्मा को जाना कहलाता है।

राग को तोड़कर जो सर्वज्ञ हुए हैं, विकल्प का एक अंश भी जिनके पास नहीं है, उनकी सहज वाणी में भी ऐसा नहीं आता कि विकल्प से लाभ होगा। आत्मा जहाँ वीतरागभावरूप परिणम गया, वहाँ वाणी भी ऐसी ही (वीतरागता का ही उपदेश देनेवाली) परिणमे—ऐसा सुमेल है। सर्वज्ञदेव रागरहित निर्दोष और उनकी वाणी भी रागरहित निर्दोष, तथापि दोनों का परिणमन स्वतन्त्र। सर्वज्ञ का आत्मा अपनी चितिशक्ति में अजड़त्वरूप से परिणमता है और वाणी उसके अचेतनस्वभाव में जड़त्वरूप से परिणमती है।

अजड़ ऐसी चितिशक्ति अनन्त गुणस्वरूप सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है। उस शक्ति

के छहों कारक स्वतन्त्र है अर्थात् राग था, इसलिए चितिशक्ति का निर्मल परिणमन प्रगट हुआ—ऐसा नहीं है।

चितिशक्ति आत्मा के आधार से एक समय में कारण-कार्य रूप से स्वयं ही परिणमती है; अर्थात् उसकी ध्रुवता को उत्पाद-व्यय स्वयं से ही है।

अहा, कुन्दकुन्दचार्यदेव की और अमृतचन्द्राचार्यदेव की अजब शैली है; वीतरागता के वचनों का रहस्य संक्षिप्त में बतला दिया है।

आत्मा चितिशक्तिरूप है, उसका कार्य ज्ञानचेतना है। राग तो कर्मचेतना है, वह चितिशक्ति का वास्तविक कार्य नहीं है। यदि शक्ति का कार्य विकार हो तो पूरा आत्मा ही विकारी हो गया; क्योंकि कार्य-कारण एक ही जाति के होते हैं। जिसे अपना कार्य स्वीकार करे, उसे अपने से भिन्न नहीं मान सकता। अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा में एक भी ऐसा गुण नहीं कि जो विकार का कारण हो या जड़रूप हो।

हे जीव! तेरे गुण-पर्याय कैसे हैं, उसका माहात्म्य तूने जाना नहीं और पर का माहात्म्य माना है। तेरे स्ववैभव को तू भूला, इसलिए संसार में भटका। यहाँ आचार्यदेव समस्त निजवैभव से एकत्व आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं। आत्मा की शक्ति में जहाँ राग का भी कर्तृत्व नहीं, वहाँ पर के कर्तृत्व की क्या बात?

कोई कहे कि '**आत्मा को पर का कर्ता न माने, वह जैन नहीं।**' अरे भाई! ऐसा कहना, वह तो वीतरागमार्ग की महाविराधना है; राग से लाभ मानना, वह तो वीतरागमार्ग को राग में रुला डालने जैसा है। भाई! इसका फल भोगना बहुत कठोर पड़ेगा। वीतराग का मार्ग ऐसा नहीं है। यहाँ तो पर से और राग से भिन्न ऐसी आत्मशक्तियों का वर्णन है।

ध्रुव में एकाग्र होने पर पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है; वह क्षणिक पर्याय अन्तर में अभेद होती है। इस प्रकार ध्रुवपना और क्षणिकपना दोनों एक समय में चितिशक्ति में (और इस प्रकार प्रत्येक शक्ति में) आ जाता है। आत्मा की अनन्त शक्तियों में से एक चितिशक्ति का कार्य क्या, उसका परिणमन क्या? तो कहते हैं कि स्वयं अजड़भाव से परिणमे और दूसरे अनन्त गुणों को भी अजड़ अर्थात् कि चेतनभाव से परिणमावे, ऐसा चितिशक्ति का कार्य है। एक-एक समय की पर्याय में अनन्त शक्तियाँ एक साथ

परिणमती हैं। गुणभेद से प्रत्येक गुण का सामर्थ्य भिन्न होने पर भी आत्मद्रव्य के सामर्थ्य में सभी गुणों का सामर्थ्य समाहित हो जाता है। अभेद आत्मा के अनुभव में अनन्त गुण की निर्मलता का वेदन एकसाथ है। (सर्व गुणांश, वह सम्यक्त्व)।

अहो, आत्मा चैतन्य-महासत्ता है, उसे लक्ष्य में ले। उसमें लक्ष्य जाने पर, ज्ञान जिसका लक्षण नहीं—ऐसे समस्त परभावों का लक्ष्य छूट जायेगा। एक आत्मा में अनन्त गुण, एक-एक गुण में अनन्त पर्याय का सामर्थ्य, और एक-एक पर्याय में भी सर्वज्ञता इत्यादि का अनेक सामर्थ्य,—इतना जीवतत्त्व है। 'ऐसा है' ऐसा अस्ति से कहने पर 'रागादिरूप नहीं' ऐसी नास्ति की बात भी उसमें समाहित हो जाती है। ऐसे जीवतत्त्व को जानकर उसमें एकाग्र होने पर संवर-निर्जरा-मोक्षरूप निर्मलभाव प्रगट हुए, उसमें अजीव का तथा आस्रव-बन्ध का अभाव है। जिसका अभाव है, उसे याद न करके, जो अस्तिरूप—सत्स्वभाव है, उसे बतलाया है।

देखो, यह आचार्यदेव की शैली! बहुत गम्भीरता है। शुरुआत के मंगलाचरण में भी '**नमः समयसाराय**' ऐसा कहकर इस 'समयसार' के चार विशेषण अस्तिरूप वर्णन किये—

भावाय, ऐसा कहकर सत्तारूप **द्रव्य** बतलाया।

चित्स्वभावाय, ऐसा कहकर उसका **गुण** बतलाया।

सर्व भावान्तरच्छिदे, ऐसा कहकर **पर्याय की सामर्थ्य** बतलायी।

स्वानुभूत्या चकासते, ऐसा कहकर **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा ही वह अनुभव में आता है**—ऐसा बतलाया।

इसमें नास्ति के बोल की बात नहीं ली, परन्तु इसमें रागादि के अभावरूप परिणमन है, इसलिए रागादि की नास्ति आ ही जाती है। जीव और संवर की अस्ति, उसमें अजीव और आस्रव की नास्ति; देखो, यह जैनधर्म की अनेकान्त शैली! यहाँ जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति इत्यादि शक्तियों के वर्णन में भी अस्ति से बात की है, उसमें रागादि की नास्ति आ ही जाती है। प्रत्येक शक्ति की अस्ति में तथा उसके निर्मल परिणमन में विकार और पर का अभाव वर्तता है।—ऐसा परिणमन प्रगट हो, तब शक्ति का भान

हुआ कहलाता है। शुद्धद्रव्य में लक्ष्य करके जहाँ पर्याय उसमें लीन हुई, वहाँ राग का उसमें अभाव ही है। इस प्रकार चितिशक्ति के परिणमन में अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है। आत्मा के ज्ञानमात्र-भावरूप परिणमन में ऐसी जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति इत्यादि अनन्त शक्तियाँ एकसाथ परिणमती होने से ज्ञानमात्र भगवान आत्मा में स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशित होता है।

अनेकान्तरूप से प्रकाशित इस आत्मा की अनन्त शक्तियों में से पहली जीवत्वशक्ति और दूसरी चितिशक्ति का वर्णन किया। अब, चितिशक्ति में दर्शन और ज्ञान दोनों समाहित हैं; इन दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन तीसरी और चौथी शक्ति में करेंगे।

चितिशक्ति का वर्णन पूर्ण।

* * *

अतीन्द्रिय आत्मा की चितिशक्ति के बल से ज्ञानचेतना प्रगटानेवाले सन्तों को नमस्कार। वे सन्त हमारी आत्मचेतना जागृत करो।

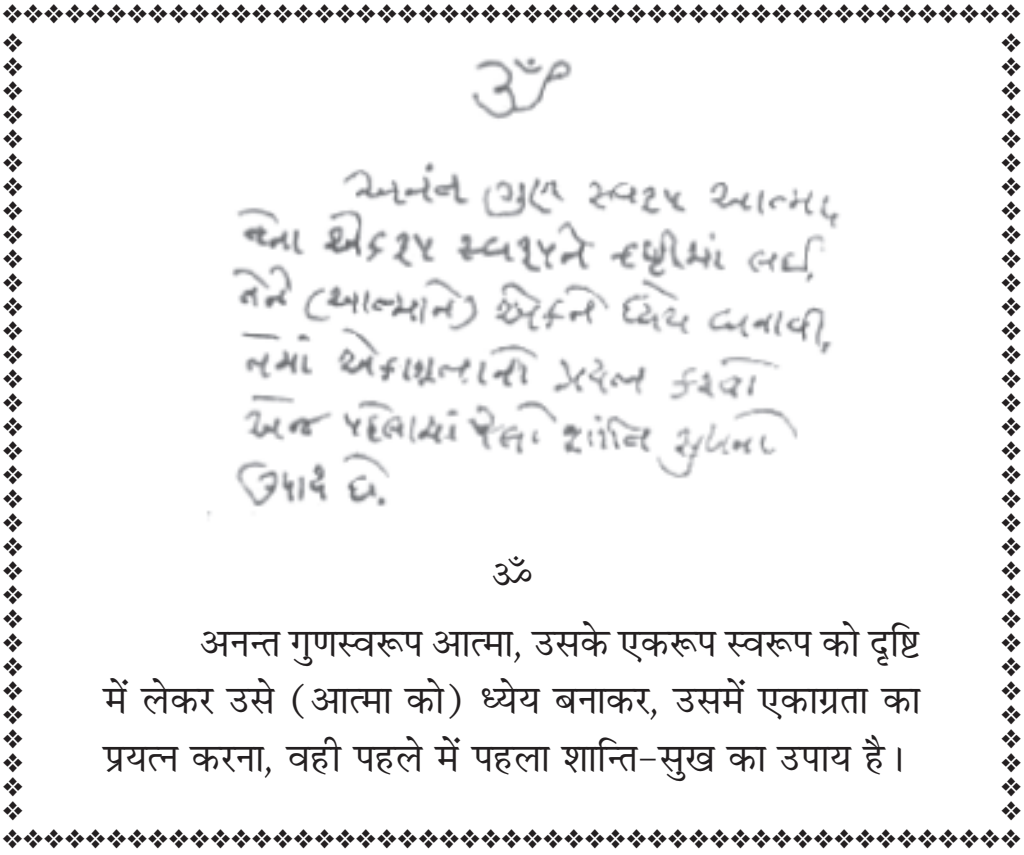

ॐ

अनन्त गुणस्वरूप आत्मा, उसके एकरूप स्वरूप को दृष्टि में लेकर उसे (आत्मा को) ध्येय बनाकर, उसमें एकाग्रता का प्रयत्न करना, वही पहले में पहला शान्ति-सुख का उपाय है।

गुरुदेव के यह मंगल हस्ताक्षर मुमुक्षु को
आत्मध्यान की प्रेरणा देते हैं।

[३]

दृशिशक्ति

अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः, साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः।

अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगी-सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप-दृशिशक्ति अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति।)।३।

भाई! तेरी प्रभुता तुझमें है। तुझे तेरे स्वरूप की खबर बिना धर्म कैसे होगा? इसलिए तेरी शक्ति के वर्णन द्वारा तेरा स्वरूप तुझे बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कैसे होते हैं?—कि अनन्त शक्तिवाले आत्मा को अनुभव करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं।—यही सार है, बाकी तो सब असार है।

आचार्यदेव ने जिसे ज्ञानमात्र कहकर बतलाया है, ऐसे इस आत्मा में अनन्त शक्तियाँ एकसाथ परिणम रही है, इसलिए उसे अनेकान्तपना है। ज्ञानमात्रभाव में जो अनन्त शक्तियाँ हैं, उसमें से आचार्यदेव ने यहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उसमें जीवत्व और चितिशक्ति का वर्णन किया। अब तीसरी दृशिशक्ति है। यहाँ भाषा से वर्णन करने में क्रम पड़ता है परन्तु कहीं गुणों में या उनके परिणमन में क्रम नहीं है; अनन्त गुण सब एकसाथ रहे हुए हैं और सबका परिणमन एकसाथ ही है। एक शक्ति पहले परिणमे और दूसरी शक्ति बाद में परिणमे, ऐसा क्रम नहीं है। शक्तियों में क्रम नहीं होता; पर्यायों में क्रम होता है। शक्तियाँ सहभावी हैं, पर्यायें क्रमभावी हैं—ऐसी अनेकान्तमय वस्तु है।

अनेकान्तवाद वस्तु में जो धर्म है, वही बतलाता है, कहीं नयी कल्पना करके नहीं कहता। केवलज्ञानी भगवान ने जैसा वस्तुस्वरूप जाना, वैसा ही कहा, परन्तु भगवान ने कहीं वस्तुस्वरूप को बनाया नहीं; वस्तु तो स्वयंसिद्ध सत् है, वह सत् जैसा है, वैसा जानकर जिनवाणी ने और वीतरागी सन्तों ने प्रसिद्ध किया है। अपने आत्मा में जो शक्ति थी, उसे खोलकर पर्याय में प्रसिद्ध किया और वाणी द्वारा जगत को उसे बतलाया। स्वसन्मुख होने पर साधक को एक साथ अनन्त गुणों में निर्मल परिणमन शुरु होता है, इसलिए श्रीमद् राजचन्द्रजी ने 'सर्वगुणांश, वह सम्यक्त्व'—ऐसा कहा है।

तीसरी दृशिशक्ति है; वह अनाकार उपयोगरूप है। दर्शनक्रियारूप इस शक्ति का पूर्ण कार्य सर्वदर्शित्व है, उसका वर्णन आगे नौवीं शक्ति में करेंगे। मात्र परलक्ष्य से काम करे, वह दर्शन नहीं, परन्तु स्वलक्ष्य से आत्मा को पकड़ने का जो दर्शन होता है, वही वास्तविक दर्शनोपयोग है।

उपयोग किसका? आत्मद्रव्य का; उसमें समस्त सत्ता को देखने की सामर्थ्य है। ऐसा आत्मा समझकर प्राप्त करनेयोग्य है; बाकी तो संसार में सब असार है। भाई! तेरी प्रभुता अलग प्रकार की है। तुझे तेरे स्वरूप की खबर बिना धर्म कैसे होगा? इसलिए तेरी शक्ति के वर्णन द्वारा तेरा स्वरूप तुझे बतलाते हैं।

जिस शक्तिवान की यह शक्तियाँ हैं, उस शक्तिवान पर दृष्टि करने से शक्ति स्वयं

कारण होकर निर्मल कार्यरूप परिणमती है अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान इत्यादि प्रगट होते हैं। इसमें कारण-कार्य एक समय में इकट्ठे हैं। ऐसा शक्ति का निर्मल कार्य प्रगट करे, तब उस शक्तिवाले आत्मा को वास्तव में जाना कहलाये; नहीं तो शक्ति को जानने का फल क्या? शक्तिवान ऐसे द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से ही उसकी शक्ति का वास्तविक ज्ञान होता है और उसका निर्मल कार्य प्रगट होता है। गुण, गुणी का है; गुणी को जाने बिना उसका गुण कहाँ से ज्ञात हो? भाषा और विकल्प के प्रवाह से भिन्न जो चैतन्यप्रवाह चल रहा है, वही जीव का वास्तविक परिणमन है। इसके बदले भाषा और विकार को अर्थात् अजीव को तथा आस्रव को जो अपना परिणमन मानता है, वह सच्चे जीवतत्त्व को नहीं जानता। जैसे पानी के पूर के किनारे खड़ा हुआ पागल मनुष्य 'यह मेरा पानी चला जा रहा है'—ऐसा मानता है; उसी प्रकार जगत के पदार्थों में परिणमन का पूर चला जा रहा है, वहाँ मूढ़ जीव उसे अपना मानता है। परन्तु भाई! जगत के प्रवाह से पृथक् तेरा चैतन्यपूर तेरे अन्तर में चल रहा है, उसे तो देख।

जीव जहाँ अपने स्वभाव को जानता है, वहाँ तो अन्दर से केवलज्ञान की भणकार बजती है कि अब मेरे इस स्वभाव में से थोड़े काल में मैं केवलज्ञान लूँगा। भगवान की दिव्यवाणी ऐसे स्वभाव को प्रसिद्ध करती है। भगवान को कुछ इच्छा या विकल्प नहीं तथा भाषा के वे कर्ता नहीं, परन्तु भव्य जीवों के भाग्योदय से ऐसी वाणी सहज प्रगट होती है और अरिहंतदेव में भी अभी उस प्रकार के वचनयोग की योग्यता है, वह वाणी अनन्त गुणसम्पन्न आत्मा को प्रसिद्ध करती है, उसका यह वर्णन है। यहाँ गुणभेद से कथन है, परन्तु कहीं गुणभेद नहीं बतलाना है, अनन्त गुणस्वरूप पूरा आत्मा बतलाना है।

स्वसत्तासहित महासत्ता को देखनेवाली दृशिशक्ति है। वह शक्ति अपने में विषय को सामान्यरूप से अर्थात् कि अनाकाररूप से ग्रहण करती है। परन्तु जो दर्शन आत्मा को छोड़कर दूसरे सबकी सत्ता को देखे, उसे दर्शनशक्ति का वास्तविक कार्य नहीं कहते। आत्मा सहित सर्व पदार्थों की सत्ता को जो देखे, वही दर्शनशक्ति का वास्तविक कार्य है। द्रव्य-गुण में रही हुई दर्शनशक्ति पर्याय में वास्तव में कब परिणमती है?—कि

जब अखण्ड उपयोग से स्व को पकड़े तब। अकेले पर को जानते हुए पहले अज्ञानी को उसका जो सामान्यदर्शन वह तो 'पर समय' है; स्व को जानते हुए स्व में दर्शन उपयोग को जोड़े, वह 'स्व समय' है। वहाँ दर्शनगुण निर्मल परिणमकर द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है; और वह आत्मा है। ऐसे आत्मा को जाने, तब आत्मा को जाना कहलाये और तब आत्मा प्रसिद्ध होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कैसे होता है ? कि ऐसी अनन्त शक्तिवाला आत्मा है, उसे अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। आत्मा की शक्तियाँ पारिणामिकस्वभाव से त्रिकाल है; और उसकी सन्मुखता से उनका जो निर्मल परिणमन होता है, वह उपशमादिभावरूप है। उसमें उदयभाव का अभाव है।

जिनके असंख्यप्रदेश में अनन्त चैतन्यसूर्य खिले हैं, ऐसे वीतराग परमेश्वर ने आत्मा का स्वरूप कैसा जाना है, उसकी यह बात है। वीतरागमार्गी सन्तों ने अपने अनुभव में लेकर यह बात प्रसिद्ध की है। हित करने के लिये अपना द्रव्य कैसा ? गुण कैसे ? और उसके आश्रय से पर्याय प्रगट होती है, वह कैसी है—यह जानना चाहिए।

आत्मा में एक उपयोगस्वभाव है—उसमें दर्शन और ज्ञान समाहित होते हैं। शुद्ध चैतन्य का अन्तरदर्शन होने पर अनन्त धर्मवाला पूरा आत्मा प्रतीति में आता है, ऐसे उपयोगधर्म में शुभाशुभ उपयोग का अभाव है; क्योंकि यहाँ तो आत्मा के स्वभावधर्मों का वर्णन है। जो शुभाशुभपरिणाम में जुड़ा हुआ अशुद्ध उपयोग है, वह कहीं धर्म नहीं। आत्मा का उपयोग धर्म, वह शुभाशुभ का अकर्ता है।

आत्मा में दर्शनशक्ति तो अनादि की है, परन्तु अनादि से परसन्मुख व्यापार के कारण उसका वास्तविक परिणमन खिलता नहीं; जो दर्शन स्वसन्मुख होकर परिणमे, वही वास्तविक दर्शन है। सर्वदर्शित्व को भी 'आत्मदर्शनमय' कहेंगे, अर्थात् कि आत्मसन्मुख दर्शन द्वारा सर्वदर्शित्व प्रगट होता है। एक दर्शनगुण के सामने देखने की यह बात नहीं है, परन्तु दर्शनगुण का धारक जो आत्मस्वभाव है, उसके सन्मुख दृष्टि और एकाग्रता, वह मोक्षमार्ग है।

आत्मा के अनन्त गुणों की भाँति इस दर्शनगुण में भी अपने छहों कारक स्वाधीन हैं। जो शुद्ध दर्शन उपयोग प्रगट हुआ, वह दर्शनशक्ति को ही साधन बनाकर उसके

अवलम्बन से ही प्रगट हुआ है, उसमें कोई इन्द्रियों का या रागादि का अवलम्बन नहीं है। निमित्त का या विकल्प का आश्रय करके जो उपयोग काम करे, वह आत्मा का वास्तविक उपयोग नहीं है। पर के अवलम्बन बिना का उपयोग, वही आत्मा की शक्ति का वास्तविक कार्य है। उपयोग को तो 'चैतन्य-अनुविधायी' कहा है अर्थात् कि वह चैतन्य को अनुसरण करनेवाला है, राग को या पर को अनुसरण करे, उसे वास्तव में जीव का उपयोग नहीं कहते। शक्ति के साथ एकता धरकर परिणमे, उस परिणाम को ही शक्ति का कार्य कहा जाता है; राग के साथ एकता करके परिणमे, उसे शक्ति का कार्य नहीं कहा जाता।

वाह, देखो! स्वाश्रित परिणतिरूप निश्चय में पराश्रितपनेरूप व्यवहार का अभाव है। दर्शन के स्वाश्रितभाव में अपने छहों कारक स्वतन्त्र हैं, पर से निरपेक्ष हैं; राग उसका साधन नहीं; शक्ति में जो भरा है, वह राग के अवलम्बन बिना अपने ही अवलम्बन से प्रगट होता है। अर्थात् गुण की दशा प्रगट होने में स्वसन्मुख होने का रहा। पर के सन्मुख देखने का नहीं रहा। शक्ति, वह ध्रुव और उसके अवलम्बन से निर्मल पर्याय का उत्पाद हुआ।—ऐसा त्रिकालीपना और क्षणिकपना दोनों अपने उपादान में समाहित हैं। ध्रुवपना और क्षणिकपना दोनों धर्म अनेकान्त में आ जाते हैं। ऐसा जैनधर्म का वस्तुस्वरूप है। ऐसा वस्तुस्वरूप जाने, उसे जैन कहा जाता है। अपने धर्म या पर्यायें पर से होना जो मानता है, वह जैनधर्म के वस्तुस्वरूप को नहीं जानता।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है। ध्रुवरूप अनन्त गुण एकसाथ अक्रम से है और प्रत्येक गुण में उत्पाद-व्ययरूप पर्याय क्रम-क्रम से होती है। स्वभाव का आश्रय होने पर आत्मा में मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय का क्रम वर्तता है। आत्मा की एक-एक शक्ति अपने द्रव्य-गुण और निर्मलपर्याय, तीनों में विस्तरित है, परन्तु विकार में उसका विस्तार नहीं है। आत्मशक्ति की अद्‌भुत बात इस समयसार में है; और उसमें भी यह ४७ आत्मशक्तियाँ वर्णन करके आचार्यदेव ने कमाल किया है। 'अहो! ऐसी मेरी चीज़! उसे मैंने पूर्व में नहीं पहिचाना'—इस प्रकार यदि आत्मा का सच्चा प्रेम आवे तो उसकी पहिचान किये बिना रहे नहीं। अनन्त काल के जन्म-मरण के दुःख की गाँठ आत्मा की समझण बिना नहीं टूटती।

आत्मा की दर्शनशक्ति की स्वाश्रित परिणति में चक्षुदर्शन इत्यादि क्षयोपशमभाव से है और केवलदर्शन क्षायिकभाव से है। इसमें उपशमभाव नहीं होता; उदयभाव का भी इसमें अभाव है। उस काल में साधक को थोड़ा सा उदयभाव वर्तता हो तो भी निर्मलभाव में उसका अभाव है। उसका अभाव है, वह साधन किस प्रकार होगा?

इस दर्शन उपयोग का स्वरूप जरा सूक्ष्म है। भगवान के दर्शन किये, वह कहीं दर्शन-उपयोग नहीं है, वह तो ज्ञान है; परन्तु उसके पहले अन्दर एक दर्शन उपयोग परिणमता है। छद्मस्थ को ज्ञान-दर्शन में ऐसा क्रम होता है, सर्वज्ञ को तो दर्शन-ज्ञान दोनों साथ में होते हैं।

'चक्षुदर्शन' कहा, तथापि वह कहीं चक्षु द्वारा नहीं होता। आँख से देखा कि यह भगवान है—वह तो ज्ञान हो गया; चक्षु द्वारा होनेवाला दर्शन, वह चक्षुदर्शन—ऐसा कोई चक्षुदर्शन का अर्थ नहीं है, परन्तु चक्षु के विषय को जानने से पहले छद्मस्थ का जो उपयोग, वह चक्षुदर्शन है। कोई कहे कि तुम शब्द का सीधा अर्थ क्यों नहीं करते? गला मरोड़कर क्यों अर्थ करते हो? तो धवलाटीका में वीरसेनस्वामी कहते हैं कि प्रकरण के अनुसार यही सीधा अर्थ है, अभिप्राय अनुसार अर्थ करना, यही सीधा अर्थ है।

'ऐसे तीर्थंकर भगवान हैं, ऐसा समवसरण है, मैं समवसरण में बैठा हूँ और प्रभु की वाणी सुनता हूँ' ऐसे पूर्व का भास होना, वह ज्ञान है। स्मृति का एक प्रकार है; वह कहीं दर्शन उपयोग नहीं है। दर्शन उपयोग में इस प्रकार की विशेषता नहीं होती। दर्शन उपयोग कोई भिन्न कारकों की अपेक्षा बिना स्वसत्ता के अभिन्न कारकों से परिणमता है। अहो, ऐसी स्वसत्ता! उसकी महिमा कर, उसे लक्ष्य में ले। उसके आश्रय से ज्ञानभाव प्रगट होगा और उस ज्ञानभाव के साथ केवलदर्शन परिणति भी साथ ही उछलेगी। दृशिशक्तिवाले आत्मा की दृष्टि का यह फल है।

दृशिशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

दृशिशक्ति सम्पन्न आत्मा को देख-देखकर सर्वदर्शी बनूँ।

[४]

ज्ञानशक्ति

साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः।

साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है, ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।)।४।

जिसके असंख्य प्रदेश में अनन्त चैतन्यसूर्य खिले हैं, ऐसे वीतराग परमेश्वर अरिहन्तदेव ने आत्मा का स्वरूप कैसा जाना है, उसकी यह बात है। वीतरागमार्गी सन्तों ने अपने अनुभव में लेकर यह बात प्रसिद्ध की है। हित करने के लिये अपना द्रव्य कैसा? गुण कैसे? और उसके आश्रय से पर्याय प्रगट होती है, वह कैसी है—यह जानना चाहिए।

सन्त तुझे तेरा आत्मवैभव बतलाते हैं।

ज्ञानमात्र आत्मा में अनन्त शक्ति का जो वैभव है, उसे सन्त बतलाते हैं। आत्मा में एक ज्ञानशक्ति है, वह साकार-उपयोगरूप है। दर्शन और ज्ञान दोनों शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में एक साथ है, दोनों का परिणमन भी एकसाथ है, पहले-बाद में नहीं, परन्तु छद्मस्थ को उनके उपयोग में क्रम पड़ता है। केवली को दोनों उपयोग साथ में है।

आत्मा के ज्ञान में अचिंत्य सामर्थ्य है। जगत के सभी द्रव्य, उनके अनन्त गुण, उनकी तीन काल की पर्यायें, उनके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद—इन सबको स्पष्टरूप से जानने की ज्ञानोपयोग की सामर्थ्य है। जगत में अनन्त जीव, उनसे अनन्तानन्तगुणे पुद्गल, उनसे अनन्तगुणे तीन काल के समय, उसकी अपेक्षा अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश, आकाश (के प्रदेशों) से भी अनन्तगुणे धर्मास्ति-अधर्मास्तिकाय के अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेद, उसकी अपेक्षा अनन्त गुणें एक सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त निगोदजीव के छोटे में छोटे (लब्ध्यक्षररूप) ज्ञान के उघाड़ के अविभागप्रतिच्छेद अंश; और उसकी अपेक्षा भी अनन्तानन्तगुणों से भी जिसका माप न हो सके, ऐसी एक केवलज्ञान-पर्याय की सामर्थ्य; ऐसी अनन्त पर्याय की सामर्थ्यवाला एक ज्ञानगुण; और ऐसे अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड एक-एक आत्मा।—आत्मा का कितना वैभव! वाह! सर्वज्ञ प्रभु के भण्डार सन्तों ने खुल्ले रखे हैं।

ऐसे सब भंग-भेदों को जानने की ज्ञान की सामर्थ्य है। अन्दर स्वानुभव में जो आनन्द की तरंग उल्लसित होती है, उसे भी ज्ञान ही जानता है।—इससे ज्ञान 'साकार' है; स्व-पर के समस्त आकारों को वह जानता है। आत्मा को ज्ञान अपेक्षा से 'साकार' कहने पर उसमें कहीं जड़ का आकार नहीं या रंग-रूप नहीं, परन्तु ज्ञान में स्व-पर को जानने की जो विशेष सामर्थ्य है, इस अपेक्षा से 'साकार' कहा गया है। यह साकारपना ज्ञान की सामर्थ्य की अपेक्षा से कहा है; और प्रदेशों की अपेक्षा से आत्मा का असंख्यप्रदेशी अरूपी आकार है, इस अपेक्षा से साकारपना है; परन्तु मूर्तपदार्थ की भाँति आँख से दिखाई दे, ऐसा आकार (वर्णादि) नहीं, इस अपेक्षा से आत्मा निराकार है। आत्मा द्रव्य का जैसा असंख्यप्रदेशी आकार है, वैसा ही उसके सर्व गुणों का आकार है, क्योंकि द्रव्य के और गुण के प्रदेश जरा भी भिन्न नहीं हैं।

देखो, इसमें आकार सम्बन्धी तीन बातें हुईं—

(१) आत्मा निरंजन-निराकार। (मूर्तिक आकार के अभाव के कारण)

(२) आत्मा साकार। (ज्ञान स्व-पर को तथा स्वानुभव में आनन्द तरंग को जान ले, इस अपेक्षा से।)

(३) आत्मा साकार। (अरूपी असंख्यप्रदेशी-आकारवाला है, इस अपेक्षा से)।

यह तो ज्ञानी की गम्भीर बातें हैं... ज्ञान की लीला है!

सिद्ध को भी आकार है। आकार बिना जगत की कोई वस्तु नहीं होती। यहाँ तो ज्ञान का साकारपना स्व-पर को जानने के सामर्थ्य की अपेक्षा से है; उस ज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं। राग की अपेक्षा नहीं; इन्द्रियों का और राग का उस ज्ञान में अभाव है। स्वसंवेदन के समय ज्ञान के साकारपने की कोई खास विशेषता है; उस समय के आनन्द को भी ज्ञान ही जानता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं ध्रुवरूप रहकर, अपनी क्षणिक निर्मल पर्यायरूप परिणमता है, वही ज्ञान का वास्तविक परिणमन है; उस परिणमन में रागादि का अभाव है। ज्ञानशक्ति और उसका परिणमन आत्मा के साथ अभेद है। दोनों के क्षेत्र भिन्न नहीं हैं।

आत्मा को क्षेत्र होता है?—हाँ; असंख्यप्रदेशी क्षेत्र आत्मा को है; वह चौड़ा होकर फैले तो पूरे चौदह ब्रह्माण्ड में विस्तरित हो इतना, उसका क्षेत्रसामर्थ्य है। उस असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में ज्ञान-आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों की निर्मल पर्याय के पाक पकते हैं। ज्ञान की सामर्थ्य ऐसी है कि सब ज्ञेयों के आकार का पार पा ले; उस असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र में अनन्त प्रदेशी ऐसे अलोक का भी पार पा जाता है, उसे भी जैसा है, वैसा जान लेता है। अलोक की अनन्तता का अन्त नहीं आता और तो भी ज्ञान उसे भी जाने बिना नहीं रहता, ऐसी कोई अचिन्त्य सामर्थ्य ज्ञान में हैं।

कोई कहता है कि—शास्त्र बिना ज्ञान कैसे होगा?

तो कहते हैं कि भाई! तेरी ज्ञानशक्ति बिना ज्ञान नहीं होता, परन्तु शास्त्र बिना और इन्द्रियों बिना तो ज्ञान होता है; राग बिना भी ज्ञान होता है। तेरी शक्ति में सामर्थ्य भरी है, वही परिणमकर पर्याय में व्यक्त होती है। वह सामर्थ्य कहीं बाहर से नहीं आती। ऐसी ज्ञानशक्तिवाले आत्मा की दृष्टि बिना अकेले परलक्ष्य से शास्त्र पढ़ जाये तो

उसे 'ज्ञानपरिणति' नहीं कहते। उसे 'ज्ञानचेतना' नहीं कहते, ज्ञानचेतना तो अन्दर में काम करती है। ज्ञान स्वाधीनरूप से अपने ही छहों कारकों से परिणम रहा है।

वाह! यह तो अब समयसार की टोंच (शिखर) के कलश हैं। अरे, ऐसी ऊँची वस्तु तुझमें, उसे लेने का-अनुभव करने का मन क्या तुझे नहीं होता! अन्तर में उसका प्रेम तो कर। तेरी ज्ञानशक्ति त्रिकाल पारिणामिकभाव से तुझमें है, उसके आश्रय से ज्ञान का जो सम्यक्परिणमन हुआ, वह यथार्थ क्षयोपशमभावरूप या क्षायिकभावरूप है। ज्ञानस्वभाव के आश्रय बिना मात्र बहिर्मुख क्षयोपशम को सच्चा क्षयोपशम नहीं कहते, उसे ज्ञान ही नहीं कहते। 'ज्ञान' तो उसे कहा जाता है कि ज्ञानस्वभाव के साथ जो सन्धि जोड़े और सर्वज्ञपद को प्राप्त कराये। जैसे द्रव्य कभी अद्रव्य नहीं होता, चेतन कभी अचेतन नहीं होता; उसी प्रकार ज्ञान के आश्रय से प्रगट हुई परिणति कभी अज्ञानरूप नहीं होती।

भाई! तेरी ज्ञानवस्तु को लक्ष्य में तो ले। कर्म का रोना बन्द कर; तेरी ज्ञानवस्तु में कर्म है ही नहीं।

ज्ञान का उपयोग साकार है; आकार अर्थात् विशेष; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को विशेष कहा जाता है। ऐसे समस्त विशेषरूप आकारों को जानने की ज्ञान की सामर्थ्य है। उसका भान करने से पर्याय में वह पूर्ण प्रगट होता है। वह पूर्ण सामर्थ्य बतलाने के लिये सर्वज्ञशक्ति खास पृथक् (दसवीं) वर्णन करेंगे।

कोई कहे कि इन्द्रियों से ज्ञान होता है।

तो उसने ज्ञानशक्ति को जाना नहीं। यदि इन्द्रियों से ज्ञान होता हो तो :—

एक तो—इन्द्रियों का अभाव होने पर ज्ञान का भी अभाव हो जायेगा, अर्थात् आत्मा का अभाव हो जायेगा;

दूसरा—इन्द्रियों से ज्ञान होता हो तो अतीन्द्रिय ज्ञान (केवलज्ञानादि) सिद्ध ही नहीं होंगे।

और तीसरा—यदि ज्ञान का विशेष कार्य इन्द्रियों ने किया तो सामान्यज्ञान ने उस समय क्या किया? क्या सामान्य विशेष बिना का रहा? तब तो उसका अभाव ही हो

जायेगा। सामान्यरूप से एकरूप टिककर वस्तु समय-समय में विशेषरूप परिणमती है, ऐसा सामान्य-विशेषरूप वस्तुस्वरूप ही है। वस्तु का विशेष परिणमन पर से नहीं होता। तेरी ज्ञानपर्याय (अर्थात् ज्ञान के विशेष) तेरे अस्तित्व में है, इन्द्रिय के अस्तित्व में वे नहीं। ऐसी स्वाधीन ज्ञानशक्तिवाले आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लेना, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

'समयसार' अर्थात् शुद्ध आत्मा, उसकी शक्तियों का यह वर्णन है। जिसे सुख—स्वतन्त्रता और शान्ति चाहिए हो, दुःख—परतन्त्रता और अशान्ति से छूटना हो, उसे अपने स्वभाव को जानना चाहिए, क्योंकि सुख अपने स्वभाव में है। जिनस्वभाव की महिमा बिना पर की कीमत मानकर उसमें रत और एकाकार हुआ है, वह दुःख का मूल है। अनन्त शक्तिसम्पन्न निजस्वभाव की अचिन्त्य महिमा है, उसे जानकर उसमें रत हो तो अपने में से ही अपना सुख प्रगट हो। शरीर ठीक हो तो सुख प्रगटे (पहला सुख निरोगी काया) ऐसा नहीं है। सुख तो आत्मा की शक्ति में है। शरीर, वह कहीं आत्मा की जाति नहीं है, वह कहीं सुख का आधार नहीं है।

सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा असंख्य स्वप्रदेशों में बसा हुआ है, वही आत्मा का स्वदेश है। असंख्यप्रदेशों में अनन्त गुण और एक-एक गुण में अनन्त सामर्थ्य—उसमें कहीं राग-द्वेष का प्रवेश नहीं है। अनन्त गुण-पर्यायों से भरपूर अनेकान्तस्वरूप ज्ञानमात्र आत्मा है, उस 'ज्ञानमात्र' भाव में रागादि का अभाव है परन्तु सुख इत्यादि अनन्त स्वभाव का अभाव नहीं है, वह तो ज्ञानमात्रभाव में समाहित है। उसका यह वर्णन है।

भाई! बाहर की नयी चीज़ देखने पर तुझे 'आहा' ऐसी महिमा आ जाती है, परन्तु वास्तविक महान वस्तु आत्मा, सर्व को जाननेवाली आश्चर्यकारी शक्ति का पिण्ड है, उसकी महिमा और उत्साह कर। स्व की महिमा आवे तो परिणति स्वाश्रय की ओर झुके और उस परिणति में अनन्त गुण की निर्मलता उल्लसे—इसका नाम धर्म।

जीव को दुःख किसका है? कि अनन्त शक्तिसम्पन्न अपने स्वभाव की महिमा चूककर पर का गुलाम हो गया है कि 'यह हो तो मुझे ठीक', यह गुलामी पराधीनवृत्ति वही दुःख है। 'मेरे स्वभाव से मैं ही भरपूर हूँ और मुझे किसी दूसरे की आधीनता नहीं है'—ऐसी स्वाधीनवृत्ति करे तो सुख प्रगट होता है। अपनी वस्तु सुख से भरपूर है,

परन्तु स्वयं अपनी वस्तु को देखता नहीं, इसलिए सुख नहीं होता। शरीरादि की प्रतिकूलता का दु:ख नहीं परन्तु अपनी पराधीन वृत्ति का ही दु:ख है। सुख के भण्डार ऐसे निजस्वभाव के सन्मुख देखे तो सुख प्रगट हो और दु:ख टले।

अनन्त गुण का एक पिण्ड आत्मा, उसमें अद्‌भुत आनन्दरस है। अहा! यह उस चैतन्य की कैसी अद्‌भुत अजायबी है कि जिसकी महिमा का पार विकल्प द्वारा नहीं पाया जाता। अद्‌भुत वैभववाला आत्मा—जिसकी एक शक्ति निराकार उपयोगरूप और दूसरी शक्ति साकार उपयोगरूप, तथापि दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ वर्त रही है। जो आत्मा साकार उपयोगरूप, वही आत्मा निराकार उपयोगरूप, ऐसा अद्‌भुत उसका वैभव है। भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनन्त गुण, तथापि एक प्रदेश में अभेदरूप से द्रव्य में इकट्ठे रहें।—ऐसी स्वभाव की अद्‌भुतता है। अनुभव से उसका पार पाया जाता है; राग के विकल्प से उसका पार नहीं आता। स्वानुभव में सर्व गुण एकसाथ समाहित होते हैं। ऐसे स्वानुभव-जीवन से सन्त जीते हैं।

आत्मा का जीवन ऐसा है कि शरीर बिना टिके, मन बिना टिके, अन्न बिना टिके, जल बिना टिके, वाणी बिना टिके, और राग बिना टिके; परन्तु जीवत्वशक्ति बिना नहीं टिके, ज्ञानशक्ति बिना नहीं टिके; आत्मा में जीवत्वशक्ति, ज्ञानशक्ति अनादि-अनन्त है। चैतन्यप्राण, वही आत्मा का जीवन है। आत्मा को दूसरा कोई जिलाये, ऐसा उसका पराधीन जीवन नहीं है। अपने चैतन्यप्राण से उसका जीवन है।

देखो, यह जीवन!

ऐसे स्वाधीन जीवन में फिक्र कैसी?

स्वानुभवी सन्तों ने फिक्र की फाकी कर डाली है; स्वानुभव में कोई चिन्ता है ही नहीं।

आत्मा का प्रत्येक गुण अपने स्वभाव की यत्ना करता है, इसलिए वह यति है; विकार को अपने में आने नहीं देता और स्वगुण की रक्षा करता है। प्रत्येक गुण अपनी निर्मल पर्याय के व्यापार को करता है, इसलिए वह वैश्य/व्यापारी है। स्वभाव के वीर्य को स्फुरित कर विकार को नाश करने में शूरवीर है, इसलिए वह क्षत्रिय है। स्वयं अपने

स्वभाव का सेवन करता है, इसलिए वह सेवा करनेवाला है।—इस प्रकार एक-एक शक्ति में बहुत भाव उतरते हैं तथा प्रत्येक शक्ति में अपना कर्तृत्व, साधन, आधार इत्यादि छह कारक भी उतरते हैं। इस प्रकार अनन्त स्वभावों के रस से भरपूर आत्मा है। एक शक्ति कल वर्णन की, दूसरी शक्ति आज वर्णन की जाती है, इस प्रकार वर्णन में क्रम पड़ता है परन्तु वस्तु में कहीं शक्तियों का क्रम नहीं है; वस्तु में तो एकसाथ सब शक्तियाँ रही हुई हैं।

अभी ज्ञानशक्ति का वर्णन चलता है। स्व-पर को जानने की सामर्थ्य ज्ञान में है। परचीज़ आत्मा में नहीं, परन्तु पर को जाने, ऐसी सामर्थ्य आत्मा में है। सबको जाननेवाला ऐसा जो ज्ञान, वह स्वयं अपने को जानने से सुख होता है। पर में सुख नहीं, उसे जानने से जाननेवाले को भी सुख नहीं; शुद्ध जीव में सुख है, और उसे जानने से-अनुभव करने से जाननेवाले को भी सुख होता है, इसलिए ऐसा ज्ञानस्वरूप और सुखस्वरूप आत्मा वह सार है, उपादेय है। यह बात पहले ही मंगलाचरण में '**नमः समयसार**' के अर्थ में बहुत सरस की है।

अहो, इस चैतन्यराजा की ऋद्धि की महिमा की क्या बात! इसके दरबार में प्रवेश करते ही अनन्त गुण का वैभव दृष्टिगोचर होता है; उसे देखने से परम आनन्द होता है और दुःख नहीं रहता। चैतन्यदरबार में विकार का प्रवेश नहीं। अर्थात् चैतन्य के वैभव का लक्ष्य करने से विकार के अभावरूप परिणमन होता है और अनन्त गुण की निर्मलता का आनन्द अनुभव में आता है। आत्मा में ज्ञान के साथ सुखशक्ति भी इकट्ठी ही है, इसलिए ज्ञान का सम्यक् परिणमन होने पर उसमें सुख भी साथ ही परिणमता है। ज्ञान का फल सुख है। ज्ञानशक्ति के बाद तुरन्त सुखशक्ति का वर्णन करेंगे।

परचीज़ आत्मा में नहीं, परन्तु पर को जानने का सामर्थ्य आत्मा में है। जानने का तो आत्मा का स्वभाव है। जानने के भाव में शान्ति-सुख-समाधान है। जानने के भाव में दुःख नहीं होता। जैसे साक्षी को सजा नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान तो साक्षीभावरूप है, उसमें पदार्थ के परिणमन को देखने से आकुलता नहीं होती। जाननेवाला सच्चा कब कहलाये?—कि जाननेवाला अपने स्वभाव को, अनन्त गुणों को और निर्मल पर्यायों को तन्मयरूप से जाने और विकार को तथा पर को तन्मयपने बिना जाने।—जानने के ऐसे

भाव में सुख है। जैसे ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वैसे सुख भी आत्मा का स्वभाव है।

भाई! यह तेरे घर में क्या-क्या भरा है, उसकी बात है। तेरे असंख्यप्रदेशी स्वघर में ज्ञान-सुख इत्यादि गुणों का महा वैभव भरा हुआ है। जैसे छोटी डिब्बी में बहुत कीमती हीरा पड़ा हो, वैसे इस देह जैसी छोटी डिब्बी में अनन्त गुणरूपी महा कीमती रत्न भरे हैं। भाई! तूने पर को 'मेरा' करके माना है, उसके बदले ऐसे चैतन्यभण्डार को 'यह मेरा' ऐसा अनुभव में ले, तो तुझे परम आनन्द होगा। पर को जानने का स्वभाव है परन्तु पर को जानने से 'यह मेरा' ऐसा मानने का आत्मा का स्वभाव नहीं है।

ज्ञान अपने अतिरिक्त अनन्त गुणों को जानता है, इसलिए कहीं अन्य गुणों का लक्षण ज्ञान में आ नहीं जाता। ज्ञान जड़ को जानता है, वहाँ जड़ का लक्षण ज्ञान में आ नहीं जाता। ज्ञान का लक्षण तो 'जानना... जानना और जानना' ही है; दूसरा कार्य उसमें नहीं आता। ज्ञान में पर का कार्य नहीं, ज्ञान में कषाय का कार्य नहीं, ज्ञान में अन्यगुणों का कार्य नहीं। यदि ज्ञान में दूसरे गुणों का लक्षण आ जाये, तब तो दूसरे गुण सिद्ध ही नहीं होंगे, कथंचित् गुणभेद न रहे तो अनन्त गुण की सिद्धि नहीं होगी। अनन्त गुण एक द्रव्य के आश्रय से होने पर भी प्रत्येक को लक्षणभेद है, एक गुण का लक्षण दूसरे गुण के लक्षण में नहीं जाता। ऐसा होने पर भी, अभेदविवक्षा में एक-एक शक्ति अनन्त गुणों में व्याप्त है, एक-एक शक्ति पूरे द्रव्य में व्याप्त है। ऐसी अभेद की अनुभूति बिना अनन्त गुण का आनन्द नहीं आता और अनुभूति के आनन्द के समय गुणभेद का लक्ष्य नहीं रहता। 'जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण'—अनुभूति में अनन्त गुण की अभेदता आती है, तथापि गुण के लक्षणभेद का लोप होता नहीं।—ऐसा अनेकान्त का चमत्कार है। ज्ञानी ही इसे अनुभव करते हैं।

ज्ञानादि अनन्त शक्ति का वैभव आत्मा के स्वघर में भरा है, उसमें दृष्टि करने से आत्मा की पर्याय स्वघर में आयी, आत्मा स्वयं अपने घर में आया; वहाँ ज्ञान है, सुख है, शान्ति है, जीवन है परन्तु उसमें अज्ञान नहीं, दुःख नहीं, कषाय नहीं, मृत्यु नहीं।

ज्ञान में ज्ञान के छह कारक स्वतन्त्र हैं, उसमें रागादि पर कारकों का अभाव है; रागादि के आश्रय से ज्ञान का कार्य नहीं होता, ज्ञानशक्ति में तन्मय व्याप्तकर ही ज्ञान का कार्य होता है। राग या इन्द्रियाँ साधन होकर ज्ञानकार्य को करे, ऐसा नहीं है; और ज्ञान

कर्ता होकर राग को अपना कार्य बनावे, ऐसा भी नहीं है, ज्ञान के कारक राग में या इन्द्रियों में नहीं है; ज्ञान के कारक ज्ञान में ही है।

कैसी स्वाधीनता! हे जीव! तेरी अनन्त शक्तियों में से एक में भी पराधीनता नहीं है तथा तेरी एक भी शक्ति में पर का या विकार का कर्तृत्व नहीं है। तेरी सर्वऋद्धि का कार्य तेरे स्वक्षेत्र में और तेरी स्वपर्याय में ही है, उसमें दूसरे की आवश्यकता नहीं तथा वह दूसरे का कार्य करने नहीं जाती। आहा! ऐसा आत्मस्वभाव! उसकी प्रतीति द्वारा पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द और केवलज्ञान खिल उठता है।

चैतन्य की जाति में से चैतन्य खिलता है; जैसे सहस्रदल कमल की कली में से हजार पंखडुीवाला कमल खिलता है, संगमरमर के पत्थर की कणी में से कमल नहीं खिलता या नीम की कली में से कमल का फूल नहीं खिलता; उसी प्रकार देहरूपी पत्थर में से या रागादि कषायरूपी कड़वे नीम में से कहीं केवलज्ञान का कमल नहीं खिलता; वह तो चैतन्यशक्तिरूपी कली में से ही खिलता है। और, जैसे कमल की कली में से कड़वी निंबोली नहीं फूटती, उसी प्रकार चैतन्य कमल की कली में से राग-द्वेषरूप कड़वे भाव नहीं निकलते। जिसकी जो जाति हो, उसमें से वह पकता है।

अहो, ऐसी मेरी चैतन्यसम्पदा, वह भगवान ने मुझे बतायी, सन्तों ने उसकी प्रसिद्धि करके मुझ पर महा उपकार किया—ऐसे आत्मार्थी जीव अपनी सम्पदा सुनते हुए उल्लसित हो जाते हैं। आत्मा में जो सम्पदा थी, उस सम्पदा को भगवान ने जाना और प्रसिद्ध किया और दूसरे के आत्मा में भी वैसी सम्पदा थी, उसे भगवान ने बतलाया। भगवान ने कहीं किसी को सम्पदा दी नहीं परन्तु आत्मा में अनन्त गुण की जो सम्पदा थी, वह बतलायी है। जीव को पहले अपनी आत्मसम्पदा का भान नहीं था और फिर भान हुआ, वहाँ प्रमोद से कहते हैं कि अहो! भगवान ने और गुरु ने मुझे मेरी सम्पदा दी, मुझे मेरा आत्मा दिया।

यह आत्मा दूसरे की पर्याय करे या दूसरा इस आत्मा की पर्याय करे—ऐसा किसी का स्वभाव नहीं है। दूसरे को जाने, ऐसा आत्मा का स्वभाव है, परन्तु दूसरे में कुछ कार्य करे, ऐसा स्वभाव नहीं है। अरे, आत्मा में अनादि-अनन्त इकट्ठे रहे, ऐसे

ज्ञान-दर्शनादि गुण भी एक-दूसरे का कार्य नहीं करते, तो फिर सदा ही भिन्न रहे हुए पदार्थ एक-दूसरे का कुछ कार्य करे, यह बात कहाँ रही ? अन्दर में एक गुण दूसरे गुण के कार्य को भी नहीं करता तो फिर बाहर के कार्यों की तो बात ही कैसी ? आत्मा की शक्ति द्वारा पर के—जड़ के या विकार के कार्य होने का जो मानता है, वह आत्मा की शक्ति का घातक है।

जैसे किसी को भूत लगा हो तो उसे निकालने के लिये तांत्रिक उसे धुनाकर पूछता है कि बोल, तू कौन है ? ऐसा पूछने पर वह अपना स्वरूप प्रगट करता है। उसी प्रकार अज्ञानी को देह मैं, राग मैं—ऐसा मिथ्यात्वरूपी भूत लगा है; उस भूत को निकालने के लिये आत्मा की शक्ति के वर्णनरूपी डुगडुगी बजाकर सन्त उससे पूछते हैं कि अरे जीव! तू कौन है ? क्या तू राग है ? क्या एक-एक शक्ति के भेद जितना तू है ? नहीं; तू तो अनन्त शक्ति का एक पिण्ड सिद्ध परमात्मा जैसा है।—इस प्रकार निजशक्ति को सम्हालता हुआ जीव मिथ्यात्व को दूर करके अपने सच्चे स्वरूप को प्रगट करता है।

अहो, ऐसी चैतन्यऋद्धि, आत्मशक्तियों का ऐसा अद्‌भुत वर्णन, अभी महाभाग्य से सुनने को मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में जो गम्भीर रहस्य भरे हैं, उनका दोहन करके अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यह शक्तियाँ वर्णन की हैं। अपने अन्तर के अनुभव उपरान्त वस्तु का स्वरूप बतलाने की उनकी ज्ञानशक्ति भी अगाध है। अहा! ज्ञान की अचिन्त्य सामर्थ्य! इन्द्रियों का जिसमें अवलम्बन नहीं, विकल्प की जिसे शरण नहीं; दो समय इकट्ठे होकर तीन काल-तीन लोक का ज्ञान पूरा हो—ऐसा नहीं, परन्तु प्रत्येक समय में तीन काल-तीन लोक का पूरा ज्ञान करने की असाधारण सामर्थ्य ज्ञान में भरी है, विशेषरूप से (भंगभेदसहित) तीन काल-तीन लोक को जानने पर भी उसमें विकल्प नहीं, ऐसी साकार उपयोगरूप ज्ञानशक्ति है। ऐसी ज्ञानशक्तिवाले आत्मा को देखनेवाले जीव सम्यग्दृष्टि हैं।

ज्ञानशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

[५]

सुखशक्ति

अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः ।५।

अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसी सुखशक्ति।५।

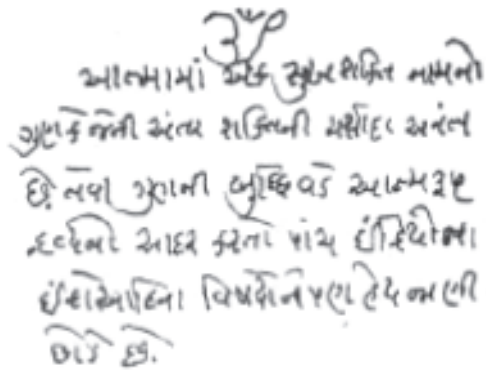

ॐ

आत्मा में एक सुखशक्ति नाम का गुण है, जिसकी अन्तर शक्ति की मर्यादा अनन्त है, इससे गुण की बुद्धि द्वारा आत्मरूप द्रव्य का आदर करने से पाँच इन्द्रियों के इन्द्रादि के विषयों को भी हेय जानकर छोड़ता है।

अनेकान्तस्वरूप आत्मा में जीवत्व, चिति, दर्शन और ज्ञान के बाद पाँचवीं सुखशक्ति का वर्णन है। असंख्य प्रदेशी आत्मा में सुख नाम की एक शक्ति है। उसका लक्षण क्या?—कि अनाकुलता उसका लक्षण है। आकुलता, वह दुःख है। उसके अभावरूप निराकुल शान्ति, वह सुख है। अनाकुलता से भरपूर भगवान आत्मा के सर्व प्रदेशों में सुख भरा हुआ है। ऐसे निज सुख को पर में शोधे तो आकुलता और दुःख होता है। अर्थात् संसार भ्रमण होता है। हे जीव! सुख अन्तर में है। वह बाहर में शोधने से मिले, ऐसा नहीं है। बाहर में तो नहीं और विकल्प में भी सुख नहीं। विकल्प में सुख को शोधनेवाला अर्थात् राग को सुख का साधन माननेवाला परमार्थ से बाह्य विषयों में ही सुख मानता है, अपने सुखस्वभाव को वह नहीं जानता।

भाई! सुख तो तेरा स्वभाव; तू स्वयं ही सुखस्वभाव से भरपूर है, तो तेरे सुख को बाह्य विषयों की या विकल्पों की अपेक्षा कैसे होगी? अपने बेहद सुखस्वभाव को भूलकर अज्ञानी जीव भ्रान्ति से अनन्त परद्रव्यों में (खाने में, शरीर में, स्त्री में, पदवी में, लक्ष्मी में—इत्यादि में) सुख मानता है परन्तु अपने में वास्तव में सुख का समुद्र भरा है, वह उसे भासित नहीं होता। भाई! तेरा सुख तो तुझमें है और उस सुख का साधन भी तुझमें है। तेरी सुखशक्ति ही तेरे सुख का साधन है। बाहर का कोई साधन नहीं। अपने सुख के लिये बाह्य सामग्री शोधना, वह तो व्यग्रता है, पराधीनता है, दुःख है।

सुख, वह आत्मा का गुण है। परन्तु दुःख कहीं आत्मा का गुण नहीं। यदि दुःख मूलस्वभाव में हो तो टल नहीं सकता और यदि सुख मूलस्वभाव में न हो तो मिल नहीं सकता। इस प्रकार अपने सुखस्वभाव को जानकर उसके सन्मुख परिणमने से जो सुख प्रगट हुआ, उसमें दुःख का अभाव है। ऐसी दुःख के अभावरूप सुखदशा प्रगट हो, तब आत्मा के सुखस्वभाव को जानना कहलाये। स्वानुभूति में जो सुख का वेदन हुआ, उससे धर्मी जीव जान लेता है कि मेरा पूरा आत्मा ऐसे पूर्ण सुखस्वभाव से भरपूर है।—ऐसी पर्याय में प्रसिद्धिसहित शक्ति की प्रतीति सच्ची होती है। शक्ति की प्रतीति करे, वहाँ उसका फल पर्याय में आये बिना नहीं रहता।

सच्चा ज्ञान हो, वहाँ सुख भी होता ही है, तथापि दोनों के लक्षण भिन्न हैं। ज्ञान का लक्षण स्व-पर को जानना है, सुख का लक्षण अनाकुलता का वेदन करना है।

आत्मा में दृष्टि करने से उसके ज्ञान-सुख इत्यादि गुण व्यक्तरूप से पर्याय में ज्ञात होते हैं अर्थात् कि निर्मलरूप से परिणमते हैं, तब अनन्त शक्तिवाले आत्मा को जाना-माना-अनुभव किया कहलाता है।

जो शक्ति हो, उसका कुछ कार्य होना चाहिए न! जैसे कि ज्ञान का कार्य क्या?—कि जानना; इसी प्रकार सुखशक्ति का कार्य क्या?—कि अनाकुलता का वेदन करना, वह सुखशक्ति का कार्य है। सुखगुण के कार्य में दुःख का वेदन नहीं होता। सुख से भरपूर अन्तरस्वभाव में दृष्टि करने से सुख प्रगट होता है। दुःख प्रगट नहीं होता। आहा! ऐसे सुखस्वभाव की प्रतीति करते ही उसमें से निराकुल अचिन्त्य आनन्द की कणिका प्रगट होती है, जिसका स्वाद सिद्ध प्रभु के सुख जैसा ही है।—ऐसा सुखशक्ति का कार्य है।

ऐसा सुख प्रगट होने के लिये छहों कारक अपने सुखगुण में ही समाहित होते हैं। ध्रुव में आनन्द भरा है, उसमें लक्ष्य करने से वह पर्याय में प्रगट होता है। ध्रुव का अवलम्बन, वही साधन है। बाहर में दूसरा कोई साधन नहीं। भाई! अन्तर में नजर करके आनन्द को शोध! बाहर में कहीं न शोध।

मुमुक्षु : बाहर में तो बँगला-मोटर-रेडियो-सिनेमा इत्यादि बहुत प्रकार के सुख के साधन दिखते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! सुख की गन्ध भी उनमें नहीं है। उनकी ओर का झुकाव, वह तो पाप और दुःख है। सुख का सागर आत्मा में भरा है। उसे बाहर के किसी साधन की आवश्यकता नहीं है; इसलिए बाह्य झुकावरूप आकुलता का उसमें अभाव है। सुख उसे कहा जाता है कि जिसमें अंशमात्र आकुलता न हो।

आत्मा का सुखगुण श्रद्धा-ज्ञान इत्यादि सर्व गुणों में व्यापक है। अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान इत्यादि के सम्यक् परिणमन के साथ सुख भी इकट्ठा ही है। श्रद्धा-ज्ञान सच्चे हों और सुख का अनुभव न हो, ऐसा नहीं होता। सुख के वेदन में अनन्त गुण का रस इकट्ठा है। अनन्त गुण का अनन्त सुख है।

अहो! ऐसा सुखस्वभाव सुने, उसका विचार-मनन करे और उसकी महिमा

लाकर अन्दर उतरे, तो वहाँ जगत की कोई चिन्ता या आकुलता कहाँ है ? सुख में दूसरी चिन्ता कैसी ? परद्रव्य तो कहीं आत्मा में आता नहीं और आत्मा अपने गुण से बाहर पर में जाता नहीं। ऐसे आत्मा के चिन्तन से परम आनन्द प्रगट होता है। छद्मस्थदशा में ज्ञानी को जो आनन्द है, वह भी अनन्त गुण के रस से भरपूर अनन्त आनन्द है; तो सर्वज्ञ के महा आनन्द की क्या बात! परन्तु अपने ऐसे आनन्दस्वभाव को भूलकर पर की चिन्ता में जीव लगा पड़ा है, इसलिए दु:खी है। स्वभाव में देखे तो मात्र सुख, सुख और सुख ही भरा है।

आत्मा में जो सुख भरा है, वह प्रगट करने का मार्ग सम्यग्दर्शन है। सुख का मार्ग शुभराग में नहीं, सुख का मार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जो राग में और पुण्य में सुख का मार्ग मानता है, उसने आत्मा के सुखस्वभाव को नहीं जाना है। पुण्य के फलरूप जो सुख है, वह इन्द्रियजन्य सुख है। वह कहीं सच्चा सुख नहीं, परन्तु वह तो दु:ख ही है, ऐसा प्रवचनसार में सिद्ध किया है। राग तो स्वयं आकुलता है, उसके द्वारा तीन काल में सुख नहीं होता। सुखगुण के परिणमन में राग का या आकुलता का अभाव है। अर्थात् कि उदयभाव का अभाव है।

सुखशक्ति पारिणामिकभाव से त्रिकाल है; उसका परिणमन क्षायिकादि भावरूप है। उसमें आकुलतारूप उदयभाव का अभाव है। वह वास्तव में सुखगुण का कार्य नहीं है। सुखगुण का कार्य तो सुखरूप होता है। दु:खरूप नहीं होता। उदयभाव में सुख नहीं और उदयभाव के फलरूप बाह्य संयोग में भी सुख नहीं। अरे! जड़ में तेरा सुख होगा ? कभी नहीं होगा। जिसमें स्वयं में सुखगुण ही नहीं, वह तुझे सुख कहाँ से देगा ? आत्मा में ही आत्मा का आनन्द है। परन्तु, 'मुझमें मेरा आनन्द है'—ऐसा तुझे तेरा भरोसा नहीं है; इसलिए बाहर से आनन्द लेने के लिये व्यर्थ प्रयास करता है। जैसे, मृगजल से कभी प्यास नहीं बुझती, क्योंकि वहाँ पानी ही नहीं है; इसी प्रकार विषयों की ओर के झुकाव से कभी आकुलता नहीं मिटती, क्योंकि वहाँ सुख है ही नहीं।

भाई! सुख का समुद्र तो तुझमें छलाछल भरा है, उसमें डुबकी लगा तो तुझे तृप्ति अनुभव में आयेगी और तेरी आकुलता मिट जायेगी। सुख अर्थात् मोक्षमार्ग। वह शुभराग द्वारा नहीं होता। अरे! सुख तो स्वाश्रितभाव में होगा या पराश्रितभाव में ?

पराधीनता स्वप्न में भी सुख नहीं है। स्वाधीनता अर्थात् कि आत्मस्वभाव का आश्रय, वही सुख है। उस सुख में अन्य किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती।

प्रभु! तुझे ऐसा अवसर मिला है तो अन्दर से दरकार करके आत्मा को समझ। वरना यह समय चला जायेगा। मनुष्यपने का समय तो बहुत थोड़ा है। देखो न! चार दिन पहले तो एक भाई यहाँ सभा में व्याख्यान सुनने आये और आज तो वह हृदय बन्द हो जाने से मुम्बई में गुजर गये—ऐसे समाचार सुनायी देते हैं। ऐसा क्षणभंगुर जीवन है, इसलिए उसमें दूसरा सब गौण करके आत्मा के हित का साधन कर लेनेयोग्य है। आत्मा का हित करने में बाहर का कोई साधन नहीं। रोटी, चबूतरा और पोटला हो तो सुखी हों—ऐसा लोग मानते हैं, परन्तु भाई! तेरे आत्मा में ही असंख्यप्रदेशी चबूतरा, आनन्द के अनुभवरूपी रोटी और अनन्त गुण का पोटला है। ऐसे रोटी, चबूतरा और पोटला में तेरा सुख है। पर का अस्तित्व कहीं तुझमें आता नहीं। पर को जानते हुए अपने भिन्न अस्तित्व को अज्ञानी भूल जाता है। सुख इत्यादि गुण आत्मा में त्रिकाल है। वे कहीं नये करना नहीं हैं, परन्तु उन गुण की पहिचान द्वारा पर्याय में सुख इत्यादि प्रगट होता है और उसका नाम 'आत्मप्रसिद्धि' है।

ज्ञानमात्र आत्मा में सुखगुण स्वाधीन है; उस सुख के साथ दूसरे अनन्त गुण एक साथ आत्मा में होने पर भी, उसमें जो सुखगुण है, वह अन्य गुण नहीं और जो अन्य गुण हैं, वह सुखगुण नहीं।—ऐसे सभी गुण अपने-अपने भिन्न लक्षण को रखकर वस्तु में रहे हैं। प्रत्येक गुण में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता अन्य कारकों से निरपेक्ष है। सुख के उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों सुखरूप हैं। उन तीनों में दुःख का अभाव है। दूसरे प्रकार से कहें तो निश्चय के शुद्ध परिणमन में व्यवहार की अशुद्धता का अभाव है। यहाँ तो शुद्धता को ही जीव कहते हैं। अशुद्धता को वास्तव में जीव नहीं कहते।

अहो! ४७ शक्तियों का वर्णन करके तो आचार्यदेव ने आत्मा के स्वभाव को प्रसिद्ध किया है। यह ४७ शक्तियाँ तो घातिकर्म की ४७ प्रकृतियों का घात करके केवलज्ञान प्रगट करनेवाली है। शक्ति के वर्णन में शक्तियाँ ४७, घातिकर्मों की प्रकृतियाँ ४७, प्रवचनसार के परिशिष्ट में नय भी ४७ और उपादान-निमित्त के दोहे भी ४७; इस प्रकार सबमें ४७ का मेल आ गया है। ज्ञानावरणी की ५, दर्शनावरणी की ९, मोहनीय

की २८, और अन्तराय की ५ (५+९+२८+५=४७) इस प्रकार घातिकर्मों की कुल ४७ प्रकृतियाँ हैं। उनके सामने यहाँ जो ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उस शक्तिवाले आत्मा को पहिचानने से ४७ घाति प्रकृतियों का घात हो जाता है और भगवान आत्मा अपनी अनन्त शक्तियों की निर्मल पर्यायोंसहित प्रसिद्ध होता है।

भाई! सुख का कारण तो ज्ञान है। सुख आत्मा में है, उसका ज्ञान कर तो सुख प्रगट हो। 'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।' सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा को जानने से सुख होता है। अहो! इस शक्ति के अलौकिक वर्णन में ज्ञानी का अभिप्राय क्या है, उसे पहिचाने तो आत्मा का अनुभव हुए बिना रहे नहीं। स्वयं अन्दर पहिचाने तो ज्ञानी का वास्तविक आशय समझ में आये और समझ, वहाँ सुख होता ही है।

जिस प्रकार आत्मद्रव्य पर की अपेक्षा नहीं रखता, इसी प्रकार उसकी सुखशक्ति भी पर की अपेक्षा नहीं रखती और उसकी सुखपर्याय भी पर की अपेक्षा नहीं रखती। इस प्रकार सभी शक्तियों में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की पर से निरपेक्षता समझना चाहिए। ऐसी अनन्त शक्ति के वैभव से भरपूर आत्मा स्वयं, उसकी कुछ कीमत अज्ञानी को दिखती नहीं और लाखों या करोड़ों रुपये इकट्ठे हों, वहाँ तो मानो मैं दुनिया में कैसा बड़ा हो गया—ऐसी उसकी कीमत भासित होती है! भाई! उससे तेरी कीमत नहीं है। उससे तो अनेकगुणा उत्तम वैभव स्वर्ग में तूने अनन्त बार प्राप्त किया है, परन्तु तुझे सुख किंचित्मात्र नहीं मिला और निगोद के एक सूक्ष्म शरीर में अनन्त जीव समा जायें—ऐसी दशा में भी अनन्त काल तूने व्यतीत किया। अभी अब ऐसा मनुष्यपना, ऐसा सत्संग प्राप्त किया है तो तू आत्मतत्त्व का स्वरूप समझ। तेरी अनन्त शक्ति के शाश्वत् वैभव को सम्हाल... कि जिससे तुझे सच्चा सुख प्राप्त हो।

चैतन्य के आनन्द सागर में डोलता यह भगवान आत्मा, उसके आनन्द में आकुलता की छाप ही नहीं है। उसका भरोसा करनेवाले सम्यग्दृष्टि को पर में किंचित्मात्र भी सुख भासित नहीं होता। चक्रवर्ती के वैभव के बीच भी सम्यग्दृष्टि जानता है कि इस बाह्य वैभव में हम नहीं और हमारे में यह नहीं; इस वैभव में हमारा सुख नहीं; जिसमें हमारा अस्तित्व ही नहीं, उसमें हमारा सुख कैसे होगा? हमारा सुख तो हमारे में, हमारे निज वैभव में ही है। स्वानुभव से हमारा अन्तर का सुख तो हमने देखा है। हमारे निज

वैभव को हमने जाना है। अरे! इस बाह्य वैभव में हमारा अस्तित्व नहीं। जहाँ हम हैं, वहाँ अनन्त सुख भरा है। हमारे अस्तित्व में आनन्द के सागर की लहरें उछलती हैं। इस राज्य के प्रति या स्त्री आदि के प्रति किंचित् झुकाव जाता है, वह तो सब राग का खेल है। उदयभाव की चेष्टारूप वह राग भी वास्तव में हम नहीं तो फिर बाहर के पदार्थ तो कहाँ से हों? उसमें कहीं हमको हमारा सुख दिखाई नहीं देता।

'परन्तु संयोग में खड़े हुए दिखते हैं न?' तो कहते हैं कि भाई! तुझे उसके अन्तर की खबर नहीं; उसके अन्तर की दशा को तू पहिचानता नहीं। उसकी दृष्टि सबसे उठ गयी है और एक आत्मा में ही दृष्टि लगी है। दृष्टि जहाँ लगी है, वहाँ से वह हटती नहीं और दृष्टि जहाँ से हट गयी है, वहाँ अब लगती नहीं। और जिसकी जहाँ दृष्टि है, वहाँ ही वास्तव में वह खड़ा है। ज्ञानी संयोग में खड़ा है या स्वभाव में? इसकी खबर अज्ञानी को नहीं पड़ती। ज्ञानी को संयोग की रुचि छूट गयी है और निज स्वभाव की रुचि हुई है, इसलिए वास्तव में वह संयोग में नहीं खड़ा है। राग में भी नहीं खड़ा है। अपने स्वभाव में ही खड़ा है। जो राग परिणमन है, वह कहीं 'ज्ञानी' नहीं, उसके द्वारा 'ज्ञानी' नहीं पहिचाना जाता। रागरहित की निर्मल परिणति में परिणमता आत्मा, वही 'ज्ञानी' है, उस परिणति द्वारा ही 'ज्ञानी' पहिचाना जाता है। इस प्रकार की ज्ञानी की सच्ची पहिचान जीव को दुर्लभ है। ज्ञानी की दर्शनशुद्धि में आत्मा के आनन्द का ही आदर है। इसलिए उसे आनन्द का वेदन ही मुख्य है; संयोग का आदर नहीं, राग का आदर नहीं; इसलिए दृष्टि में उसके वेदन का अभाव है।

अहो! संयोग और राग के बीच खड़े हुए दिखने पर भी, ज्ञानी की दृष्टि कोई अलग ही काम करती है। इसका वर्णन करते हुए कवि दौलतरामजी कहते हैं कि —

चिन्मूरत दृगधारि की मोहे रीति लगत है अटापटी
बाहर नारकीकृत दुःख भोगै अन्तर सुख रस गटागटी
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस परिणति तैं नित हटाहटी
ज्ञान-विराग शक्ति तैं विधिफल भोगत पै विधि घटाघटी
सदन निवासी तदपि उदासी तातैं आस्रव छटाछटी

नरक के संयोग को और स्वर्ग के संयोग को और उस ओर के दुःख-सुख के भाव को सम्यग्दृष्टि तन्मयरूप से नहीं वेदता। वह तो अपने सुखगुण के निर्मल परिणमनरूप आनन्द को ही तन्मयरूप से वेदता है। प्रतिकूल संयोगों का और दुःख का उसमें अभाव है। उस संयोग के समय भी अन्तर में तो वह अतीन्द्रिय सुखरस की गटागटी करता है। ऐसा सुखस्वभाव प्रत्येक आत्मा में है। ज्ञान परिणति के साथ वह सुख इकट्ठा ही परिणमता है।

असंख्यप्रदेशी द्रव्य, ज्ञानादि अनन्त गुण और उनका निर्मल परिणमन, यह तीनों होकर अखण्ड आत्मवस्तु है। ऐसी आत्मवस्तु को लक्ष्य में लेने से समय-समय में नया-नया आनन्द परिणमता है। वह आनन्द परिणमकर आत्मा के अनन्त गुणों में व्यापता है, इसलिए सुख की अनुभूति में अनन्त गुण का रस वेदन में आता है। जैसे 'सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व' कहा है। इसी प्रकार इसमें भी समझना। अनन्त गुण में व्यापक सुख अनन्त गुण के रस से भरपूर अनन्त है।

प्रत्येक शक्ति स्वयं कारण, और उसकी जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह उसका कार्य; दूसरा कारण नहीं, दूसरा कार्य नहीं; और कारण-कार्य के बीच समयभेद नहीं। 'कारण को अनुसरकर हो, उसे कार्य कहा जाता है'—अर्थात् जैसे कि सुखशक्ति कारणरूप है, उसे अनुसरकर पर्याय में वैसा सुख प्रगट हो, वह सुखशक्ति का वास्तविक कार्य है। यदि आनन्द न प्रगटे और पराधीन होकर आकुलता प्रगटे तो उसे आत्मा के आनन्दगुण का कार्य नहीं कहा जाता। जैसा गुण है, उस जाति की पर्याय प्रगट हुए बिना गुण के वास्तविक स्वरूप की प्रसिद्धि नहीं होती।

गुण का सच्चा कार्य उसकी सदृश जाति का हो, विरुद्ध न हो, जैसे स्वर्ण में से जो आभूषण बनते हैं, वे स्वर्ण के होते हैं। लोहे के नहीं होते; उसी प्रकार सुखगुण का कार्य सुख होता है; सुख का कार्य दुःख नहीं होता। सुखगुण जैसा त्रिकाल है, वैसा सुख पर्याय में प्रगटे, तब सुखस्वभावी आत्मा प्रतीति में आया कहलाये; और तब 'आत्मप्रसिद्धि' हुई कहलाये।

अहो! वीतरागमार्ग में यह बहुत उत्कृष्ट वस्तु है... आत्मा का अचिन्त्य वैभव वीतरागी सन्तों ने दिखलाया है। आत्मा अनन्त गुण का धाम है, उसे अनुभव में

पकड़कर उसके जैसा सम्यक् कार्य प्रगट हो, तब आत्मा की सच्ची श्रद्धा और भेदज्ञान हुआ कहलाये; तब आकुलतारहित सच्चा सुख वेदन में आये और पर में सुख की मिथ्या कल्पना मिट जाये।

पहले सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र को बत्तीस लाख विमानों का वैभव है। दो सागरोपम का आयुष्य है; इन्द्राणी का आयुष्य थोड़ा है, इसलिए वह नयी-नयी उत्पन्न होती है; इन्द्र के दो सागर की आयु में तो कोटि-लक्ष इन्द्राणियाँ हो जाती हैं। परन्तु उन बत्तीस लाख विमानों में और उन इन्द्राणियों में कहीं आत्मा के सुख का अंश भी नहीं है। इन्द्र अर्थात् स्वामी। अथवा इन्द्र अर्थात् आत्मा; आत्मा पर का स्वामी नहीं। आत्मा अपनी सुखपरिणति का वास्तविक स्वामी है। अनन्त गुण-परिणति का स्वामी आत्मा। उसमें दृष्टि करने से पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति हो, उस आनन्द परिणतिसहित आत्मा शोभित होता है। परिणति की स्थिति एक समय की, परिणतिरूपी इन्द्राणी समय-समय में नयी-नयी उपजती है और आत्मारूपी इन्द्र कायम टिककर अतीन्द्रिय आनन्द परिणति का भोग करता है, एक परिणति जाये और तत्क्षण दूसरी परिणति हो— ऐसे सदाकाल आत्मा अपनी सुख परिणति को अनुभव किया करता है। स्वसन्मुख परिणति आनन्दपुत्र को जन्म देती है।

देखो, यह केवली प्रणीत धर्म का स्वरूप कहा जाता है। ऐसे धर्म को पहिचानकर उसकी जो शरण लेगा, वह भवसागर को तिरेगा। पहिचाने बिना किसकी शरण लेगा? भगवान ने ऐसा कहा है कि तेरे आत्मा में एक सुखधर्म है। उसकी शरण से तेरा सुख प्रगट होगा; दूसरे किसी की शरण से तेरा सुख प्रगट नहीं होगा।

आत्मवस्तु में भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनन्त धर्म एक साथ रहे हुए हैं, ऐसी आत्मा के स्वभाव की अद्भुतता है। ऐसे आत्मा के अनुभव का रस, वही परमार्थ से अद्भुत रस है। ऐसा अनुभव विकल्प द्वारा नहीं होता। विकल्प द्वारा ज्ञात हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; विकल्प से पार ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा ज्ञात होता है और इस प्रकार से जानने पर परमसुख प्रगट होता है। विकल्परहित तीन काल-तीन लोक को जान ले, ऐसी सामर्थ्य आत्मा में है और ऐसे आत्मा की अनुभूति भी विकल्परहित है। आत्मा अपने अनन्त गुणरूपी स्वघर में स्थित रहकर निर्मल परिणति के आनन्द को

भोगता है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा के आनन्द को भोगता हुआ धर्मी स्वगुण की रक्षा करता है। उपयोग के व्यापार को अन्तर में जोड़ता है और स्वभाव का सेवन करके अनन्त गुण का वैभव प्राप्त करता है अर्थात् कि पर्याय में प्रगटरूप से अनुभव करता है।

देखो, भाई! यह तो अन्तर में विराजमान चैतन्य राजा के वैभव की बात है। दुनिया में राजा कैसा और उसका वैभव कैसा, कहाँ युद्ध हुआ और कौन विजयी हुआ, यह बाहर का जानने का जीव को कैसा रस है? परन्तु अरे चेतन राजा! तेरा अपना वैभव कैसा अपार है, उसे तो जान! उसकी बात तो उत्साह से सुन! जगत में सबसे महामहिमावन्त चेतनराजा तू है। तेरे अचिन्त्य चैतन्य वैभव के समक्ष चक्रवर्ती के राज की भी कोई कीमत नहीं। अनन्त गुण का अचिन्त्य वैभव तेरे असंख्य प्रदेशी स्वराज में सर्वत्र ठसाठस भरपूर भरा है। अनन्त गुण को रहने के लिये क्षेत्र भी अनन्त होना चाहिए—ऐसा कुछ नहीं है। जैसे अनन्तानन्त प्रदेशी आकाश में उसके अनन्त गुण रहे हुए हैं, उसी प्रकार एक प्रदेशी परमाणु में भी उसके अनन्त गुण रहे हुए हैं। अनन्त प्रदेशी आकाश या एक प्रदेशी परमाणु—दोनों का अस्तित्व अपने-अपने अनन्त गुण से परिपूर्ण है, आकाश का क्षेत्र बड़ा है, इसलिए उसका सामर्थ्य बड़ा और परमाणु का क्षेत्र छोटा है, इसलिए उसका सामर्थ्य अल्प-ऐसे क्षेत्र से शक्ति का माप नहीं है। छोटे में छोटा परमाणु और बड़े में बड़ा आकाश—इन दोनों का अस्तित्व अपने-अपने स्वभाव में परिपूर्ण है तथा आत्मा असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र में अनन्त गुण—स्वभावों से परिपूर्ण है।

देखो तो सही, वस्तु का अचिन्त्य स्वभाव! अचिन्त्य वस्तुस्वभाव में से सुख के झरने झरते हैं। आत्मा असंख्यप्रदेशी (सम्पूर्ण लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने प्रदेशोंवाला), उसका प्रत्येक गुण भी उतना ही असंख्यप्रदेशी और उसकी परिणति में आनन्द इत्यादि का जो अंश खिला, वह भी उतना ही असंख्यप्रदेशी है। द्रव्य-गुण त्रिकाल और परिणति एक समय की, तथापि क्षेत्र दोनों का समान है। एक ही क्षेत्र में अनन्त गुण एक साथ, तथापि एक गुण, वह दूसरा गुण नहीं; क्षेत्र से भिन्न नहीं परन्तु भाव से भिन्न है। ऐसे भिन्न-भिन्न अनन्त गुणों का बेहद सामर्थ्य आत्मा में भरा हुआ है। ऐसे आत्मवैभव को जाने (अर्थात् कि भूतार्थस्वभाव को जाने) तो जैनदर्शन जानना कहलाये। आत्मा के शुद्धस्वभाव को अनुभव में लेना, वही सर्व जैन सिद्धान्त का सार है।

सुख आत्मा के स्वभाव में सदा ही भरा है। ऐसे चैतन्यस्वभाव को जानने से अनाकुलता प्रगट होती है। वह सुखशक्ति का कार्य है। पर्याय ने अन्दर में जाकर सुखसमुद्र में डुबकी लगाकर चैतन्य भगवान की भेंट की, वहाँ आनन्द प्रगट हुआ। अनादि से अज्ञानभाव से राग को भेंटती उस पर्याय में दु:ख था। अब आनन्दस्वभाव को भेंटने से जो सुखपरिणति प्रगट हुई, उसमें आकुलता का अभाव है; अनन्त गुण के रस का वेदन आनन्द में समाहित है। इस प्रकार शुद्धता का सद्भाव और अशुद्धतारूप व्यवहार का अभाव—ऐसा अनेकान्तस्वरूप आत्मा है। ऐसे आत्मा का भान हो, वहाँ मुक्ति होती ही है। जैसे दूज उगी, वह बढ़कर पूर्णिमा होगी ही; इसी प्रकार सम्यग्दर्शन होने पर भेदज्ञानरूपी दूज उगी, वह बढ़कर केवलज्ञान होगा ही। अहो, चैतन्यगुण के भण्डार को एक बार स्पर्शे, नजर में ले, ध्येयरूप करे, उसकी भेंट करे, लक्ष्य में ले, रुचि-प्रतीति और ज्ञान करे, वहाँ अपूर्व आनन्द का अंश प्रगट हो और वह बढ़कर पूर्ण आनन्दस्वरूप मोक्षदशा हो। एक बार राग से भिन्न होकर ज्ञान का सम्यक् अंश प्रगट हुआ, वहाँ राग का सर्वथा अभाव करके अल्प काल में केवलज्ञान लेकर ही रहेगा। आत्मा को पहिचाने उसे मोक्ष होकर ही रहेगा।

यहाँ कहते हैं कि थोड़ा आनन्द बढ़कर पूर्ण आनन्द होगा, उसमें दूसरे की बिल्कुल सहायता नहीं, आनन्दगुण स्वयं ही उसका साधन है। आत्मा के अनुभवरूप क्रिया के छहों कारक अपने में ही है। वाह, देखो तो सही! आत्मा में ऐसे स्वभाव भरे हैं। वे स्वभाव आनन्द के दाता हैं; उसे जानने से आनन्द होता है। आत्मा का ऐसा स्वभाव ख्याल में और अनुभव में आ सके, ऐसा है; सन्तों ने उसे प्रगट अनुभव में लेकर यह बात प्रसिद्ध की है। स्वयं जो वैभव अनुभव किया, उसे जगत को दिखलाया है और पराश्रय की दीनता टाल दी है। भाई! पर की सहायता बिना तेरा आनन्द प्रगट होता है और पर की सहायता बिना ही वह बढ़कर पूर्ण होता है; उसमें शरीर की, राग की या दूसरे किसी की सहायता नहीं है। केवलज्ञान और पूर्ण आनन्द प्रगट हो, ऐसे सामर्थ्य का पिण्ड तू स्वयं है। अन्तर्मुख होकर स्वयं अपने ऐसे स्वभाव को प्रत्यक्ष कर सकता है और ऐसे स्वसंवेदन द्वारा आत्मा का अचिन्त्य वैभव खुलता है।

अरे! तेरे भण्डार में आनन्द भरा है और तुझे वह खोलना नहीं आता! अन्तर में

दृष्टि कर, तेरे आत्मा के अचिन्त्य वैभव को खोल; शक्ति में भरा है उसे व्यक्त कर। उसके लिये कहीं बाहर देखना पड़े, ऐसा नहीं है, दूसरे किसी की सहायता लेनी पड़े, ऐसा नहीं है। आनन्द का भण्डार भरा है, वह कैसे खुले—यह बात कुन्दकुन्दाचार्यदेव इत्यादि सन्तों ने प्रसिद्ध की है। जिस प्रकार कोठार में भरा हुआ अनाज छिद्र पाड़कर बाहर निकालते हैं। अन्दर भरा है, वही बाहर आता है; इसी प्रकार यह अखण्ड चैतन्य कोठी अनन्त गुण के भण्डार से भरपूर है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान द्वारा वह पर्याय में प्रगट होता है... और फिर वह बढ़कर पूर्ण होता है।

जहाँ आत्मा का सम्यग्ज्ञान होता है, वहाँ सुख भी साथ ही होता है; ज्ञान के परिणमन के साथ अनन्त शक्तियाँ इकट्ठी परिणमती है। आनन्द बिना का ज्ञान होता नहीं। आनन्द बिना का ज्ञान तो सच्चा नहीं और ज्ञान बिना आनन्द होता नहीं। इस प्रकार ज्ञान-आनन्द इत्यादि शक्तियों का निर्मल परिणमन आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उल्लसित हो रहा है। उसमें से पाँचवीं सुखशक्ति का वर्णन किया।

सुखशक्ति का वर्णन पूर्ण।

* * *

आत्मा की पहिचान करते ही....

जिन्हें अचिन्त्य आत्मवैभव प्रगट हुआ था, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में आत्मवैभव की अद्‌भुत बात समझायी है और उसमें भी अन्त में यह ४७ आत्मशक्तियाँ वर्णन करके तो आचार्यदेव ने कमाल किया है! 'अहो! ऐसी मेरी चीज़!! उसे मैंने पूर्व में नहीं पहिचाना।'—इस प्रकार यदि आत्मा का सच्चा प्रेम आवे तो उसकी पहिचान किये बिना रहे नहीं। आत्मा की पहिचान करते ही अनन्त काल के जन्म-मरण के दुःख की गाँठ टूट जाती है।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[6]

वीर्यशक्ति

स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः।६।

स्वरूप की (–आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।६।

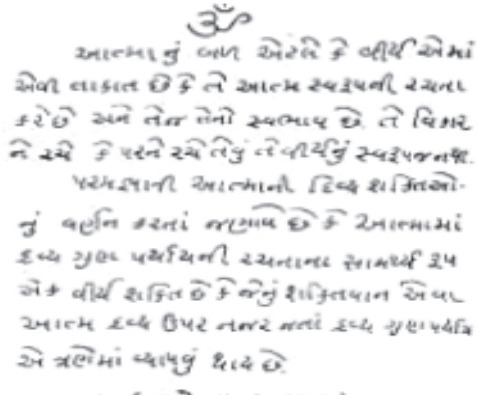

ॐ

आत्मानुं बळ अेटले के वीर्य तेमां अेवी ताकात छे के ते आत्म स्वरूपनी रचना करे छे अने तेज तेनो स्वभाव छे. ते विकार ने रचे के परने रचे तेवुं ते वीर्यनुं स्वरूप नथी.

परमज्ञानी आत्मानी दिव्य शक्तिओनुं वर्णन करतां जणाव्युं छे के आत्मामां द्रव्य गुण पर्यायनी रचनानुं सामर्थ्य रूप अेक वीर्य शक्ति छे के जेनुं शक्तिवान अेवा आत्म द्रव्य उपर नजर जतां द्रव्य गुण पर्याय अे त्रणेमां व्यापवुं थाय छे.

(गुरुदेवना हस्ताक्षर)

ॐ

आत्मा का बल अर्थात् कि वीर्य, उसमें ऐसी सामर्थ्य है कि आत्मस्वरूप की रचना करता है और वही उसका स्वभाव है। वह विकार को रचे या पर को रचे—ऐसा उस वीर्य का स्वभाव नहीं।

परम ज्ञानी आत्मा की दिव्य शक्तियों का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि आत्मा में द्रव्य–गुण–पर्याय की रचना के सामर्थ्यरूप एक वीर्यशक्ति है कि जिसका शक्तिवान ऐसे आत्मद्रव्य पर नजर जाने से द्रव्य–गुण–पर्याय इन तीनों में व्यापना होता है।

ज्ञानमात्र आत्मा अपने स्वरूप को रचे, ऐसी वीर्यशक्ति उसमें है। अपने में निर्मल ज्ञान, निर्मल श्रद्धा, आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायों को रचे, ऐसा वीर्यशक्ति का सामर्थ्य है। आत्मा अपनी निर्मल पर्याय को अपने सामर्थ्य से ही रचता है; उसमें किसी दूसरे का सहारा नहीं है। आत्मा में शक्ति का अखूट भण्डार भरा है। जो अनन्त काल में कभी समाप्त हो, ऐसा नहीं है। दाने इत्यादि का संग्रह तो अमुक काल में समाप्त हो जाता है, परन्तु आत्मा में आनन्द का और ज्ञान का भण्डार ऐसा है कि अनन्त काल तक भोगा करे तो भी समाप्त नहीं होता। ऐसे तेरे भण्डार को तू देख। स्वयं स्वसन्मुख होकर शक्ति में से निर्मल पर्याय को रचे, ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है। उसका नाम वीर्यशक्ति।

आत्मा अनन्त शक्तियों से भरपूर भगवान है। उसकी शक्तियों की महिमा सन्त सुनाते हैं। 'आत्मसिद्धि' अपने पास ही है, परन्तु अन्तर में स्वयं नजर करे, तो 'आत्म-प्रसिद्धि' हो। आत्मा सदा अपने पास ही होने पर भी आत्मभ्रान्ति के कारण वह ढँक गया है। उसकी शक्ति की पहिचान करने से आत्मभ्रान्ति टलकर आत्मसिद्धि होती है।

अनेकान्तस्वरूप आत्मा का स्वानुभव होने पर उसमें कैसी-कैसी शक्तियाँ निर्मलरूप से प्रसिद्ध होती है, उसका यह वर्णन है। आत्मा की वीर्यशक्ति उसके सर्व गुणों में व्यापक है; इसलिए ज्ञान की रचनारूप ज्ञानवीर्य, आनन्द की रचनारूप आनन्दवीर्य, सम्यक्त्व की रचनारूप श्रद्धावीर्य, ऐसे अनन्त गुण की रचनारूप अनन्त वीर्यशक्ति आत्मा में है। ऐसी अनन्त शक्ति का स्वामी यह आत्मा स्वयं 'अनन्तनाथ' भगवान है। आत्मा की वीर्यशक्ति विकार को नहीं रचती, जड़ को नहीं रचती; परन्तु अपने निर्मल स्वरूप को रचे, यह उसका वास्तविक कार्य है।

शरीर में पहलवान जैसी सामर्थ्य हो, वह कहीं आत्मा की वीर्यशक्ति का कार्य नहीं है। शरीर का बल शरीर में है; आत्मा का बल आत्मा में है। आत्मा की शक्ति का कार्य कहीं जड़ में नहीं आता, अज्ञानी देह का अभिमान करता है कि हम चलती मोटर को खड़ी कर देते हैं, अथवा दूसरे पहलवान में ऐसी क्रिया देखे, वहाँ ऐसा मानता है कि मानो वह उसके आत्मा का कार्य हो। भाई! आत्मा की सामर्थ्य तो अपने ज्ञान और आनन्द का काम करे, वह सामर्थ्य कहीं जड़ के काम करने नहीं जाती। बड़े बैल को

सींग पकड़कर खड़ा रख दे, ऐसे एक प्रसिद्ध पहलवान में मरण के समय आँख के ऊपर की मक्खी उड़ाने की सामर्थ्य नहीं रही थी। वह बल कहाँ आत्मा का था! आत्मा का बल तो ऐसा होता है कि देह निर्बल पड़े तो भी ऐसा का ऐसा टिका रहे और अन्दर अपने श्रद्धा-ज्ञान आनन्द इत्यादि को टिकाने का काम किया करे। आत्मा का ऐसा वीर्य शरीर के आधार से नहीं है। राग के आधार से नहीं है, शरीर के या राग के आधार बिना एक क्षण में केवलज्ञान को रचे, ऐसी आत्मवीर्य की सामर्थ्य है; और ऐसे अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायों को एक समय में रचे, ऐसी सामर्थ्य वीर्यगुण की एक समय की पर्याय में है।

अरे जीव! तेरी सामर्थ्य तो देख! ऐसी अपरिमित सामर्थ्य का स्वामी तू जरा सी प्रतिकूलता आवे, वहाँ मूर्छित हो जाता है! तेरी सामर्थ्य की एक टंकार से केवलज्ञान ले, ऐसा तू है। तेरी सामर्थ्य के सन्मुख देख तो उसमें प्रतिकूलता कैसी? प्रतिकूलता के गंज के मध्य भी जगत के पदार्थों से भिन्न निजस्वरूप रूप से टिका रहे—ऐसी आत्मा में सामर्थ्य है। नरक की असह्य वेदना के मध्य असंख्यात वर्षों तक रहा। छेदा गया-भेदा गया, पीला गया, तथापि जीव का एक भी आत्मप्रदेश या एक भी गुण कम नहीं हुआ। और ऐसे स्वभाव के आश्रय से स्वाश्रित वीर्यबल से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह भी चाहे जैसी प्रतिकूलता में टिकी रहे, किसी से घात नहीं होती, ऐसी आत्मा की सामर्थ्य है। ऐसी वीर्यशक्ति प्रगट हुई, वह विकार के कर्तृत्व को नाश कर डालती है।

राग-द्वेषादि विकार वह आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं, इसलिए उसे कर्मकृत कहकर शुद्ध चैतन्यभाव से उसकी भिन्नता बतलायी है। आत्मा की वीर्यशक्ति कारण होकर निर्मलपर्याय की रचनारूप कार्य को करती है। आगे 'अकारणकार्यशक्ति' कहेंगे, अर्थात् कि आत्मा की शक्ति रागादि विकार का कारण नहीं होती और रागादि को अपना कारण नहीं बनाती, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसा विकार के साथ अकारण-कार्यपना आत्मा की सभी शक्तियों में रहा हुआ है। स्वरूप की रचना अर्थात् शुद्धपर्याय की रचना करे, उसे आत्मवीर्य कहा जाता है। परन्तु विकार को रचे या शरीर के बल को रचे, वह कहीं आत्मवीर्य का वास्तविक कार्य नहीं है।

जिस प्रकार आत्मा में वीर्यशक्ति है, उसी प्रकार परमाणु इत्यादि में भी गतिवीर्य

अर्थात् कि गमनशक्ति इत्यादि है। एक रजकण लोक के नीचे के छोर से ठेठ ऊपर चौदह राजुलोक एक समय में चला जाये, ऐसी उसकी गमनशक्ति है; जीव एक समय में तीन काल—तीन लोक को (तथा अलोक को) जान ले, ऐसी उसकी सामर्थ्य है। नीचे सातवें नरक के स्थान के नीचे रहा हुआ निगोद का जीव वहाँ से गति करके एक समय में ठेठ ऊपर सिद्धलोक के स्थान में पहुँच जाता है, तैजस-कार्मणशरीर के अनन्त रजकण भी साथ जाते हैं, तथापि दोनों की गति स्वतन्त्र है। यहाँ तो कहते हैं कि ऐसी विभावगति, वह भी आत्मा का वास्तविक कार्य नहीं है। ज्ञानी अपने आत्मबल को देह से और विकार से भिन्न जानता है।

नेमिनाथ भगवान राजकुमार थे, उस समय का एक प्रसंग है। महाराजा श्रीकृष्ण की राज्यसभा में एक बार बल की चर्चा चल पड़ी कि इस सभा में सबसे बलवान कौन? कोई कहे भीम बलवान, कोई कहे श्रीकृष्ण, कोई कहे बलभद्र—ऐसी चर्चा चली; चर्चा चलती थी, वहाँ नेमिकुमार राज्यसभा में पधारे और सबने सम्मान किया। तब बलभद्र कहते हैं कि दूसरे सब बलवान भले हों, परन्तु ये नेमिकुमार तीर्थंकर हैं, इनके बल की तुलना में कोई नहीं आता। सर्वाधिक बलवान हों तो नेमिकुमार हैं। नेमिकुमार की यह प्रशंसा श्रीकृष्ण को सहन नहीं हुई; उन्हें ऐसा कि मैं ही सबसे बलवान हूँ। इसलिए वे तो नेमिकुमार के साथ मल्ल-कुश्ती करके बल की परीक्षा करने को तैयार हुए, परन्तु नेमिकुमार हँसकर कहते हैं कि बन्धु! आप तो बड़े भाई हो, आपके साथ कुश्ती नहीं होती, तथापि आपको बल की परीक्षा करनी हो न, तो यह मेरा पैर जरा हटा दो। श्रीकृष्ण उसे जरा भी हिला भी नहीं सके। तब नेमिकुमार कहते हैं—बन्धुवर! रहने दो। यह मेरी छोटी अँगुली सीधी है, उसे जरा टेढ़ी कर दो। श्रीकृष्ण उस अँगुली पर टंग जाते हैं, तो भी उस छोटी अँगुली को जरा भी टेढ़ी नहीं कर सकते।

अब इस प्रसंग से अपने को तो यहाँ यह कहना है कि श्री नेमिकुमार को शरीर के बल का उस प्रकार का सहज विकल्प आया, परन्तु अन्तर में वे धर्मात्मा उसी समय जानते हैं कि यह शरीर बल, वह मैं नहीं, और यह विकल्प उठा, वह भी मैं नहीं; मैं तो चैतन्य की वीर्यशक्ति से बलवान हूँ। मेरे आत्मा का बल तो मेरी निर्मल पर्याय की रचना करे, परन्तु कहीं बाहर के काम वह नहीं करता। ज्ञान में ज्ञान की रचना का बल, आनन्द

में आनन्द की रचना का बल, श्रद्धा में सम्यक्त्व की रचना का बल,—ऐसे सब गुणों में स्वरूप की रचना का बल है; उस बल का दातार कौन? कि आत्मा की वीर्यशक्ति उसकी दातार है। वीर्यशक्ति पूर्ण आत्मा के स्वरूप की निर्मलरूप से रचना करती है। आत्मा के सर्व गुणों में वह शक्ति व्यापक है। अपने में ऐसे स्वभाव सामर्थ्य का अपार वैभव भरा होने पर भी उस निज वैभव को भूलकर अज्ञानी जीव दीन-हीन-रंक हो रहा है और पर से भीख माँग रहा है—कि वह कुछ मदद करे! अरे भाई! तेरे स्वभाव में कहाँ कम सामर्थ्य है कि तुझे दूसरे की सहायता माँगनी पड़े! तेरे स्वभाव को दृष्टि में ले तो तुझे पर की महिमा टलकर स्वभाव की महिमा प्रगट हो। तू ऐसा बलवान है कि तेरी छोटी अँगुली को भी (अर्थात् कि तेरी एक छोटी पर्याय को भी) दूसरा कोई हिला सके, ऐसा नहीं है। ऐसे तेरे स्वभाव सामर्थ्य को तू सम्हाल।

अरे जीव! तेरा सामर्थ्य कितना! एक क्षण में केवलज्ञान की रचना करे, ऐसा तेरा स्ववीर्य! उसे तू लक्ष्य में तो ले। बाहर के संयोग से तेरी शोभा या महत्ता नहीं है। तेरी शोभा और महत्ता तो तेरे गुणों से और उन गुणों की निर्मल पर्यायों से है,—कि जिनके गुणगान भगवान की दिव्यध्वनि भी करती है। तेरे गुणपर्याय का अचिन्त्य सामर्थ्य है, उसकी महिमा करके स्व में रत हो तो तेरा वह सामर्थ्य खिल उठेगा। जो अपनी महत्ता दूसरों से लेना चाहता है, वह तो भिखारी है।

ज्ञानी जानते हैं कि मेरा आत्मा स्वयं ही अपनी निर्मलता की रचना करने की सामर्थ्यवाला है, उसे किसी पर की या राग की सहायता नहीं है। मेरी शक्ति में और उसके निर्मल कार्य में राग का और पर का तो अभाव है। मेरी कोई शक्ति ऐसी नहीं कि राग को रचे। जिससे तीर्थंकरप्रकृति बँधे, ऐसा भाव भी मेरी शक्ति द्वारा रचित नहीं है। मेरी शक्ति बन्धभाव को कैसे रचे? मेरी शक्ति मुझे ही बाँधने का कार्य कैसे करे? बन्धभाव की रचना, वह मेरी शक्ति का कार्य नहीं है। आत्मा की शक्ति तो निर्मलता को रचे या विकार को?

जो निजस्वरूप की रचना करे, उसे ही आत्मवीर्य कहा जाता है। राग, वह कहीं वास्तव में निजस्वरूप नहीं है। जहाँ राग की रचना भी आत्मा की वीर्यशक्ति का कार्य नहीं, वहाँ पर की रचना, मकान की रचना, शरीर की रचना, पुस्तक इत्यादि की रचना,

देश की रचना—इन सबकी बात तो कहाँ रही ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि निर्मल भावों की रचना में उस आत्मवीर्य का वास्तविक कार्य है।

— तेरी अनन्त सामर्थ्य।

— परन्तु वह सामर्थ्य क्या काम करे ?

— कि अपने स्वरूप को रचे। परन्तु पर में कुछ नहीं करे।

आत्मा स्वशक्ति से अपने में ज्ञान की—आनन्द की—शान्ति की—वीतरागता की—केवलज्ञान की और सिद्धपद की रचना करे; उसमें ही उसकी शोभा है। इसके अतिरिक्त उससे विरुद्ध दूसरा कुछ काम आत्मा को सौंपे तो उसने आत्मा को जाना नहीं। अरे ! तेरी वीर्यशक्ति के कार्य की मर्यादा कितनी, उसकी भी तुझे खबर नहीं। तेरी शक्ति के सामर्थ्य की मर्यादा इतनी कि अपनी निर्मल पर्याय को रचे; तेरी शक्ति पर के काम करने न जाये। यदि पर के काम करने जाये तो वह शक्ति तेरी न रहे परन्तु पर की हो जाये। पर का काम करने का माने, उसने आत्मा की शक्ति को जाना नहीं। विकार में तन्मय होकर विकार कार्य को करे, वह भी आत्मशक्ति का वास्तविक कार्य नहीं। आत्मशक्ति तो ऐसी है कि जिसके सेवन से एक क्षण में वह केवलज्ञान दे।

अहो ! आत्मा की शक्तियाँ अद्‌भुत हैं। इसमें बहुत गहरे भाव भरे हैं। इसमें से तो घोलन कर-करके जितना निकालें, उतना निकले, ऐसा है। यह शक्तियाँ व्याख्यान में चौदहवीं बार वाँची जा रही है। जिसकी समझण के फल में चौदहवाँ गुणस्थान और सिद्धपद प्राप्त हो, ऐसी यह बात है। इसमें चौदह ब्रह्माण्ड का सार भरा हुआ है।

राग करे, वह आत्मा ? ..... नहीं।
कर्म को बाँधे, वह आत्मा ? ..... नहीं।
भाषा बोले, वह आत्मा ? ..... नहीं।

रागवाला, कर्मवाला और भाषावाला आत्मा को माने, उसमें ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्त गुणवाले आत्मा को जाना नहीं। रागरूप भावकर्म, कर्मरूप द्रव्यकर्म और भाषादि रूप नोकर्म—इन सबसे पार, सम्यक्त्वादि निर्मल कर्म को करे, ऐसा अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा है, ऐसा आत्मा ज्ञानमात्र भाव है। वह ज्ञानमात्र भाव विकार का कर्ता नहीं है। विकार का कर्ता क्यों नहीं है ? क्योंकि ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है।

शक्ति में ही यदि विकार का कर्तृत्व हो, तब तो वह कभी छूट नहीं सकेगा। इसलिए विकार को करे, वह सच्चा आत्मा नहीं है।

सच्चा आत्मा किसे कहना? कि जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान को, चारित्र को, आनन्द को—ऐसी निर्मल पर्यायों को रचे, वह सच्चा आत्मा है। सच्चा आत्मा अर्थात् शुद्धनय का आत्मा, भूतार्थस्वरूप आत्मा; ऐसे आत्मा को जो पहिचाने, उसने आत्मा को सम्यक्रूप से पहचाना कहलाये। रागवाला आत्मा या संयोगवाला आत्मा—ऐसा जो पहिचाने, उसने सच्चे आत्मा को नहीं पहिचाना। उसने तो अभूतार्थ आत्मा को माना है और अभूतार्थ आत्मा की श्रद्धा को भगवान ने सम्यग्दर्शन नहीं कहा है। भगवान ने तो भूतार्थ स्वभाव की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। **('भूदत्तथ मस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो' - समयसार, गाथा ११)**

यह आत्मा की वीर्यशक्ति का वर्णन चलता है। वीर्यशक्ति में आत्मा के स्वरूप की रचना का सामर्थ्य है। परन्तु रागादि भाव तो विरुद्ध है—विरुद्धरूप है। उन्हें कहीं वीर्यशक्ति रचती नहीं। असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र का जो वीर्य है, वह स्वक्षेत्र में निर्मल भावों को ही रचता है; रागादि परभाव भले एक क्षेत्र में हों, परन्तु उनकी रचना वीर्यशक्ति का कार्य नहीं है। वीर्यशक्ति का कार्य और राग परमार्थ से भिन्न-भिन्न है। निर्मलता और राग दोनों एक कैसे हों?

अरे! केवलज्ञान को रचे, ऐसे सामर्थ्यवाली तेरी वीर्यशक्ति को तूने राग के कर्तृत्व में कहाँ उतार डाला? भाई! वीर्यशक्ति से विकार की रचना कराना, वह तो चक्रवर्ती से कचरा साफ कराने का काम लेने जैसा है। यह भगवान चैतन्य चक्रवर्ती तो अपने असंख्यप्रदेश में अनन्त गुण के निर्मल परिणमन की रचना करनेवाला है। उसकी वीर्यशक्ति स्वरूप में आत्मा को टिका रखती है। असंख्यप्रदेश में अनन्त गुणों को उस-उस गुणस्वरूप टिका रखती है और उसकी निर्मल पर्यायों को समय-समय में रचती है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में वीर्यशक्ति का रस है। ऐसी वीर्यशक्ति के साथ तन्मय आत्मा है। ऐसे आत्मा को जाने और अनुभव करे तब अनेकान्तस्वरूप आत्मा को पहिचाना कहलाये। और तब उसे 'आत्मा की प्रसिद्धि' हुई कहलाये।

* * *

अनादि काल से संसार में भटकता आत्मा अपनी अनन्त शक्ति के निज वैभव पर लक्ष्य नहीं करता। यदि निज वैभव को लक्ष्य में ले तो पराधीनबुद्धि मिटे और स्वाश्रय—परिणमन से निर्मल पर्यायरूप संवर-निर्जरा-मोक्ष प्रगट हो और आस्रव-बन्धरूप संसार परिभ्रमण मिटे। इससे आत्मा की शक्तियों का वर्णन करके अचिन्त्य निज वैभव आचार्यदेव ने दिखलाया है। जिसे आत्मशान्ति प्रगट करनी हो, उसे जिसमें शान्ति और आनन्द भरा है, ऐसे आत्मा का स्वरूप जानना चाहिए। दुःख और अशान्ति का कारण द्रव्यस्वभाव में नहीं है। वह तो अध्धर से परलक्ष्य से खड़ा किया हुआ है, और स्वद्रव्य का लक्ष्य करने से उसका नाश होकर सुख और शान्ति का वेदन प्रगट होता है।

जिसमें जो भरा हो, उसमें से वह आता है। शक्ति में जो हो वह पर्याय में आता है। आत्मा की शक्ति में तो सुख भरा है; उसमें कहीं दुःख नहीं भरा, इसलिए उसके लक्ष्य से तो सुख होता है और दुःख टलता है। स्वसन्मुख होकर स्वयं अपने में आनन्द और ज्ञानरूप जीना, वह जीव का सच्चा जीवत्व है। आत्मा के अन्तरलक्ष्य से सच्चा जीवन प्रगट होता है।—पहली जीवत्वशक्ति में इसका विवेचन किया है।

आत्मा में चेतनास्वभाव है। उस चेतनस्वभाव के आश्रय से चैतन्यभाव प्रगट होते हैं और उससे विरुद्ध ऐसे परभाव टलते हैं।—उसका वर्णन दूसरी चितिशक्ति में किया है।

स्व को देखने का अभाव और अकेले पर को देखने का भाव, वह संसार है। स्वसन्मुख होकर दृशिशक्ति से भरपूर आत्मा को देखने से संसार टलता है। यह बात दूसरी दृशिशक्ति में बतलायी है।

ज्ञान परसन्मुख ही रहकर अकेले पर को जानने में रुकता था, वह मिथ्याज्ञान संसार का कारण था। उपयोग को अन्तर में झुकाकर स्वसंवेदन से स्व को जानने से सम्यग्ज्ञान हुआ, वह मोक्ष का कारण है।—यह बात चौथी शक्ति में बतलायी।

ऐसे आत्मा के साथ आनन्द भी प्रगट होता है, यह बात पाँचवीं सुखशक्ति में बतलायी। आनन्द का समुद्र आत्मा को ध्येय करने से पर्याय में आनन्द प्रगट होता है।

इस प्रकार पाँच शक्तियों का निर्मल कार्य बतलाया। यह छठवीं वीर्यशक्ति के

कार्य का वर्णन चलता है। आत्मा में तो अनन्त शक्तियाँ अपने-अपने निर्मल कार्यरूप एक साथ ही परिणम रही है परन्तु वाणी में उन सबका कथन नहीं आ सकता। वाणी में तो अमुक ही शक्तियों का वर्णन क्रम-क्रम से आ सकता है, तथापि थोड़े वर्णन में आचार्य भगवान ने गम्भीर भाव भर दिये हैं।

आत्मा में ऐसी सामर्थ्य है कि स्वयं ही अपनी सामर्थ्य से, अपने स्वतन्त्र छह कारकों से, दूसरे की सहायता बिना अपने अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायों को रचता है। पर्याय क्रमबद्ध होती है और तो भी उसमें वीर्यशक्ति भी इकट्ठी काम करती है। जैसे ज्ञान बिना आत्मा की एक भी पर्याय नहीं होती। उसी प्रकार वीर्यशक्ति बिना भी आत्मा की एक भी पर्याय नहीं होती। ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा इत्यादि की भाँति वीर्यशक्ति का परिणमन भी साथ ही है। वीर्यशक्ति किसकी ? कि आत्मद्रव्य की। ऐसे अनन्त गुणों से एकाकार आत्मद्रव्य को दृष्टि में लेने से अनन्त गुणों का निर्मल परिणमन प्रगट होता है। उन निर्मल पर्यायों को आत्मा अपनी स्वाधीन सामर्थ्य से ही रचता है।

'बल' नामक वनस्पति की एक बेल होती है कि जिसे खाने से बल बढ़ता है। वह तो बाहर की बात है। यहाँ आत्मा के अन्दर में वीर्यशक्तिरूप बल का ऐसा वृक्ष है कि जिसके सेवन से केवलज्ञान की रचना करने का बल प्राप्त होता है।

आकाशक्षेत्र के अस्तित्व का कहीं अन्त नहीं है, वह उसका क्षेत्र वीर्य है। अचेतन में ऐसी अमर्यादित सामर्थ्य, तो चेतन के सामर्थ्य की क्या बात! जिसका कहीं पार नहीं, ऐसा अनन्त आकाश, उसे भी ज्ञान अपनी दिव्य सामर्थ्य से जान लेता है। यह ज्ञान की सामर्थ्य, वह ज्ञानवीर्य; इस प्रकार श्रद्धावीर्य, आनन्दवीर्य—ऐसे अनन्त गुण का रस वीर्यशक्ति में समाहित होता है। आत्मा में ऐसी शक्ति है कि सर्व गुणों की शुद्ध अवस्था का निपजावे। रागादि उदयभाव को रचे, वह कहीं आत्मशक्ति का सच्चा कार्य नहीं है; यद्यपि उसमें भी जीव का ही उल्टा वीर्य है, परन्तु शुद्ध दृष्टि में वह जीव का कार्य नहीं है। आत्मा की वीर्यशक्ति का सच्चा कार्य तो श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द की रचना करना है। ऐसा कार्य प्रगट करके परिणमे, तब ही वीर्यशक्तिवाले आत्मा को जानना कहलाये।

'कार्य' हुए बिना 'कारण' का ज्ञान सच्चा नहीं कहलाता। अर्थात् निर्मल पर्याय प्रगट हुए बिना गुण की सच्ची पहिचान नहीं होती। कारण का सच्चा ज्ञान होने पर उसे अनुसरकर निर्मल कार्य अवश्य प्रगट होता है। विकार का नाश करे और निर्मलता को रचे, वह वीर्यगुण का कार्य है।

क्रमबद्धपर्याय है, इसलिए वीर्यशक्ति अकार्यकारी है—ऐसा नहीं। क्रमबद्धपर्याय में वीर्यशक्ति भी साथ ही अपना कार्य करती ही है। देखो! आत्मा अकेली क्रमपर्यायवाला ही नहीं, साथ में अक्रमरूप अनन्त गुण भी हैं। ऐसे क्रम-अक्रम स्वभाव के पिण्डरूप आत्मा को दृष्टि में लेने से पर्याय का क्रमवर्तीपना और गुणों का अक्रमवर्तीपना यथार्थ ज्ञात होता है। इसके बिना किसी गुण की या पर्याय की बात यथार्थ नहीं होती। परभाव का अकर्तापना होने पर भी आत्मा स्ववीर्य द्वारा अपने स्वरूप की रचना भी करता है।

स्वकाल में मोक्ष होता है और तो भी उसमें वीर्यगुण भी कार्यकारी है, ऐसा मेल है, क्योंकि मोक्ष का स्वकाल कहीं वीर्यगुण की निर्मल पर्याय के बिना नहीं है। मोक्ष के स्वकाल में अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायें साथ ही काम करती है और उन सब गुणों की निर्मल पर्यायें इकट्ठी होकर मोक्ष साधती है। इसलिए अनन्त गुणसम्पन्न ऐसे शुद्धस्वभाव को दृष्टि में लिये बिना मोक्ष का 'स्वकाल' इत्यादि का सच्चा निर्णय नहीं होता। शास्त्रों में स्वकाल का वर्णन हो या वीर्यगुण के कार्य का वर्णन हो, उसमें कहीं एक-दूसरे से विरुद्धता नहीं है।

एक समय में अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायें—यह सब एक आत्मद्रव्य में समाहित होता है और ऐसे द्रव्यसन्मुख दृष्टि करने से मोक्ष की ओर परिणमन शुरु होता है। अहो! सर्वज्ञ की सर्वज्ञता के सामर्थ्य को जो नहीं पहिचानता, वह क्रमबद्धपर्याय को भी नहीं समझ सकता। सर्वज्ञस्वभाव की जिसे पहिचान नहीं, उसे तत्त्व में सर्वत्र विवाद ही उठता है। क्योंकि धर्म का मूल तो सर्वज्ञ है। और उस मूल में ही उसे दिक्कत है। उसे आत्मवीर्य का सच्चा कार्य प्रगट नहीं होता।

अहो! इस अनन्त शक्ति से प्रकाशमान आत्मा जिनवाणी ने प्रसिद्ध किया है, परन्तु जैसे आँख मींचकर, गोदड़ा ओढ़कर, दरवाजा बन्द करके सोये हुए मनुष्य को

सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार यहाँ अनन्त शक्ति की निर्मल किरणों से जगमगाता चैतन्यसूर्य उगा है, परन्तु जिसकी दृष्टि बन्द है, जिसने मिथ्यात्वरूप गोदड़ा ओढ़े हैं और सत्श्रवण के दरवाजे भी जिसने बन्द किये हैं, उसे इस चैतन्यसूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता। सन्त उसे बारम्बार जगाते हैं कि अरे जीव! तू जाग... जाग! उल्टी मान्यता के गोदड़े दूर करके तेरी दृष्टि खोल, तेरे अन्तर में अनन्त शक्ति से प्रकाशमान चैतन्यसूर्य दीप्त हो रहा है, उसे देख। जिस प्रकार सूर्य के निकट अन्धकार नहीं होता, उसी प्रकार इस चैतन्यप्रकाश में रागादि विकार नहीं है।

राग की रचना, वह चैतन्यवीर्य का कार्य नहीं है। विकार को रचे, वह आत्मा की वीर्यशक्ति का कार्य नहीं है। आत्मा की वीर्यशक्ति निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय में व्यापकर शुद्धपर्याय की रचना करती है। अनन्त गुण की निर्मल पर्याय की रचना, वह वीर्यशक्ति का कार्य है। और विकार की रचना, वह वीर्यशक्ति का कार्य नहीं। अर्थात् कि व्यवहारवीर्य, वह आत्मा का वास्तविक वीर्य नहीं। निश्चयवीर्य, वही आत्मा का वास्तविक वीर्य है; व्यवहार आत्मा, वह वास्तविक आत्मा नहीं; निश्चय आत्मा (शुद्ध आत्मा), वही वास्तविक आत्मा;—देखो, यह भेदज्ञान! जितना वीर्य विकार में रुकता है, वह आत्मा नहीं; निर्मल परिणमन की रचना करे, वही आत्मा है और उस निर्मल परिणमनरूप निश्चय में व्यवहार का (विकार का) अभाव है।

भाई! यह बात सूक्ष्म और अपूर्व तो है, परन्तु तेरे स्वरूप की ही बात है न! और इसे समझने की तुझमें सामर्थ्य है। अरे! आत्मा तो केवलज्ञान प्रगट करे, ऐसी सामर्थ्यवाला है। उसमें इतना समझना, वह तो अल्प है। तो समझ में कैसे न आये? आत्मा में केवलज्ञान ले, ऐसा वीर्य है। राग को करे, ऐसे वीर्य को व्यवहार आत्मा गिना है। वह वास्तविक आत्मा—निश्चय आत्मा नहीं है; निश्चय आत्मा में उसका अभाव है—ऐसा अनेकान्त स्वयं प्रकाशित करता है।

✦ वीर्यगुण स्वयं कर्ता होकर अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायों को रचता है;

✦ परन्तु कहीं राग कर्ता होकर किसी गुण की निर्मल पर्याय को रचता नहीं है।

भगवान! तेरी शक्ति अपार है। तेरी एक-एक शक्ति अनन्त भाव से भरपूर है।

ऐसे स्वभाववाले आत्मा को जो जाने, उसे विकार में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती। निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह आत्मशक्ति का कार्य है, और राग का उसमें अभाव है। शक्ति में तो राग नहीं, वैसी व्यक्ति हुई, तब शक्ति की वास्तविक पहिचान हुई। इसके बिना शक्ति की सच्ची पहिचान नहीं होती।

देखो, आत्मा में सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, आनन्द और सिद्धपद ऐसी निर्मल पर्यायों को कौन रचता है? उसकी यह बात है। आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूप से स्ववीर्य से अपनी उन पर्यायों को रचता है।

- ईश्वर उन्हें रचता नहीं।
- परद्रव्य उन्हें रचता नहीं।
- राग द्वारा भी वे रचित नहीं है।

आत्मा स्वयं स्वशक्ति से कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादिरूप निर्मल कार्य को करता है। आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्ता है, कर्मरूप अपनी पर्याय उसरूप स्वयं ही स्वतन्त्ररूप से होता है, साधन भी स्वयं ही अपनी स्वशक्ति से होता है, अपने में से वह पर्याय लेकर अपने में ही रखता है, इसलिए सम्प्रदान और अपादान भी स्वयं ही है, और उसका आधार (अधिकरण) भी स्वयं ही है। दूसरे किसी के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। रागादि उसका आधार नहीं, रागादि उसका साधन नहीं। अपनी पर्याय को रचनेवाला स्वयं ही अनन्त शक्तिमान ईश्वर है।

अहो, कितनी स्वतन्त्रता! भाई! तेरा निर्मल कार्य करने में (सम्यग्दर्शन इत्यादि में) तुझे जरा भी पराधीनता नहीं है; तेरी स्वशक्ति को सम्हाल—इतनी ही देर है।

अहो, आत्मशक्ति की क्या बात! एक क्षण में केवलज्ञान ले, ऐसी अपार सामर्थ्य उसमें भरी है। भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—प्रभो! आपके केवलज्ञान में जो वीतरागी अतीन्द्रिय शान्ति भरी है, उसकी तो क्या बात! और उस केवलज्ञान के साथ रही हुई जो देह, उसमें भी कोई अलौकिक शान्ति भरी है; आपके शरीर के परमाणु भी अलग प्रकार के हैं। आपका आत्मा उत्कृष्ट शान्तिरूप परिणम गया, और जगत में शान्तरसवाले जितने उत्कृष्ट परमाणु थे, वे आपके शान्त देहरूप परिणम गये; कोई

परमाणु शान्तरसवाले जगत में बाकी नहीं रहे।—ऐसा ही कोई प्रकृति का मेल है।

जहाँ शीतलता से अन्तिम हद की पर्याय आत्मा में प्रगट हुई, वहाँ देह में भी शीतलता—शान्तरस की अन्तिम हद में परिणमित परमाणु आये।

आत्मा में शान्तरस की जितनी शक्ति थी, वह सब आपने प्रगट की, तो परमाणु में भी जितनी थी, वह सब शान्तरस की पर्याय प्रगट हुई। देखो तो सही! भगवान के आत्मा में क्रोध शान्त हो गया, वहाँ परमाणुओं में भी शान्ति की रचना हो गयी; क्रोध से लाल मुख हो या भृकुटी चढ़े, ऐसा आपको रहा नहीं। आपका आत्मा शान्त और देह भी शान्त। देह के परमाणुओं को कहीं खबर नहीं कि ये भगवान शान्तरसरूप परिणमित हुए हैं, इसलिए हम भी शान्तरूप परिणमे!—परन्तु ऐसा ही सुमेल है। आत्मा की शक्ति पूरी खिल गयी, वहाँ देह के एक-एक परमाणु में उस प्रकार का पूर्ण सामर्थ्य परिणमित हुआ है। अज्ञानी को आश्चर्य होता है कि अरे! ऐसा कैसे होगा! ज्ञानी को तो वस्तु की महिमा जानकर आश्चर्य होता है कि वाह! आत्मा का कोई अचिन्त्य स्वभाव है।

आत्मा के केवलज्ञानादि के सामर्थ्य की तो क्या बात! परन्तु तीर्थंकर के शरीर में भी ऐसा सामर्थ्य है कि—लाख योजन के इस जम्बूद्वीप के बीच जो लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है, उस मेरु को छत्री के डण्डे की तरह उठाकर पूरे जम्बूद्वीप को खेलमात्र में छत्री की भाँति उल्टा कर डाले। ऐसी तो जिनके देह की सामर्थ्य! उनके आत्मबल की क्या बात! यहाँ कहते हैं कि देह का ऐसा बल, वह आत्मा नहीं, आत्मा का बल तो अपनी निर्मलपर्यायों को रचनेवाला है। परमाणु एक समय में चौदह राजुलोक (असंख्यात योजन) ऊँचा चला जाये, ऐसा उस जड़ की गति शक्ति का वीर्य है। और एक समय में अनन्त काल को तथा अनन्त क्षेत्र को जान ले, ऐसा आत्मा की ज्ञानशक्ति का वीर्य है। वस्तु का अनेकान्तस्वभाव कोई अद्‌भुत है और उसमें भी आत्मा का स्वभाव तो अलौकिक अद्‌भुत अचिन्त्य आह्लादकारी है—कि जिसे जानने से जाननेवाले को परम आनन्द होता है। एक आत्मा में अनन्त गुण और एक परमाणु में भी अनन्त गुण; अनन्त गुण होने पर भी वस्तुस्वभाव ऐसा सूक्ष्म है कि आँख इत्यादि इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता; अन्तर्मुखी अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही ज्ञात हो, ऐसा वस्तुस्वभाव है।

आत्मा अनन्त शक्ति का स्वामी परम-ईश्वर है। परमेश्वर कभी पंगु नहीं होता। जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे पुण्यवन्त के पैर कभी नहीं टूटते और वे कभी पंगु नहीं होते, उसी प्रकार यह चैतन्यप्रभु कभी ऐसा पंगुल नहीं कि अपने कार्य के लिये उसे दूसरे की दासता लेनी पड़े। स्वशक्ति की प्रभुता से आत्मा स्वयं अपने कार्य को करता है, उसमें राग की और पर की कोई दासता नहीं है।

अहो! अपने स्वभाव की प्रभुता की इस बात में जिज्ञासु को कितना रस आवे! जैसे सगी माता हो और इकलौता प्रिय पुत्र दूरदेश से आवे, वहाँ माता को ऐसा वात्सल्य अन्दर से उफनता है कि दूध झरता है। शास्त्र में रुक्मणी और प्रद्युम्नकुमार की बात आती है। प्रद्युम्नकुमार को बालपने से ही एक विद्याधर हरकर ले गया है, उसके विरह में रुक्मणी को चैन नहीं पड़ता; नारद सीमन्धर भगवान के पास जाकर उसका पता लेकर आते हैं कि १६ वर्ष में वह वापस आयेगा। अन्त में सोलह वर्ष में जब प्रद्युम्नकुमार आते हैं, तब सरोवर में कमल खिल जाते हैं, मयूर नृत्य करने लगते हैं, अनेक शुभचिह्न खिलते हैं, और रुक्मणी को पुत्रप्रेम से दूध की धारा प्रवाहित होती है। इसी प्रकार यहाँ सन्त आत्मशक्ति का भान कराकर ज्ञान-आनन्द की निर्मल पर्यायरूपी पुत्र की भेंट कराते हैं, वहाँ जिज्ञासु के अन्तर में स्वभाव के प्रेम के कारण आनन्द की धारा प्रस्फुटित होती है। अहो, ऐसे स्वभाव की बात सुनने पर किसके अन्तर में आनन्दरस के अंकुर नहीं फूटेंगे! भगवान और सन्त कहते हैं कि हम तुझे तेरा परमेश्वरपना बतलाते हैं, तेरे परमेश्वर की तुझे भेंट कराते हैं—कि जिससे भेंट करने से तेरे अन्तर में अनेक पवित्र चिह्न (रुचि-वैराग्य इत्यादि) प्रगट होंगे और उसके उल्लास से दूध जैसी निर्मलता के झरने फूटेंगे। अहो, अपनी स्वसत्ता में जहाँ भगवान की भेंट हुई, परमात्मा का साक्षात्कार हुआ, वहाँ पामरता नहीं रहती।

* * *

आत्मा ज्ञान-आनन्द इत्यादि अनन्त रत्नों से भरपूर महासागर है। महासागर कहो या रत्नाकर कहो। जैसे सागर के पाताल में रत्न पड़े होते हैं, इसलिए उसे 'रत्नाकर' कहा जाता है; उसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणरूपी रत्नों का रत्नाकर है। शरीर-मन-वाणी और कर्म तो जड़; पुण्य-पाप, वह विकार; उससे रहित पूरा चैतन्यदल, वह

चैतन्य-रत्नाकर है। उसमें अनन्त शक्तिरूप अनन्त रत्न भरे हैं। एक-एक रत्न की अनन्त अचिन्त्य महिमा है। ऐसे आत्मवैभव की सन्तों ने प्रसिद्धि की है।

✦ जगत में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वे तीन रत्न श्रेष्ठ हैं।

✦ उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का फल केवलज्ञान है।

✦ ऐसे अनन्त केवलज्ञान प्रगट होने की सामर्थ्य एक ज्ञानगुणरूपी रत्न में भरी है।

✦ और ऐसे अनन्त गुणरत्नों का सागर आत्मा तो चैतन्य महारत्नाकर है। स्वानुभूति में वह प्रगट होता है, उसका यह वर्णन है। राग में कहीं ऐसी खान नहीं कि एक भी रत्न को (सम्यक्त्वादि को) प्रगट करे।

यहाँ वीर्यशक्ति का वर्णन है। वीर्यशक्ति के कार्य में राग के कर्तापने का अभाव है और ज्ञानादि की निर्मलपरिणति को करने का सद्भाव है। आत्मा स्ववीर्य से स्वपर्याय को (निर्मल परिणाम को) निष्पन्न करता है, रचता है, परन्तु उसमें राग की रचना नहीं। जैसे क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञान की सन्मुखता से राग का अकर्तापना है, वैसे ही वीर्यशक्ति के कार्य में भी रागादि का अकर्तापना है। ज्ञानरूप होकर क्रमबद्धपर्याय का और वीर्यशक्ति का निर्णय करनेवाले को पर्याय में रागादि के अकर्तापने का वीर्य स्फुरित होता है और ज्ञानभाव जागृत होता है। उस ज्ञानभाव में अनन्त आत्मशक्ति का रस निर्मलरूप से उछलता है, इसका नाम 'आत्मप्रसिद्धि'।

इस समयसार में आत्मा का अलौकिक स्वरूप समझाकर सम्यग्दर्शन कैसे हो, अर्थात् कि आत्मा का प्रगट अनुभव कैसे हो, उसकी बात की है। सैंतालीस शक्तियों के वर्णन से जैसा आत्मा बतलाया, उसे पहिचानने से नौ तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। संवर प्रगट होता है और आस्रव का अभाव होता है। एक-एक शक्ति में तो बहुत गम्भीरता भरी है, परन्तु वाणी से तो कितना विस्तार हो? अन्दर चैतन्य को पकड़े, तब पार पाया जाये।

आत्मा का वीर्यबल ऐसा नहीं कि राग को रचे; वहाँ पर को रचने की क्या बात! भाई! यदि तू राग की रचनावाला ही आत्मा को अनुभव करता हो तो तुझे तेरी वीर्यशक्ति की खबर नहीं है। तेरी वीर्यशक्तिवाला आत्मा अनन्त गुण और निर्मल पर्यायोंसहित

अनुभव में आवे तो तेरा ज्ञान सच्चा और तब तूने तेरी वीर्यशक्ति को पहिचाना।

अनन्त गुण का पुंज आत्मा तू स्वयं; तेरी यह बात है। तुझमें जो अमाप शक्ति पड़ी है, वह कैसे खिले, यह बताते हैं। आनन्द से भरपूर चैतन्यसमुद्र को जो भूला, वह राग-द्वेष को करता है; सम्यग्दर्शन होने पर चैतन्यद्रव्य को ध्येय में लिया, आनन्द के समुद्र में डुबकी लगायी, वहाँ राग-द्वेष का कर्तृत्व नहीं रहता। स्वरूप की निर्मल रचना करे, वह स्ववीर्य का काम है; उसे ही सच्चा आत्मबल कहा जाता है। विकार को रचे, वह आत्मबल नहीं। वीर्यशक्ति में ऐसा वीररस है कि पामरता को तोड़कर परमात्मपने की रचना करे, अशुद्धता को तोड़कर शुद्धतारूप से प्रगट हो, अल्पज्ञता को दूर करके सर्वज्ञता खिलावे। दुःख को दूर करके परम आनन्द को प्राप्त कराये।—इस प्रकार आत्मा अपनी वीरता द्वारा अनन्त शक्ति के निर्मल कार्य को करता है।

ज्ञान में जानने का वीर्य (सामर्थ्य, आत्मबल) है, उसी प्रकार वीर्य में स्वरूप को रचने की वीरतारूप वीर्य है। वह वीर्य आत्मा को स्वघर में स्थिर रखता है—स्वरूप में टिकाये रखता है, इसलिए उसे 'गृह—स्थ' (गृह अर्थात् स्वघर, उसमें स्थित) कहा है। राग में जाये, उस वीर्य को स्वघर का नहीं कहा जाता। वीर्यशक्ति ब्रह्मस्वरूप आत्मा के आनन्द में चरती है (स्वरूप में मग्न रहती है), इसलिए वह 'ब्रह्मचारी' है। इस प्रकार एक-एक शक्ति में अनन्त शक्ति का रस भरा है। इस प्रकार परस्पर कथंचित् मिले हुए अनन्त शक्ति के रस से एकरूप आत्मा को धर्मी अनुभव करता है। अनन्त शक्ति से एकरस चैतन्यभावरूप आत्मा परिणमता होने से वह अनेकान्तस्वरूप है।

रागादि परभावरूप से परिणमना, वह तो कायरता है। वीरता तो उसमें है कि अपने शुद्धस्वरूप को टिकाये रखना और उसमें परभाव के अंश को भी प्रवेश नहीं होने देना। आत्मा की शक्ति में तो ऐसी वीरता है कि विभाव को तोड़कर वीतरागता को और केवलज्ञान को रचे। राग को रचे, ऐसी कायरता आत्मा की शक्ति में नहीं है, वह आत्मशक्ति का कार्य नहीं है। विकार के कर्तृत्व में रुके, वह तो बालवीर्य है, अज्ञानवीर्य है, आत्मा के स्वभाव का पण्डित-वीर्य वह नहीं है। आत्मा, वह तो वीर होकर स्ववीर्य से अपने निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय में व्यापे, ऐसी उसकी वीरता है। अरे जीव! तेरी वीरता को भी तूने जाना नहीं और वीर्यहीन होकर, कायररूप से संसार में भटक रहा

है!—यह भटकना तुझे शोभा नहीं देता, भाई! तुझमें तो केवलज्ञान लेने की वीरता भरी है न! स्वसन्मुख होकर तेरी शक्ति की एक टंकार से केवलज्ञान ले, ऐसी तेरी सामर्थ्य है। राग में रुकना, वह वीरता नहीं, आत्मा के स्वरूप का वीर्य तो स्वरूप की निर्मलता को रचनेवाला है।

अरे, सन्तों ने आत्मा की वीरता की कैसी अद्भुत बात सुनायी है! इसे समझने से आत्मा को वीरता चढ़ जाये, ऐसी बात है। अरे! तू तीन लोक का नाथ होकर ऐसे अशुद्ध भावों में तल्लीन हो रहा है, तुझे शर्म नहीं आती? तू अमृत का सागर है। तुझमें से तो अतीन्द्रिय-अमृत का प्रवाह बहे, तेरे आत्मा में शान्त-अकषाय अमृतरस का सागर उल्लसित हो, ऐसा तेरा स्वरूप है। कषाय प्रगट हो, ऐसा तुझमें है ही नहीं। तू तो जगत का ईश्वर, जगत में सबसे महान शक्ति का स्वामी है। अरे! जिसमें से केवलज्ञान प्रगट हो, ऐसी चैतन्यऋद्धि का स्वामी तू, तेरी ऋद्धि के समक्ष जगत की दूसरी कोई ऋद्धि-सिद्धि की कुछ गिनती नहीं है, तू ही तेरी चैतन्यऋद्धि का धारक ऋषि है और तू ही साधक होकर निजस्वरूप को साधनेवाला साधु है; निजस्वरूप का मनन करनेवाला—जाननेवाला मुनि भी तू ही है; और शुद्धोपयोगरूप यत्न द्वारा विकारी परभावों में से आत्मा की रक्षा करनेवाला यति भी तू ही है। इस प्रकार ऋषिपना, साधुपना, मुनिपना, यतिपना—यह सब भाव तेरी एक-एक शक्ति में भरे हैं। तेरी शक्ति के सामर्थ्य का पार नहीं है। अनन्त सामर्थ्य से भरे हुए अनन्त गुणों से तू भरपूर है। अहो, आत्मा का वैभव अद्भुत है, आनन्दकारी है। अहो, अद्भुत जिसका सामर्थ्य और अद्भुत जिसकी महिमा—ऐसा मेरा स्वभाव है, इस प्रकार आत्मस्वभाव की महिमा लाकर ज्ञानी उसकी श्रद्धा और अनुभव करता है।

कलश २७३-२७४ में कहते हैं कि—अहो, आत्मा का यह सहज वैभव अद्भुत है; अज्ञानी के ज्ञान में यह आश्चर्य उपजाता है कि यह तो असम्भवित जैसी बात है! ज्ञानी को यद्यपि वस्तुभाव में आश्चर्य नहीं परन्तु आत्मा के अद्भुत वैभव को जानने से पूर्व में कभी नहीं हुआ ऐसा अद्भुत परम आनन्द होता है और इसलिए उस आनन्द का आश्चर्य होता है। अहो! यह जिनवचन महा उपकारी हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलानेवाले हैं। मैंने अनादि काल ऐसे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान बिना खोया!—इस प्रकार

महिमा लाकर ज्ञानी श्रद्धा करता है। जहाँ भान हुआ, वहाँ खबर पड़ी कि अहा! मेरे आत्मा की अद्‌भुत से भी अद्‌भुत स्वभाव-महिमा जयवन्त वर्तती है; चैतन्य का चमत्कार जयवन्त वर्तता है। अनेकान्तस्वरूप आत्मगुणों का वैभव आश्चर्य उत्पन्न कराता है। **जीवद्रव्य के स्वरूप की बढ़ाई सबसे उत्कृष्ट है।**

भाई! यह जो कुछ अद्‌भुत वैभव कहा जाता है, वह समस्त ही तुझमें भरा है। अहो! आत्मस्वभाव के सामर्थ्य की क्या बात?—जो अनुभवगम्य हो, परन्तु विकल्प में न आता। अज्ञानी को ऐसी निजमहिमा लक्ष्य में नहीं आती। बाहर के जड़ पदार्थों की सामर्थ्य का (अणुबम और रॉकेट इत्यादि की) महिमा अज्ञानी को दिखती है, परन्तु उन सबका जाननेवाला स्वयं अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य से भरपूर है—उसकी महिमा नहीं दिखती। रॉकेट एक घण्टे में हजारों या लाखों मील गति करता है, उसकी महिमा लगती है। परन्तु भाई! परमाणु में ऐसा गति-स्वभाव है कि एक समय में चौदह राजू (असंख्य मील) गति करे; और तेरे ज्ञान में ऐसा अचिन्त्यस्वभाव है कि एक सेकेण्ड में अनन्तानन्त योजन को (लोकालोक को) जान ले। तो अब किसकी सामर्थ्य अधिक! अहो! आत्मा के ऐसे स्वभाव को बतलानेवाली जिनवाणी महा उपकारी है।

तेरे गुण की लोरियाँ गाकर जिनवाणी-माता जगाती है कि हे जीव! तू जाग जा! मोहनींद छोड़कर तू जाग और तेरे आत्मवैभव को सम्हाल। हम तुझे तेरे गुण के ऐसे गीत सुनाते हैं कि जिसे लक्ष्य में लेने से आनन्द के निधान प्रगट हों... और सर्वज्ञस्वभाव से भरपूर पूरा आत्मा प्रतीति में आ जाये।

अनन्त गुणनिधान आत्मा में जहाँ दृष्टि गयी, वहाँ आनन्दकारी खलबलाहट होकर अनन्त गुण का निर्मल परिणमन होने लगा, और निर्मल पर्याय की रचना होने लगी।—ऐसा आत्मा की वीर्यशक्ति का कार्य है। आत्मा के अनन्त गुण को पर्याय में प्रगट करके निर्मलता को रचे, वह निश्चयवीर्य है और विकार की रचनारूप व्यवहारवीर्य का उसमें अभाव है; ऐसा अनेकान्त है। परन्तु वीर्यशक्ति राग को और निर्मलता को दोनों को रचे, ऐसा अनेकान्त यहाँ नहीं है।

वीर्यशक्तिवाले आत्मा को प्रतीति में लेता हुआ स्वसन्मुख वीर्य का जो अंश

उछला, वह अब अधूरा नहीं रहेगा या विकार में नहीं अटकेगा; वह तो शक्ति के अवलम्बन से पूरा कार्य करेगा। स्वभावसन्मुख ज्ञान का जो अंश उछला, वह अब सर्वज्ञता को साधेगा; आनन्द का जो कण जगा, वह पूर्ण आनन्द को प्रगट करेगा,—प्रतीति के बल से स्वभाव का एक अंश खुलने से पूर्ण स्वभाववाला आत्मा प्रतीति में आ जाता है। इसका नाम श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ कहलाता है।

देखो, भाई! यह तो वस्तुस्वभाव के गम्भीर रहस्य हैं। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा वस्तुस्वरूप जाना, वैसा कहा, वह स्वरूप सन्तों ने प्रगट किया। उसकी महिमा आये बिना वह समझ में नहीं आता। अज्ञानी को अपने आत्मा के वैभव की प्रतीति नहीं बैठती इसलिए वह रंक जैसा होकर तुच्छ राग में या संयोगों में प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। परन्तु अरे भगवान! आत्मा का भान करके जब तू चक्रवर्ती होगा और जब तुझे वैराग्य होगा, तब चैतन्यनिधान के समक्ष उस चक्रवर्ती के राज्य को और चौदह निधान को तृणवत् समझकर तू ऐसा छोड़ेगा कि चैतन्य के आनन्द में लीनता के समक्ष तुझे लक्ष्य भी नहीं रहेगा कि मैंने यह छोड़ा! अरे, मैं तो अनन्त गुण का बादशाह, सर्वज्ञ जितना मेरा वैभव, उसमें राग या संयोग नहीं—ऐसे भेदज्ञानपूर्वक स्वानुभूति होने से अतीन्द्रिय आनन्द आनन्द की लहजत में संयोग वे कैसे छूटे और राग छूटकर कहाँ गया, उसका लक्ष्य भी नहीं रहेगा। धर्मी जानता है कि मैं तो मेरे केवलज्ञान को—सुख को—प्रभुता को प्रगट करूँगा। राग को और पामरता को रचे, ऐसा मेरे स्ववीर्य का कार्य नहीं परन्तु उस राग और पामरता को तोड़ दे, ऐसा मेरे स्ववीर्य का कार्य है।

अरे! ऐसे तेरे आत्मा की बात सुनते हुए उसका उल्लास तो ला। जिसकी बात सुनने से भी आनन्द की ऊर्मि उछले, उस वस्तु के अनुभव की क्या बात! इकलौता प्रिय पुत्र परदेश गया हो, कुछ समाचार न हो, और अचानक दस वर्ष में घर आवे तो सही और साथ ही ४७ लाख रुपये कमाकर लावे, वहाँ उसके माता-पिता को हृदय में कैसा प्रेम उछल जाता है!—वाह, मेरा पुत्र कमाकर आया! अरे, पुत्र को देखने से पहले अभी तो उसके आने के समाचार सुने वहाँ भी हर्ष... हर्ष हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ अनन्त काल से विस्मृत आत्मशक्ति की सन्त पहिचान कराते हैं, उसे पहिचानने से आत्मार्थी जीव उल्लसित होते हैं कि वाह! ऐसी मेरी शक्ति! भाई! तेरी स्वशक्ति को देखकर एक

बार आनन्द में आ जा, और अनुभव में ले। अनुभव से पहले सन्तों के श्रीमुख से उसके श्रवण से भी मुमुक्षु का हृदय आनन्द से उछल जाता है। वाह! जिसके श्रवण में इतना आनन्द, उसके अनुभव के आनन्द की क्या बात! ४७ लाख की शक्ति का वैभव लेकर तेरी निर्मलपर्यायरूपी प्रजा तेरे पास आती है—इसलिए तू आनन्दित होकर उसका सत्कार कर। तुझमें अनन्त लक्ष्मी भरी हुई है, वह अखूट भण्डार खुल्ला करके सन्त तुझे बतलाते हैं, उसे देखकर हे जीव! तू प्रसन्न हो कि अहो! ऐसी मेरी लक्ष्मी! मेरे भण्डार में इतना महान वैभव! मुझमें ऐसी अनन्त शक्ति! ऐसा पवित्रता का पिण्ड मैं!—ऐसे आनन्द से उछल जा... परिणति को अन्तर में झुका। आत्मा की अनन्त लक्ष्मी के साक्षात्कार होने का यह अवसर आया है। यह विकार और अल्पज्ञता मैं नहीं; मैं तो चैतन्य की अनन्त शक्ति का सागर हूँ—ऐसा जहाँ आत्मा का भरोसा करके अन्तरोन्मुख हुआ, वहाँ श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द के निर्मल अंश प्रगट हुए। ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द से पूर्ण भरपूर मैं हूँ।—ऐसा पूर्णस्वभाव प्रतीति में आया, अर्थात् भगवान आत्मा, उसके असली स्वरूप से प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करके निर्मल पर्यायों की रचना करे, वह वीर्यगुण का कार्य है। उसमें अशुद्धता का अभाव है अर्थात् कि व्यवहार का अभाव है। जैसे त्रिकाली द्रव्य में और गुण में विकार का अभाव है, उसी प्रकार उसके आश्रय से प्रगट हुई निर्मल पर्याय में भी विकार का अभाव ही है। सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ और भेदज्ञान हुआ, वहाँ एक समय की पर्याय में दो भावों का बँटवारा हो गया,—निर्मलभाव वह आत्मा का कार्य और उसी समय वर्तता विकारभाव, वह आत्मा का वास्तविक कार्य नहीं। निर्मलता और विकार इन दोनों का एक साथ होना असम्भवित है।

जैसे वीरता में कायरता नहीं, उसी प्रकार वीतरागता में विकार नहीं। वीर जागे, उसमें कायरता नहीं होती; उसी प्रकार वीतरागस्वभाव जिसने दृष्टि में लिया, उसमें राग की रुचि नहीं होती। जब धातकीखण्ड का राजा पद्मनाभ अर्जुन की पत्नी द्रौपदी को हरकर ले गया और पाण्डव तथा श्रीकृष्ण उसे वापस लाने के लिये पद्मनाभ के सन्मुख युद्ध करने गये, तब पाण्डव तो हारकर वापस मुड़े; पश्चात् श्रीकृष्ण युद्ध करने हेतु खड़े हुए, उन्होंने जहाँ शंख फूँका, वहाँ तो तीसरे भाग की सेना भयभीत होकर भागने लगी;

वापस जहाँ धनुष-बाण हाथ में लेकर टंकार किया, वहाँ फिर दूसरा एक भाग भागने लगा और बाकी का भयभीत होकर शरण में आ गया। इसी प्रकार निर्मल पर्यायरूपी द्रौपदी को प्राप्त करने के लिये पाँच पाण्डवरूपी इन्द्रियाँ विमुख होती हैं; कर्म को कृश करनेवाला ऐसा यह चैतन्य भगवान जहाँ जागृत हुआ और सम्यक्श्रद्धा का शंख फूँका, वहाँ मिथ्यात्व तो भगा, स्वानुभूति की टंकार से अज्ञान भी भगा, थोड़ी सी अस्थिरता रही, उसका जोर टूट गया और क्रम-क्रम से वह भी भगने लगी।—ऐसी सामर्थ्यवाला आत्मा है, उसमें अनन्त वीरता है। परन्तु अपनी सामर्थ्य का भरोसा अपने को आना चाहिए।

जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी होती है और चारों ओर उसकी सुगन्ध फैलती है, वहाँ मृग वह सुगन्ध बाहर में ढूँढता है; ऐसी सरस सुगन्ध मुझमें ही भरी है, ऐसा उसे विश्वास नहीं आता। परन्तु जिस सुगन्ध को वह बाहर में खोजता है, वह उसमें ही भरी है। इसी प्रकार सिद्धपद की और केवलज्ञान की महिमा की बात सुनते हुए जीव बाहर में भगवान के सन्मुख देखता है। परन्तु भाई! उन भगवान को जैसा सिद्धपद और केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वैसा सामर्थ्य तेरे स्वभाव में भरा है; अन्तर्मुख होकर देखे तो केवलज्ञान का भण्डार तुझे तुझमें ही दिखाई देगा।

अहो! आत्मा के ऐसे अद्भुत स्वभाव की बात सुनते हुए मुमुक्षु को उल्लास आता है, और परिणति राग में से हटकर चैतन्य में घुस जाती है अर्थात् कि सम्यग्दर्शन होता है, ऐसी बात सन्तों ने बतायी है। सन्तों ने आत्मवैभव दिखाकर महान उपकार किया है।

भाई! तेरे स्ववीर्य की शोभा और शृंगार तो इसमें है कि सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय को रचकर आत्मा को शोभित करे। बाहर के शृंगार से तेरी शोभा नहीं है, राग के शृंगार से तेरी शोभा नहीं है। राग, वह कहीं शृंगार नहीं, वह तो भंगार है। उससे आत्मा की शोभा नहीं है। बाहर में किंचित् पुण्य के फल (राजा इत्यादि को) देखे, वहाँ लोग मूर्च्छित हो जाते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य से और उसके फल से आत्मा की शोभा नहीं है। आत्मा की शोभा तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आनन्द, चारित्र, सिद्धपद इत्यादि निर्मलपर्यायों के शृंगार से है। आत्मा की शोभा तो अपने भाव से होती है या दूसरे से? और निर्मलभाव से होती है या मलिनभाव से? मलिनता में आत्मा की शोभा कैसे

होगी ? निर्मल परिणति जो कि आत्मा के साथ अभेद होती है, उसके द्वारा ही आत्मा की शोभा है। ज्ञान की शोभा इसमें है कि निर्मल होकर आत्मा को जाने और केवलज्ञान की पवित्र तरंग उछाले; श्रद्धा की शोभा यह है कि निर्मल होकर शुद्धात्मा को प्रतीति में ले; चारित्र की शोभा इसमें है कि अतीन्द्रिय आनन्द में आत्मा को लीन रखे; वीर्यशक्ति की शोभा यह है कि स्ववीर्य से आत्मा के अनन्त गुण की निर्मल पर्यायों को रचे। ऐसी शक्तिवाला आत्मा जिसे प्रतीति में आवे, उसे अनन्त गुण में निर्मलता के अंकुर खिले, और आगे बढ़कर अल्प काल में केवलज्ञान और मोक्षरूपी फल पकेंगे। एक-एक पर्याय में अनन्त गुणों का रस इकट्ठा है। पर्याय में सब गुणों का परिणमन सुलटा होकर विकसित होने लगा, अर्थात् भगवान आत्मा अपने अनन्त वैभवसहित पर्याय में प्रसिद्ध हुआ।

आत्मा अनन्त गुण का सागर है और उसके एक-एक गुण में अनन्त गुण के रस का सागर भरा है; लक्षणभेद होने पर भी सभी गुणों को सर्वथा भेद नहीं है, इसलिए स्वानुभव में सर्व गुणों का रस समाहित हो जाता है।

ऐसा वस्तुस्वरूप समझे तो आत्मा की सच्ची कीमत समझ में आये। यह चैतन्यरत्न जगत में सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा चैतन्यहीरा हाथ आया है, उसके अनुभव का अवसर आया है, परन्तु अज्ञानी को उसकी कीमत भासित नहीं होती, राग के कर्तृत्व में से वह ऊँचा नहीं आता। उसे तो, 'हीरा आया हाथ परन्तु मूर्ख ग्वाले ने बकरी के कान में बाँधा'— उसके जैसा है। चैतन्यहीरा हाथ आया है, परन्तु मूर्ख—अज्ञानी ग्वाले जैसा, उसे राग के कर्तृत्वरूपी बकरी की गर्दन में बाँधता है। चैतन्यरत्न को वह भोग में और राग में गंवा डालता है।—जैसे एक मूर्ख ने हाथ आये हुए चिन्तामणि को कौआ उड़ाने के लिये फेंक दिया, उसी प्रकार अज्ञानी चैतन्यरत्न के अनुभव के इस अवसर को गँवा देता है। अरे भाई! चैतन्यहीरा की अपार महिमा है। सम्पूर्ण जगत के वैभव द्वारा भी उसका मूल्य नहीं हो सकता। उसे साधने का अवसर आया है। ऐसे अवसर में सच्चे जीव का पुरुषार्थ उल्लसित हो जाता है।—वह जगत के सन्मुख देखने के लिये रुकता नहीं। जैसे रण में चढ़े हुए राजपूत का शौर्य छिपता नहीं,—वह कहीं ऐसे अवसर में स्त्री का मुख देखने के लिये रुकता नहीं है; उसी प्रकार चैतन्य को साधने के लिये शूरवीर होकर जो रण में चढ़ा है, उसकी वीरता अवसर आने से उल्लसित हो जाती है। वह जगत के राग में

रुकता नहीं। अहा! आत्मशक्ति को साधने का अवसर आया, वहाँ आत्मार्थी का वीर्य छिपा नहीं रहता, वह तो स्वभाव-सन्मुख उल्लसित हो जाता है। चैतन्य राजा जागृत हुआ तो पूर्णता की प्रतीति द्वारा मोह को मारकर केवलज्ञान का राज लेगा, और अनन्त गुण के आत्मवैभव से शोभित हो उठेगा। 'राजते शोभते (इति) राजा' अर्थात् अनन्त गुणों की स्वपरिणति में जो राजे—शोभे, वह सच्चा राजा है, बाकी तो सब जगत के भिखारी हैं। राजा तो उसे कहा जाता है कि जो केवलज्ञानादि का राज लेकर स्वतन्त्ररूप से शोभे; जिसके ऊपर दूसरा कोई न हो। **'न खलु समयसारात् उत्तरं किंचिदस्ति'** अर्थात् कि समयसार ऐसा जो शुद्धात्म राजा, उससे उत्कृष्ट वास्तव में कोई नहीं है। राग तो मलिनता है, चैतन्य राजा की शोभा में ऐसी मलिनता होती नहीं।

देखो! आत्मा के वीर्य सामर्थ्य का यह वर्णन चलता है। आकाश की अवगाहनशक्ति जो कहीं पूर्ण नहीं होती, ऐसे अमाप आकाश को जानने की जिसकी सामर्थ्य, उसके भावसामर्थ्य की क्या बात! जैसे आकाश में क्षेत्रसामर्थ्य (अवगाहनशक्ति) अनन्त-अमाप है, उसी प्रकार भगवान आत्मा में भावसामर्थ्य (ज्ञान-आनन्द इत्यादि की शक्ति) उससे भी अनन्तगुणी अमाप है। इस जगत में एक आत्मा ही ऐसा तत्त्व है कि जिसे जानने से आनन्द होता है। इस आत्मा की शक्ति अमाप है, उसमें कोई हद नहीं, थकान नहीं, रुकावट नहीं। विकल्प से जिसका पार नहीं पाया जाता, ऐसा कोई अचिन्त्य स्वभाव है, उसकी अपार महिमा है।

अभी भी आत्मा ऐसे भावों से भरपूर है। चारों ओर कहीं जिसका छोर नहीं, ऐसे आकाश को भी जानता है कौन? क्षेत्र से भले वह बड़ा, परन्तु उसे जानता है कौन? जाननेवाला तो आत्मा है; उसके गुणों की महिमा की क्या बात! एक-एक गुण के सामर्थ्य में मानो पूरा द्रव्य समाहित हो जाता हो! ऐसे सामर्थ्य का समुद्र एक-एक गुण में भरा है और ऐसे अनन्त गुण का सागर यह चैतन्य-रत्नाकर है। अहा! आत्मा की एक-एक शक्ति का अद्भुत माहात्म्य आचार्यदेव ने प्रसिद्ध किया है। संक्षिप्त वर्णन में तो शक्ति के गम्भीर भाव भर दिये हैं।

आत्मा की शक्ति में अनन्त प्रभुता भरी है। आकाश की अनन्तता से भाव-अपेक्षा से ज्ञान की अनन्तता बहुत बड़ी है। आकाश के अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद से

केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद इतने ज्यादा अधिक हैं कि आकाश के अविभाग अंशों को अनन्त बार वर्ग किया जाये तो भी केवलज्ञान का माप नहीं निकल सकता। उस केवलज्ञान के अचिन्त्य सामर्थ्य की क्या बात! ऐसे अनन्त केवलज्ञान प्रगट होने की सामर्थ्य ज्ञानगुण में भरी है और ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का वैभव आत्मा में है। आत्मा की एक निर्मल पर्याय में उन सब गुणों का भाव उल्लसित होता है।

ऐसे आत्मवैभव को प्रतीति में लेकर स्ववीर्य से श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द की निर्मल पर्यायों को रचना, वह आत्मा की वीर्यशक्ति का कार्य है।

इस प्रकार वीर्यशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

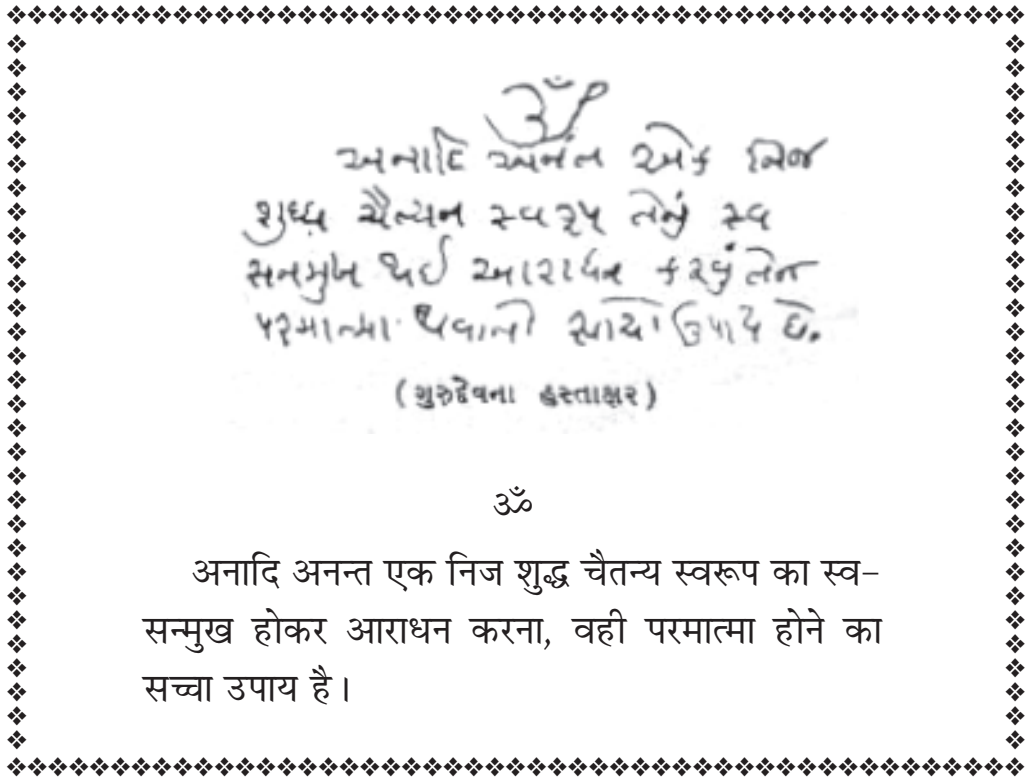

ॐ

अनादि अनन्त एक निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप का स्व-सन्मुख होकर आराधन करना, वही परमात्मा होने का सच्चा उपाय है।

[७]

प्रभुत्वशक्ति

अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः। ७

जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित की नहीं जा सकती ऐसे स्वातंत्र्य से (–स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका लक्षण है, ऐसी प्रभुत्वशक्ति।७।

आत्मा की प्रभुता सुनते हुए मुमुक्षु जीव आश्चर्य प्राप्त कर स्वसन्मुख देखता है, अपने आत्मा की प्रभुता का वैभव जानकर, वह आनन्दित होता है और ज्ञानी–माहात्मा का उपकार मानता है कि अहो! मेरे आत्मा में ऐसी प्रभुता तो अनादि से ही थी, परन्तु मुझे उसकी खबर नहीं थी; इसलिए अभी तक मैं बाहर में भटका। अब भान होने पर दीनता टली और प्रभुता प्रगट हुई।

ज्ञानमात्र भाव में उल्लसित आत्मा की अनन्त शक्तियों में से छह शक्तियों का वर्णन हुआ। सातवीं प्रभुत्वशक्ति है। आत्मा अखण्डित प्रतापवाली स्वतन्त्रता से शोभता है—ऐसी उसकी प्रभुता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचानने से ऐसी प्रभुता का भी साथ ही भान होता है। आत्मा की प्रभुता ऐसी है कि उसे कोई तोड़ नहीं सकता अथवा पराधीन नहीं बना सकता। ऐसी प्रभुता के भान द्वारा पर्याय में प्रभुता प्रगट होती है।

जगत में राजा-महाराजा का प्रताप तो उनसे बड़े दूसरे राजाओं द्वारा खण्डित हो जाता है। देखो न, भरत चक्रवर्ती जैसों का प्रताप भी बाहुबली द्वारा खण्डित हो गया;—यह तो पुण्य का प्रताप है, वह कहीं अखण्डित प्रताप नहीं है। यह चैतन्यराजा अनन्त गुण का चक्रवर्ती, इसका प्रताप किसी से खण्डित नहीं होता, उसकी स्वतन्त्रता को कोई लूट नहीं सकता। ऐसी अनन्त गुण की प्रभुता शोभा आत्मा में भरी है। एक प्रभुत्वगुण ने सर्व गुणों में प्रभुता दी है, इसलिए सब गुण अखण्डित प्रतापवाली स्वतन्त्रता से शोभित हो रहे हैं। राग द्वारा गुण की प्रभुता खण्डित नहीं होती, परन्तु गुण की निर्मल पर्याय प्रगट करके राग को खण्ड-खण्ड कर डाले, ऐसी प्रत्येक गुण में सामर्थ्य है। प्रभुत्व के कारण आत्मा के सर्व गुणों में प्रभुता है, और उसके परिणमन में राग का अभाव है। उसका अभाव ही है, फिर वह आत्मा की प्रभुता को खण्डित करे, यह बात कहाँ रही?

देखो, यह आत्मा की प्रभुता! अहा! आत्मा में प्रभुता भरी है, उसका अनन्त माहात्म्य है। ऐसे आत्मा में दृष्टि करने से पर्याय में प्रभुता प्रगट होती है। दुनिया में ऐसा कोई शत्रु नहीं कि जो आत्मा की प्रभुता को तोड़ सके। सातवें नरक के जीव को अपनी प्रभुता के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, वहाँ की अनन्त प्रतिकूलता में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि सम्यग्दर्शन की जो प्रभुता प्रगट हुई है, उसे तोड़ सके। प्रत्येक गुण की निर्मल पर्याय में प्रभुता है। अर्थात् कि अपने से स्वतन्त्ररूप से वह शोभता है। किसी संयोग के कारण उसकी शोभा है या राग के कारण उसकी शोभा है—ऐसा नहीं है। ज्ञान की प्रभुता में ज्ञानावरणकर्म का अभाव है, उसकी प्रभुता को ज्ञानावरणकर्म घात नहीं कर सकता। सिद्धप्रभु लोकाग्र में निजस्वरूप में विराजते हैं, वे जहाँ स्थिर रहे हैं, वहाँ अपनी स्वतन्त्र प्रभुता से ही रहे हैं; नहीं कि ऊपर धर्मास्तिकाय का अभाव होने

के कारण पराधीनरूप से वहाँ अटक जाना पड़ा। अरे! जिसे सिद्धप्रभु में भी पराधीनता दिखती है, वह जीव आत्मा की स्वतन्त्र प्रभुता को किस प्रकार प्रतीति में लेगा? बापू! आत्मा की प्रभुता के स्वतन्त्र प्रताप को कोई घात नहीं सकता। द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों में ऐसी प्रभुता है।

कोई कहे कि ज्ञान क्यों नहीं उघड़ता? तो कहते हैं कि तू तेरी प्रभुता को सम्हालता नहीं इसलिए। सर्वज्ञता प्रगट हो, ऐसी प्रभुता तुझमें भरी है, परन्तु तू उसके सन्मुख हो तो पर्याय में वह प्रगट हो। प्रभुता से विमुख हुआ, इसलिए पर्याय में पामरता हुई, तथापि शक्ति में तो प्रभुता भरी ही है। पामरता सेवन करके, तेरी प्रभुता को तूने छिपा रखा है। प्रभुता को प्रतीति में लेकर उसका सेवन कर तो पर्याय में सर्वज्ञतारूप प्रभुता उघड़ जाये और तेरा आत्मा अखण्ड प्रतापवाली स्वतन्त्रता से शोभित हो उठे।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्त गुण से भरपूर है। उस स्वरूप की अनुभूति में अनन्त गुणों का स्वाद इकट्ठा है। इस प्रकार ज्ञान के साथ अविनाभूत अनन्त गुण-पर्यायों का जो समूह है, उतना आत्मा है। आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्यायों में व्यापक है, उसके बदले पर में व्यापक मानता है, इसलिए वह अनुभव में नहीं आता। पर से आत्मा भिन्न है, परन्तु उसे जाननेवाला जो ज्ञान है, उससे अभिन्न है। ज्ञान और उसके साथ के आनन्द-प्रभुता इत्यादि अनन्त गुणों में आत्मा अभिन्न है। ऐसे आत्मा पर नजर डालने से परम चैतन्यनिधान एक क्षण में प्रगट होते हैं। अहा! ऐसा चैतन्यनिधान, अपने ही पास है, परन्तु जगत उसे बाहर में खोजता है।—मानो कि राग में से मेरे गुण का निधान प्रगट होगा! परन्तु भाई! तेरा निधान राग में नहीं, चैतन्य में तेरे निधान भरे हैं। तेरे निधान का माहात्म्य करके उसमें नजर कर। सबको जाननेवाला स्वयं अपना माहात्म्य भूलकर राग को और पर को माहात्म्य देता है कि यह पदार्थ अच्छे;—परन्तु उन्हें जाननेवाला अपना ज्ञान अच्छा है—ऐसा अनुभव में नहीं लेता। उसे खबर नहीं कि मैं तो ज्ञान हूँ, और यह रागादि भाव तो चेतनरहित हैं, उनमें स्व-पर को जानने का स्वभाव नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव से छूटकर अज्ञानी 'पर मेरे, राग मैं'—ऐसा अनुभव करता है। भाई! परद्रव्य शरीरादि कहीं तेरे ज्ञान में लगे नहीं, पृथक् ही हैं। परन्तु 'यह मेरा'—ऐसी भ्रमणा करके तू उन्हें लगा है—ममता करता है, इसलिए परिभ्रमण और दुःख है, तेरी

अनन्त गुण की प्रभुता को जान तो परिभ्रमण और दुःख मिटे।

आत्मा चैतन्यस्वभावी सूर्य है; उसके निधान कैसे? उसके गुणों का सामर्थ्य कितना? उसका क्षेत्र कितना? संख्या कितनी? उसका वास्तविक कार्य क्या?—इसका विचार जीव ने कभी यथार्थरूप से नहीं किया। यहाँ अनन्त गुणनिधान बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई! यदि तुझे शान्ति और आनन्द का अनुभव चाहिए हो तो, और स्वतन्त्र सुख की राह—पंथ चाहिए हो तो, ज्ञान द्वारा जाननेवाले को जान। बाहर में जो दिखता है, वह तू नहीं; जो देखनेवाला है, वह तू है। तेरे कारण राग और शरीर नहीं, तेरे कारण तो ज्ञान है, अर्थात् कि ज्ञान ही तेरा कार्य है।

आत्मा जाननेवाला है, तथापि स्वयं अपने को क्यों नहीं जानता? ज्ञान को स्वसन्मुख नहीं करता, इसलिए आत्मा ज्ञात नहीं होता। अनन्त शक्ति का परमेश्वर है तो स्वयं ही, परन्तु स्वयं अपने को भूल गया है। (समयसार की) ३८वीं गाथा में कहा था कि—जैसे कोई मुठ्ठी में रखे हुए स्वर्ण को भूल गया हो और बाहर खोजता हो, वह फिर याद करके स्वर्ण की अपनी मुठ्ठी में ही देखता है कि अरे! यह रहा सोना; मेरी मुठ्ठी में ही है! इसी प्रकार अनादि अज्ञान से जीव अपने परमेश्वर—आत्मा को भूल गया था, परन्तु श्रीगुरु के वीतरागी उपदेश से बारम्बार समझाये जाने पर उसे अपनी प्रभुता का भान हुआ, सावधान होकर अपने में ही अपनी प्रभुता को जाना कि अहो, अनन्त शक्ति की परमेश्वरता तो मुझमें ही है, मुझमें ही मेरी प्रभुता है; परद्रव्य अंशमात्र मेरा नहीं; मेरे भिन्न स्वरूप के अनुभव से मैं तन्मयरूप से लीन होकर सम्यक् प्रकार से आत्माराम हुआ... स्वयं अपने को अनन्त शक्ति सम्पन्न ज्ञायकभावरूप अनुभवता हुआ प्रसिद्ध हुआ। मोह का नाश होकर ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ।

देखो, इसका नाम ज्ञानदशा; इसका नाम अनुभवदशा; ऐसी दशा होने पर अपने को अनुभव हो और अपने को उसके आनन्द की खबर पड़े। अहा! जहाँ परमेश्वर की भेंट हुई—उस दशा की क्या बात! ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा प्रगट हुआ।—यह कहते हैं कि अहो! सब जीव ऐसे आत्मा का अनुभव करो; सब जीव आत्मा के शान्तरस में मग्न हो जाओ। शान्तरस का समुद्र अपने में उल्लसित हुआ है, वहाँ कहते हैं कि सभी जीव इस शान्तरस के समुद्र में तल्लीन हो जाओ।

देखो तो सही, सन्तों को आत्मा की प्रभुता का कितना प्रेम है! आत्मा तो अनन्त गुणरत्नों से भरपूर महा रत्नाकर है। समुद्र को रत्नाकर कहा जाता है। आत्मा अनन्त गुण से भरपूर समुद्र चैतन्य रत्नाकर है; उसमें इतने रत्न भरे हैं कि एक-एक गुण के क्रम से उसका कथन करने पर कभी पूरा नहीं होता।

आत्मा चैतन्यरत्नाकर तो सबसे महान है।

✦ रत्न : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वे मोक्षमार्ग के तीन रत्न हैं।

✦ महारत्न : उस रत्नत्रय के फल में केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगट होता है, वे केवलज्ञानादि महारत्न हैं।

✦ महान से भी महान रत्न : ज्ञानादि एक-एक गुण में अनन्त केवलज्ञान रत्नों की खान भरी है, इसलिए वे महा-महा रत्न हैं।

✦ महा-महा-महा रत्न : ऐसे अनन्त गुणरत्नों की खान आत्मा, वह तो महा-महा-महा रत्न है। उसकी महिमा की क्या बात!

भाई! ऐसा महिमावन्त रत्न तू स्वयं है। महान रत्नों की खान तुझमें भरी है। इसके अतिरिक्त परचीज़ तुझमें नहीं, वह चीज़ तेरी नहीं, व्यर्थ में पर की चिन्ता तूने तेरे गले लगायी है। वास्तव में जो तेरा हो, वह तुझसे कभी पृथक् नहीं पड़ता और तुझसे पृथक् पड़े, वह वास्तव में तेरा नहीं होता। क्या ज्ञान आत्मा से कभी पृथक् पड़ेगा?—नहीं; क्योंकि वह आत्मा से पृथक् नहीं है। वह तो आत्मा ही है। शरीरादि आत्मा के नहीं, इसलिए वे आत्मा से पृथक् पड़ जाते हैं। पहले से ही पृथक् थे, इसलिए पृथक् पड़े। एकमेक हो गये होते तो पृथक् नहीं पड़ते। इस प्रकार ज्ञान और राग भी एकमेक नहीं हो गये, भिन्न स्वरूप से ही रहे हैं, इसलिए पृथक् पड़ जाते हैं। प्रज्ञाछैनी द्वारा राग तो आत्मा से बाहर निकल जाता है और ज्ञान अन्तर में एकमेक रह जाता है।—ऐसा भेदज्ञान करे तो आत्मा की सच्ची प्रभुता की पहिचान हो।

अहो, परमेश्वर—तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यवाणी में भी जिसकी महिमा पूरी नहीं पड़ती, ऐसा चैतन्यहीरा तू! तेरे एक-एक पासा में (एक-एक गुण में) अनन्त सामर्थ्य झलकती है, ऐसे अनन्त पासा से झलकती तेरी प्रभुता! अनन्त शक्ति के वैभव

से भरपूर आनन्द का धाम ऐसा भगवान तू स्वयं! परन्तु तेरी नजर के आलस से तू तुझे नहीं देखता। 'हरि' तू स्वयं, स्वयं अपने से जरा भी अलग नहीं—दूर नहीं, तथापि उसके भान बिना अनन्त काल व्यतीत किया। भाई! अब तो जाग! जागकर अपने में देख! अन्दर में नजर करते ही 'मेरा प्रभु नहीं दूर देशांतर, मोहि में है, मोहे सूझत नीके'—ऐसे तुझमें ही तुझे तेरी प्रभुता दिखाई देगी। ज्ञानस्वरूप में दृष्टि करने से आत्मा हाथ आता है; उसका अनुभव होता है। उस अनुभव में उल्लसित शक्तियों का यह वर्णन है। अनुभव में तो अनन्त शक्तियाँ समाहित हैं, परन्तु कथन में अनन्त नहीं आतीं, कथन में तो थोड़ी सी ही आती है, तथापि एक-एक शक्ति अनन्त शक्ति की गम्भीरता को लेती हुई आती है; एक-एक शक्ति के वर्णन में अनन्त शक्तियों की गम्भीरता भरी है।

यहाँ प्रभुत्वशक्ति का वर्णन है। प्रभुत्वशक्ति से आत्मा अखण्ड प्रतापवाली स्वतन्त्रता से शोभता है। प्रभुत्वगुण का स्वभाव क्या?—कि आत्मा को अखण्ड स्वतन्त्रता से शोभित करना, वह प्रभुत्वगुण का प्रताप है। इसके बिना आत्मा में अनन्त गुण की प्रभुता टिक नहीं सकती। अरे! आत्मा में ऐसी प्रभुता होने पर भी, संसार की प्रीति के कारण अपनी प्रभुता को निहारने के लिये जीव निवृत्त नहीं होता। अपनी प्रभुता की महिमा नहीं करता और पर की महिमा कर-करके अपनी प्रभुता को लुटाता है। भाई! अन्दर देख, अनन्त शक्ति के निधान तुझमें हैं, उन्हें देख।

आत्मा कितना? कि ज्ञानलक्षण से निर्मल गुण-पर्याय जितना समुदाय लक्षित हो, उतना आत्मा है। ज्ञानलक्षण से विरुद्ध ऐसा विकल्प, वह आत्मा नहीं। राग, वह आत्मा नहीं। राग को रचे, वह आत्मवीर्य नहीं, उसमें आत्मा की प्रभुता नहीं; निर्मल गुण-पर्याय को रचे, वह आत्मवीर्य, और उसमें आत्मा की शोभा है।

निर्मलता की और प्रभुता की उत्पत्ति कैसे हो? कि प्रभुता से भरपूर निर्दोष और बलवान ऐसे आत्मस्वभाव को देखने से उसके अवलम्बन से पर्याय भी वैसी निर्दोष और बलवान होती है अर्थात् पर्याय में प्रभुता प्रगट होती है। इस प्रकार निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में आत्मा की प्रभुता व्यापक होती है और उसमें राग का अभाव है। ऐसे आत्मा के अनुभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग समाहित होता है।

यह प्रभु की शक्ति का वर्णन है।

किस प्रभु की यह बात होगी? कोई हजार हाथवाला भगवान होगा?—नहीं, भाई! यह तो हजार नहीं, परन्तु अनन्त शक्तिवाला आत्मा तू स्वयं प्रभु है, तेरी प्रभुता की यह बात है।—उसे जानकर आनन्दित हो और तेरी प्रभुता को देख। तेरे प्रदेश-प्रदेश में अनन्त गुण की प्रभुता पसरी हुई है।

वाह, देखो यह आत्मा का वैभव! प्रभुत्व को धरनेवाले आत्मा को ध्येय करने से प्रत्येक गुण की पर्याय में प्रभुता परिणमती है और रागादि के अभावरूप स्वतन्त्रता से आत्मा शोभता है। आत्मस्वभाव पर दृष्टि करने से पर्याय में प्रभुता का ऐसा प्रताप प्रगट होता है कि उसे कर्म का उदय या बाहर की प्रतिकूलता तोड़ नहीं सकते। पर्याय में ऐसी प्रभुता खिले और उसमें आत्मा व्याप्त हो, उसे वास्तविक आत्मा कहते हैं। मलिनता में रहे, उसे वास्तविक आत्मा नहीं कहते, उसमें आत्मा की शोभा नहीं है।

अरे! ऐसी प्रभुतासम्पन्न अपना आत्मा है, उसका प्रेमपूर्वक श्रवण भी किया नहीं। एक बार वास्तविक प्रेम से सुने तो अन्दर घुसे बिना रहे नहीं। पर से मैं पृथक् हूँ, मुझमें मेरी अनन्त शक्ति है, विकार, वह मेरी शक्ति का कार्य नहीं—ऐसे आत्मा के स्वरूप को लक्ष्यगत करना चाहिए। लक्ष्य सच्चा हो तो घोलन से अनुभव होता है। जिसका लक्ष्य ही खोटा हो, उसे सच्चा अनुभव कहाँ से होगा?

कोई कहे—हमको बाहर की बहुत उपाधि लगी है, इसलिए ऐसे आत्मा का अनुभव कहाँ से हो?

तो कहते हैं कि—अरे भाई! परचीज़ का बाहर का एक अंशमात्र भी तुझमें नहीं लगा है, वह तो तुझसे बाहर का बाहर ही है, भिन्न ही है। तुझमें तो तेरे अनन्त गुण सदा लगे हुए हैं—कभी तुझसे पृथक् नहीं पड़ें, ऐसे एकमेक हैं; उसके सन्मुख नजर करे, इतनी देर है। नजर करते ही पर से अत्यन्त पृथक्, हल्का फूल और स्वगुण से परिपूर्ण तेरा आत्मा तुझे आनन्दसहित अनुभव में आयेगा।

आत्मा में प्रभुतारूप से और आनन्दरूप से परिणमने का गुण है, परन्तु रागरूप से परिणमने का गुण नहीं है। राग तो पराश्रितभाव है, उसमें स्वतन्त्र शोभा नहीं। स्वयं अपने ही आश्रय से स्वाधीन प्रभुतारूप परिणमकर स्वतन्त्रता से शोभे, उसे वास्तविक

आत्मा कहा जाता है। रागपरिणमन से आत्मा शोभता नहीं, उसे वास्तविक आत्मा नहीं कहते।

प्रभुता की मर्यादा कितनी?

— तो कहते हैं कि किसी से खण्डित न हो उतनी; आत्मा की प्रभुता में पर का विघ्न नहीं, पर की सहायता नहीं, कोई उसकी प्रभुता को तोड़ नहीं सकता। ऐसी प्रभुताशक्ति के सन्मुख होने से आत्मा, स्वयं अपनी निर्मल परिणति से अखण्डरूप से शोभित हो उठता है; शक्ति में जो प्रभुता थी, वह प्रभुता पर्याय में भी परिणम गयी। ऐसी प्रभुता के परिणमन में आत्मा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, अर्थात् सर्व ओर से स्वतन्त्र है; कोई दूसरा हो तो इसकी निर्मल पर्याय हो—ऐसी पराधीनता नहीं है।

कोई कहे कि सिद्ध भगवान भी कथंचित् पराधीन है, क्योंकि रहने के लिये आकाश का आधार, परिणमने के लिये काल का निमित्त, इस प्रकार से उन्हें भी अनेक प्रकार से पराधीनता है!

—अरे भाई! क्या कहता है तू? सिद्ध को भी पराधीन कहकर तुझे क्या करना है? यहाँ तुझे तुझमें स्वाधीनता भासित नहीं होती, इसलिए तेरी पराधीन दृष्टि में सिद्ध भी तुझे पराधीन दिखते हैं; जगत में कहीं भी तू स्वाधीनता को नहीं देख सकता। सिद्ध भगवन्त अपने असंख्य चैतन्यप्रदेशों में स्वाधीनरूप से ही रहे हैं; आकाश, आकाश में और सिद्ध, सिद्ध में; दोनों स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने स्व-प्रदेशों में ही रहे हैं। इसी प्रकार स्वपर्याय में वे स्वतन्त्ररूप से ही परिणम रहे हैं; किसी भी प्रकार से उनमें पराधीनता नहीं है। यदि पराधीनता कहो, तब तो स्वाधीन प्रभुता खण्डित हो जाये! आत्मा प्रभुता के कारण अपनी अखण्ड प्रतापवन्ती स्वतन्त्रता से शोभता है। अरे! जिसे सिद्ध में भी पराधीनता दिखती है, वह आत्मा की प्रभुता को कहाँ से साध सकेगा?

आत्मा में केवलज्ञान की प्रभुता प्रगट हुई, वहाँ उस केवलज्ञान का परिणमन केवलज्ञानावरणीकर्म के परमाणुओं के आधीन नहीं है। केवलज्ञानावरण में क्षयरूप परिणमन और यहाँ केवलज्ञान में उत्पत्तिरूप परिणमन—ये दोनों एकसाथ भले हों, परन्तु इससे कहीं उस पुद्गल के परिणमन के आधीन जीव के केवलज्ञान का परिणमन

नहीं है। यदि उसके आधीन हो, तब तो उसी के सामने देखने का रहा! केवलज्ञान का परिणमन तो अपनी ज्ञानशक्ति के आधीन है, उस शक्ति के सन्मुख देखने से स्वाधीनरूप से केवलज्ञान प्रभुतारूप से आत्मा परिणम जाता है।

भाई! प्रभुत्वशक्तिवाले तेरे स्वभाव को लक्ष्य में ले तो उसमें अज्ञान और कर्म है ही नहीं; इसलिए वे अवरोधक हैं, यह बात नहीं रहती। तेरे स्वभाव को लक्ष्य में लेकर पर्याय में जो प्रभुता प्रगट हुई, उसकी शोभा स्वतन्त्र है, उसे कोई पराधीन नहीं करता, उसके प्रताप को कोई तोड़ता नहीं।

जिस प्रकार सूर्य को किसी ने फरियाद की कि अन्धकार बहुत हैरान करता है। तब सूर्य ने कहा कि उस अन्धकार को मेरे पास लाना तो उसका फैसला करूँ! परन्तु सूर्य के पास वह अन्धकार कहीं आता होगा? इसी प्रकार अज्ञानी पर्यायदृष्टि से कहता है कि विकार है और पराधीनता है, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तू तेरे चैतन्यसूर्य के पास जा तो वहाँ विकार और पराधीनतारूपी अन्धकार रहता ही नहीं, अर्थात् कि स्वभावसन्मुख जाने से पर्याय में ज्ञानप्रकाश खिलता है और विकार टल जाता है। वास्तव में तो वहाँ उस समय विकार है ही नहीं, इसलिए उसे टालना भी नहीं रहता। अपनी अस्ति में रहे हुए अनन्त गुणों की निर्मलता का ही वेदन है।

स्वसंवेदन से ऐसे आत्मा को अनुभव में लेने से आत्मा स्वयं स्वतन्त्र कर्ता होकर प्रभुतारूप परिणमता है। उसमें रागादि का अभाव है, कर्म का अत्यन्त अभाव है। इसी प्रमाण प्रभुता के छहों कारकोंरूप आत्मा स्वयं होता है, और उसमें पर का—व्यवहार का अभाव है।

अरे, ऐसी तेरी प्रभुता! उसे चूककर तू विषयों में मोहित हुआ! तेरी स्वाधीनता को चूककर निमित्त की पराधीनता में तू मोहित हुआ! छह खण्ड की विभूति को क्षण में छोड़ने की सामर्थ्यवाला तू, और मुझे पर के बिना नहीं चलता, ऐसा मानकर तू पर में मोहित हो रहा है! बापू! यह सन्त तेरी प्रभुता दिखलाते हैं, उसे अन्तर में देख, तो तेरी दीनता मिट जायेगी। तेरे ज्ञान की और अनन्त गुण की प्रभुता को रोके, ऐसी सामर्थ्य जगत में किसी में नहीं है। तेरा ज्ञानधर्म या तेरी कोई शक्ति पर के आधीन जरा भी नहीं है। तेरी निजसम्पदा को तू भूला है, इसलिए तेरी दशा का घात हुआ है और तू कर्म के

आधीन कहलाया है। परन्तु निजसम्पदा को पहिचानकर तू तेरी प्रभुता प्रगट कर तो तू स्वतन्त्र है।

जैसे लोकाग्र में सिद्धालय में सिद्धभगवन्त अपनी प्रभुता में स्वाधीनरूप से विराज रहे हैं, कहीं धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण पराधीनरूप से उन्हें वहाँ रुक जाना पड़ा—ऐसी पराधीनता नहीं है; इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में अपनी स्वाधीन प्रभुता भरी हुई है। उसे इस प्रभुत्वशक्ति द्वारा आचार्यदेव ने प्रसिद्ध किया है।

आत्मा की प्रभुता ऐसी अचिन्त्य, कि विकल्प जिसे तोड़ न सके। जैसे सूर्य में अन्धकार का प्रवेश नहीं, उसी प्रकार स्वभाव—सूर्य में विकल्प का प्रवेश ही नहीं। उस स्वभावसूर्य के निकट जाने से मन तो पहले से मर जाता है, वहाँ जड़कर्म की क्या बात! परन्तु उस स्वभाव में जाने के लिये कोई अपूर्व पुरुषार्थ होता है। जिस प्रकार रण में चढ़ा हुआ राजपूत छिपता नहीं, उसी प्रकार स्वभाव के पुरुषार्थ की कसौटी पर चढ़ा हुआ आत्मार्थी छिपता नहीं। चैतन्य हीरे को पुरुषार्थ की कसौटी पर चढ़ाते हुए उसमें प्रभुता के अनन्त पासा झलक उठते हैं। वहाँ ज्ञान में रागरहित सर्वज्ञता प्रगट होती है। श्रद्धा में क्षायिक सम्यक्त्वरूप प्रभुता प्रगट होती है,—ऐसे अनन्त गुण की प्रभुता के प्रताप को कोई रोक नहीं सकता, उसमें कभी मलिनता नहीं कर सकता।

बाहर में देव-गुरु के संयोग अनन्त बार मिले, तथापि क्यों सम्यग्दर्शन नहीं हुआ?—कि स्वयं ने अपनी प्रभुता प्रगट नहीं की इसलिए; सम्यग्दर्शन होना, वह कहीं देव-गुरु के आधीन नहीं परन्तु अपनी प्रभुता के आधीन है। स्वयं ने स्वसन्मुख नहीं देखा, इसलिए सम्यक्त्व नहीं हुआ। दर्शनमोह का उदय था, इसलिए नहीं हुआ—यह तो निमित्त की बात है, उपचार है। भाई! तू तेरी प्रभुता को प्रगट करे और तेरी श्रद्धापर्याय की प्रभुता के उस प्रताप को दर्शनमोह झेल सके—ऐसा नहीं होता। तेरी श्रद्धा के प्रताप के समक्ष तो दर्शनमोह भस्म हो जाता है। श्रद्धापर्याय प्रगटे और दर्शनमोह खड़ा रहे, ऐसा नहीं होता। वह पर्याय स्वतन्त्ररूप से शोभती है। द्रव्य की महिमा की भाँति उसकी श्रद्धा इत्यादि पर्यायें भी उसकी ऐसी स्वतन्त्रता से शोभती है कि वह रागादि व्यवहार के अभावरूप प्रकाशित होती है; साथ ही रागादि व्यवहार हो तो भी उसके द्वारा उसका प्रताप खण्डित नहीं होता। अरे, तेरी निर्मल पर्याय में रागादि

व्यवहार का अभाव है, वहाँ कर्म की तो कहाँ बात! ऐसी अखण्ड प्रभुता से तू भरपूर है।

आत्मा की प्रभुता उसके सर्व गुणों में व्यापक है। इसलिए सर्व गुण स्वतन्त्र प्रभुता से शोभते हैं। आत्मा आनन्दरस से भरपूर भगवान, उसके आनन्द का रसिया होकर अनुभव करने से स्वसंवेदन में जो अतीन्द्रिय-आनन्द चौथे-पाँचवें और छठवें इत्यादि गुणस्थान में उछलता है, उस आनन्द में अपनी प्रभुता है, स्वतन्त्रता है। उस आनन्दरस की प्रभुता के प्रताप को कोई तोड़ नहीं सकता। अहा! ऐसी प्रभुता की प्रतीति करके अनुभव करने से आनन्दरस के झरने झरते हैं, जैसे पर्वत में से शीतल पानी के झरने झरते हैं (बाहुबली की यात्रा गये तब मार्ग में बहुत जगह ऐसे झरने आते थे), उसी प्रकार मोक्ष के यात्री को चैतन्यशक्ति के महा पर्वत में से स्वानुभव के आनन्दरूपी परम शीतल झरने झरते हैं, परन्तु दृष्टि अन्दर करे, उसे वे प्रगट हों। भाई! तेरा आत्मा भी ऐसा स्वाधीन आनन्द के समुद्र से भरपूर है, तेरी दृष्टि के दोष से तुझे वह आनन्द दिखाई नहीं देता। मात्र दृष्टि बदले इतनी देर है! चैतन्य बादशाह को दृष्टि में लेकर धर्मी स्वतन्त्ररूप से आत्मा के आनन्द का स्वाद लेता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी बाह्यवृत्ति आती है परन्तु उन बाह्य विषयों के संग के आकुलस्वाद का आत्मा के आनन्द के अनाकुल स्वाद में अभाव है—ऐसा धर्मी जानता है; दूसरे प्रकार से कहें तो धर्मी को जो निश्चय-परिणति प्रगट हुई, उसमें व्यवहार का अभाव है।—ऐसी परिणतिवाले आत्मा को सच्चा आत्मा / शुद्ध आत्मा कहा जाता है।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ने जाना हुआ और कहा हुआ आत्मा वीतरागी सन्त निजवैभव से बतलाते हैं। हे जीव! अनन्त गुण का तेरा निजवैभव तेरे असंख्य प्रदेश में भरा हुआ है, उसे खोलने की यह बात है। अहा! श्रद्धा के बल से जहाँ श्रद्धा की—ज्ञान की—आनन्द की प्रभुता खिलकर परिणमन में आयी, वहाँ उसे पराधीन करे, रोके अथवा मलिन करे, ऐसी कोई चीज़ इस जगत में अस्तित्व ही नहीं धराती।

अहा! सत् का ऐसा स्वरूप जीव ने यथार्थरूप से कभी सुना नहीं। है तो यह अपना ही स्वरूप, इसलिए सरल है, सुगम है, परन्तु जीवों को ऐसे सत् का श्रवण

मिलना और उसकी जिज्ञासा जागृत होना, वह बहुत दुर्लभ है। सत् मिलना दुर्लभ है, और मिला, तब स्वयं ने ध्यान दिया नहीं—तो उसे क्या लाभ? सन्त ने कहा, वैसा सत् स्वभाव लक्ष्य में ले, तब सत् मिला कहलाये। अहा! ऐसा आत्मा,—जिसके समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन के सुख भी तृणवत् लगते हैं। उसे दृष्टि में लेने से अनन्तगुणों में जो स्वतन्त्रता का परिणमन होता है, उसकी शोभा और उसके आनन्द के समक्ष ज्ञानी को दुनिया के सुख तुच्छ लगते हैं।

मुमुक्षु : यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि—तीर्थंकर (शान्तिनाथ इत्यादि) ने विवाह किसलिए किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! उतना राग का भाग अभी बाकी था, परन्तु उसमें सुख नहीं मानते थे, उसे निजशक्ति का परिणमन नहीं मानते थे, चैतन्य की प्रभुता के परिणमन में उस समय ही उस राग का अभाव वर्तता था। भाई! तू राग को और संयोग को ही न देख; मात्र राग को और संयोग को देखने से तुझे ज्ञानी की पहिचान नहीं होगी। राग से और संयोग से अत्यन्त पार ऐसी वस्तु ज्ञानी की पकड़ में (श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में) आ गयी है, उसे तू पहिचानना सीख, तो तुझे तुझमें भी राग का और संयोग का अभाव दिखाई देगा और अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा निर्मलरूप से तुझे अनुभव में आयेगा। ऐसे अन्तर के अनुभव द्वारा ही अज्ञान के अन्धकार का नाश होगा, बाकी कोई पावडा द्वारा (अर्थात् कि बाह्य क्रियाओं द्वारा अथवा राग द्वारा) अज्ञान के अन्धकार का उलेचना नहीं होगा।

यह किसकी बात है? यह आत्मा के जीवन की कथा है; आत्मा की धर्मकथा है। आत्मा को धर्म कैसे हो, उसका वैभव कैसा है और उसे परमेश्वरपद कैसे प्रगट हो, उसकी यह बात है। अपने स्वरूप की सच्ची कथा प्रेमपूर्वक जीव ने कभी सुनी नहीं। इसलिए श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि—काम-भोग-बन्धन की कथा तो सर्व जीवों ने अनन्त बार सुनी है, परिचय में ली है और अनुभव किया है, इसलिए वह तो जीवों को सुलभ है, परन्तु पर से भिन्न अपने एकत्वस्वरूप आत्मा की बात जीव ने कभी सुनी नहीं, परिचय किया नहीं और अनुभव में ली नहीं; इसलिए वह दुर्लभ है। तेरा वह एकत्वस्वरूप आत्मा के निज वैभव से हम यहाँ दिखलाते हैं, उसे तू तेरे स्वानुभव द्वारा जानना।

भगवान के पास गया, वहाँ तो ऐसी वाणी का प्रपात बहता था, परन्तु उस समय भगवान जो विकल्परहित चिदानन्दस्वभाव बतलाते हैं, वह बात लक्ष्य में लेकर उसका वेदन नहीं किया और राग की—पराश्रयभाव की मिठास रखकर उसका ही वेदन किया। इसलिए उस समय भी उसने वास्तव में शुद्धात्मा की बात नहीं सुनी, परन्तु राग की ही बात सुनी। वास्तविक श्रवण उसे कहा जाता है कि जैसा श्रवण किया, वैसा वेदन में ले। भगवान आत्मा स्वानुभव की कसौटी पर चढ़कर आनन्द के पासा पाड़ता हुआ परिणमित हुआ, वहाँ उसके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की प्रभुता को कोई रोक नहीं सकता; अखण्ड प्रतापवाली स्वतन्त्रता से वह शोभित हो उठता है। आत्मा की प्रभुत्वशक्ति के कारण उसके समस्त गुणों में अपनी-अपनी प्रभुता है। स्वतन्त्र शान्ति को प्रगट करे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। जो विकृति है, उसका वास्तव में आत्मा के स्वभाव में अभाव है, और उसके आश्रय से जो पर्याय हुई, उसमें भी विकृति का अभाव है। इस प्रकार द्रव्य-गुण तथा निर्मल पर्याय, तीनों में अखण्ड प्रभुता व्याप्त होती है। विकार में प्रभुता नहीं, उसमें तो तुच्छता है।

प्रभुता नाम का एक गुण, उस गुण का कार्य क्या? कि समस्त गुणों को स्वतन्त्रता से शोभित करना, वह प्रभुता गुण का कार्य है। ऐसी प्रभुतावाले परमेश्वर को नजर में लेने से अनन्त गुणों की पर्याय में निर्मलतारूप प्रभुता प्रगट हो, वह प्रभुत्वगुण का लाभ है।

'तिनके की आड़ में पर्वत रे... पर्वत कोई देखे नहीं'—उसी प्रकार यह आत्मा अनन्त गुण की महिमा से भरपूर महा चैतन्य पर्वत, वह विकल्परूप तिनके की आड़ में अज्ञानी को दिखाई नहीं देता। तिनके जैसे जो राग—विकल्प, उसके कर्तृत्व में अटका हुआ जीव, उसके पीछे के पूरे चैतन्य पर्वत को नहीं देखता। जिस प्रकार तिनका भले छोटा, परन्तु यदि बराबर आँख में ही बीच में आवे तो बड़े पहाड़ को भी देख नहीं सकता; उसी प्रकार विकल्परूपी तिनके को ज्ञानचक्षु के साथ जो एकमेक करता है, वह जीव अन्तर में अनन्त गुण के चैतन्य पर्वत को देख नहीं सकता।

भाई! तू तो उपयोगस्वरूप है न! तेरे उपयोग को अन्दर के निजगुण में उन्मुख कर तो तेरा व्यापार सच्चा होगा और तुझे निर्मलता का लाभ होगा। निजगुण की निर्मलता

में वर्तनेरूप व्यापार करे, वह सच्चा व्यापारी; और स्व-वीर्य द्वारा निजगुण की रक्षा करे, वह सच्चा क्षत्रिय; जिसने आत्मा को जानकर स्वगुण की रक्षा की, विकार द्वारा आत्मा को घात नहीं होने दिया, वह प्रत्येक जीव क्षत्रिय है। व्यवहार से भी तीर्थंकर तो क्षत्रियकुल में ही अवतरित होते हैं। बनिया-ब्राह्मण के कुल में अवतरित नहीं होते, ऐसा प्रकृति का नियम है। परमार्थ में तो वीरता द्वारा स्वगुण की रक्षा करे, वह क्षत्रिय, और ब्रह्मस्वरूप—आनन्दस्वरूप आत्मा को जो सेवन करे, वह ब्राह्मण। अहा, तीर्थंकरों की वीरता की क्या बात! उनकी तो एक-एक बात अलौकिक होती है। वे तो केवलज्ञान प्रगट करने की वीरता लेकर आये हैं,—मानो वीर्य के पुतले! महा तेजस्वी और शान्तरस मानो नितरता हो, ऐसी जिनकी मुद्रा! सौ इन्द्र जिनकी सेवा करें। वे भगवान जब केवलज्ञान पावे और आकाश में पाँच हजार धनुष ऊँचे चलें, तब तो मानो सर्वज्ञता का मात्र शीतल रस! जिनके देह के परमाणु भी पलटकर परमौदारिक और शान्त-शान्त हो गये, उनकी अन्दर की शीतलता की क्या बात! यहाँ तो कहते हैं कि जैसी प्रभुता उन प्रभु को प्रगट हुई, वैसी ही प्रभुता तुझमें भरी है। अन्दर भरी है तो प्रगट होती है। अन्दर अपने में प्रभुता न हो तो प्रगटेगी कहाँ से? क्या बाहर से आयेगी? नहीं।

हे जीव! तुझमें तेरी प्रभुता भरी हुई है, उसे तू देख तो सही। जैसे कुँए में गहरी डुबकी लगाकर उसके तल की थाह लाते हैं, उसी प्रकार दृष्टि की गुलाँट मारकर अन्दर के चैतन्य समुद्र में पड़ और उसके अतीन्द्रिय आनन्द की थाह ला। स्वभाववीर्य को उल्लसित कर। वीर्यहीन जीव को ऐसा लगता है कि अरेरे! ऐसा आत्मा! यह वह कैसे हाथ आता होगा! हम तो शुभराग करें!—इस प्रकार राग की रुचि के आड़ में उस नामर्द को स्वभाव का उत्साह ही चढ़ता नहीं। विकल्परहित चैतन्यतत्त्व उसके लक्ष्य में नहीं आता, उसे तो विकल्पवाला ही चैतन्यतत्त्व भासित होता है। आत्मार्थी हो, वह तो अपनी प्रभुता सुनते ही उल्लसित हो जाता है कि वाह! मेरे चैतन्य की प्रभुता में विकल्प को अवकाश ही कहाँ है! विकल्प की ओर का उत्साह टूटकर स्वभाव-सन्मुख उसका वीर्य उछलता है; प्रभुता की ओर के पुरुषार्थ का उत्साह प्रगट करके वह विकल्प से भिन्न चैतन्यतत्त्व को अनुभव करता है, चैतन्य में गहरा... गहरा उतरकर अतीन्द्रिय सुख की थाह लेता है।

जिस प्रकार पुत्र को देखने से अतिशय प्रेम के कारण उसकी माता को दूध की धारा छूटती है, उसी प्रकार अपनी प्रभुता का जिसे परम प्रेम है, उसे उसकी बात सुनते ही प्रेम उफनता है और अन्तर में से चैतन्य के आनन्दरस की धारा प्रवाहित होती है, रोम-रोम उल्लसित होता है अर्थात् कि सर्व गुणों में प्रदेश-प्रदेश में अनुभवरस की धारा उल्लसित होती है। आत्मा की परिणति स्वयं अपने गुण की सेवा करके उसे सेवन करती है, स्वगुण की सेवना द्वारा निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है।

अरे प्रभु! तेरे गुण की महिमा की बात तूने सुनी नहीं। उसका प्रेम और उसका उल्लास तुझे कभी जागृत नहीं हुआ, तो उसका अनुभव कहाँ से होगा? आत्मा की प्रभुता में ऐसा अद्भुत रस है कि उसके रस में एकाकार होने से विकल्प नहीं रहता। पर्याय, द्रव्य में ऐसी लीन हो जाती है कि द्वैतपना नहीं रहता, राग की रुचि नहीं रहती; चैतन्यरस के सन्मुख देखते ही राग तो कहीं अलोप हो जाता है। अरे! घर में जवाहरात का नया गहना आवे, वहाँ तो कैसा प्रसन्न और उल्लसित होता है! तो अनन्त गुणरत्नों से जड़ा हुआ यह महा चैतन्य गहना तेरे पास ही है और सन्त तुझे वह दिखलाते हैं, उसकी प्राप्ति का तो उत्साह कर; उसके प्रति महा उल्लास और प्रसन्नता कर। अहो! अनन्त गुण की राशि आत्मा, जिसके एक-एक गुण-रत्न में ऐसा अनन्त सामर्थ्य है कि तीन लोक के वैभव द्वारा भी जिसकी तुलना नहीं हो सकती। आकाश की अनन्तता से भी जिसके भाव का सामर्थ्य अनन्त गुणा—उसकी प्रभुता की क्या बात!

प्रभुता अर्थात् बड़प्पन अथवा प्रभुता अर्थात् शोभा! आत्मा का बड़प्पन या शोभा रूपवान देह से नहीं, राग से भी नहीं, परन्तु अपने निज गुणों के निर्मल कार्य से ही आत्मा की प्रभुता और शोभा है। भगवान! यह तेरी प्रभुता का दरबार देख तो सही! तेरे चैतन्यदरबार में कैसे-कैसे अमूल्य राज-रत्न (गुण-रत्न) विराजते हैं, उन्हें देख!—तो बाहर की सब महिमा उड़ जायेगी। जैसे चक्रवर्ती के भण्डार में तो महा कीमती रत्न और निधान भरे होते हैं, कि जिन्हें खोलने से कभी कम नहीं होते, तथापि वे तो क्षणिक हैं और वे कहीं जीव को सुख नहीं दे सकते, परन्तु इस चैतन्य चक्रवर्ती के भण्डार में अनन्त गुण के ऐसे निधान भरे हैं कि जो कभी कम नहीं होते, जिनका कभी वियोग नहीं होता, जिन्हें कोई लूट नहीं सकता, और जिन्हें देखने से परम सुख होता है। स्वानुभवरूपी

श्रुतगंगा के किनारे नवक्षायिकलब्धि के परम निधान पड़े हैं। अहा! अपने में भरे हुए अपने निधान को देखता नहीं और बाहर के जड़-निधान की महिमा करता है। प्रभु होने पर भी स्वयं अपने को पामर मान रहा है और कर्म ने मुझे मार डाला, ऐसा शोर मचाता है। अरे बापू! कर्म का नाम-निशान तुझमें नहीं है, वह तुझे क्या करेगा? तुझमें तो तेरी प्रभुता भरी है। तेरी प्रभुता को सम्हालकर एक बार श्रद्धा का सिंहनाद कर वहाँ तो, जैसे सिंह के निकट से हिरण भागते हैं, इसी प्रकार आठ कर्म भाग जायेंगे और तेरी प्रभुता प्रगट होगी। वीर होकर वीर के मार्ग को साध।

'सर्वदमन' की वीरता की बात प्रसिद्ध है कि वह छोटा था, तब एक बार सिंह के बच्चे को खेलते-खेलते हाथ में उठाया; सिंहनी पास ही खड़ी-खड़ी आँख फाड़कर देख रही थी, परन्तु इसने तो निर्भयरूप से सिंह के बच्चे का मुख पकड़कर कहा कि 'उघाड़ तेरा मुख, मुझे तेरे दाँत गिनने हैं!' देखो, लौकिक में भी कितनी हिम्मत! उसी प्रकार यहाँ 'सर्वदमन' ऐसा आत्मा सर्व कर्मों का दमन करने को जागृत हुआ, वह चैतन्य की वीरता से कहता है कि—दूर जा कर्म, मुझमें तेरा अभाव है। चैतन्य में कर्म कैसे? चैतन्य को साधने निकला, वह तो कहीं कर्म से डरता होगा?—वह तो कर्म का नाशक है।

अपनी सर्वशक्ति को सम्हालता हुआ यह चैतन्य सिंह जागृत हुआ, वहाँ क्या राग और कर्म उसके सामने टिक सकते होंगे! आत्मा अपने पुरुषार्थ से जागृत हुआ, वहाँ उसके अखण्ड पुरुषार्थ को कोई खण्डित कर नहीं सकता। जैसे सिद्धभगवान सम्पूर्ण स्वतन्त्र हो गये हैं, अंशमात्र परतन्त्रता उनको नहीं है, उसी प्रकार नीचे सिद्धपद के साधक को भी स्वलक्ष्य से स्वाधीन प्रभुता परिणम रही है, और उसे ही आत्मा कहते हैं। जो परलक्ष्यी विकार परिणमन है, वह वास्तव में आत्मा नहीं है।

इस भरतक्षेत्र में तीन खण्ड इस ओर हैं और तीन खण्ड सामने की ओर हैं,—बीच में विशाल विजयार्द्ध पर्वत है, उसमें बड़ी गुफा है। जब उस ओर के तीन खण्ड जीतकर आधी विजय कर ली, तत्पश्चात् सामने के तीन खण्ड जीतने के लिये चक्रवर्ती का सैन्य इस गुफा में से गुजरता है। असंख्य वर्ष से उस गुफा के द्वार बन्द थे, वे चक्रवर्ती के सेनापति दण्डरत्न द्वारा प्रहार करके जब खोलता है, तब उसमें से भयंकर

गर्म हवा प्रवाहित होती है और उससे बचने के लिये उसका अश्व बारह योजन (लगभग सौ मील) की छलांग मारता है! उसी प्रकार यहाँ यह चैतन्य चक्रवर्ती अनादि काल से बन्द रहे हुए अपने चैतन्यनिधान को खोलने के लिये तैयार हुआ है, कषायों की कलुषता से बचने के लिये वह अपने ज्ञानगगन में छलांग मारता है। निरालम्बी ज्ञानगगन में आत्मा उड़ा, उसे अब परभाव स्पर्श नहीं कर सकते। पण्डित बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते हैं कि जिसे समयसार के पक्षरूपी पंख हैं अर्थात् कि शुद्धात्मा का जो 'पक्षी' है, वह निरालम्बी ज्ञानगगन में उड़ता है; और उससे विपक्षी हैं, वे जगत के जंजाल में रुलते हैं।

एक बार मोह को तोड़कर चैतन्य-गुफा के द्वार खोले, वह फिर से कभी बन्द नहीं होंगे। केवलज्ञानादि नव निधान प्रगटे हुए, वे फिर से कभी नहीं जायेंगे। पश्चात् उस गुफा में आगे जाने पर निमग्ना और उन्मग्ना, ऐसी दो नदियां आती हैं; 'निमग्ना' अर्थात् चैतन्यगुफा में निजवैभव को साधता हुआ आत्मा अपनी परिणति को चैतन्य प्रवाह में डुबोकर निमग्न करता है अर्थात् कि लीन करता है; और 'उन्मग्ना' अर्थात् परभावों को उछालकर अपने से बाहर निकाल देता है। इस प्रकार छह कारक की स्वाधीनता द्वारा शोभित ऐसे चैतन्यनिधानरूप चक्रवर्तीपद को वह साधता है।

हे जीव! तुझमें प्रभु होने का स्वभाव है; पामर या दीन रहने का तेरा स्वभाव नहीं है। ऐसी प्रभुता को भूलकर तूने मूढ़ता से राग द्वारा लाभ माना है। परन्तु भाई! तेरी स्वतन्त्र प्रभुता में राग की सहायता कैसी? प्रभुता को प्रतीति में लेने से राग का अवलम्बन नहीं रहता। इस प्रकार अनन्त गुण की प्रभुता के स्वतन्त्र परिणमन से शोभित पर्याय प्रगट हुई, उस पर्यायसहित आत्मा शोभित हो उठा, उसे ही वास्तविक आत्मा कहा जाता है और ऐसी प्रभुतावाले आत्मा को दृष्टि में लेना, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्व होने पर प्रभुता खिलने लगती है।

* * *

समयसार में आचार्य भगवान ने आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहकर बतलाया है। ज्ञानमात्र कहने पर भी एकान्त नहीं हो जाता क्योंकि जो 'ज्ञानमात्रभाव' है, वह स्वयं

अनन्त शक्ति से भरपूर है, इसलिए उसे स्वयमेव अनेकान्तपना प्रकाशित हो रहा है। स्वानुभूति में धर्मी को जो ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रसिद्ध हुआ, वह कैसा है ? उसमें अनन्त धर्म कैसे हैं ? उसका यह वर्णन चलता है।

सिद्ध भगवान जैसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा में भरी हैं, परन्तु पहिचान बिना उसे उसकी कीमत नहीं है। जैसे कोई मनुष्य अपने को गरीब मानकर दूसरे से भीख माँगता है; उसके घर में महा कीमती रत्न है, परन्तु पहिचान के बिना उसे उसकी कीमत नहीं है; वह किसी सेठ के पास भीख माँगने गया; तब उसके पास रहे हुए रत्न का प्रकाश देखकर सेठ आश्चर्य को प्राप्त हुआ और कहा कि भाई ! तू भीख न माँग, तू गरीब नहीं है; देख, तेरे पास यह रत्न है न, वह महा कीमती है। यह मेरे यहाँ स्वर्ण मोहरों की एक हजार अलमारियाँ भरी हैं, वे सब तू ले और यह रत्न मुझे दे।—ऐसा उत्कृष्ट रत्न तेरे पास है, इसलिए भीख न माँग।

यह सुनते ही वह मनुष्य आश्चर्य को प्राप्त हुआ, अपने पास ऐसा रत्न है, यह जानकर वह आनन्दित हुआ। सेठ का उपकार मानकर वह कहने लगा कि अहो ! यह रत्न तो मेरे घर में कितने ही समय से पड़ा है, परन्तु मुझे इसकी कीमत की खबर नहीं थी, इसलिए अभी तक मैंने भीख माँगी। परन्तु अब इसका भान हुआ और दीनता टल गयी।—यह दृष्टान्त है।

उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यरत्नाकर है, अनन्त गुणरत्न उसमें भरे हैं; जिसके एक-एक पासा की (एक-एक निर्मल पर्याय की) अपार कीमत है—दुनिया के वैभव द्वारा भी जिसकी तुलना नहीं हो सकती, ऐसे अनन्त रत्नों से भरपूर भगवान आत्मा जगत का श्रेष्ठ महा रत्न है। परन्तु अज्ञानी अपने को दीन मानकर संयोग से और पुण्य से भीख माँगता है; उसके (आत्मा) के घर में महा कीमती गुण भरे हैं, परन्तु पहिचान बिना उसे उसकी कीमत नहीं है, इसलिए पुण्य की और संयोग की महत्ता मानकर उनसे भीख माँगता था (अर्थात् उनके आश्रय से मोक्षसुख मिलेगा, ऐसा मानता था)। चार गति में भ्रमता है। किसी समय 'श्रेष्ठ' ऐसे ज्ञानी के पास गया, तब ज्ञानी ने उसके गुण बतलाकर उससे कहा कि रे जीव ! तू बाहर में न भ्रम; तू पामर नहीं है, तू शरीर जितना या विकार

जितना नहीं है; तेरा चैतन्यरत्न महाकीमती है। तीन जगत का वैभव जिसकी तुलना न कर सके, ऐसा तेरा अपार वैभव है; वाणी से वह नहीं कहा जा सकता, विकल्प द्वारा उसे वेदन नहीं किया जा सकता, अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा ही वह अनुभव में आता है। अनुभव में आवे, परन्तु वाणी में न आवे—ऐसा तेरा अतीन्द्रिय वैभव है। इसलिए दीनता छोड़कर इस तेरे आत्मवैभव को देख।

यह सुनते ही मुमुक्षु जीव आश्चर्य को प्राप्त कर स्वसन्मुख देखता है, अपने आत्मा में ऐसा वैभव है—यह जानकर वह आनन्दित होता है और ज्ञानी-महात्मा का उपकार मानता है कि अहो! आत्मा का ऐसा स्वभाव तो अनादि से ही था, मुझमें ही था, परन्तु मुझे उसकी कीमत की खबर नहीं थी, इसलिए अभी तक मैं बाहर में भटका। अब भान होने पर दीनता टली और प्रभुता प्रगटी।

अरे जीव! तू शरीर की अनुकूलता में और मान की मिठास में पूरा अर्पित हो जाता है, परन्तु भाई! तेरे अनुभव के अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष चौदह ब्रह्माण्ड भी डुल जाये, ऐसा तू है। इन्द्र-चक्रवर्ती इत्यादि सबके तीन काल के इन्द्रियसुख इकट्ठे किये जायें, तो भी तेरे एक समय के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष उनकी कुछ भी कीमत नहीं है। ऐसा आत्मा महा चैतन्यरत्न, देह से भिन्न, राग से पर, ज्ञायकभावरूप है। करोड़ों-अरबों रुपयों की कीमत का हीरा हो—परन्तु उसकी कीमत का करनेवाला कौन? उसकी कीमत करनेवाला तो ज्ञान है;—तो सबकी कीमत करनेवाले ऐसे तेरे ज्ञान की कुछ कीमत है? तेरे ज्ञान की कीमत तूने कभी की? जैसे मूर्ख ग्वाले ने हीरा बकरी के कान में बाँधा, उसी प्रकार अज्ञानी—महामूर्ख अपने चैतन्य हीरे को देह की क्रिया के साथ तथा रागरूपी बकरी के साथ बाँधता है। भाई! चैतन्य हीरा में से तो सर्वज्ञता का दिव्यप्रकाश खिलता है। सर्वज्ञता के अचिन्त्य सामर्थ्य की क्या बात! तीन काल—तीन लोक को जान लेना, वह तो जिसे खेलमात्र है; उससे भी अनन्तगुना जिसका सामर्थ्य है—

वे सर्वज्ञानी-दर्शी भी निज कर्मरज-अच्छाद को,
संसार प्राप्त न जानता, वह सर्व रीति सर्व को॥

सर्वज्ञता के पिण्डरूप चैतन्यरत्न के महास्वाद को केवली भगवान वेदते हैं, परन्तु वाणी में उसका कथन पूरा नहीं आता। ऐसा स्वभाव अभी ही इस प्रत्येक जीव में वर्त रहा है। परन्तु स्वयं अपने स्वभाव की परीक्षा करके पहिचान नहीं करता। दुनिया में पर की परीक्षा करने में रुका परन्तु अपने आत्मा में कैसा बेहद सामर्थ्य है, उसकी परीक्षा करने की दरकार नहीं की। अरे भाई! परम महिमावन्त तेरे आत्मा को तूने विकल्प की आड़ में छिपा दिया है। विकल्प की महिमा की आड़ में अनन्त गुण के समुद्र को तू भूल गया। निजगुण के निधान को तू भूला और पर के माल को (देहादि को और रागादि को) तुझमें मानकर तूने चोरी की। चोर कौन? कि स्वशक्ति को छिपावे और पर को अपना माने, वह चोर।

अरे प्रभु! एक राग के परिणाम में तू अर्पित हो जाता है, परन्तु सौ-सौ इन्द्र भक्ति से जिसे पूजते हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान धर्मसभा में दुन्दुभी के दिव्यनाद के बीच कहते हैं कि तू प्रभु है, हमारे जैसा ही तेरा चैतन्यनिधान अनन्त गुण से भरपूर है। एक-एक गुण का अपार माहात्म्य है और उसमें रागादि का अभाव है।

१. तेरी जीवत्वशक्ति अपार महिमावाली, कि जो राग और इन्द्रियों बिना आत्मा को जिलावे।

२. तेरी चितिशक्ति अपार महिमावाली, कि जो जड़ को और विकार को चैतन्य के साथ कभी तन्मय होने न दे।

३-४. तेरी दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति अपार महिमावाली, कि जो सर्वदर्शिता और सर्वज्ञता दे।

५. तेरी सुखशक्ति अपार महिमावाली, कि जो अत्यन्त अनाकुलता का वेदन दे।

६. तेरी वीर्यशक्ति अपार महिमावाली, कि जो अपने निर्मल स्वरूप को रचे।

७. तेरी प्रभुत्वशक्ति अपार महिमावाली, कि जो अखण्डित प्रतापवन्ती स्वतन्त्रता से आत्मा को शोभित करे।

अहा! ऐसे अनन्त-अनन्त स्वभावों से भरपूर तेरी अपार महिमा की क्या बात! वचन से तो कितना कहा जाये? सर्वार्थसिद्धि के सम्यग्दृष्टि—एकावतारी देव भी

३३ सागरोपाम के असंख्यात वर्षों तक चर्चा करने पर भी जिसकी महिमा पूरी नहीं कर सके, उस तत्त्व की महिमा स्वानुभव में समाहित होती है। एक समय जिसका अनुभव करने से पूरा संसार छूट जाये—ऐसे आनन्द का पुंज यह आत्मा है। तेरा आनन्द तुझमें है। आनन्द से भरपूर तेरे आत्मा में संसार नहीं—दुःख नहीं, इसलिए उसके सन्मुख होकर अनुभव करने से संसार और दुःख टल जाता है और आनन्द प्रगट होता है। इसलिए कहते हैं कि 'अरे जीव! तुझे कहीं न रुचे तो तेरे आत्मा में रुचि लगा न! आत्मा में आनन्द भरा है, इसलिए वहाँ अवश्य रुचे, ऐसा है।'

'मेरा तो आनन्द है और मेरा तो ज्ञान है', उसके बदले 'मेरी देह और मेरे पैसे' यह मान्यता ही दुःख है। परद्रव्य मेरा है, ऐसी मिथ्याभ्रमणा जीव को अन्तर्मुख होकर अपने आनन्द का वेदन नहीं करने देती। 'सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुख जाता दूर है', ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है, उसका अर्थ यह है कि—भाई! सुख तो तेरे आत्मा में है; उसे न मानकर स्त्री-पैसा-बड़प्पन इत्यादि में तूने सुख माना तो उसमें तेरे सुख का अनादर हो जाता है, इसलिए तेरा सच्चा सुख तुझे वेदन में नहीं आता। इसलिए तेरे अन्तर में ही निर्दोष आनन्द (राग बिना का आनन्द) भरा है, उसे तू जान। जड़ में सुख नहीं होता, परन्तु तू तो चैतन्य है न! चैतन्य, वह कभी सुख रहित होगा? नहीं; चैतन्यतत्त्व तो सदा ही आनन्द से भरपूर है। आत्मा सुख से भरपूर है और जड़-शरीर तो सुख से खाली है। चैतन्य का परिणमन श्रद्धा, आनन्द, प्रभुता इत्यादि अनन्त वैभव से भरपूर है, ऐसा वैभव राग में और जड़ में कहीं अंशमात्र नहीं है।

अहो! सर्वोत्कृष्ट तत्त्व आत्मा, उसके सन्मुख होकर ज्ञान परिणमे, तब आत्मा की सच्ची कीमत की कहलाये। आत्मा से विमुख रहकर आत्मा की सच्ची कीमत कैसे हो सकती है?

रत्न अमुक प्रकार का हो तो ऊँचा, हाथी-घोड़ा अमुक प्रकार के अच्छे, चावल बासमती के अच्छे, घी ऐसा अच्छा, कपड़ा तो अमुक प्रकार का अच्छा—इस प्रकार सब वस्तुओं की परीक्षा करता है, परन्तु आत्मा कैसा हो तो अच्छा?—इसका तो विचार कर। क्या देह सुन्दर हो तो आत्मा अच्छा?—कि नहीं। क्या रागवाला आत्मा अच्छा?—नहीं। आत्मा आनन्द का धाम है, उसका परिणमन करे, वह आत्मा अच्छा, वह श्रेष्ठ,

उससे ऊँची जगत में कोई वस्तु नहीं। (**'न खलु समयसारात् उत्तरं किंचिदस्ति'**)

राग से, पुण्य से, देह से, समवसरणादि से आत्मा का अच्छापन—श्रेष्ठपन—पूज्यपन नहीं है, आत्मा का अच्छापन अपने गुण के निर्मल परिणमन से ही है। समन्तभद्रस्वामी ने सर्वज्ञदेव की महास्तुति करते हुए कहा है कि हे सर्वज्ञदेव! आपका परम औदारिकशरीर, यह समवसरण की अद्‌भुत विभूति, आकाश में गमन, देवों का आगमन—इन सब संयोग के कारण से आप कहीं हमारे मन को महान नहीं, परन्तु सर्वज्ञता और वीतरागता प्रगट करके आपने हमको मोक्षमार्ग बतलाया, इसलिए आप महान हो, आपके गुण की पवित्रता द्वारा आप महान हो, और हमको वह गुण रुचिकर हुए हैं, इसलिए हम आपकी स्तुति करते हैं।—इस प्रकार गुण की पहिचानपूर्वक की स्तुति, वह सच्ची स्तुति है। कुन्दकुन्दस्वामी भी कहते हैं कि स्वसन्मुख होकर तू तेरी प्रभुता को पहिचान, तब तूने सर्वज्ञ की पहिचान और स्तुति की (है, ऐसा) कहलाये। अनन्त गुण का पिण्ड भगवान आत्मा कैसा है, उसकी प्रभुता का यह वर्णन चलता है।

अनन्त गुण का पूरा वैभव आत्मा में भरा है, इसलिए आत्मा ही 'परमेश्वर' है। ज्ञानादि परम-ऐश्वर्य परमविभूति का स्वामी वह परमेश्वर है। समयसार गाथा ३८ में शिष्य कहता है कि मैं मेरे परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, अब विरक्त गुरु ने वह मुझे कृपा करके समझाया, उसका अनुभव करके मैं सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ... देखो, भान हुआ वहाँ खबर पड़ी कि मेरा परमेश्वर मैं हूँ। **मेरो प्रभु नहीं दूर दिसंतर, मोहि में है मोहे भासत नीके**— पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि लोग प्रभु को बाहर में ढूँढ़ते हैं, परन्तु मेरा प्रभु कहीं दूर-देशान्तर में नहीं है, वह तो मुझमें ही है और स्वानुभव से मुझे स्पष्ट दिखता है।

अरिहन्तों को जो प्रभुता प्रगट हुई, वह कहाँ से प्रगट हुई? आत्मा में थी, वही प्रगटी है; कहीं बाहर से नहीं आयी है। स्वभाव से यह आत्मा भी अरिहन्त जैसा ही है, अरिहन्तदेव ऐसे आत्मा को देखकर और वेदकर कहते हैं कि हे जीवों! तुम्हारे आत्मा में भी ऐसी ही प्रभुता भरी है.... उसके सन्मुख देखो... तो तुम्हें भी ऐसी प्रभुता प्रगट होगी और आत्मा स्वाधीन स्वतन्त्रता के अखण्ड प्रताप से शोभित हो उठेगा। इसके अतिरिक्त नरेन्द्रपद में और इन्द्रपद में आत्मा की वास्तविक शोभा नहीं है। आत्मा तो

अपने अनन्त गुण का स्वामी 'गुणेन्द्र' है। आत्मा की प्रभुता का प्रताप उसके अनन्त गुणों की निर्मलता में समाहित है, उसके प्रताप को कोई तोड़ नहीं सकता। जिसने अपनी प्रभुता को दृष्टि में लिया, उसे जगत में कोई विघ्न है ही नहीं।

जैसे चन्दन में सुगन्ध है, गुड़ में मिठास है, पुण्य-पाप में आकुलता है; उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान-सुख और प्रभुता है। ऐसे आत्मा को जानकर अनुभव में प्रसिद्ध करना, इसका नाम मोक्षमार्ग और धर्म है। बाहर के संयोग से और कीर्ति से कहीं आत्मा की प्रसिद्धि नहीं, राग में भी आत्मा की प्रसिद्धि नहीं; आत्मा की प्रसिद्धि तो अपने अनन्त गुण-पर्याय में है। स्वानुभव की निर्मलदशा में भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुआ है। आत्मा की ऐसी प्रसिद्धि करे, उसे पर की प्रसिद्धि का मोह उड़ जाता है। बाहर के संयोग से तू तुझे बड़ा मानता है, परन्तु भाई! तेरी महत्ता अर्थात् कि तेरी प्रभुता कहीं ऐसी पराधीन नहीं कि दूसरे से लेनी पड़े।

धर्मी जीव अपनी प्रभुता अपने में देखते हैं। उदयभाव को आत्मा से भिन्न जानकर उससे तो अलग हुए हैं और ज्ञानस्वभाव में लगे हैं। कर्म का उदय और प्रतिकूल संयोग मेरी प्रभुता को घात नहीं सकता। ज्ञान की और उदय की सन्धि भेदज्ञान द्वारा तोड़ डाली है। इसलिए अब उदय में एकाकार नहीं होते। उदय से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा की कीमत जानी है, उसका उपशमरस चखा है, इसलिए अब राग की, पुण्य की और संयोग की कीमत उड़ गयी है, उसका रस उड़ गया है।

अरे! अज्ञानी को आत्मा की महिमा दिखाई नहीं देती, उसके स्वाद की उसे खबर नहीं। 'अरे! मुझमें मेरा अमृत भरा है, मेरा आनन्दरस मुझमें भरा है, सबसे उत्तम चैतन्यरत्न मैं हूँ, जिनवाणी में जिसके अपार गीत गाये हैं, वह चैतन्यतत्त्व मैं ही हूँ'— ऐसा जहाँ भान हुआ और श्रद्धा-ज्ञान में अपनी कीमत हुई, वहाँ उसके अनुभवरस का ऐसा अपूर्व स्वाद आया कि अब शुभराग और उसके फल बेस्वाद लगते हैं, उस राग का स्वाद वह मेरा नहीं, मेरा चैतन्यस्वाद तो परम शान्त... शान्त, आकुलता रहित है। परन्तु एक बार स्वाद चखे, उसे उसकी खबर पड़े।—'मांही पड्या ते माणे मोज'—उसे देखनेवाला भी आनन्द पाता है।

अरे! अन्दर में ऐसा अपना निधान, उसे तो अज्ञानी देखता नहीं और यह जड़

शरीर हिले-चले, बोले, खाये-पीये, वहाँ मूर्ख ऐसा मानते हैं कि मैं—आत्मा ही यह सब करता हूँ। तीर्थंकर भगवान कहते हैं कि हे प्रभु! तेरे अन्तर में प्रभुता का स्वाधीन प्रताप है, जिसे किसी संयोग की अपेक्षा नहीं; उसे प्रभुता को लक्ष्य में लेकर, उसका ध्यान धरकर उसका स्वामी हो, तो जड़ का—संयोग का स्वामीपना तुझे सहजमात्र में छूट जायेगा। अरे! तू चैतन्य प्रभु होकर अचेतन का—जड़ का स्वामी होने जाये, यह तो कलंक कहलाता है। बापू! यह तुझे शोभा नहीं देता।

आचार्यदेव को अपार करुणा है, घड़ीक में मूर्ख कहे और घड़ीक में प्रभु कहे; वहाँ स्वभाव की प्रभुता बतलाकर पर्याय की मूर्खता छुड़ाना चाहते हैं। रे जीव! तू तो प्रभु है न! इस पर के भाव को तुझमें मानता है, यह वह कैसी मूर्खता! छोड़ यह मूर्खाई और सम्हाल तेरी प्रभुता को! तीर्थंकरदेव ने आत्मा ऐसा नहीं कहा कि पर का कुछ कार्य करे। भगवान ने तो तीनों काल में आत्मा उपयोगस्वरूप देखा है; उपयोग इत्यादि निजगुणों द्वारा उसकी प्रभुता है; और उस उपयोग द्वारा ही जीव जी रहा है। धर्मी का जीवन अखण्ड उपयोगमय है, उस उपयोग के अखण्ड प्रताप को कोई तोड़ नहीं सकता, उसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है।

देखो न, सीता-चन्दना-अंजना जैसी धर्मात्मा स्त्रियाँ भी आत्मज्ञान को प्राप्त हुई और अपनी ऐसी प्रभुता को जानकर दुनिया की प्रतिकूलता के दु:ख के मध्य भी अडिग आनन्द को अनुभव करती हुई स्तम्भ की भाँति धर्म में स्थिर रहीं। शरीर भले स्त्री का था, परन्तु अन्दर भान था कि हम यह शरीर नहीं; हम तो चैतन्यरूप आत्मा हैं। हमको संयोग का दु:ख नहीं, हम प्रतिकूलता से नहीं डरते! बाहर में पति ने हमको छोड़ा तो भले छोड़ा; अन्तर में हमारी प्रभुता को हमने जाना है, उस प्रभुता से हमको कोई छुड़ा सके, ऐसा नहीं है। स्त्रीदेह में हम नहीं; हम तो हमारी प्रभुता के पुरुषार्थ में और आनन्द के वेदन में वर्तते हैं। चैतन्य महाप्रतापी भगवान आत्मा का प्रताप संयोग द्वारा टूटता नहीं, स्वतन्त्र प्रभुता से आत्मा शोभता है।

प्रतापवन्त आत्मा की दृष्टि होने से जो ज्ञानदशा—आनन्ददशा—अनन्त गुण की निर्मल दशा प्रगट हुई, उसे कोई घात नहीं कर सकता। आत्मा की निर्मल दशा किसी

दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं होती और दूसरे के द्वारा घात नहीं होती। प्रत्यक्ष-स्वसंवेदनरूप ज्ञान की प्रकाश कला द्वारा आत्मा प्रसिद्ध अनुभव में आता है।

अज्ञानी संयोग की प्रतिकूलता का और कर्म के उदय का पुकार करके आत्मा की प्रभुता को भूल जाता है। उसे बाहर की वस्तु की महत्ता भासित होती है, परन्तु वह अपनी प्रभुता को परखता नहीं है।

एक बार एक राजा के दरबार में कोई परदेशी एक हीरा लेकर आया और कहा कि महाराज! आपके जौहरियों से इसकी कीमत कराओ। गाँव के झबेरी इकट्ठे हुए, परन्तु कोई उसका मूल्य नहीं कर सका। अन्त में एक वृद्ध झबेरी आया और जाँच कर उसने उसका सच्चा मूल्य कर दिया। राजा ने प्रसन्न होकर दीवान को हुकम किया कि इस झबेरी को इनाम दीजिए। दीवानजी धर्म के ज्ञाता थे; उन्होंने देखा कि यह वृद्ध झबेरी का हित करने का अवसर है। उन्होंने झबेरी को इनाम देने के बदले उलहाना देकर कहा—दादाजी! तुमने हीरे परखने में जिन्दगी व्यतीत की, जिन्दगी का छोर आया परन्तु अन्दर के चैतन्य हीरे को पहिचानने का अभी तुमको सूझता नहीं! तब झबेरी का आत्मा भी जाग उठा और दीवानजी का उपकार माना। दूसरे दिन राज दरबार में कहा कि राजाजी! इनाम के योग्य मैं नहीं हूँ, वास्तविक इनाम के योग्य यह दीवानजी हैं कि जिन्होंने मुझे चैतन्य हीरा परखने की प्रेरणा प्रदान की। हीरा की परीक्षा मैंने की परन्तु मेरी परीक्षा इन दीवानजी ने की और मेरा हित किया।

इसी प्रकार सर्वज्ञ राजा के दीवान ऐसे ज्ञानी-सन्त कहते हैं कि अरे जीव! बाहर के पदार्थों को जानने में तूने अनन्त काल व्यतीत किया, परन्तु तेरे चैतन्य हीरा का अपार मूल्य है, उसे तू जान। चैतन्य हीरा का प्रताप कोई अचिन्त्य है। ज्ञानी जानते हैं कि सर्व से पृथक् निजस्वरूप को अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त हूँ। परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझे मुझरूप भासित नहीं होता; मेरे निजरस द्वारा मोह को मूल में से उखाड़कर महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है। मेरे परमेश्वर को मैं भूल गया था, परन्तु बारम्बार ज्ञानी के उपदेश के श्रवण से, सन्तों ने जैसा आत्मा कहा, वैसा समझा, वहां भान हुआ और मेरे परमेश्वर को मैंने मुझमें ही देखा। देखो, स्वसंवेदन की ऐसी निःशंकदशा हो, तब

जीव धर्मी हुआ कहलाता है। जहाँ परमेश्वर है, वहाँ शोधता नहीं और बाहर में भटकता है तो कहाँ से मिले ? मेरा आत्मा अनन्त गुण का स्वामी है, मैं ही मेरा परमेश्वर हूँ और देहादि की क्रियायें मुझसे बाहर हैं—ऐसे आत्मभान में जगत की किसी चीज़ का माहात्म्य धर्मी को नहीं रहता है।

ज्ञान में ज्ञान की स्वतन्त्र प्रभुता है;
दर्शन में दर्शन की स्वतन्त्र प्रभुता है;
श्रद्धा में श्रद्धा की स्वतन्त्र प्रभुता है;
आनन्द में आनन्द की स्वतन्त्र प्रभुता है;
वीर्य में वीर्य की स्वतन्त्र प्रभुता है;
जीवत्व में जीवत्व की स्वतन्त्र प्रभुता है; और
आत्मा में अनन्त गुण की स्वतन्त्र प्रभुता है;

अनन्त गुण के अखण्ड प्रताप से स्वाधीनरूप से शोभित आत्मा, उसे स्वानुभव द्वारा प्रसिद्ध करने की यह बात है।

कोई कहे कि 'मुझे मेरा आत्मा नहीं दिखता।'—परन्तु भाई! ऐसा कहने में भी तूने तेरा अस्तित्व तो प्रसिद्ध किया है। स्वयं अपने को प्रसिद्ध अनुभवता होने पर भी प्रतीति नहीं करता, राग में लीन होकर भिन्न ज्ञान के अस्तित्व को भूल जाता है; अर्थात् अज्ञान में स्वयं अपने को ढाँक रहा है। भाई! एक बार तेरा अज्ञान पछेड़ा निकाल दे और भिन्न आत्मा को ज्ञानस्वरूप से देख, तो तेरा ज्ञान तेरे आत्मा को आनन्दसहित प्रसिद्ध करेगा। 'यह राग है' ऐसे राग की ही प्रसिद्धि तुझे दिखती है, परन्तु राग को जाननेवाला यह मैं ज्ञान हूँ—ऐसे राग से भिन्न तेरे ज्ञान को प्रसिद्ध कर। राग को जाननेवाला ज्ञान अपने को रागरूप प्रसिद्ध नहीं करता परन्तु स्वयं अपने को ज्ञानरूप ही प्रसिद्ध करता है—कि मैं ज्ञान हूँ। इस प्रकार प्रसिद्ध आत्मा को प्रभुता सहित अनुभव करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वह मोक्षमार्ग है, इसके अतिरिक्त मोक्षमार्ग नहीं होता।

आत्मा की प्रभुता पर के तो आधीन नहीं, और अपनी एक पर्याय की प्रभुता दूसरी पर्याय के आधीन नहीं। भूतकाल की पर्याय अभी नहीं, अभी की पर्याय भविष्य

में नहीं रहती—इस प्रकार प्रत्येक पर्याय का भिन्न-भिन्न सामर्थ्य है। अपने-अपने स्वकाल में प्रत्येक पर्याय की प्रभुता है; पर्याय-पर्याय में स्वतन्त्र प्रभुता शोभित हो रही है। एक पर्याय दूसरी पर्याय के आधीन नहीं, वहाँ पर की तो बात ही क्या? अनन्त गुण-पर्याय की परमेश्वरता से भरपूर भगवान आत्मा अपने अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्ररूप से शोभता है। प्रभु! तेरी प्रभुता में पामरता नहीं। विकार, वह व्यवहार में जाता है; और तेरी प्रभुता में नहीं आता। परमार्थ से प्रभुता का सद्भाव... उसमें रागादि व्यवहार का अभाव, ऐसे परमार्थस्वरूप आत्मा को प्रतीति में लेना, वह सम्यग्दर्शन है; सम्यग्दर्शन होने पर पर्याय में प्रभुता खिलने लगती है और रागादि व्यवहार का अभाव होने लगता है। इस प्रकार निर्मलता का सद्भाव और रागादि का अभाव—ऐसे परिणमन द्वारा आत्मा अल्पकाल में साक्षात् सर्वज्ञ परमेश्वर होता है। ऐसे सम्यक्परिणमनवाला आत्मा, उसे ही सच्चा—परमार्थ आत्मा कहा है।

सम्पूर्ण ज्ञान का धारक आत्मा है, उसे जो जाने, उस ज्ञान का पहला नम्बर है, वही ज्ञान पास है—सच्चा है। मेट्रिक की परीक्षा में पास हो और पहला नम्बर प्राप्त हो, वहाँ अभिनन्दन प्राप्त होने पर फूल जाता है, और फेल हो अथवा कम नम्बर आये, वहाँ शिथिल पड़ जाता है, परन्तु अरे भाई! इस चैतन्यरत्न को जानने में पहला नम्बर ले न! आत्मा को जानने की परीक्षा में फेल होकर अनन्त काल से भटक रहा है, तो उसमें पास होने का प्रयत्न कर न! एक बार मरकर भी आत्मा को जान, अर्थात् कि जीवन पूरा उसमें अर्पित कर दे; देह का होना हो वह होगा—इस प्रकार उसकी दरकार छोड़कर, आत्मा को जानने का उद्यमी हो तो तेरा आत्मा तुझे अवश्य ज्ञात होगा। अरे! तूने अज्ञान से निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक के कितने भव किये? अब तो उनसे भयभीत हो! क्या तुझे अभी इस परिभ्रमण की थकान नहीं लगी? बाहर में साधु होकर भी आत्मा के ज्ञान बिना राग से धर्म मानकर तू भगवान की परीक्षा में फेल हुआ,—उसकी कुछ शर्म है!

तेज घोड़ी को चाबुक नहीं होते, उसे तो ईशारा ही होता है; इसी प्रकार आत्मा को साधने का तेज जिसे चढ़ा, वह तेजल हुआ, उसे सन्तों के एक ईशारे से ही बस है; उसे बारम्बार कहना नहीं पड़ता। सन्तों ने जो मार्ग बतलाया, उस मार्ग में अन्दर में

उतरकर वह जीव परमात्मा हो जायेगा; वह बीच में कहीं अटकेगा नहीं। साधक होकर सीधा सिद्धालय में चला जायेगा।

अरे! 'मैं मुझे ज्ञात नहीं होता' ऐसा कहते हुए तुझे लज्जा नहीं आती! पर को जानने में चतुराई करता है और स्व को जानने में मूर्ख होता है,—क्या तुझे शर्म नहीं आती! अरे, प्रभु! यह तुझे शोभा देता है? तेरा ज्ञान, और वह तुझे ही न जाने—यह शोभा नहीं देता। यदि स्वयं अपने को न जाने तो तेरे ज्ञान की प्रभुता लज्जित होती है।

भाई! तेरे ज्ञान की प्रभुता में राग के कार्य का अभाव है, और 'न जानना' ऐसा अज्ञान भी उसमें नहीं है। ज्ञानशक्ति में 'न जाननापना' कैसे होगा? दोष को और अज्ञान को गुण के कार्य में से निकाल डाला है; जिसने गुण के ऊपर दृष्टि की, उसे दोष और अज्ञान नहीं रहता। स्वगुण के स्वतन्त्र वैभव से शोभित आत्मा, उसके निर्मल कार्य को कोई रोक नहीं सकता। आत्मा अपने स्वाधीन आनन्दरस के अनुभव में चढ़ा, वहाँ पर्याय को कोई काल, कोई क्षेत्र, कोई संयोग, कोई उदय अथवा जगत की कोई प्रतिकूलता रोक नहीं सकती। जैसे निजगुण में पर की सहायता नहीं, उसी प्रकार पर का विघ्न भी नहीं। यदि उसमें दूसरा कोई सहायता करे तो भी पराधीनता हो जाती है। भाई! तेरे गुण का स्वामी तू है, अनन्त शक्ति की शाश्वत् सम्पदा से तू प्रतापवन्त है।—एक बार स्व में नजर करके देख, इतनी ही देर है। स्ववैभव में नजर करते ही तू ऐसा निहाल हो जायेगा कि उसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं तेरी परिणति को चैन नहीं पड़ेगा।

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के निजवैभव की प्राप्त होती है, अपनी प्रभुता अपने में दिखाई देती है। भले गृहस्थपने में हो। राजपाट में हो, स्वर्ग में हो या नरक में हो, मनुष्य हो या तिर्यंच हो,—परन्तु जो कोई जीव अन्तर्दृष्टि करे, उसे अन्तर में अपनी ऐसी प्रभुता दिखाई देती है, उसे वचनातीत आनन्द वेदन में आता है। आत्मा की शक्ति की अनन्तता—संख्या से भी जिसकी हद नहीं और सामर्थ्य से भी जिसकी हद नहीं, उसे दृष्टि में लेने से अनन्त गुण में एकसाथ निर्मलता का प्रवाह शुरु होता है, अर्थात् मोक्षमार्ग शुरु होता है। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न और स्वतन्त्रता से शोभित भगवान आत्मा की श्रद्धा और अनुभव अन्तर में उतरकर करना, वह प्रभुता प्रगट करने का पंथ है। ऐसी श्रद्धा और ऐसे अनुभव बिना स्व-पर का सच्चा भेदज्ञान नहीं होता और संसारभ्रमण नहीं मिटता।

आत्मा के अनन्त गुणों को परस्पर अन्य-अन्यपना है अर्थात् ज्ञान, वह सुख नहीं; सुख, वह ज्ञान नहीं—इस प्रकार गुणों में एक-दूसरे से पृथक्ता है परन्तु उनमें प्रदेशभिन्नता नहीं है अर्थात् ज्ञान के प्रदेश अलग, सुख के प्रदेश अलग—ऐसा प्रदेशभेद नहीं है। सभी गुणों का क्षेत्र एक ही (असंख्यप्रदेशी) है। क्षेत्र एक और भाव अनन्त, सामर्थ्य अनन्त, काल अनन्त,—परन्तु एक अखण्ड द्रव्य में वह सब सिमट जाता है। अखण्ड द्रव्य की स्वानुभूति में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद भी नहीं हैं। ऐसी अखण्ड प्रभुतावाले आत्मा को जहाँ श्रद्धा में लिया, वहाँ वह जीव सिद्धपद का साधक हुआ। अब अपनी प्रभुता को साधते-साधते पामरता को सर्वथा तोड़कर, अखण्ड प्रतापवन्ती प्रभुता से सिद्धपद में वह शोभित हो उठेगा,... और आत्मप्रभुता पूरी-पूरी खिल जायेगी।

आत्मा का स्वभाव कहो, गुण कहो, शक्ति कहो या वैभव कहो, उस आत्मवैभव का यह वर्णन है।—किसलिए? कि जीव यदि अपने आत्मवैभव को जाने तो उसे अपनी वास्तविक महिमा समझ में आये और पर की महिमा छोड़कर वह स्व में एकाग्र हो; स्व में एकाग्र होने से अपनी शक्ति में भरे हुए ज्ञान-आनन्द-प्रभुता उसे प्रगट अनुभव में आवे, इसलिए उसका संसार छूटे और मोक्ष हो।

भगवान आत्मा देह से भिन्न तत्त्व है; पुण्य-पाप, राग-द्वेष उसका स्वरूप नहीं है, उनमें उसका वैभव नहीं और वे उसका कार्य नहीं। अनन्त गुणस्वभावी आत्मा में दृष्टि होने से जो निर्मल परिणमन होता है, वही उसका वास्तविक कार्य है, उसमें उसका वैभव है। मलिनता, वह आत्मा नहीं; द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय इन तीनों का एकरूप, वह आत्मा है।

प्रभुत्वशक्ति के कारण आत्मा अखण्ड स्वतन्त्रता से शोभता है। जैसे राजा की शोभा तब कहलाती है कि उसके सिर पर दूसरा कोई न हो, जो किसी के आधीन न हो, उसे 'राजा' कहा जाता है। उसी प्रकार आत्मा की प्रभुता तब कहलाती है कि वह किसी के आधीन न हो। आत्मा की प्रभुता अखण्ड स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता बिना शोभा कैसी? पराधीनता में प्रभुता नहीं, शोभा नहीं। यद्यपि पर्याय में परलक्ष्य से आत्मा स्वयं पराधीन होता है, परन्तु वह उसका स्वरूप नहीं है, उसमें उसकी शोभा नहीं है, उसमें प्रभुता नहीं है, इसलिए उस पराधीनभाव को वास्तव में आत्मा नहीं कहते।

मुमुक्षु : प्रवचनसार में ईश्वरनय से आत्मा को परतन्त्रता भोगनेवाला कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ साधक की पर्याय में उस प्रकार का अल्प परिणमन है, इसलिए पर्याय अपेक्षा से उसे आत्मा का धर्म कहा है, परन्तु वह व्यवहारनय का विषय है; शुद्धनय के विषयरूप जो परमार्थ आत्मा है, उसमें वह नहीं आता। और विकार में जो पराधीनता कही है, उसका भी ऐसा अर्थ नहीं है कि परद्रव्य बलजोरी से आत्मा को विकाररूप परिणमाता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा है कि विकाररूप परिणमन पर के आश्रय से ही होता है, इसलिए उसमें पराधीनता है, उस आत्मा की शक्ति के आधीन वह कार्य हुआ नहीं, इसलिए यहाँ शक्ति के वर्णन में उसे आत्मा का कार्य नहीं कहते। यहाँ तो आत्मा की परमेश्वरता बतलानी है, आत्मा का वैभव बतलाना है, वस्तु की शक्ति में विकार और पराधीनता कैसे हो? इस जगत में अपने स्वाधीन स्वरूप से ही प्रत्येक वस्तु शोभित होती है। भाई! तेरी परमेश्वरता तुझमें भरी है; उदयभाव-विकारीभाव-पराधीनभाव का अभाव करके स्वाधीनता से आत्मा को शोभित करे, ऐसी तेरी परमेश्वरता की सामर्थ्य है। आत्मा के ऐसे निजवैभव को जानकर स्वघर में प्रवेश करने से प्रभुता प्रगट होती है, स्वसमयपना होता है और आत्मा को शोभा देता है। विकार में बसे, वह प्रभुत्व की परिणति नहीं है; वह तो परसमयपना है, उसमें आत्मा शोभित नहीं होता। भाई! स्वघर में अनन्त शक्ति का समुद्र उल्लसित होता है, स्वघर में प्रवेश करते ही तुझे अनन्त गुण की शान्ति का वेदन होगा, और तेरे गुण स्वाधीन परिणति से शोभित हो उठेंगे।

अन्तर्मुख होकर आत्मा को स्पर्शे अर्थात् कि अनुभव करे, तब स्वघर में आया कहलाये और तब स्वघर के वैभव को वह भोग सकता है। स्वघर को जाने बिना, उसमें प्रवेश किये बिना उसके वैभव को भोग नहीं सकता। परघर के सामने (विकार के सामने) देखा करे तो स्वघर के वैभव को कहाँ से भोगेगा? प्रभु! तू स्वानुभव से स्वघर में आ, तब तुझे तेरा अपार वैभव दिखाई देगा और तब तू प्रभुता के मार्ग में आया कहलायेगा।

अहा! आत्मा के समस्त गुणों में परमेश्वरता है; एक समय में पूर्णशक्ति से भरपूर अपने परमेश्वर के घर में प्रवेश करके अपनी निर्मल परिणति को भेंट करने से, वह निर्मल परिणति निजस्वभाव को भेंटने से, (इस प्रकार द्रव्य-पर्याय की एकता होने से)

निजवैभव के अनुभव का अपूर्व सुख प्रगट होता है और अतीन्द्रिय आनन्द उल्लसित होता है। आनन्द की यह सच्ची परिणति है, दु:ख, वह आनन्द की सच्ची परिणति नहीं है।

आत्मा में अपने में अभी भी जो वैभव भरा है, उसकी यह बात है। जिसने स्वानुभव से आत्मा के निजवैभव को जाना, उसे अनन्त गुण में व्याप्त अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। आत्मा का पूरा परिवार आनन्दित होता है अर्थात् सर्व गुणों में आनन्द व्याप्त हो जाता है। जैसे श्रेष्ठ पुत्र का जन्म होने पर पूरा परिवार प्रसन्न होता है; उसी प्रकार आत्मा में आनन्द-पर्यायरूप उत्तम पुत्र का अवतार होने पर पूरा आत्मपरिवार (द्रव्य-गुण-पर्याय सब) आनन्दित होता है।—ऐसी आत्मा के आनन्दगुण की प्रभुता है और उसके द्वारा आत्मा की शोभा है। जैसे कुलटा द्वारा कुल की शोभा नहीं; उसी प्रकार विकार द्वारा आत्मा की शोभा नहीं, वह चैतन्यकुल की जाति नहीं।

अहा! प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतन्त्र अनन्त शक्ति से परिपूर्ण और प्रत्येक शक्ति निर्मल परिणमन से भरपूर,—ऐसे आत्मवैभव का वर्णन भगवान अरिहन्त सर्वज्ञ परमात्मा के पंथ के अतिरिक्त जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है। सर्वज्ञदेव ने आत्मा में साधा हुआ और समवसरण में उपदेशित ऐसा जो मोक्षपंथ, उसमें से आया हुआ यह प्रवाह है।

'अरे, क्या करें? हमको कर्म बाधक हैं!'—अरर! तू महा प्रभु अनन्त सामर्थ्यवान, और जड़ कर्म तुझे दबा जायें? कहाँ तेरी परमेश्वरता! और कहाँ कर्म की अचेतनता! हम परमेश्वर होकर तुझसे कहते हैं कि तेरी अनन्त शक्ति की परमेश्वरता तुझमें भरी है, उसके सन्मुख हो तो तेरी प्रभुता को रोकनेवाला इस जगत में कोई नहीं है, परन्तु तू स्वयं तेरी प्रभुता का विश्वास नहीं करता, और परतन्त्रता मानकर तू ही तेरी प्रभुत का घात करता है। तथापि उस घात हुई दशा जितना ही पूरे आतमा को मान लेना, वह अपराध है और वह दशा कर्म ने घात की है—ऐसा मानना, वह दोगुना अपराध है। तू स्वयं अपराध करके कर्म के गले लगा है। ऐसा न करे और अपने अपराध जितना ही आत्मा को माने तो भी आत्मा के परम वैभव को वह जानता नहीं, इसलिए वह भी अपराध में ही पड़ा हुआ है, निरपराध स्वभाव की आराधना उसे प्रगट नहीं हुई है। दोषरहित निरुपद्रवी शिवधाम असंख्यप्रदेशी आत्मा, जिसमें अनन्त गुण के अतीन्द्रिय स्वादवाला

हलुवा पके, उसके सन्मुख होने से परम आनन्द सहित अपनी प्रभुता दिखाई देती है, शिवधाम में विराजमान प्रभु का साक्षात्कार होता है। उस प्रभु में कहीं पराधीनता नहीं, पामरता नहीं, वह तो सदा स्वाधीन स्वतन्त्र प्रभुता से शोभायमान है।

ऐसी स्वाधीन प्रभुता के निजनिधान को नहीं देखनेवाला जीव पर्याय में पराधीन होता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पराधीनता और विकार, वह वास्तव में आत्मा ही नहीं है।—उसे वह आत्मा कौन कहे? जैसे दुराचार, वह खानदानी कुल के घर की चीज़ नहीं कही जाती, खानदानी के घर में वह शोभा नहीं देता; उसी प्रकार यह भगवान आत्मा तीर्थंकरों के महान वीतरागी कुल का उत्तराधिकारी, उसकी वीतरागी खानदानी में रागादि दुर्भाव शोभा नहीं देते, वह उसके घर की चीज़ नहीं कहलाती। अनन्त गुण में निर्मलता प्रगट करे और उसमें कभी भंग न पड़ने दे—ऐसी आत्मा के कुल की टेक है। अरे जीव! तू उलझन में न आ, ऐसी तेरी प्रभुता को देखने से ही तुझे परम प्रसन्नता होगी और तेरी सब उलझन मिट जायेगी... अन्दर प्रभुता की प्रतिध्वनि (गूँज) पड़ेगी।

भाई! तेरी प्रभुता अभी भी तुझमें है, परन्तु तुझे तेरे आत्मा की खबर नहीं, ज्ञान नहीं, अनुभव नहीं, अरे! उसकी झाँखी भी नहीं करता, उसका उत्साह नहीं लाता, फिर अन्तर में उसकी प्रतिध्वनि कहाँ से बजे? स्वसन्मुख हो तो आत्मा जवाब दे न! बाहर में झपट्टे डाल-डालकर अनन्त काल से हैरान हो रहा है, परन्तु अब तो ऐसे अवसर में तेरे स्वभाव को देख; तेरे स्वाधीन वैभव की झाँखी तो कर, उसकी ओर का उत्साह तो कर। उसकी ओर के झुकाव से तुझे कोई अलग ही आनन्द अनुभव में आयेगा। ऐसे आनन्द की अनुभूति हो, उसे ही हम आत्मा की परिणति कहते हैं। इसके अतिरिक्त रागादि परिणति, वह वास्तव में आत्मा की परिणति नहीं और उसमें आत्मा का वैभव और शोभा नहीं।

अहो! बारम्बार आत्मा के ऐसे वैभव का श्रवण करनेयोग्य है। अन्तर में उसकी महिमा लाकर गहरा-गहरा मन्थन करनेयोग्य है। भाई! तेरे चैतन्य में भरे हुए अपार वैभव को खोलने का यह सुगम रास्ता सन्तों ने दिखलाया है। द्रव्य-गुण-पर्याय का ऐसा स्वाधीन वैभव दिखलानेवाले देव-गुरु-शास्त्रों के प्रति धर्मी को भक्ति-पूजन के शुभभाव आते हैं और बहुत ही विनयपूर्वक उनका बहुमान करता है, परन्तु उस शुभराग को

आत्मा के वैभव की चीज़ नहीं समझता। जिनकी भक्ति करता है, उन देव-गुरु-शास्त्रों ने भी ऐसा ही समझाया है कि शुभ विकल्प का भी तेरे आत्मवैभव में अभाव है। तेरे आत्मा की शोभा शुभ विकल्प से नहीं परन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय में अखण्ड प्रतापवाली जो स्वाधीनता प्रगट हुई, उससे तेरे आत्मा की शोभा है।

भगवान आत्मा की कोई शक्ति—कोई गुण राग के विकल्प को उत्पन्न करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं; इसलिए राग की क्रिया, वह वास्तव में आत्मा की क्रिया नहीं, परन्तु अनात्मा की क्रिया है। आत्मा का निजवैभव, वह रागादि में नहीं; आत्मा का वैभव तो रागरहित अनन्त गुण की निर्मलता से भरपूर है।

अरे! एक बार श्रद्धा के बल से तेरी शक्ति का टंकार तो कर! तेरी शक्ति के धनुष-टंकार के समक्ष कोई परभाव टिक नहीं सकता। जैसे सिंह की दहाड़ पड़े, वहाँ खरगोश भागते हैं। इस भगवान आत्मा के प्रताप को कौन झेल सकता है? कौन जान सकता है? कौन लक्ष्य में ले सकता है? विकार में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि इस भगवान आत्मा के प्रताप को झेल सके या जान सके। स्वसन्मुख हुई वीतरागी पर्याय में वह सामर्थ्य है कि चैतन्य प्रभु के प्रताप को झेल सकती है, वही उसे जान सकती है और वही उसको वेद सकती है। जैसे चक्रवर्ती के तेज को सामान्य मनुष्य नहीं झेल सकता, अथवा जगमगाते सूर्य के तेज को कच्ची आँखवाला नहीं झेल सकता; उसी प्रकार चैतन्य के अतीन्द्रिय तेज को झेलने की सामर्थ्य राग में नहीं है। उसके अतीन्द्रिय ज्ञान—आनन्द के प्रकाश का एक अंश भी सम्यग्दृष्टि ही झेल सकता है, अज्ञानी उसे झेल नहीं सकता। रागादि परभाव के पीछे कोई त्रिकाली शक्ति का जोर नहीं, वे तो अद्धर से उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् उनमें त्रिकाली शक्ति का जोर नहीं है, इसलिए त्रिकाली चैतन्य प्रताप के साथ एकता करके उसे वह झेल सकता है—प्रतीति में, ज्ञान में, और अनुभव में ले सकता है।

अहो! सन्तों ने चैतन्य की प्रभुता के अचिन्त्य गीत गाये हैं; आत्मा में ऐसे भाव भरे हैं, उसे अनुभव में लेकर उनके ये गीत गाये हैं; आत्मा की प्रभुता को प्रसिद्ध करके जगत को बतलाया है। आत्मा की शक्ति में जो प्रभुता है, उसमें रागादि अशुद्धता का अभाव है, अर्थात् स्वभाव का सद्भाव और अशुद्धता का अभाव (-निश्चय का आश्रय

और व्यवहार का निषेध)—ऐसा अनेकान्त है और इस अनेकान्त का फल अमृत है, इससे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।

अरे भाई! तू प्रभु है, तेरी प्रभुता पराधीन नहीं; उसके बदले तू सिद्धप्रभु को भी परतन्त्र (निमित्ताधीन) सिद्ध करे, यह तो तेरी कुदृष्टि का बड़ा दोष है। सिद्ध तो इस आत्मा के आदर्श हैं। उन सिद्ध में भी जिसे परतन्त्रता दिखती है, उसे अपने आत्मा की स्वतन्त्रता कहाँ से दिखेगी? और स्वतन्त्रता को देखे बिना वह स्वतन्त्र कहाँ से होगा?

यहाँ तो आचार्य भगवान ने स्वतन्त्र प्रभुता का ढ़िंढोरा पीटा है; अमृतचन्द्रदेव ने इस पंचम काल में अमृत बहाया है। ९०० वर्ष पहले यह अमृतचन्द्र मुनिराज चारित्र की मस्ती में झूलते-झूलते वन में से आहार के लिये नगरी की ओर चले आते हों, तब उनका दिखाव कैसा होगा! अहा, वे तो मानो छोटे से सिद्ध प्रभुजी चले आते हों! और जब अनन्त के अनुभव में कलम डुबो-डुबोकर वे कुन्दकुन्द प्रभु की गाथा के गहनभावों को टीका में खोलते होंगे—तब तो मानो गणधरदेव दिव्यध्वनि को गूँथने बैठे! अहा, उनकी अनुभवदशा की क्या बात! चैतन्य के अचिन्त्य वैभव को खोलते-खोलते, केवलज्ञान को साधते-साधते, उन्होंने इन शक्तियों का वर्णन किया और उसके द्वारा जगत का अचिन्त्य आत्मवैभव जगत को दिखलाया है। अहा! उनकी शक्ति की और उनके उपकार की क्या बात! वे तो वीतरागी परमेष्ठी पद में झूलनेवाले और प्रभुता का अनुभव करनेवाले सन्त थे, जैनधर्म के स्तम्भ थे।

इस चैतन्य परमेश्वर का प्रताप कोई अलग प्रकार का है; अज्ञानी को वह दृष्टि में नहीं आता। प्रभुता के भाव से व्यक्त परिणमित आत्मा की परिणति में रागादि अशुद्धतारूप व्यवहार का अभाव है; इसलिए कहा है कि सम्यग्दृष्टि निश्चय में लीन है और व्यवहार में से विमुक्त है। निश्चयस्वभाव में लीन मुनिवर मुक्ति को प्राप्त करते हैं और व्यवहार में जो लीन हैं, उन्हें आत्मा के स्वाश्रित वैभव की खबर नहीं, परमार्थ आत्मा की खबर नहीं। ऐसे जीवों को आत्मा का परमार्थ स्वभाव बतलाने और पराश्रय से होनेवाले रागादिभावों का अवलम्बन छुड़ाने के लिये श्री जिनवाणी ने व्यवहार को अभूतार्थ कहकर उसका अवलम्बन छुड़ाया है और परमार्थस्वभाव का अनुभव कराया है।

वाह! कैसी सरस बात!! अरे, वीरा! वीर होकर तेरे स्वाश्रितस्वभाव का अवलम्बन ले... तेरी प्रभुता को सम्हाल। जैसे 'सबरस' बिना की रसोई नीरस लगती है, उसी प्रकार चैतन्यरस के अनुभव बिना का सब ही नीरस है, आनन्दरहित है, उसमें आत्मा का कुछ स्वाद ही नहीं है। इसलिए तुझे तेरे आत्मा को रसमय अतीन्द्रिय स्वादवाला बनाना हो तो स्वसन्मुख होकर स्वानुभव के आनन्दरस को चख। वीर होकर महावीर के इस परमार्थ मार्ग को तू साध। आत्मा ऐसा वीर है कि विकार के अंश को भी प्रभुता में आने न दे और विकार से भिन्न अपने आत्मा के आनन्दरस को अनुभव करे। इस प्रकार स्वाधीनरूप से अपने अखण्ड प्रताप को आनन्दसहित अनुभवता-अनुभवता, सिद्धपद को साधता-साधता, अपनी प्रभुता प्रगट करके शोभित हो उठता है।

जय हो आत्मप्रभुता की

इस प्रकार प्रभुत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

वही वास्तव में आश्चर्य है!

अहो! जगत में मूर्ख जीवों को क्या कठिन है? वे जो अनर्थ करें, उसका आश्चर्य नहीं है परन्तु नहीं करें वही वास्तव में आश्चर्य है। शरीर को प्रतिदिन पोषते हैं, साथ ही साथ विषयों का भी सेवन करते हैं। उन मूर्ख जीवों को कुछ भी विवेक नहीं है कि विषपान करके, अमरत्व की इच्छा रखते हैं - सुख की वांछा करते हैं।

- श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन

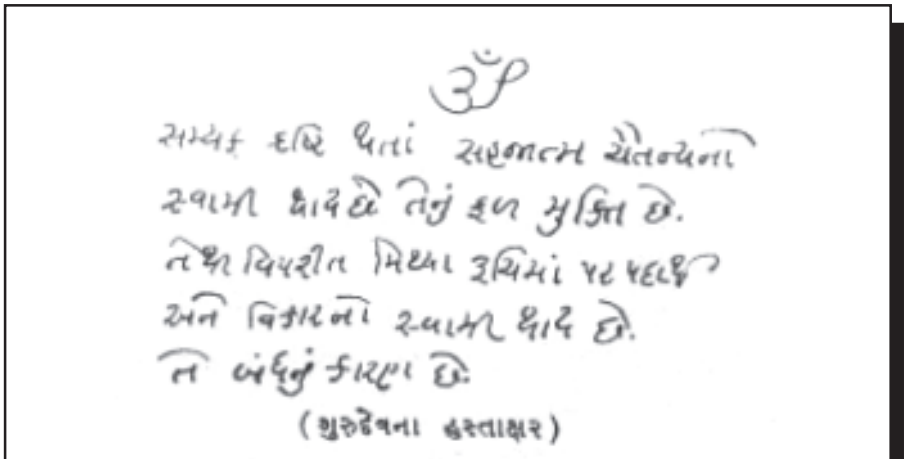

ॐ

सम्यक्-दृष्टि होने पर सहजात्म चैतन्य का स्वामी होता है, उसका फल मुक्ति है। इससे विपरीत मिथ्या रुचि में परपदार्थ और विकार का स्वामी होता है, वह बन्ध का कारण है।

[८]

विभुक्तशक्ति

सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः।

सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावों में व्याप्त होता है।)।८।

अहा, सन्तों की अनुभवदशा की क्या बात! अन्तर के अनुभव द्वारा आत्मा के अचिन्त्य वैभव को खोलते-खोलते उन्होंने इस समयसार की रचना की है, और उसके द्वारा जगत का 'आत्मवैभव' जगत को दिखलाया है। अहो! उनके उपकार की क्या बात!

अरे वीरा! वीर होकर तू तेरे आत्मवैभव को देख। श्रद्धा के बल से तेरी शक्ति का टंकार कर।

आत्मा के अनन्त धर्मों में एक विभुत्व धर्म है। ज्ञान, आनन्द, प्रभुता इत्यादि जो अनन्त धर्म है, वह एक-एक धर्म आत्मा के दूसरे सर्व धर्मों में व्यापक है। धर्म कहो, शक्ति कहो, गुण कहो या भाव कहो; एक ज्ञानभाव दूसरे अनन्त भावों में व्यापक है, इसलिए ज्ञानभाव से देखने पर पूरा आत्मा ज्ञानरूप दिखाई देता है, आनन्दभाव से देखने पर पूरा आत्मा आनन्दरूप दिखाई देता है, ऐसा आत्मा की विभुत्वशक्ति का कार्य है।

विभु अर्थात् व्यापक; आत्मा विभु है अर्थात् कि व्यापक है; परन्तु किस प्रकार से? क्षेत्र से आकाश में सर्वव्यापक, ऐसा यहाँ 'विभु' का अर्थ नहीं है, परन्तु भाव से अपनी अनन्त शक्तियों में व्यापकरूप विभुता है। आत्मा स्वयं एक रहकर अपने अनन्त गुण-पर्यायों में सर्वव्यापक है—ऐसी आश्चर्यकारी उसकी विभुता है। आत्मा की प्रभुता भी बड़ी और आत्मा की विभुता भी बड़ी; बड़ी सही परन्तु वह अपने में ही समाहित होती है, बाहर नहीं निकलती। क्षेत्र से विशालता हो तो ही विशालता गिनी जाये—ऐसा नहीं है। आत्मा की विशालता ज्ञानादि अनन्त निजशक्ति के भाव से है। जिसकी एक गुण की एक पर्याय का इतना महान सामर्थ्य कि समस्त लोकालोक को ज्ञेयरूप से जान ले।—जानने में किसी की सहायता नहीं और एक से दूसरा समय नहीं। ऐसे आश्चर्यकारी सामर्थ्यवाले अनन्त गुण-पर्यायों में आत्मा एकसाथ व्यापक है। एक गुण में दूसरा गुण नहीं व्यापता, एक पर्याय में दूसरी पर्याय नहीं व्यापती, परन्तु आत्मा अनन्त गुण-पर्यायों में एकसाथ व्यापता है, ऐसी तेरी विभुता है। आत्मा के अनुभवरस में सब गुणों का इकट्ठा स्वाद एकरसरूप वेदन में आता है।

वस्तु अपने गुण-पर्याय में ही व्यापक होती है, इसलिए द्रव्य का और गुण-पर्याय का क्षेत्र अलग-अलग नहीं है। एक गुण दूसरे गुणरूप होता नहीं, तथापि क्षेत्र तो दोनों का एक ही है, प्रदेश एक ही हैं। जो ज्ञान के प्रदेश हैं, वे ही आनन्द के प्रदेश हैं; जहाँ ज्ञान है, वहाँ ही आनन्द है; और उसकी पर्याय भी वहाँ ही उतने ही प्रदेश में है। भले गुण त्रिकाल और पर्याय क्षणिक, तथापि क्षेत्र दोनों का समान है।

असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण कैसे समाहित हुए?—क्योंकि गुणों को प्रदेश भेद नहीं, एक ही क्षेत्र में सर्व गुण इकट्ठे रहे हुए हैं। आत्मा में एक जगह ज्ञान और दूसरी जगह आनन्द—ऐसा भेद नहीं है। आत्मा अपने सर्व प्रदेशों द्वारा अपने अनन्त गुणों में

यदि एक साथ व्यापक न हो तो उसकी अखण्ड विभुता सिद्ध नहीं होती।

असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण कैसे समाहित हैं?

—भाई! असंख्य प्रदेश में अनन्त प्रदेशवाली वस्तु नहीं समाती, यह बराबर, परन्तु गुणों में कहीं प्रदेश से अनन्तपना नहीं है, प्रदेश तो प्रत्येक गुण के असंख्यात ही हैं, परन्तु भावसामर्थ्य उनमें अनन्त है; असंख्य प्रदेश में एकरसरूप से सभी अनन्त गुण इकट्ठे रह सकते हैं। जैसे एक हजार औषधि पीस-पीसकर एकरस करे और फिर उसकी एकदम छोटी राई जितनी गोली बनावे, तो उस छोटी सी गोली में भी हजार औषधियों का रस भरा है। उसी प्रकार आत्मा के असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण का रस है—जो स्वानुभव द्वारा स्वाद में आता है।

एक प्रदेश का क्षेत्र दूसरे प्रदेश में पूरा हो गया, परन्तु गुण कहीं पूरा नहीं हो गया। गुण तो आत्मा के सर्व-असंख्यप्रदेश में रहा हुआ है। भिन्न-भिन्न अनन्त गुण के मिलकर अनन्त प्रदेश एक-एक चैतन्य प्रदेश में रहे हुए हैं। परन्तु एक ही गुण के सर्व-असंख्य प्रदेश एक प्रदेश में नहीं रह सकते, क्योंकि आत्मा में इतना संकोच कभी नहीं होता। चाहे जितना संकोच हो तो भी असंख्य प्रदेश (लोक के असंख्यातवें भाग के असंख्य प्रदेश) तो वह रोकता ही है और चाहे जितना विस्तार हो तो भी लोकप्रमाण असंख्य प्रदेश से अधिक विस्तार कभी नहीं होता।

अरे! अपनी प्रभुता का क्षेत्र कितना, अपने गुणों का क्षेत्र कितना, इसका भी यथार्थ विचार जीव ने कभी किया नहीं; अपने निजवैभव को लक्ष्य में लिया नहीं। भगवान आत्मा निजवैभव को भूला, वह नजर कहाँ डालेगा? तेरे निजवैभव का क्षेत्र तेरे असंख्यप्रदेश हैं और उसमें ही तेरा वास है। विभु का वास कहाँ है? कि अपने ज्ञानादि अनन्त गुण-पर्यायों में विभु का वास है, स्वगुण-पर्याय में बसा हुआ आत्मा स्वयं ही विभु है। निवास का धाम और उसमें बसनेवाला, ये दोनों कहीं पृथक् नहीं है। अपने धर्मों में स्वयं ही बसनेवाला है। एक-एक जीव के प्रदेशों की लोकाकाश के प्रदेशों जितनी संख्या है। आकाश तो परक्षेत्र है, जीव के असंख्य प्रदेश—जो अनन्त गुण से भरपूर हैं, इसमें जीव का वास है।

जीव-अजीव से भरा हुआ जो यह लोक, उसके असंख्यप्रदेश, परन्तु उसमें

अनन्त जीव और अनन्तानन्त पुद्गल समा गये हैं, अपना-अपना स्वभाव पृथक् रखकर लोक में एक साथ रहने में वे एक-दूसरे को बाधा नहीं करते।

इस चैतन्य राजा का असंख्य प्रदेशी महल है। अनन्त गुण का खजाना है और उसकी निर्मलपर्यायोंरूपी प्रजा है।—ऐसे निजवैभव में व्यापक भगवान आत्मा अपनी विभुता से शोभता है। आत्मा विभु होकर अपने सर्व भावों में व्यापता है; यहाँ 'सर्व भावों' कहने पर सब निर्मल भाव लेना। क्योंकि यह तो 'ज्ञानमात्रभाव' के साथ परिणमते धर्मों की बात है, इसलिए विकारभाव उसमें नहीं आते।

'आत्मा लोकालोक में सर्वव्यापक हो तो ही वह बड़ा कहलाये'—ऐसे क्षेत्र की विशालता से आत्मा का माहात्म्य मानना, वह तो स्थूलबुद्धि है। ज्ञानादिभावों की महानता से आत्मा की महत्ता है; आत्मा के गुण अनन्त, उनका सामर्थ्य अनन्त, परन्तु उसका क्षेत्र कहीं अनन्त नहीं है; अनन्त गुणों का क्षेत्र कहीं अलग-अलग अनन्त नहीं है। 'विभु सबमें बसा हुआ है'—इसका अर्थ कहीं ऐसा नहीं कि जड़-चेतन सबमें कोई भगवान का वास है, परन्तु 'विभु' ऐसा आत्मा, वह सबमें अर्थात् अपने सर्व गुण-पर्यायों में बसा हुआ है—इस प्रकार यह आत्मा—विभु सबमें बसा हुआ है, ऐसी इसकी विभुत्वशक्ति है।

अहो! इस आत्मविभु का वैभव अद्भुत है। भगवान सर्वज्ञदेव ने धर्मसभा में आत्मा का जो वैभव दिखलाया है, वही यहाँ सन्त स्वयं अनुभव करके दिखलाते हैं। आत्मा के ऐसे वैभव की बात जैन में ही होती है, अन्यत्र नहीं होती। अलग-अलग लक्षणवाले ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुण, उनकी समय-समय में बदलती पर्यायें, उनके असंख्यप्रदेश, और उन सबमें व्यापक एक आत्मा,—एक समय में इतना वैभव प्रत्येक आत्मा में भरा है और ऐसे आत्मायें अनन्त हैं।

भाई! तेरा महावैभव तेरे असंख्यप्रदेशों में समाहित है, उसे कोई लूट नहीं सकता, तेरी अबाधित सीमा में कोई प्रवेश नहीं कर सकता।—ऐसे आत्मवैभव को दृष्टि में लेने से अनन्त गुण की निर्मल पर्यायें प्रगट होंगी और उसमें अभेदरूप से तेरा आत्मा व्याप्त हो जायेगा।—इसका नाम धर्म और यही मोक्षमार्ग है।

* * *

भगवान अरिहन्तदेव ने अपने में जैसी पूर्ण शक्तियाँ प्रगट की, वैसी अनन्त शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में देखीं और दिव्यध्वनि द्वारा जगत में प्रसिद्ध की। उसका यह वर्णन चलता है। भाई! जैसे हम, वैसा ही तू आत्मा है; मेरी और तेरी शक्ति में जरा भी अन्तर नहीं है। एक-एक गुण में अनन्त सामर्थ्य, और ऐसे अनन्त गुण—ऐसा आत्मवैभव है। ज्ञान और दर्शन, प्रभुता और विभुता, सुख और जीवन—ऐसी अचिन्त्य प्रभाववाली अनन्त शक्तियाँ आत्मा में है और उसकी अपार महिमा है। ऐसे तेरे वैभव की कीमत तो कर। राग की और पर की कीमत करता है, उसके बदले ऐसे आत्मवैभव की कीमत कर। लोग एक उत्कृष्ट हीरे की भी कितनी कीमत आँकते हैं और उसे देखने का कैसा कौतूहल करते हैं! तो अनन्त केवलज्ञानरत्न जिसमें भरे हुए हैं, ऐसा ज्ञानगुण और ऐसे अनन्त गुणरत्न जिसमें भरे हुए हैं—ऐसा यह चैतन्यरत्नाकर, उसकी महिमा की क्या बात! वह तो तुझमें स्वयं में ही है, उसे देखने का कौतूहल तो कर; उस पर नजर करने से वहाँ तेरी नजर ऐसी स्थिर होगी.... और तुझे ऐसा आनन्द आयेगा... कि जगत में अन्यत्र कहीं फिर तेरी नजर स्थिर नहीं होगी। तुझमें ऐसा पण्डितवीर्य प्रगट होगा कि अखण्डरूप से मोक्ष को साधे। अहो, आत्मा के वैभव की क्या बात! जिसे तीर्थंकर प्रभु ने साधा और जगत को दिखलाया, उसका यथार्थ श्रवण करके एक बार यदि आत्मा अन्दर से उछल जाये तो वह वैभव प्राप्त किये बिना रहे नहीं। स्वद्रव्य के वैभव पर दृष्टि जाने से अनन्त गुणों का अन्तर्मुख परिणमन होता है और राग-द्वेषरूप मलिन परिणमन छूट जाता है, कोई अपूर्व शान्ति को आत्मा वेदन करता है। अपने गुण-पर्यायरूप वैभव में व्याप्त होकर ऐसी शान्ति को वेदन करे, वही वास्तव में आत्मा है। उसमें सामान्य-विशेष दोनों इकट्ठे एकरूप हैं।

सामान्य का अवलम्बन किया किसने? अर्थात् कि भूतार्थ का आश्रय लिया किसने?—वह विशेष है। जो परिणाम स्व में तन्मय होता है, वह मोक्षमार्ग है; जो परिणाम परसन्मुख जाता है, वह संसार है। शुद्ध द्रव्य पर दृष्टि जाने से उसका विशेषरूप निर्मल परिणमन होता है। '**भूदत्थमस्सिदो खलु...**' उसमें ही यह सिद्धान्त है। त्रिकाली स्वभाव का आश्रय करनेवाला तो वर्तमान परिणाम है। परिणामी का आश्रय कहीं परिणामी स्वयं नहीं करता (अर्थात् द्रव्य-गुण का आश्रय करनेवाला कहीं द्रव्य-गुण

नहीं), द्रव्य-गुण का आश्रय करनेवाली तो पर्याय है। वह पर्याय स्वयं मोक्षमार्ग है।— ऐसी पर्यायसहित का आत्मा, वह 'धर्मी का आत्मा' है। विकारवाला आत्मा, वह वास्तव में 'धर्मी का आत्मा' नहीं है।

धर्मी का आत्मा परलक्ष्यी परिणाम में सम्मिलित नहीं होता अर्थात् कि विकार में सम्मिलित नहीं होता, उसमें तन्मय नहीं होता; आत्मा तो स्वलक्षी निर्मल परिणाम में शामिल होता है, उसमें तन्मय होता है। जो अल्प रागादि वर्तते हैं, उनका धर्मी की दृष्टि में अभाव है और उस दृष्टि से जो निर्मल परिणमन हुआ, उसमें भी रागादि का अभाव ही है।

अहो! चैतन्य की ऋद्धि अपार है, उस ऋद्धि की महिमा वाणी में पूरी नहीं आती। ऐसा भगवान आत्मा देह में विराजता है, वह अपने गुण-पर्याय में व्यापकर, अपनी स्वतन्त्र प्रभुता से शोभायमान है। परमेश्वर ने आत्मा की परमेश्वरता बतलायी है, परन्तु यह परमेश्वर स्वयं अपने परमेश्वर की सम्हाल नहीं लेता और पामरता मानकर परिभ्रमण कर रहा है। उसे टालकर परमेश्वर होने की यह बात है।

आत्मा स्वभाव से ऐसा है, परन्तु उसमें वाणी नहीं कि स्वयं अपना स्वरूप बोले। और कोई विरुद्ध माने तो 'तुम मानते हो, ऐसा मैं नहीं'—ऐसा कहीं आत्मा बोले, ऐसा नहीं है और विकल्प भी उसमें कहाँ है? इसलिए वाणी से या विकल्प से दूसरे का समाधान करना रहता नहीं। वाणी और विकल्प, वह तो मैं नहीं, मुझमें तो वाणी और विकल्प का अभाव है; इसलिए 'मैं कुछ बोलकर दूसरे का समाधान करूँ'—ऐसी वृत्ति का उत्थान भी आत्मा के स्वरूप में नहीं है। इस प्रकार वाणी और विकल्प सबसे हटकर स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव को पकड़कर जहाँ वेदन किया, वहाँ उस वेदन में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप से प्रसिद्ध हुआ, उसका वास्तविक स्वरूप अनुभव में आया; उसमें विकल्प का और वाणी का अभाव है। अपने अनन्त गुण की चैतन्य सम्पदा के रस में पड़ा हुआ आत्मा वाणी और विकल्पों से पार है, उसे लक्ष्य में लेना, वह जगत के लिए नवीन है। क्योंकि पूर्व में कभी उसे लक्ष्य में लिया नहीं। ऐसे तो अनन्त केवली भगवन्त—सन्त—सम्यग्दृष्टि ऐसे आत्मा का वेदन कर चुके हैं, वर्तमान

में भी ऐसा वेदन करनेवाले हैं, परन्तु स्वयं ऐसा वेदन करे, तब अपने लिये वह नवीन है। वाणी और विकल्परहित और अनन्त गुण से भरपूर ऐसे स्वक्षेत्र में-स्वकाल में-स्वभाव में और स्वद्रव्य में रहकर सन्तों ने अपने काम किये हैं; अपने ऐसे स्वरूप से आत्मा बाहर निकला ही नहीं, फिर बाहर के काम वह कहाँ से करे? विकल्प और वाणी का अस्तित्व भले हो परन्तु वह चैतन्यवस्तु से बाहर है। चैतन्यवस्तु की वह चीज़ नहीं और चैतन्यवस्तु का वह कार्य नहीं। चैतन्य की विभुता राग में व्याप्त नहीं होती; चैतन्य की विभुता तो निर्मल गुण-पर्याय में व्याप्त होती है। चैतन्य के पिटारे में तो अनन्त गुणरत्नों का भण्डार है, उस भण्डार को खोलने पर उसमें से राग और वाणी नहीं निकलते, उस चैतन्य भण्डार में से तो केवलज्ञान, परम आनन्द, वचनातीत विभुता—ऐसे-ऐसे अनन्त रत्न निकलते हैं। प्रभु! एक बार तेरे पिटारे खोल और निजवैभव को निहार।

अरे जीव! तेरे वैभव को भूलकर तू बाहर में कहाँ मोहित हुआ? तुझमें ही प्रभुता तो भरी है न! तेरी प्रभुता को तूने माना नहीं और किसी से प्रभुता लेने जाने पर तुझे विभाव का भूत लगा। तेरे अनन्त गुण के निधान में तो कहीं परभाव नहीं, उसमें तो परमेश्वरता का निधान है; उसका भान करने पर पर्याय में से परभाव छूटकर आत्मा परमेश्वर होता है। सम्यग्दर्शन होते ही 'मैं प्रभु हूँ और पामर नहीं', ऐसी प्रतीति हुई, पूर्ण कृतकृत्य ही हूँ—ऐसी दृष्टि हुई; अब अल्प काल में ऐसी पूर्णता व्यक्त करके आत्मा साक्षात् परमात्मा होगा। इसी प्रकार प्रभुता की प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन होता है और प्रभुता प्रगट होती है। जिसे प्रभुता नहीं रुचती, उसे प्रभुता कहाँ से प्रगट होगी?

प्रभु! तेरे धर्म का और तेरी प्रभुता का यह मार्ग सूक्ष्म है, परन्तु मार्ग यही है, दूसरा मार्ग नहीं है। तुझमें ही तेरा धर्म समाहित होता है। तुझमें जो हो, उससे तेरा धर्म होगा, और तुझमें जो नहीं, उससे तेरा धर्म नहीं होगा;—ऐसा अनेकान्त प्रकाशित करता है। तेरे स्वभाव में जो भरा है, उसरूप तू हो, अर्थात् कि तू उसरूप परिणम, वह तेरा अस्ति-धर्म और तेरे स्वभाव में जो नहीं, उसरूप (विकाररूप) तू न हो, यह तेरा नास्ति-धर्म;—ऐसा अनेकान्त धर्म तुझमें है। भाई! तेरे अनेकान्तस्वभाव को सन्तों ने प्रसिद्ध करके बतलाया है। तुझमें ऐसा स्वभाव का वैभव है, वह सन्तों ने स्वानुभव से देखा है

और तुझे बताया है। तो तू भी तेरे स्वानुभव से तेरे वैभव को जान। सन्तों ने जो बताया, वह तुझमें विद्यमान ही है; तुझमें जो है, वही सन्तों ने बतलाया है।

तुझमें ऐसी विभुता है कि तेरे अनन्त गुणों में एक साथ तू रहा हुआ है। तेरे गुणों में विकार नहीं व्याप्त हुआ, पर व्याप्त नहीं हुआ, परन्तु शुद्ध ज्ञान-भावरूप तेरा आत्मा ही तेरे सर्व गुण-पर्यायों में व्याप्त है और विकार तथा वाणी में तेरी आत्मा का व्यापकता नहीं है। विभु किसमें बसता है, वह यहाँ बताया है।

इस समयसार की शुरुआत में ही कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने आत्मा में सिद्धपना स्थापित करके मंगल किया था कि 'मैं सिद्ध और तू सिद्ध' मुझमें और तुझमें दोनों में सिद्ध स्थापित करता हूँ; अर्थात् कि सिद्धपद जैसे निर्मल भावों में व्याप्त हो, ऐसा आत्मा है—ऐसा आत्मा मैं इस समयसार में दिखाऊँगा। तेरी ज्ञानपर्याय के आँगन में अनन्त सिद्धप्रभु को पधराता हूँ और विकार को निकाल देता हूँ। अन्तर्मुख हुई ज्ञानपर्याय में इतनी सामर्थ्य है कि विकार को निकालकर अनन्त सिद्धप्रभु को अपने में स्थापित करे। इस रीति से अनन्त सिद्धों को तेरे ज्ञान में आमन्त्रण दे और तू भी ऐसा हो। विकार को तेरे ज्ञान में से निकाल दे और सिद्धपना स्थापित कर अर्थात् कि सिद्ध जैसे स्वभाव से भरपूर तेरा आत्मा, उसे ज्ञान में लेकर पर्याय में तू वैसा हो जा।

वाह, सिद्धपद की टंकार करके अपूर्व शुरुआत की है कि हमारे समयसार का श्रवण करनेवाले श्रोता भी ऐसे होते हैं; वे राग की रुचिवाले नहीं होते। यह तो अनन्त सिद्ध-मेहमानों का सत्कार करके अपने आँगन में पधराते हैं; अनन्त सिद्ध जहाँ पधारे, वह आँगन कितना बड़ा और कितना चुस्त!—इस ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य कितनी कि जो अनन्त सिद्धों को स्वीकार करे! राग में अटकी हुई पर्याय में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती। राग नहीं, विकल्प नहीं, कर्म नहीं, देह नहीं, अपूर्णता नहीं; सिद्ध जैसा पूर्ण सामर्थ्यवाला मैं हूँ—ऐसा स्वीकार कर सिद्ध को अपने में साथ रखकर जो उठा है, वह जीव सिद्धपरिणति को लिये बिना वापिस नहीं मुड़ेगा।

अरे भाई! यह तेरा स्वरूप सन्त तुझे पुकार-पुकार कर बतलाते हैं, उसका एक बार निर्णय तो कर। जंगल में बसनेवाले और स्वरूप का अनुभव करनेवाले दिगम्बर

सन्त, मोर पिच्छी और कमण्डल, वह भी जिन्हें बाह्य है, अन्दर सिद्धस्वरूप को ही अपने में बसाकर ध्या रहे हैं, उनका यह कथन है, परम वीतरागी, परम निर्दोष! हमने तो अन्दर हमारे अनन्तगुण की निर्मलता प्रगट करके उसमें सिद्धप्रभु को विराजमान किया है; राग नहीं, परसंग नहीं, अल्पज्ञता नहीं, हमने तो ज्ञान-आनन्द से पूरा ऐसे सिद्ध को हमारे आत्मा में स्थापित करके सिद्धप्रभु की पंक्ति में बैठे.... अब सिद्ध होने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग रहा नहीं। हम विकाररूप होनेवाले नहीं, हम तो सिद्ध होनेवाले हैं।

अहो! हमने अनन्त सिद्धों को मेरे और तुम्हारे आत्मा में स्थापित किये; हे जीव! हमारे पास तू 'शुद्ध आत्मा' सुनने आया है, इसलिए तू सत् का इतना तो बहुमान लेकर आया है कि तुझे सिद्धपना रुचेगा और विकार नहीं रुचेगा।—तो हम तुझे तेरा सिद्धपना सुनाते हैं और तेरा शुद्ध आत्मा दिखलाते हैं; उसे सुनकर तू तेरे आत्मा में सिद्धपना स्थापित कर। तू श्रोता होकर आया, इसका अर्थ यह हुआ कि हम जो कहते हैं, वह तुझे जानना है—मानना है और आदरना है। हमारी बात तुझे रुचि, इसलिए तू सुनने आया। अब हम समस्त निजवैभव से तुझे तेरे आत्मा का वैभव बतलाते हैं। अनन्त सिद्धों को तेरी पर्याय में समाहित कर दे, अर्थात् कि श्रद्धा-ज्ञान में लेकर तू भी सिद्ध हो—ऐसी तेरे आत्मवैभव की सामर्थ्य है। उसके सामने देखकर ऐसे तेरे सामर्थ्य की हाँ कर, तेरा श्रद्धा-ज्ञानरूपी आँगन स्वच्छ करके उसमें सिद्धप्रभु को पधरा। पश्चात् हम तुझे यह समयसार सुनाते हैं। तेरी प्रभुता की हाँ करके समयसार सुन! इसलिए अवश्य तुझे भी हमारे जैसा स्वानुभव होगा, और वक्ता के तथा श्रोता के भाव की सन्धि होगी।

जिस आँगन में प्रभु को पधराना (-अनुभव में लेना) हो, वह आँगन कितना साफ चाहिए! विकार की रुचि द्वारा जिसका आँगन मलिन है, उस मलिन आँगन में प्रभु पधारते नहीं—अनुभव में आते नहीं। एक अच्छा राजा घर में आवे तो भी उसका कितना आदर करते हैं और आँगन स्वच्छ करके कैसा शृंगार करते हैं! तो हे भाई! जगत के महाराजा ऐसे सिद्धप्रभु को तेरे आत्मा में पधराने के लिये तेरी पर्याय के आँगन को निर्मल श्रद्धा-ज्ञान द्वारा तू शृंगारित कर! हकार के जोरपूर्वक जो सुनने आया, उसकी

पर्याय, राग से विमुख होकर अन्तर सन्मुख झुकने लगी, संसार से विमुख होकर सिद्धपद की ओर जाने लगी। अनन्त सिद्धों को और सर्वज्ञपद को मेरे ज्ञान में—श्रद्धा में—अनुभव में समाहित कर दूँ, ऐसी मेरी सामर्थ्य है—इस प्रकार स्वभाव के भरोसे हाँ करके उस स्वभाव को सुनता है; इसलिए उसके श्रवण में और उसके भाव में अपूर्वता है।

देखो, यह प्रभुता! प्रभु अपने अनन्त गुणों में व्यापक विभु है। उसकी विभुता का यह विस्तार होता है। विभुता में ज्ञान है, विभुता में विकल्प नहीं। विकल्प में और वाणी में ज्ञान नहीं, ज्ञान में विकल्प और वाणी नहीं। ज्ञान सर्व को जानने की सामर्थ्यवाला है, इस अपेक्षा से आत्मा को सर्वव्यापक भले कहा जाये, परन्तु वास्तव में तो वह स्व-व्यापक है। राग में वह व्यापता नहीं, वहाँ पर में व्यापक होने की तो बात ही कैसी?

स्त्री या बालक, वृद्ध या जवान, मनुष्य या देव, वे तो सब ऊपर के खोखा हैं। उससे भिन्न अन्दर सब आत्मायें एक जाति के हैं। सभी आत्मायें अपने-अपने अनन्त गुण के वैभव से भरपूर हैं। आत्मा कहाँ स्त्री आदि है? वह तो चैतन्यगुण का भण्डार है। अहो! ऐसा स्वरूप लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान की कितनी गम्भीरता! ऐसी गम्भीरता में अनन्त सर्वज्ञ-वीतराग को स्थापित किया है। भाई! तू दूसरे विचार न कर... सिद्ध जैसी तेरी सामर्थ्य है, उसमें शंका न कर। दूसरा विकल्प बीच में न ला।

भगवान कुन्दकुन्दस्वामी जिन्होंने विदेह की यात्रा करके सीमन्धर परमात्मा से साक्षात् भेंट की, वे स्वानुभव के जोर से परम सत्य को प्रसिद्ध करते हुए फरमाते हैं कि आत्मा के निज वैभव में सिद्धपना है, वह हमने भगवान के निकट सुना है, परम गुरुओं ने कृपापूर्वक हमें बताया है और हमारे स्वानुभव से हमने देखा है, वह हम तुझे इस समयसार में दिखलाते हैं। अहो! इसमें तो बहुत गम्भीरता है, जिस पर्याय में रागरहित अनन्त सर्वज्ञ-सिद्धों का स्वीकार हुआ, उस पर्याय की सामर्थ्य कितनी? वह पर्याय क्या राग में खड़ी रहेगी?—नहीं; वह पर्याय तो स्वभावसन्मुख होकर अनन्त आनन्द प्रगट करेगी। अनन्त ज्ञान की सामर्थ्य प्रगट करेगी, अनन्त वीर्य द्वारा प्रभुता प्रगटायेगी, रागरहित अतीन्द्रिय चैतन्य जीवन प्रगटायेगी। वाह रे वाह! यह तो प्रभुता की प्राप्ति का अवसर आया।

अरे जीव! ऐसी प्रभुता के प्रसंग में पामरता को याद नहीं करना; सिद्ध के साथ गोष्ठी करके... अब संसार को भूल जाना; आत्मा में सिद्ध को स्थापित किया—अब सिद्ध होने में क्या देर! थोड़ा काल बीच में है परन्तु सिद्धपने के प्रस्थान के जोर से (प्रतीति के जोर से) साधक उस अन्तर को तोड़ डालता है, और मानो अभी ही मैं सिद्ध हूँ, ऐसे शुद्ध दृष्टि से देखता है। सिद्ध का प्रस्थान किया है, वहीं रुचि में से राग भाग गया। अरे! आठ वर्ष के बालक भी जाग उठें और अन्तर में अपने ऐसे निजवैभव को देखते हैं कि 'ऐसा मैं!' सिद्ध जैसे अनन्त गुण के सामर्थ्यरूप से वह अपने को देखता है और निर्विकल्प ध्यान द्वारा अनुभव करता है। हम देह में और राग में रहनेवाले नहीं, हम तो एक समय में निर्मल गुण-पर्यायोंरूप जो अनन्त भाव, उनमें रहनेवाले हैं। हमारा वास हमारे अनन्त गुण-पर्याय में है; 'अनन्त धाम' में बसनेवाला विभु—हमारा आत्मा है। अहा! अपने अन्तर में ही ऐसा विभु बस रहा है परन्तु नजर के आलस्य से जीव उसे नहीं देखते।

बुद्धि को अन्तर में झुकाये, तब तो स्वयं अपने में नजर करना सरल है, परन्तु कभी ऐसी नजर नहीं की और महँगी मानकर परभाव में अटक रहा है। परभाव सुगम और निजभाव कठिन—ऐसी विपरीत बुद्धि के कारण जीव स्व-वैभव को देख नहीं सकता।—इस विपरीतता की मर्यादा कितनी? एक समय जितनी; और वह भी कहीं स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हो गयी। यदि दृढ़ता से उठे कि मुझे मेरे आत्मा को देखना ही है और स्व-वैभव को साधना ही है, तो परभाव की रुचि तोड़कर स्वभाव को अनुभव करने में देरी न लगे। अहा! आत्मस्वभाव के वैभव का विस्तार कितना?—कि एक साथ अनन्त गुणों में और उन सबकी निर्मलपर्यायों में फैल जाये, इतना उसका विस्तार है। परन्तु वह बाहर जाकर विकार में फैलता नहीं। चैतन्यगुण के फैलाव में विकार का अभाव है।

अरे, चक्रवर्ती के आँगन में जाकर उससे कोयले नहीं माँगे जाते; उससे तो हीरे माँगे जाते हैं; उसी प्रकार इस चैतन्यचक्रवर्ती के आँगन में निकट भव्य होकर आया तो उससे राग नहीं माँगा जाता, उससे तो केवलज्ञानादि अनन्त गुणरत्न माँगे जाते हैं। अहो!

चैतन्य के वैभव की क्या बात! क्षेत्र भले मध्यम—मर्यादित, परन्तु उसके भाव की सामर्थ्य अचिन्त्य और अमर्यादित है। एक समय में अनन्त गुणों का जो अपार वैभव प्रगट हुआ, उसमें सर्वव्यापक होकर परिणमता है—ऐसी आत्मा की विभुता है। सम्यग्दर्शन होने पर ऐसा 'विभु' दिखता है, साक्षात् परमात्मा होने की छटपटाहट जागृत होती है अर्थात् कि परिणति का प्रवाह उस ओर बहता है। (-स्वरूप की ओर दौड़े परिणति)।

जैसे चार हाथ के छोटे कमरे (ऑफिस) में भी करोड़ों-अरबों का व्यापार चलता हो, उसी प्रकार परमात्मा की पेढ़ी (ऑफिस) भले छोटा असंख्यातप्रदेशी जितना, परन्तु उसमें अनन्त गुणों की निर्मलता का बड़ा व्यापार चल रहा है। सर्वज्ञदेव ने शास्त्रों में जो कहा है, उसके शब्द भले थोड़े, परन्तु उसमें आत्मा के अचिन्त्य वैभव के जो अनन्त गम्भीर भाव भरे हैं, उन्हें सम्यग्दृष्टि ही जानता है। इस प्रकार अपनी विभुता को जानता हुआ वह निर्मल भावों में व्यापकर साक्षात् विभुता प्रगट करता है।

इस प्रकार विभुत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

हे भद्र! कुन्दकुन्दस्वामी जैसे सन्त तुझे तेरा सिद्धत्व बतलाते हैं, तो तू उल्लास से उसकी हाँ कर और मैं सिद्ध हूँ—ऐसे तेरे शुद्धात्मा को चिन्तवन में ले।

[९]

सर्वदर्शित्वशक्ति

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयीसर्वदर्शित्वशक्तिः।

समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से (अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति।९।

हे जीव! तेरा वैभव सन्त तुझे अभी दिखला रहे हैं तो उसका परम उल्लास प्रगट करके तू अन्तर में देख। तीन लोक का वैभव जिसके पास एकदम नीरस लगे, ऐसे तेरे अद्भुत वैभव को देखने से तुझे कोई परम आनन्द होगा। इस चैतन्य सम्पदा के समक्ष अन्य सम्पदा को असार समझकर चक्रवर्ती भी क्षण में राज छोड़कर आत्मवैभव साधने के लिये चल निकले.... छोटी उम्र के राजपुत्र भी, माता को भी पूछे बिना आत्मसम्पदा साधने के लिये चले गये। ऐसी आत्मसम्पदा का यह वर्णन है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनन्त शक्तियों में एक 'सर्वदर्शित्व' शक्ति है। आत्मा के स्वभाव में कैसी शक्तियाँ हैं, कैसे धर्म हैं, उसे पहिचाने तो आत्मा का अनुभव हो। क्षेत्र से आत्मा भले छोटा, लोक के एक छोटे भाग में रहा हुआ है, परन्तु उसका स्वभाव कहीं छोटा नहीं है; उसका स्वभाव तो अनन्त लोकालोक को जानने-देखने का है। लोक के असंख्यातवें भाग में रहा हुआ (-केवलीसमुद्घात के समय सर्व लोक में फैलता है, इसके अतिरिक्त लोक के असंख्यातवें भाग में रहा हुआ) यह आत्मा अपने असंख्यप्रदेशों में अनन्त शक्तियों से भरपूर है और एक-एक शक्ति में अनन्त अचिन्त्य अपार सामर्थ्य है। ऐसा आत्मा लक्ष्य में आने पर उसका माहात्म्य आता है और संयोगी चीज़ का और विकार का माहात्म्य टल जाता है; निजमहिमा द्वारा स्वभावसन्मुख होने पर उसका अनुभव होता है, आनन्द आता है और निर्मलता प्रगट होती है, इसका नाम धर्म है और यह मुक्ति का पंथ है।

तीसरी 'दृशिशक्ति' में दर्शन गुण वर्णन किया, उसमें यद्यपि सर्वदर्शीपना गर्भित है, दर्शन और सर्वदर्शित्व यह दोनों कहीं अलग-अलग पर्यायें नहीं हैं; परन्तु दर्शनगुण का सर्वदर्शीरूप सामर्थ्य पर्याय में परिपूर्ण खिल गया, वह इस सर्वदर्शित्व में बतलाया है, सर्वदर्शित्व कैसा है ? कि आत्मदर्शनमय है, अर्थात् कि आत्मा अपने को देखते हुए पूरे विश्व को देख लेता है, विश्व को देखने के लिये विश्व की ओर उपयोग जोड़ना नहीं पड़ता। अन्तर में सर्व को देखने के स्वभावरूप आत्मा परिणमित हुआ, वह आत्मा के दर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है। इसलिए उपयोग बाहर में लगाना नहीं पड़ता।

सर्वदर्शित्व यह दृश्यमान पदार्थमय नहीं, रागमय नहीं, परन्तु आत्मदर्शनमय है; अर्थात् ऐसे सर्वदर्शीस्वभाव को प्रतीति में लेनेवाला साधक जानता है कि मेरी दर्शनपरिणति भी दृश्यमान परद्रव्य के आश्रय से नहीं, राग के आश्रय से नहीं, परन्तु आत्मा के आश्रय से है—ऐसी शक्ति के निर्मल कार्य को पहिचानने से भेदज्ञान होता है। द्रव्य-गुण में रहा हुआ दर्शन सामर्थ्य जब पूरा खिल जाता है, तब समस्त विश्व को सामान्यरूप से देखनेरूप आत्मा परिणम जाता है।—ऐसे आत्मा के दर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है। साधक को भले अभी ऐसा सर्वदर्शित्व प्रगट न हुआ हो परन्तु उसकी प्रतीति में तो आ ही गया है, इसलिए 'श्रद्धारूप से केवलदर्शन हुआ है।'

केवलदर्शन अर्थात् सर्वदर्शीपना प्रगट होने की सामर्थ्य जिसमें भरी है, ऐसा धर्म अभी ही मुझमें वर्त रहा है (—'मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है'), ऐसी धर्मात्मा को प्रतीति हो गयी है, और उस प्रतीति के फल में ऐसा सर्वदर्शीपना प्रगट होगा—ऐसा वे जानते हैं। विश्व अर्थात् लोग और अलोक समस्त, उसकी सत्ता को एकसाथ अवलोकन करने की आत्मा की सामर्थ्य है। समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय के समूहरूप सत् को दर्शन एकसाथ देखता है। आँख के अवलोकन बिना, राग के आश्रय बिना एक समय में ऐसा कार्य करने की (-सर्व को देखने की) आत्मा की सामर्थ्य का भरोसा कब आवे? कि ज्ञायकभावमात्र आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमे तब।

अनन्त गुण के वैभव से अभिन्न और विकार से भिन्न ऐसा आत्मा है। भाई! तेरे आत्म-खजाने में कैसा वैभव है, उसे खोलकर सन्त तुझे दिखलाते हैं। ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए श्री पद्मनन्दि मुनिराज कहते हैं कि अहो देव! केवलज्ञान प्राप्त करके दिव्यध्वनि द्वारा आपने जो चैतन्यसम्पदा बतलायी है और मोक्ष के निधान खोल दिये हैं, तो उस चैतन्यसम्पदा के समक्ष इस राजसम्पदा को तुच्छ तृणवत् समझकर कौन नहीं छोड़ेगा? यह राजसम्पदा छोड़कर चैतन्यसम्पदा लेने के लिये कौन नहीं आयेगा? भरत चक्रवर्ती जैसे राजा भी चक्रवर्ती पद को क्षण में छोड़कर, प्रभो! आपने बताई हुई चैतन्यसम्पदा को लेने के लिये चल निकले। अरे! छोटी-छोटी उम्र के राजपुत्र भी उस चैतन्यसम्पत्ति को साधने के लिये, माता से भी पूछे बिना चले गये। 'अहो! ऐसा अचिन्त्य मेरा आत्मवैभव!' ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, वहाँ जगत के वैभव की महत्ता उड़ गयी। अरे जीव! ऐसा तेरा वैभव सन्त तुझे अभी दिखला रहे हैं, तो उसका परम उल्लास प्रगट करके तू अन्तर में देख।—तीन लोक का वैभव जिसके समक्ष अत्यन्त नीरस लगे, ऐसे अद्भुत वैभव को देखने से तुझे कोई परम आनन्द होगा।

यह जो कुछ कहा जा रहा है, वह सब तुझमें भरा है, तेरा ही स्वरूप तुझे बतलाया जा रहा है; इसलिए नहीं समझ में आता, ऐसा कुछ नहीं है। इसलिए नहीं समझ में आता—यह बात मन में से निकाल दे और सब ही समझने की मुझमें सामर्थ्य है, ऐसी स्वशक्ति का विश्वास लाकर ऐसे आत्मवैभव को लक्ष्य में ले। यह समझे सिवाय दूसरे किसी उपाय से उद्धार नहीं है, अन्यत्र कहीं शान्ति नहीं है।

अपूर्णता रहे या विकार में अटके, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं, परन्तु राग को तोड़कर पूर्णरूप से परिणमे, ऐसा मेरा स्वरूप है। एक दर्शन के पूर्ण परिणमन के साथ आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों का परिणमन भी इकट्ठा ही है।

एक-एक शक्ति के वर्णन में आचार्यदेव ने विशिष्टता की है। यहाँ सर्वदर्शित्वशक्ति 'लोकालोक को देखनेमयी' ऐसा नहीं कहा परन्तु 'लोकालोक को देखनेवाले ऐसे आत्मा को देखनेमयी' ऐसा कहा, अर्थात् 'आत्मदर्शनमयी' ऐसा कहकर निश्चय की बात ली, और साथ-साथ लोकालोक को देखने का उसका सामर्थ्य है, यह भी बतला दिया। लोकालोक को देखता होने पर भी वह दर्शन आत्मदर्शनमय है; आत्मा स्वयं ऐसे दर्शनसामर्थ्यरूप से परिणमा है; वह कहीं परसन्मुख होकर परिणमता नहीं परन्तु आत्मदर्शन की स्वच्छता में ही ऐसा सामर्थ्य है कि लोकालोक उसमें दिख जाता है।

आत्मा पर को देखते-जानते हुए तन्मय हुए बिना देखता-जानता है, इसलिए उसे व्यवहार कहा; और आत्मा स्व को देखते-जानते हुए तन्मय होकर देखता-जानता है, इसलिए उसे निश्चय कहा—यह एक अलग विवक्षा है, परन्तु स्व-पर को देखने-जानने की आत्मा की सामर्थ्य है, वह तो उसका निश्चय स्वभाव है। स्वयं अपने में तन्मय होकर देखता है और पर को तन्मय हुए बिना देखता है। सर्वदर्शीपने को 'आत्मदर्शनमय' कहकर स्वाश्रय बतलाया है। लोकालोक को देखने में कहीं पराश्रय नहीं। ऐसा सर्वदर्शी स्वभावी आत्मा जहाँ दृष्टि में आया, वहाँ प्रतीति हुई कि सम्पूर्ण देखनेरूप परिणमूँ ऐसा मैं; रागादि में अटकूं या इन्द्रियों द्वारा देखूँ, ऐसा मैं नहीं।—ऐसी पूर्णता की प्रतीतिपूर्वक साधक होकर सर्वदर्शिता की ओर का उसका परिणमन चला। उसे पूर्णतारूप निश्चय का आदर और बीच में विकाररूप व्यवहार रहा, उसका निषेध वर्तता है।

आत्मा का दर्शनसामर्थ्य ऐसा है कि स्वयं अपने में रहकर देखता है। परचीज़ का दर्शन अपने में हुआ परन्तु उसके लक्षण अपने में नहीं आये; यदि पर को देखने से पर का लक्षण भी अपने में आ जाये, तब तो जड़ को जानने से आत्मा स्वयं जड़ हो जाये। परन्तु, जैसे बर्फ अथवा अग्नि को देखने से आँख शीतल या उष्ण नहीं होती, मलिन

वस्तु को जानने से आँख मैली नहीं होती, उसी प्रकार पर को जानने-देखने से या रागादि को जानने-देखने से आत्मा की चेतना पररूप या रागरूप नहीं हो जाती; स्वयं अपने स्वरूप से रहकर जानती-देखती है, ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है।

अरे! तेरे स्वभाव के सामर्थ्य को तो तू देख! विकल्प बिना, पर के सन्मुख देखे बिना, लोकालोक को देख ले, ऐसी तेरे आत्मा की सामर्थ्य है। ऐसा सर्वदर्शित्व, वह साध्य है, साधकदशा में वह प्रगट नहीं होता, परन्तु उसकी प्रतीति होती है। यह भगवान चैतन्य महाराजा, उसे दृष्टि में लेने से ऐसा सब वैभव प्रतीति में आ जाता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा स्वानुभव से ऐसा जानता है कि मैं ज्ञायक-चिदानन्द अनन्तशक्ति का पिण्ड वीतरागस्वभाव हूँ और पर्याय में भी ऐसे ही भाव का परिणमन हो, वह मेरा स्वरूप है; जो रागादि परभाव वर्तते हैं, वे पृथक्रूप से वर्तते हैं, मेरे स्वरूपरूप से नहीं। द्रव्यस्वभाव में या अनन्त शक्तियों में से एक भी शक्ति में वह राग है ही नहीं और पर्याय में जो राग है, वह भी ज्ञानभाव के परिणमन से पृथक्रूप से वर्तता है, ज्ञानभाव के साथ एकरूप नहीं वर्तता। ऐसे भेदज्ञान द्वारा स्वभाव का आदर और परभाव का निषेध होने से राग का परिणमन टूटता जाता है और स्वभाव का परिणमन खिलता जाता है। धर्मी जानता है कि राग में अटकने का मेरा स्वभाव नहीं, राग का प्रवाह मेरे स्वभाव में से नहीं आता; मेरे स्वभाव में से तो सर्वदर्शिता के, सर्वज्ञता के आनन्द के और वीतरागता के निर्मल प्रवाह आते हैं।—उस प्रवाह में कहीं दु:ख नहीं है, आकुलता नहीं है, अज्ञान नहीं है।

अनादि अज्ञान से जीव जो दु:ख भोगता है, उसका अभाव हो और सादि-अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो—ऐसी बात है। एक बार ऐसे स्वभाव को दृष्टि में तो ले, भाई! तो तुझे ख्याल आयेगा कि मेरा यह स्वभाव रागरूप कभी परिणमता नहीं। राग के ज्ञानरूप भले परिणमे, परन्तु रागरूप स्वयं परिणमता नहीं। अहा! भेदज्ञानी ने राग और ज्ञान को भिन्न अनुभव किया है। अपना चिदानन्दस्वभाव जिसकी दृष्टि में आया है, वह जीव आराधना से कभी विमुख नहीं होता; उसे प्रतीति है कि अब मैं रागादि में तन्मय कभी होनेवाला नहीं। मेरे स्वभाव में तन्मय रहकर सर्वदर्शित्वरूप से परिणमित होऊँगा और वह कहीं पर को देखने के लिये नहीं परिणमता परन्तु परलक्ष्य के बिना दर्शन के परिणमन में ही ऐसी शक्ति खिल जाती है कि सब उसमें दिखता है।

आत्मा के स्वघर में निजशक्ति का जो वैभव है, उसकी यह बात है। आत्मा की एक-एक शक्ति ऐसी अचिन्त्य सामर्थ्यवाली देवी है कि उसे मानने से मोक्ष मिलता है। मोरबी के पास शनाळा गाँव में शक्तिमाता का मन्दिर है, परन्तु सच्ची शक्तिमाता तो इस आत्मा के चैतन्य मन्दिर में विराजती है, कि जिसकी उपासना करने से सुख मिलता है। आत्मा को संयोग बिना चले, राग बिना चले परन्तु ऐसी निजशक्ति के बिना नहीं चलता। अज्ञानी स्वशक्ति को भूलकर ऐसा मानता है कि मुझे पर के बिना नहीं चलता और राग बिना—पुण्य बिना नहीं चलता। अरे भाई! इस तेरी शक्ति के वैभव को तो देख! इसमें कहीं दूसरे किसी की आवश्यकता है? अहो, यह एक-एक शक्ति वह तो परमेश्वर की शक्ति! उसके सामर्थ्य की क्या बात! चैतन्यशक्ति के ऐसे अखूट भण्डार, उसमें फिर दूसरे की दासता कैसी? उसे तो पर के बिना ही सदा चल रहा है, पर की तो उसमें नास्ति है; पर की नास्ति से ही आत्मा टिका हुआ है। यदि आत्मा में पर की (शरीर की और संयोग की) नास्ति न हो तो आत्मा उस पररूप हो जाये अर्थात् निजस्वरूप से टिक नहीं सके। पर बिना ही सदा रहा है परन्तु मैं मेरे स्वरूप से टिका हुआ हूँ—ऐसा जीव ने कभी जाना नहीं था। उसे ज्ञानी ने समझाया कि भाई! तू पर से तो खाली है और तेरी अनन्त शक्ति से भरपूर है, तेरा टिकना तेरी शक्ति के वैभव से है, पर से या विकार से नहीं। इसलिए पर के बिना मुझे नहीं चलता—ऐसी उल्टी मान्यता छोड़ और तेरे साध्य को जान। स्वसामर्थ्य की प्रतीति करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन और साधकदशा प्रगट होती है; वह साधकदशा साध्य की प्रतीति इकट्ठी लेती आती है। जहाँ साध्य को पकड़ा, वहाँ अब बीच में दूसरे किसी बाधकभाव में वह जीव अटकता नहीं, वह स्वसाध्य में एकाग्र होकर सर्वदर्शी होता है।

अहो! आचार्यदेव की यह वाणी निकली, उसमें कोई अलौकिक रहस्य भरे हैं। आत्मशक्ति के अपार वैभव को दिखलानेवाली यह वाणी पंचम काल में हजारों वर्षों तक रहेगी। पंचम काल के अन्त में जो मुनि-आर्यिका-श्रावक और श्राविका ये चार धर्मात्मा रहेंगे, वे भी अपने ऐसे आत्मवैभव को जाननेवाले होंगे। सम्यग्दर्शन बिना तो साधकपना होता नहीं। सर्वदर्शीपना प्रगट होता है, वह अन्दर साध्य पड़ा है, उसमें से आता है, बाहर से नहीं आता। पर के सन्मुख देख-देखकर सर्व को देखना चाहे तो

कभी देख नहीं सकता; देखनेवाला स्वयं को देखता है और अपने को देखने से वह निजसामर्थ्य द्वारा सर्वदर्शी होता है। लोकालोक को देखने पर भी वह अपने असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र की सीमा को नहीं छोड़ता और देखने में उसे दो समय नहीं लगते, एक-एक समय में सर्वदर्शीपने का पूरा सामर्थ्य परिणम रहा है। उसमें रागादि कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा।—ऐसा सर्वदर्शीपने का सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में है।

विश्वलोक में अनन्त जड़-चेतन द्रव्य एक साथ रहे होने पर भी एक-दूसरे को कोई स्पर्शते नहीं, अर्थात् अपना स्वरूप छोड़कर अन्यरूप नहीं हो जाते, अपने-अपने अनन्त धर्म में ही रहते हैं। आत्मा पर को स्पर्शता नहीं और परद्रव्य आत्मा को स्पर्शते नहीं। शरीर-वचन इत्यादि पुद्गल की किसी क्रिया को आत्मा कभी स्पर्शता भी नहीं तो उसे करने की बात कहाँ रही? पर को स्पर्शे बिना उसके दर्शन का उपयोग आत्मा में है। छद्मस्थ को भी पर को स्पर्शे बिना अपने योग्य दर्शन (चक्षुदर्शनादि) परिणमता है। अहा! अनन्त धर्मों का चक्र एकसाथ आत्मा में चल रहा है। प्रभु! तेरी महत्ता की और तेरे वैभव की तुझे खबर नहीं। जैसे कोई मनुष्य अपने को गरीब समझकर जहाँ-तहाँ भ्रमता था, वहाँ उसके किसी हितैषी ने कहा कि तू वास्तव में गरीब नहीं है, तू तो अमुक राजा का राजपुत्र है और तेरे घर में तो करोड़ों स्वर्णमोहरें भरी हैं—ऐसा कहकर उसे उसका सब वैभव दिखलाता है, तब उसे देखकर वह कैसा प्रसन्न होता है! उसी प्रकार निजवैभव को भूला हुआ अज्ञानी अपने को रागी-संयोगी दीन-हीन मानकर संसार में जहाँ-तहाँ भ्रम रहा है; वहाँ परम हितैषी कोई ज्ञानी उसे कहते हैं कि अरे जीव! तू रागी और पराधीन नहीं है; तू तो 'राजपुत्र' अर्थात् सिद्धों का और अरिहन्तों का उत्तराधिकारी है। सिद्ध जैसी अनन्त शक्तियों का अचिन्त्य वैभव तेरे पास भरा है।—इस प्रकार सन्तों ने निजवैभव दिखलाया, उसे अपने में देखकर जीव को परम आनन्द होता है। स्वयं अपने को सिद्ध जैसा जानता है—'**सिद्ध समान सदा पद मेरो**' अभी तक मेरी प्रभुता को भूलकर मैं दीनरूप से संसार में भटका, परन्तु अब प्रभुता का भान हुआ, इसलिए अब सिद्ध होकर ही रहेगा। यह पराश्रित राग-आकुलता और अल्पज्ञता मैं नहीं हूँ, मैं तो सर्वज्ञपद के वैभव से भरपूर हूँ—ऐसे निजवैभव की महिमा आने पर उस ओर का परिणमन भी खिलता है।

अनन्त शक्ति के निधान खोलकर सन्त बतलाते हैं कि राग और संयोग तेरी पूँजी नहीं; तेरी पूँजी में तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द के अनन्त निधान भरे हैं। पर को अपने साथ एकमेक तन्मय करना चाहे, वह तीन काल में नहीं हो सकता; और अपनी अनन्त शक्ति के साथ जो त्रिकाली एकता है, वह कभी नहीं टूटती।—ऐसी स्वशक्ति को प्रतीति में लेने पर उसके कार्यरूप सर्वज्ञता—सर्वदर्शिता इत्यादि प्रगट होने की प्रतीति भी साथ ही आ जायेगी। कारण को प्रतीति में लेने से कार्य की प्रतीति साथ में न आवे, ऐसा नहीं होता; शुद्ध द्रव्य को प्रतीति में लेने से शुद्धपर्यायरूप कार्य भी होगा ही। इस प्रकार स्वशक्ति को प्रतीति में लेकर जहाँ साधक हुआ, वहाँ पूर्ण साध्य की निःशंकता हुई कि अब इस शक्ति की सन्मुखता द्वारा पूर्ण ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप परिणमन होगा।—उसे अब विभाव का आदर नहीं रहा और स्वभावसन्मुख ही गति रही। ऐसी साधकदशा प्रगट हुई, वह जीव अल्प काल में सर्वदर्शीपने को साधता है।

सर्वदर्शित्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

आराधना का उत्साह

सम्यक्त्वादि की आराधना की भावना भाना,
आराधना के प्रति उत्साह बढ़ाना,
आराधक जीवों के प्रति बहुमान से वर्तना।
इत्यादि सर्व प्रकार के उद्यम द्वारा आत्मा को आराधना में जोड़ना।
आराधना को प्राप्त धर्मात्माओं का दर्शन और सत्संग
आराधना के प्रति उत्साह जगाता है।

[१०]

सर्वज्ञत्वशक्ति

विश्वविश्वविशेषभावपरिण–तात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।

समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।१०।

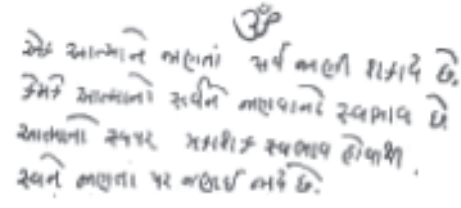

ॐ

एक आत्मा को जानने से सर्व जाना जा सकता है, क्योंकि आत्मा का सर्व को जानने का स्वभाव है। आत्मा का स्व–पर प्रकाशक स्वभाव होने से स्व को जानते हुए पर ज्ञात हो जाता है।

सर्वज्ञत्व के सामर्थ्य से आत्मा भरपूर है। प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञता शक्तिरूप से भरी हुई है। उसका भान होने पर पर्याय में वह प्रगट होती है। ज्ञानस्वभावी आत्मा में यदि सर्वज्ञशक्ति न हो तो उसकी अखण्डता और पूर्णता साबित नहीं होती। 'जीव एक अखण्ड सम्पूर्ण द्रव्य होने से उसका ज्ञानसामर्थ्य सम्पूर्ण है; सम्पूर्ण वीतराग हो, वह सर्वज्ञ होता है।'—श्रीमद् राजचन्द्रजी ने इन दो वाक्यों में सर्वज्ञस्वभाव का रहस्य भर दिया है। और उस सर्वज्ञता का साधन राग नहीं, परन्तु वीतरागता उसका साधन है, यह भी बताया है। जो राग को ज्ञान का साधन मानता है, उसे आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव की खबर नहीं।

सर्वज्ञता, वह धर्म का मूल है; सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति पर तो धर्म का आधार है। 'सर्वज्ञ' कहने से राग और पराश्रय सब एक ओर उड़ जाता है, क्योंकि जहाँ राग और पराश्रय हो, वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती। इसलिए राग के ऊपर अथवा पराश्रय के ऊपर दृष्टि रखकर सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है कि तुझे सर्वज्ञ की परमार्थस्तुति करनी हो तो तेरे ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख हो।

ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा की प्रतीति करने से पर्याय में आनन्द का अनुभव होता है, और स्वाश्रय से वीतरागता होने पर सम्पूर्ण सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है। उस सर्वज्ञता के सामर्थ्य द्वारा आत्मा अपने स्वभावोन्मुख रहकर समस्त विश्व को विशेषरूप से जानता है। एक भी दिशा में जिसका अन्त नहीं, ऐसा अनन्त अलोक—कि जिसके बीच असंख्य योजन का और अनन्त जीव-पुद्गलों से भरपूर यह लोक तो अनन्तवें भाग का, एक परमाणुतुल्य है—उसे भी वह सम्पूर्णरूप से जान लेता है। अलोक का छोर भगवान नहीं जानते (-क्योंकि छोर है ही नहीं), परन्तु अलोक जैसा है, वैसा उसे भगवान बराबर जानते हैं। 'अलोक का छोर जाने तो ही अलोक का ज्ञान हुआ कहलाये'—ऐसा कुछ नहीं है। अपितु अलोक का भी छोर है, ऐसा जो माने, उसका ज्ञान खोटा है। जो छोर बिना का अनन्त है, उसे छोर बिना के अनन्तरूप से ही भगवान जानते हैं।—उसमें ज्ञान की कोई अचिंत्य गम्भीरता है। अपने असंख्यप्रदेश में रहकर ही अनन्त प्रदेशी अलोक को जान लेने की ज्ञान की दिव्य सामर्थ्य है। ऐसे ज्ञान की जिसे महिमा आवे, उसे राग की महिमा नहीं रहती, अल्प उघाड़ का अभिमान नहीं

होता; अरे! कहाँ महान सर्वज्ञता और कहाँ मेरा यह अल्पज्ञान!—यह तो सर्वज्ञा के अनन्तवें भाग का है और राग तो मेरी सर्वज्ञता को रोकनेवाला है, इसलिए ज्ञान की और राग की जाति एक नहीं, परन्तु अलग है। इसलिए ज्ञानसन्मुख होकर राग का सम्पूर्ण अभाव हो तो ही सर्वज्ञता खिले।—इस प्रकार धर्मी को ज्ञान का आदर और राग का निषेध वर्तता है।

शुरुआत में (चौथी) ज्ञानशक्ति का वर्णन किया, उस ज्ञानशक्ति के अन्तर्भेद में यद्यपि सर्वज्ञता समाहित हो जाती है, तथापि सर्वज्ञता का खास पृथक् वर्णन करके ज्ञानशक्ति का पूरा कार्य और उसका महान सामर्थ्य बतलाया है, सामान्यरूप से ज्ञान-ज्ञान करे परन्तु यदि सर्वज्ञशक्ति को इस प्रकार से न माने तो उसने ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहिचाना नहीं।

पर के सम्बन्धरहित आत्मा पर के कार्य कैसे करे? और परसन्मुख की वृत्ति (शुभ और अशुभ) उसके स्वरूप में कैसे हो? भगवान जिनदेव ने तो सर्वज्ञशक्तिवाला आत्मा देखा है। जो 'सदा उपयोगस्वरूप' है, ऐसा आत्मा राग का कर्ता कैसे हो? और अजीव के साथ एकमेक कैसे हो? अहो! यह शक्तियाँ बतलाकर आत्मा का अजीव से और राग से अत्यन्त भिन्नपना बतलाया है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा की प्रतीति करके उसमें लीन होने से राग की वृत्ति का उत्थान भी नहीं रहता। आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति समस्त विकल्पों से पार है। सर्वज्ञपद में पर का तो अभाव और विकल्प का भी अभाव है। ऐसे सर्वज्ञपद की जिसने प्रतीति की, वह जीव सर्वज्ञ के धर्म में आया। इसलिए कहते हैं कि हे जीव!—

सर्वज्ञ नो धर्म सुशर्ण जानी,
आराध! आराध! प्रभाव आणी;
अनाथ एकान्त सनाथ थाशे,
ऐना बिना कोई न बांह्य स्हाशे।

सर्वज्ञ का धर्म कहो या आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव कहो; भाई! तुझे शरण तो तेरा सर्वज्ञस्वभाव है, उसे पहिचानकर उसकी आराधना कर। उसकी आराधना के अतिरिक्त,

अर्थात् कि ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता के अतिरिक्त, दूसरा कोई तुझे जगत में शरणरूप हो, ऐसा नहीं है।

अहो! जगत को सर्वज्ञ की पहिचान दुर्लभ है। सर्वज्ञ तो लोकालोक के समस्त पदार्थों को, उसके द्रव्य-गुण-पर्यायों को, प्रदेशों को जानते हैं, भूत-भविष्य की सर्व पर्यायों को प्रत्येक के भिन्न-भिन्न स्वरूप से जानते हैं और तो भी मात्र लोकालोक को जानने द्वारा सर्वज्ञशक्ति का पूरा माप नहीं आता, सर्वज्ञता का सामर्थ्य तो उससे भी अनन्त गुना है।—उसके साथ परम अतीन्द्रिय आनन्द, शुद्ध जीवत्व, प्रभुता, विभुता ऐसे अनन्त धर्म वर्त रहे हैं। ऐसे सम्पूर्ण ज्ञानरूप परिणमने की आत्मा की सामर्थ्य है। सर्व को जानने पर भी सर्वज्ञपना 'आत्मज्ञानमय' है। स्व को जाननेवाला ज्ञान और पर को जाननेवाला ज्ञान, वह ज्ञान तो आत्मामय है; पर को जाननेवाला ज्ञान कहीं पर का नहीं, अथवा परसन्मुख नहीं; वह ज्ञान स्व का ही है। सर्वज्ञता, वह आत्मज्ञानमय है; इसलिए आत्मा के सन्मुख रहकर आत्मा सर्वज्ञ होता है और सर्व को जानता है। ऐसी सर्वज्ञता की शक्ति मुझमें त्रिकाल है और उसमें से सर्वज्ञता प्रगट होगी—इस प्रकार साध्य की प्रतीतिसहित सम्यग्दर्शन और साधकपना प्रगट होता है।

* * *

आत्मा के स्वभाव का अर्थात् कि आत्मा के वैभव का यह वर्णन है। आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहा, इससे कहीं उसमें मात्र ज्ञान ही है—ऐसा नहीं, 'ज्ञानमात्र भाव' अर्थात् रागरहित भाव, उस ज्ञानमात्रभाव में तो अनन्त गुणों का परिणमन समाहित है, अनन्त गुणों का वैभव ज्ञानभाव में समाहित है। 'ज्ञानमात्र आत्मा' ऐसा कहने पर वह भाव कहीं एक गुणभेद को सूचित नहीं करता, परन्तु अनन्त गुण के पिण्डस्वरूप जो आत्मतत्त्व, उसे वह सूचित करता है। इस प्रकार 'ज्ञानमात्र भाव' पूरे आत्मा को लक्षित करता है, अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण वैभव को प्रसिद्ध करता है। 'ज्ञानमात्र' इस ज्ञान से विरुद्ध ऐसे रागादि का अभाव सूचित करता है, परन्तु वह कहीं ज्ञान के साथ के दूसरे अनन्त गुणों के अभाव को सूचित नहीं करता। अर्थात्, ज्ञानमात्र आत्मा में स्थापित अचलितदृष्टि से देखने पर भगवान आत्मा अनेकान्तरूप निजवैभवसहित प्रसिद्ध होता है। ऐसे आत्मा को

दृष्टि में लेकर परिणमे, तब आत्मा आत्मारूप हुआ कहलाये। अपना ज्ञान जहाँ अन्तर में झुककर 'लक्ष्य' के साथ एकाग्र हुआ, तब उस ज्ञानलक्षण द्वारा ऐसा आत्मा प्रसिद्ध हुआ, अर्थात् कि अनुभव में आया। उसमें अनन्त धर्म एक साथ उल्लसित होते हैं— निर्मलरूप से परिणमते हैं, उसका यह वर्णन है। उसमें यह दसवीं सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन चलता है।

ज्ञान को अन्तर्मुख करने से अनुभव में जो आत्मा आया, वह आत्मा सर्वज्ञत्वशक्ति -सहित परिणम रहा है। सभी आत्मायें सर्वज्ञशक्ति से सम्पन्न हैं परन्तु उसे प्रसिद्ध कौन करे?—कि ज्ञान; क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रसिद्ध है; वह स्वयं अपना संवेदन करनेवाला है और दूसरे को भी वह जानकर प्रसिद्ध करता है। प्रसिद्ध ऐसा ज्ञानलक्षण स्वानुभव द्वारा अनन्त धर्मवाले आत्मा को प्रसिद्ध करता है। वहाँ कोई यह ज्ञान, लक्षण और यह आत्मा, लक्ष्य—ऐसे भेद स्वानुभव में नहीं रहते, परन्तु लक्षण द्वारा आत्मस्वरूप समझाने के लिये इतना भेद आ जाता है और साधक को पहले विचारदशा में ही 'ज्ञान, वह आत्मा' ऐसा भेद (अभेद की ओर ढलते हुए) आ जाता है; स्वानुभूति के समय तो इतना भी भेद-विचार नहीं रहता, अभेद के आनन्द का ही वेदन है।

ज्ञायक आत्मा में सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य है; ज्ञानशक्ति वह कारण और सर्वज्ञता उसका कार्य; कारण की प्रतीति में उसके ऐसे कार्य की प्रतीति भी इकट्ठी ही है।—इस प्रकार कारण-कार्य की सन्धि है। कारणरूप शक्ति की पहिचान होने पर उसके आश्रय से उसका कार्य भी होने लगता है।

ज्ञान केवल अनुमान से जाननेवाला नहीं और परसन्मुख होकर जाननेवाला नहीं; ज्ञान में तो स्वसन्मुख रहकर समस्त पदार्थों के अंश-अंश को भेदसहित प्रत्यक्ष जानने की सामर्थ्य है। ज्ञान की कोई गहन सामर्थ्य है; एक-एक समय के कारण-कार्य इत्यादि सर्व को वह जानता है। अनादि-अनन्त काल में कौन सा जीव कब मोक्ष प्राप्त करेगा, कौन सा जीव तीर्थंकर या गणधर होगा, किस समय में १०८ जीव एकसाथ ढाई द्वीप में से मोक्ष प्राप्त करेंगे, यह जीव इस समय सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा—ऐसा समस्त सर्वज्ञता में अत्यन्त स्पष्ट, नि:सन्देह और विकल्प बिना ज्ञात होता है। जिसका स्वभाव ही जानने

का है, वह किसे न जाने? कुछ भी बाकी रखे बिना समस्त ही सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात होता है। 'सर्व—ज्ञ' कहना और सर्व को न जाने, ऐसा कहना, यह तो परस्पर विरुद्ध हुआ। अहो! सर्वज्ञशक्ति की अचिन्त्य सामर्थ्य!—परन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि सर्वज्ञ होने से पहले साधक को भी अपनी ऐसी सर्वज्ञशक्ति प्रतीति में आ गयी है। सर्वज्ञशक्तिवाले आत्मा की प्रतीति द्वारा उसे साधकभाव शुरु हुआ है, वह सर्वज्ञपद का साधक हुआ है।

'ज्ञानस्वरूप आत्मा' की प्रतीति में तो कितनी अधिक गम्भीरता समाहित है! उसकी गम्भीरता की जगत को खबर नहीं है। सम्यग्दृष्टि ने जो ज्ञानमात्र आत्मा दृष्टि में लिया है, उसमें सब ही गर्भितरूप से समाहित हो जाता है।

आत्मा की ज्ञानशक्ति सर्व को जाननेरूप परिणमती है, तथापि वह आत्मज्ञानमय है। सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को जानने पर समस्त विश्व सहजभाव से ज्ञात हो जाता है—ऐसी ही कोई स्व-परप्रकाशकशक्ति की निर्मलता है। विश्व को जानने के लिये बाहर में विश्व के सामने नहीं देखना पड़ता। सर्व को जानने की ज्ञान की अपनी परमार्थशक्ति होने से, पर के साथ सम्बन्ध रहित ही सर्व को जाननेरूप ज्ञान परिणमता है। पर को जानने की ज्ञान की जो सामर्थ्य है, वह कहीं व्यवहार से नहीं; वह तो परमार्थ से है। जानना, वह तो ज्ञान का अपना स्वाभाविक भाव है, उसमें कहीं पर की उपाधि नहीं आ जाती। सर्व को जानने के सामर्थ्यरूप से परिणमित आत्मा स्वयं अपने को जानते हुए सर्व ज्ञेयों को भी जान लेता है, तथापि वह ज्ञान तो ज्ञान का ही है—आत्मा का ही है; आत्मसन्मुख रहकर वह जानता है। परसन्मुख होकर नहीं जानता। अपने असंख्य प्रदेश में अनन्त पदार्थों का ज्ञान समाहित हो जाता है। एक समय की पर्याय में तीन काल के पदार्थों का ज्ञान समाहित हो जाता है,—ऐसा अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव की आराधना करना, उसका नाम वीतरागमार्ग है। वह सर्वज्ञ का मार्ग है।

अहो, यह वीतरागमार्ग अलौकिक है। भाई! वीतरागमार्ग अर्थात् तेरा अपना मार्ग; तेरे आत्मा में जाने का मार्ग तुझे सन्त बतलाते हैं। स्वयं अपने स्वघर में पहुँचने का यह रास्ता है। इस मार्ग की प्रतीति करने से स्वभाव में सन्मुखता होती है और पराश्रितपने

की सब बात उड़ जाती है। इसके अतिरिक्त दूसरे उल्टे मार्ग से आत्मा के घर में नहीं पहुँचा जाता और आत्मा का वैभव नहीं मिलता। अहो! मेरी श्रद्धा मेरा ज्ञान, उसका मार्ग मुझमें ही है, वह पर के कारण नहीं होता, पर के लक्ष्य बिना स्व की श्रद्धा-ज्ञान होते है।

आत्मा में स्वतन्त्रता प्रभुता और सर्वज्ञता है, उसका विश्वास करने से विकल्प राग और पर के साथ की एकत्वबुद्धि उड़ जाती है। पर के कारण या राग के कारण मेरे श्रद्धा-ज्ञान नहीं, मेरे श्रद्धा-ज्ञान में मेरे स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी का अवलम्बन मुझे नहीं है।—इस प्रकार स्वशक्ति की प्रतीति द्वारा स्वसन्मुखता होती है और साधकपना प्रगट होता है। साधकभाव में पूर्णसाध्य की प्रतीति साथ ही वर्तती है, अंशी के आश्रय से वह अंश खिला है।

अहा, कैसी स्वतन्त्रता है! स्वशक्ति के स्वाधीन सामर्थ्य से आत्मा कैसा शोभता है! भाई! तुझे तेरे वैभव की खबर नहीं तो तू अपने धर्म को (अपने स्वभाव को) कैसे साधेगा? निजशक्ति की पहिचान बिना पर्याय में उसे व्यक्त कहाँ से करेगा?

भाई! तेरे चैतन्य में एक गुप्त चमत्कार है... किसका?—कि ज्ञान का। तेरी ज्ञानशक्ति में अचिन्त्य चमत्कार है। अहा! सर्वज्ञस्वभाव के चमत्कार की क्या बात! वह पर के सामने देखता नहीं, तथापि पर को जाने; वह राग में अटकता नहीं, तथापि राग को जाने; वह निमित्त का अवलम्बन लेता नहीं, तथापि निमित्त को जाने।—ऐसे सर्वज्ञस्वभाव को स्वज्ञेयरूप से उपादेय करता हुआ धर्मी जीव रागादि व्यवहार-आत्मा को स्वज्ञेयरूप से नहीं जानता, और उसमें तन्मय नहीं होता; निर्मल शक्तिरूप से परिणमते आत्मा को ही स्वज्ञेयरूप से जानकर उसमें तन्मय होता है।

स्व को जानता हुआ ज्ञान या पर को जानता हुआ ज्ञान, दोनों का ज्ञान तो एकरूप राग रहित है, और वह ज्ञान आत्मा को ही अवलम्बन करनेवाला है। पर को जानता हुआ ज्ञान कहीं पर को अवलम्बन करनेवाला नहीं है; राग को जाननेवाला ज्ञान कहीं राग को अवलम्बन करनेवाला नहीं है। राग से और पर से भिन्न ऐसे निज स्वभाव को अवलम्बकर जानने की ज्ञान की सामर्थ्य है। ऐसे ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति बिना सर्वज्ञ भगवान की सच्ची पहिचान नहीं होती।

सर्वज्ञ को पहिचानने के लिये आत्मस्वभाव के सन्मुख होना पड़ता है। सर्वज्ञ को कैसे पहिचानना, उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं। भाई! सर्वज्ञ अर्थात् तेरा ज्ञानस्वभाव। सर्वज्ञ को वह व्यक्तरूप है, तुझमें वह शक्तिरूप है; उस शक्ति की सन्मुखता द्वारा सर्वज्ञता व्यक्त होगी; इसलिए तेरी शक्ति के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति कर तो तुझे सर्वज्ञ की वास्तविक प्रतीति हो, उसकी वास्तविक महिमा जागृत हो; और वही आराधना है।

वस्तु कहीं द्रव्य-गुण और पर्याय, ऐसे भिन्न-भिन्न तीन खण्डरूप नहीं, तीनों धर्मसहित अखण्ड एक वस्तु है। अपने शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को धर्मी स्वज्ञेयरूप से जानता है और जगत के द्रव्य-गुण-पर्याय को परज्ञेयरूप से जानता है। राग को व्यवहार से स्वज्ञेयरूप से जानता है, परमार्थ से वह स्वज्ञेय नहीं है। आत्मा में ज्ञानादि अनन्त शक्तियों की निर्मलपर्यायें अपने स्वाधीन छह कारक से स्वतन्त्ररूप से होती है और पर की पर्यायें उसके छह कारकों की स्वाधीनता से होती है; एक-दूसरे के कारक एक-दूसरे में नहीं जाते।

अहा! तू सर्वज्ञता का भण्डार और तुझे तेरी वस्तु जानना कठिन पड़े? जैसे चक्रवर्ती के निधान कभी कम नहीं होते, उसी प्रकार इस चैतन्य चक्रवर्ती आत्मा में अपरिमित ज्ञान-निधान है, चाहे जितना जानने पर भी जानने की उसकी सामर्थ्य कभी कम नहीं होती। जगत के सभी निधान को जाननेवाला और जगत में सबसे उत्तम ऐसे अपार ज्ञाननिधान उस चैतन्यचक्रवर्ती के पास है; सबको जानने पर भी कहीं उसका ज्ञान मूर्छित नहीं होता; इस ज्ञानभण्डार की क्या बात! शान्ति और आनन्द, प्रभुता और विभुता, जीवन और चेतना, स्वच्छता और सर्वज्ञता तथा वीर्यबल,—ऐसे नवनिधान तो क्या, परन्तु अनन्त निधान आत्मा में भरे हैं। चक्रवर्ती के निधान तो मर्यादित हैं। आत्मा के अपार अचिन्त्य निधान ऐसे हैं कि सादि-अनन्त काल भोगा ही करे, तथापि समाप्त नहीं होते, कम भी नहीं होते; उसके सामर्थ्य की भी कोई मर्यादा नहीं। स्व में जो निधान भरे हैं, उसका लक्ष्य करने से अचिन्त्य सामर्थ्य और सर्वज्ञपद का वैभव प्रगट होता है; उसके लिये परलक्ष्य नहीं करना पड़ता, दूसरे से माँगना नहीं पड़ता। भगवान! तेरे जानने के निधान ऐसे हैं कि लोकालोक को जानने के लिये विकल्प नहीं करना पड़ता,

इन्द्रियों इत्यादि किसी का आश्रय नहीं लेना पड़ता और एक समय से अधिक समय नहीं लगता। इतनी तो जिसके एक गुण की सामर्थ्य, तो ऐसे अनन्त गुण जिसमें भरे हैं, वह आत्मा कितना? और उसका वैभव कितना? ऐसे 'आत्मवैभव' को प्रगट करने के लिये अपने में ही देखना है, पर के सामने देखना नहीं।

ऐसी सर्वज्ञशक्तिवाले आत्मा की प्रतीति करने जाये, वहाँ राग का कर्तृत्व छूट जाता है और स्वसन्मुख पुरुषार्थ जागृत होता है; स्वभाव के अनन्त गुण के निधान व्यक्त होकर अनुभव आवे और अपूर्व आनन्द प्रगट हो।—इसमें मोक्षमार्ग आ जाता है। ऐसा अन्तर में करे, तब उसे सर्वज्ञ का भरोसा आया कहलाये और उसने सर्वज्ञ का मार्ग जाना कहलाये। ज्ञानमात्र में स्थापित अचलित दृष्टि द्वारा यह सब निश्चित होता है।

अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा तीन काल को जानने का समय एक है, तीन नहीं, एक समय में तीन काल को जाने, असंख्यप्रदेशी रहकर अनन्तक्षेत्र को जाने, राग-द्वेष रहित जाने और प्रत्यक्ष जाने—ऐसे सर्वज्ञ-सामर्थ्यवाला भगवान आत्मा है, उसके भरोसे से मोक्षमार्ग प्रगट होता है और भगवान हुआ जाता है।

ऐसी ज्ञान की प्रतीति बिना कोई 'होनहार' की बात करके पुरुषार्थहीन होता है तो उसकी बात खोटी है। भाई! होनहार का निर्णय करनेवाला कौन है? ज्ञान से वह निर्णय होता है या ज्ञान बिना? सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का निर्णय किया, तब होनहार का निर्णय हुआ। उसे तो ज्ञानस्वभाव के सन्मुख परिणति झुक गयी, उस ज्ञानपरिणति में राग का अकर्तृत्व हो गया, अर्थात् भेदज्ञान और मोक्षमार्ग हो गया। ज्ञान के ऐसे पुरुषार्थ बिना यदि तू होनहार की बात करके स्वच्छन्दी होता हो तो तेरी दृष्टि उल्टी है। होनहार का द्वार तो स्वसन्मुख उद्यम है।

देखो! भगवान अरिहन्तदेव ने आत्मा के लक्ष्य-लक्षण बतलाये, वे ऐसा सूचित करते हैं कि ऐसे लक्षण द्वारा तू तेरे स्व-लक्ष्य को प्रसिद्ध कर। अर्थात् स्वसन्मुख पुरुषार्थ इसमें आया। लक्षण द्वारा लक्ष्य को निश्चित करनेवाला ज्ञान वीतरागी-पुरुषार्थवाला है, वह कहीं बिना पुरुषार्थ का नहीं है। हाँ, उसमें राग के कर्तृत्व का उल्टा पुरुषार्थ नहीं, परन्तु स्वभाव की सन्मुखता का सम्यक् पुरुषार्थ है और उसमें स्ववीर्य, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता इत्यादि अनन्त धर्मों का परिणमन भी साथ ही है।

भगवान! तेरा आत्मा चित्चमत्कार है। उसके निर्णय में अनन्त केवली सर्वज्ञ सिद्ध भगवन्तों का निर्णय समाहित हो जाता है। विश्व को जानने पर भी कहीं राग-द्वेष का विकल्प नहीं, कहीं पर का आश्रय नहीं,—ज्ञान की वह शक्ति आश्चर्यकारी है; आत्मा का यह अद्भुत रस है, इसमें ही वीतरागी वीरतारूप वीररस है; और इसमें ही अनाकुल सुखरूपी शान्तरस है।

जैसे काँच के स्वच्छ गोले में (हाँडी में) चारों ओर की वस्तुएँ सहज झलकती हैं, उसी प्रकार आत्मा की सर्वज्ञतारूप चैतन्यगोले के प्रकाश में विश्व के पदार्थ सहज झलकते हैं। ऐसा विश्वप्रकाशी रत्न आत्मा के निधान में पड़ा है और ऐसे तो अनन्त महा रत्नों का भण्डार आत्मा है। एक ही आत्मा में दर्शन और ज्ञान दो शक्तियाँ, दोनों एक ही क्षेत्र में रहनेवाली, दोनों एक ही काल में कार्य करनेवाली; तथापि एक विश्व को सामान्य अवलोकनरूप से देखे और दूसरी विश्व को विशेषरूप से जाने—इस प्रकार दोनों के कार्य में अन्तर है—ऐसा लक्षणभेद है। ऐसे आश्चर्यकारी अनन्त स्वभावों से यह भगवान आत्मा भरपूर है। उस स्वभाव के निर्णय में सम्यक् पुरुषार्थ है।

सर्वज्ञ भगवान ने लक्षण द्वारा लक्ष्य को लक्ष्यगत करने का जो उपदेश दिया है, वह उपदेश जीवों को सम्यक्पुरुषार्थ कराने के लिये है। अरिहन्तदेव के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को जो जानता है, वह अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है और उसका मोह क्षय होता है—ऐसा भगवान ने कहा है और ऐसा कहकर भगवान ने पुरुषार्थ का उपदेश किया है; आत्मा को जानने के लिये जीव में वैसा पुरुषार्थ है और उस पुरुषार्थ के लिये ही भगवान का उपदेश है। भगवान को साधकपने के समय ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ करते-करते, बीच में राग के कर्तापने रहित जो विकल्प था, उससे दिव्यवाणी के योग्य रजकण (तीर्थंकरप्रकृति के साथ) बँधे; और वह विकल्प तोड़कर सर्वज्ञ होने पर समवसरण में सहजरूप से जो दिव्यवाणी निकली, उस वाणी में भी, स्वयं ने जैसा स्वसन्मुख पुरुषार्थ किया था, वैसा ही उपदेश दिया; ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ भगवान ने बतलाया। अहो! उन भगवन्तों को नमस्कार हो; भगवन्तों ने उपदेशित इस स्वाश्रितमार्ग को नमस्कार हो।

देखो, यह भगवान के उपदेश की पहिचान! भगवान ने क्या उपदेश किया? ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित ऐसे अनन्तशक्तिसम्पन्न आत्मा को प्रसिद्ध कराने के लिये (अर्थात् कि उसका अनुभव कराने के लिये) भगवान ने लक्ष्य-लक्षण का उपदेश किया है।— इसमें ज्ञानलक्षण को स्वसन्मुख करने का पुरुषार्थ है; उसमें बीच में राग का कर्तृत्व नहीं, विकल्प का अवलम्बन नहीं। लक्ष्य की प्रसिद्धि 'ज्ञान' लक्षण द्वारा होती है। ऐसे लक्ष्य-लक्षण की बात सुनने के लिये जो खड़ा है, वह जीव अपने अन्तर में वैसे प्रयत्न द्वारा लक्ष्य को प्रसिद्ध करना चाहता है और वह प्रयत्न रागरहित है, ऐसे प्रयत्न द्वारा भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है। स्वसन्मुख ज्ञानपुरुषार्थ द्वारा मोक्ष सधता है।

सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को मानने से क्या होता है?

— तो कहते हैं कि मोक्ष के लिये स्वसन्मुख पुरुषार्थ शुरु होता है। भाई! तेरी वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे तू लक्ष्य में ले। खोटा लक्ष्य किया है, उसके बदले जैसा सत्स्वभाव है, वैसा लक्ष्य में ले, इससे असत् ऐसे रागादि का कर्तापना मिटकर सत् ऐसे ज्ञान का सम्यक् पुरुषार्थ होगा। एक क्षण का सत्स्वभाव का लक्ष्य टंकार करता हुआ केवलज्ञान को लाता है और सादि-अनन्त आनन्द देता है। अनन्त-अनन्त काल में भी जिस आनन्द का अन्त नहीं आता, ऐसा अक्षय-आनन्द जिसके फल में प्राप्त हो, उस धर्म की क्या बात! और ऐसा धर्म, स्वभाव के निर्णय द्वारा होता है; इसलिए बारम्बार आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तू जागृत हो... और तेरे स्वभाव को देख। तेरा स्वभाव राग में मिल नहीं गया परन्तु पृथक् है; उसका तू निर्णय कर।

एक मनुष्य को ऐसी आदत कि यदि खुल्ले आकाश को न देखे तो उसे उलझन हो, इसी प्रकार राग की रुचि के आड़ में अपने खुल्ले ज्ञान गगन को अज्ञानी देखता नहीं है, इसलिए परभाव के कर्तृत्व में वह उलझ रहा है। राग से पृथक् खुल्ला ज्ञान बताकर ज्ञानी कहते हैं कि देख! यह तेरा ज्ञान खुल्ला ही है, वह राग से ढँक नहीं गया है, राग में एकमेक नहीं हो गया; इसलिए तेरे मुक्तस्वभाव को देख, जिससे तेरी उलझन मिटेगी और तुझे तेरा आनन्द अनुभव में आयेगा।

जरा सी प्रतिकूलता आवे, वहाँ तू घिर जाता है!—परन्तु भाई! उस प्रतिकूलता

के घेरे में तेरा ज्ञानस्वभाव घिर नहीं गया है, वह तो सबसे ऊपर पृथक् तिरकर पृथक् रहा है। अरे! अनन्त काल में तूने ऐसी तो अनन्त प्रतिकूलताओं को वेदन किया है, निगोद में और नरक में तूने जो प्रतिकूलतायें वेदी, उस वेदन को केवली प्रभु ही जानते हैं। अज्ञान भाव से तू अनन्त दुःख भोग चुका है, भाई! और तो भी तेरा निज वैभव नष्ट नहीं हो गया है। अब उस अनन्त दुःख से छूटने का उपाय यह है कि तेरे निजस्वभाव के वैभव को तू सम्हाल। तेरे स्वभाव की शान्ति अनन्त है,—ऐसी अनन्त और अनन्त प्रतिकूलता के गंज के बीच भी स्वयं अपनी शान्ति को वेद सकता है। अनन्त शान्ति के समुद्र में अनन्त सिद्धों का समूह मग्न है; तेरा स्वभाव भी ऐसा ही ध्रुव शान्ति का समुद्र है, अकषाय-वीतराग रस से वह भरा है।

सन्तों ने करुणा करके आत्मस्वभाव का ऐसा वैभव बतलाया, परन्तु उस वैभव को प्रतीति में लेने की सामर्थ्य किसकी? प्रतीति में लेनेवाले को अपने स्वभाव का पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ बिना का जीव सर्वज्ञदेव ने बताये हुए निजवैभव को निहार नहीं सकता। निजस्वभाव को नहीं देखनेवाला जीव, सर्वज्ञ की वाणी के गम्भीर रहस्यों का निर्णय नहीं कर सकता। अहा! जिस स्वभाव को निहारने से परमात्मपना प्रगट होता है, उसकी महिमा की क्या बात!

अरे जीव! तू सर्वज्ञ का पुत्र है, तू अरिहन्त का युवराज है, सर्वज्ञपद का राज लेने की सामर्थ्यवाला तू है। जिनसेनस्वामी ने महापुराण में गौतमगणधर को 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है; सम्यग्दृष्टि को केवलीप्रभु का लघुनन्दन कहा है। अपना सर्वज्ञस्वभाव जिसने प्रतीति में लिया, उसका परिणमन सर्वज्ञता की ओर ढला, अब अल्प काल में स्वयं सर्वज्ञ होगा।—ऐसी सर्वज्ञ होने की शक्ति आत्मा में है, परन्तु निजस्वभाव को लक्ष्य में लिये बिना सर्वज्ञशक्ति का निर्णय नहीं हो सकता। पूर्णस्वभाव की प्रतीति करने से साधकपना हुआ, वह अब पूर्णस्वभाव के आश्रय से अल्पकाल में पूर्णता प्रगट करेगा। उस पूर्णता का कारण अपने में ही है। उसका साधन अपने में ही है।

जिसने सर्वज्ञशक्तिवाले आत्मा को जाना, उसने उसका साधन और साध्य दोनों अपने में जाने हैं, इसलिए दूसरे किसी बाह्य साधन की बुद्धि उसे नहीं रही; वह राग को

भी साधन नहीं मानता। रागादि भाव वे वास्तव में आत्मा नहीं हैं, वे तो अभूतार्थ-आत्मा हैं; जबकि स्वभाव का निर्णय करके साधकभाव में चढ़ा, तब निर्मलपर्यायरूप से परिणमित वह आत्मा 'भूतार्थ-आत्मा' हुआ, वह सच्चा आत्मा हुआ, वह धर्मात्मा हुआ... और वह मोक्ष का पंथी हुआ... उसके अनन्त गुणों का संघ निर्मलपर्यायसहित मोक्षधाम की यात्रा करने चला।

आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति का एकरूप पिण्ड है, तथापि भिन्न-भिन्न अनन्त शक्तियों का रस उसमें समाहित है; उसकी जो एक शक्ति है, वह दूसरी शक्तिरूप नहीं, ऐसे शक्तियों को एक-दूसरे से अतत्पना है। 'ज्ञानमात्र' आत्मा को लक्ष्य में लेकर अनुभव करने से सभी शक्तियों का रस एकसाथ अनुभव में आता है। अनन्त गुण-पर्याय का ऐसा वैभव आत्मा के असंख्यप्रदेश में समाहित हो जाता है। जो ऐसे आत्मा को जाने-माने-अनुभव करे, उसने आत्मा को वास्तव में पहिचाना कहलाये। उसे अनुभव में आत्मा प्रसिद्ध होता है और तब धर्म होता है।

* * *

अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा की शक्तियों का क्रमिक गिनती से पार नहीं आता; पहली जीवत्वशक्ति... दूसरी चेतनाशक्ति... पाँचवीं सुखशक्ति... सातवीं प्रभुत्वशक्ति... दसवीं सर्वज्ञत्वशक्ति, ऐसे क्रम-क्रम से गिनने पर करोड़ पूर्व के या असंख्य वर्ष के आयुष्य में भी अनन्त शक्ति का पार नहीं आता। सर्वार्थसिद्धि के सभी देव तैंतीस सागरोपम तक गिना करे तो भी उसका अनन्तवाँ भाग ही गिन सकते हैं।—ऐसी अनन्त शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में हैं, और एक-एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्य है।—ऐसा आत्मा का वैभव है।

परन्तु इसमें धर्म कहाँ आया?

—भाई! ऐसे आत्मवैभव को प्रतीति में लेने से पर की महिमा उड़ जाये अर्थात् ज्ञान स्व में स्थिर हो और आत्मा स्वसमयरूप परिणमे, राग से छूटकर अनन्त शक्ति का निर्मल परिणमन होने लगे—इसका नाम धर्म। मेरा आत्मा एक समय में परिपूर्ण अनन्त शक्ति का पिण्ड—ऐसा स्व में लक्ष्य आने से ज्ञान का, श्रद्धा का, सुख का—ऐसे अनन्त

गुणों का निर्मल परिणमन एक साथ उछलता है—निर्मलता प्रगट होती है, वही धर्म और वही मोक्षमार्ग है, उसे साध्य आत्मा की सिद्धि हुई।

आत्मा के अनन्त गुणों में एक सर्वज्ञत्वशक्ति भी साथ परिणम रही है। अहा! सर्वज्ञता के स्वरूप की और उसके सामर्थ्य की लोगों को खबर नहीं। सर्वज्ञता को पहिचानने से तो सम्यग्दर्शन होता है, ज्ञान और राग की सन्धि टूट जाती है और भेदज्ञान होता है। केवलज्ञान स्वलक्ष्य से एकाग्रता से खिला है, वह परलक्ष्य से नहीं खिला। जगत है, इसलिए केवलज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है; जगत तो अनादि-अनन्त है, उसके कारण से ज्ञान होता हो तो अनादि से केवलज्ञान प्रत्येक जीव को होना चाहिए। आत्मा जब स्व में एकाग्र होकर, अपनी असाधारण ज्ञानशक्ति को कारण बनाकर परिणमा, तब केवलज्ञान हुआ और तब जगत ज्ञेयरूप से ज्ञात हुआ। जगत ज्ञेयरूप से निमित्तरूप है परन्तु ज्ञान का परिणमन निमित्त के आश्रित नहीं, ज्ञान का परिणमन तो स्वाश्रित है। सर्वज्ञता अर्थात् आत्मा के ज्ञान की परिपूर्ण प्रसिद्धि, ज्ञान का परिपूर्ण वैभव पर्याय में प्रगट हुआ, इसका नाम सर्वज्ञता। 'सर्वज्ञता' कहने पर अज्ञानी को बाहर के बहुत ज्ञेयों के समक्ष लक्ष्य जाता है, परन्तु जिसमें से सर्वज्ञता खिली, ऐसी ज्ञानशक्ति के सामने उसका लक्ष्य नहीं जाता। ज्ञानशक्ति के सामने लक्ष्य जाये तो ही सर्वज्ञता की सच्ची प्रतीति होती है।

सर्वज्ञता की शक्ति आत्मा में त्रिकाल है परन्तु उसका परिणमन कब होता है? कि सर्वज्ञशक्तिवाले आत्मा को प्रतीति में लेकर परिणमे तब।—उसमें दूसरा कोई साधन नहीं है; अपना सर्वज्ञस्वभावी आत्मा ही साधन है। आत्मा स्वयं कर्ता होकर स्वशक्ति के साधन द्वारा उस कार्य को करता है। राग को साधन माने, वह जीव अपने सर्वज्ञस्वभाव को नहीं जानता। सर्वज्ञ की श्रद्धा कहो या मोक्ष की श्रद्धा कहो या आत्मा के ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा कहो। उसका साधन बाहर में या राग में नहीं, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा स्वयं ही उसका साधन है।

'जीव एक अखण्ड सम्पूर्ण द्रव्य होने से उसका ज्ञानसामर्थ्य सम्पूर्ण है। सम्पूर्ण वीतराग हो, वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है।'—श्रीमद् राजचन्द्र के इस संक्षिप्त वाक्य में

बहुत गम्भीरता भरी है। सर्वज्ञस्वभाव और उसका साधन दोनों इसमें बतला दिये हैं। अब जो जीव राग को साधन मानता है, वह राग छोड़कर वीतराग कैसे होगा? और वीतरागता बिना सर्वज्ञता कहाँ से होगी? इसलिए राग को साधन माननेवाले को तो सर्वज्ञता की और उसके उपाय की खबर नहीं। सर्वज्ञ कौन होता है? कि 'वीतराग हो, वह सर्वज्ञ होता है।' और वीतराग कौन होता है? कि जो राग को साधन न माने अर्थात् कि ज्ञानस्वभाव को ही साधन माने, वह जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर वीतराग होता है और वही सर्वज्ञ होता है।—अर्थात् स्वभावसन्मुख होना, वही सर्वज्ञता का उपाय है—ऐसा तात्पर्य है।

शास्त्रों ने सर्वज्ञता की तो अपार महिमा बहुत-बहुत गायी है, क्योंकि उसका निर्णय वह तो जैनधर्म का मूल है। सन्तों को सर्वज्ञता अत्यन्त प्रिय है, ज्ञानी के हृदय में उसकी महिमा उत्कीर्ण हो गयी है। इसलिए प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने कहा है कि—

जो जानता अरहन्त को गुण द्रव्य अरु पर्ययपने,
वह जीव जाने आत्म को तसु मोह पावे क्षय अरे।

केवलज्ञान, वह लोकालोक का कर्ता नहीं और लोकालोक केवलज्ञान के कर्ता नहीं; ज्ञानशक्ति द्वारा आत्मा स्वयं ही उस समय केवलज्ञान का कर्ता होकर परिणमता है; पूर्व पर्याय उस-रूप नहीं परिणमती, राग का भी उसमें अभाव है और पर का तो त्रिकाल अभाव है। छहों कारकों की स्वतन्त्रता द्वारा आत्मा केवलज्ञान को करता है। अपने ही छह कारकों द्वारा, बाहर के साधनों से निरपेक्षरूप से आत्मा स्वयं सर्वज्ञतारूप से परिणमता होने से वह सर्वज्ञभगवान 'स्वयंभू' हैं। वज्रशरीर या राग, वह कोई केवलज्ञान का साधन नहीं है। इस प्रकार आत्मा की सभी शक्तियाँ अपने ही छह कारकों द्वारा परिणम रही है, उसमें दूसरे साधन का अभाव है। आत्मा की शक्ति ही अपनी निर्मलपर्याय के साधनरूप परिणमती है। बाहर साधन शोधना पड़े, ऐसा नहीं है। स्वाश्रित परिणमन में छहों कारक समाहित हो जाते हैं।

इन ४७ शक्तियों में पाँच भाव किस प्रकार से लागू पड़ते हैं, यह भी समझना

चाहिए। त्रिकाली शक्तियाँ पारिणामिकभाव से है। उसके आश्रय से उनका निर्मल कार्य प्रगट हुआ, वह पूरा कार्य तो क्षायिकभाव से है और अपूर्ण दशा में उपशम और क्षयोपशमभाव होता है; उदयभाव का उस निर्मल कार्य में अभाव है। यहाँ सर्वज्ञत्वशक्ति का पूरा कार्य जो सर्वज्ञता, वह तो हमेशा क्षायिकभाव से ही होता है; उसमें उपशमादि भाव नहीं होते।

सर्वज्ञशक्ति स्वाधीनरूप से जहाँ केवलज्ञानरूप परिणमी, वहाँ उस केवलज्ञान में सर्वज्ञेय निमित्तरूप भले हों परन्तु उसमें कहीं ज्ञान के साधन नहीं, अथवा ज्ञान उनका कर्ता नहीं। केवलज्ञान ने अपने पूरे आत्मा को अनन्त शक्ति के निर्मल परिणमन सहित ज्ञेय बना दिया है, वहाँ परज्ञेय तो सहज ज्ञात होते हैं। ज्ञेयरूप से स्व-पर सब है। अहा! सर्वज्ञस्वभावी वस्तु के निर्णय में अनन्त पुरुषार्थ भरा हुआ है। राग में वह निर्णय करने की सामर्थ्य नहीं है। द्रव्य ने अपनी पर्याय को किया—यह भी अभी भेदकथन है, वास्तव में द्रव्य कर्ता और पर्याय कर्म, ऐसा भेद नहीं है। द्रव्य अभेदरूप से उस-उस समय की पर्यायरूप परिणम रहा है। द्रव्य स्वयं ऐसे निर्मलभावरूप से उल्लसित हुआ है। द्रव्य और पर्याय दोनों एक होकर परिणमे, वहाँ बीच में विकल्प और भेद का उत्थान नहीं रहा।—इसका नाम जैनदर्शन, और इसका नाम वस्तुस्वभाव की प्रसिद्धि!

भाई! जैनदर्शन अर्थात् वस्तुस्वभाव का दर्शन! तेरे आत्मस्वभाव को अन्दर में देख तो सही!—जिसका अचिन्त्य सामर्थ्य है; और जिसमें बाहर के किसी साधन की आवश्यकता नहीं, कारण-कार्य के भेद के विकल्प को भी जहाँ अवकाश नहीं; स्वशक्ति से आत्मा स्वयं अभेदरूप से अपनी निर्मलपर्याय में परिणम रहा है। एक पर्याय जितना ही पूरा द्रव्य-गुण नहीं है, परन्तु उस पर्याय ने पूर्ण द्रव्य-गुण को जान लिया है। आत्मा की पर्याय पर के कारण होना कहना, वह तो वस्तुस्वरूप का महा अज्ञान है। भाई! तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय पर से स्वतन्त्र है, पर के सन्मुख न देख, तेरे निजवैभव को देख। तेरी सामर्थ्य कितनी? कि एक केवलज्ञानपर्याय अनन्त केवलज्ञान को जान ले; और ऐसी अनन्त पर्यायरूप परिणमने की एक ज्ञानगुण की सामर्थ्य; ऐसे ज्ञान के साथ आनन्द, प्रभुता इत्यादि अनन्त गुणों का वैभव आत्मा में भरा है। अहा, ऐसी वस्तु!—वह तू है।

अरे! जहाँ तू ही परिपूर्ण है, फिर दूसरे किस साधन को तुझे शोधना है? पूर्व की अधूरी पर्याय भी केवलज्ञानपर्याय को बलजोरी से नहीं लाती; साधकभाव बलजोरीपूर्वक साध्य को नहीं लाता, परन्तु उस समय की पर्याय में केवलज्ञानादि पूर्ण पर्यायरूप से परिणमने का स्वतन्त्रवीर्य है। अरे! पूर्व की निर्मल पर्याय भी वास्तव में कारण नहीं, वहाँ शुभराग की और बाहर के पदार्थों की तो क्या बात?—उसका तो निर्मल कार्य में अभाव ही है। आत्मा स्वयं अपनी निजशक्ति के भण्डार में से सर्वज्ञता को बाहर निकालता है, अपने वैभव में भरा है, उसमें से प्रगट करता है। दूसरे से माँगता नहीं।

'सत्' के महासागर में उत्पाद-व्यय की लहरें उछलती हैं... और उसमें से केवलज्ञानादि महारत्न निकलते हैं। उस केवलज्ञान का देनेवाला स्वयं और लेनेवाला भी स्वयं। दातार बड़ा और झेलनेवाला भी बड़ा। राग में सामर्थ्य नहीं कि सर्वज्ञता को झेल सके तथा उसमें सामर्थ्य नहीं कि सर्वज्ञता दे सके। सर्वज्ञता देने की और झेलने की अपूर्व सामर्थ्य तो अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा में ही है।

आत्मा का वैभव जैसा है, वैसा सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञात हुआ, वह कहीं नया नहीं हुआ, पर्याय में पहले नहीं था और प्रगट हुआ, इस अपेक्षा से नया है, परन्तु शक्ति में तो ऐसा वैभव सदा ही था। 'सत्' स्वभाव था, उसे सर्वज्ञदेव ने बतलाया। अहा! ऐसे सत् स्वभाव का घोलन-मनन करनेयोग्य है। इस स्वभाव का घोलन करते-करते पर्याय में वह प्रसिद्धि होता है अर्थात् कि अनुभव में आता है। भगवान आत्मा महाचैतन्य पदार्थ है। उसकी महत्ता का पार नहीं। उसकी प्रतीति करने में भी कोई अचिन्त्य पुरुषार्थ है। उसकी प्रतीति करके जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ वह परमात्मा हो गया, 'मैं परमात्मा ही हूँ' ऐसी उसकी दृष्टि हुई, परमात्मपना अपने में ही देखा। पर्याय की अपूर्णता गौण हो गयी और दृष्टि में कृतकृत्यता हुई।—इसका नाम धर्म और इसका नाम मोक्षमार्ग!

आत्मा में सर्वज्ञता इत्यादि पूर्ण पर्याय प्रगट होने की सामर्थ्य है, वह किसी पर के अवलम्बन से नहीं है; स्वयं ही साधक है, स्वयं ही साधन है और साध्य भी अपने में ही है। आत्मा का सब आत्मा में ही समाहित होता है। अरूपी आत्मा में अपार वैभव भरा है। बाहर में रूपी पदार्थों के जो पुंज दिखाई देते हैं, उनकी अपेक्षा उन्हें देखनेवाले

अरूपी आत्मा की शक्ति बहुत महान है। लोकालोक के सन्मुख देखे बिना जिसके ज्ञान में लोकालोक झलके—ऐसा भगवान आत्मा ही लोक में उत्तम पदार्थ है। जड़ को तो जड़ के वैभव की भी खबर नहीं और आत्मा के वैभव की भी खबर नहीं। इस चैतन्यवैभवधारी आत्मा को ही स्व के और पर के वैभव की खबर है। भले करोड़ों-अरबों की कीमत का हीरा हो—परन्तु यही जड़ हीरा को पता नहीं कि मैं इतना कीमती हूँ; उसकी खबर तो इस चैतन्यहीरा को ही पड़ती है। जगत के सभी जड़ हीरा इकट्ठे हों, तो भी उसमें से चैतन्य का एक कण भी नहीं हो सकता, ऐसा इस चैतन्यहीरा का वैभव है। जगत को जड़ का वैभव दिखता है, परन्तु अपना चैतन्यवैभव नहीं दिखता।

जिसके एक अंश में लोकालोक झलके, ऐसी अनन्त चैतन्यशक्ति का धनी आत्मा है। 'ऐसा आत्मा मैं हूँ'—ऐसा जिसकी दृष्टि में आया, उसकी दृष्टि में कहीं राग का-देह का-वाणी का और पर का महत्त्व नहीं रहता। इसलिए स्वसन्मुख ही उसकी परिणति ढलती जाती है।—ऐसी सम्यग्दृष्टि की दशा है। सम्यग्दर्शन हुआ तो भगवान की भेंट हो गयी। अपने को पामर-अल्प माना था, वह मिट गया और परमात्मारूप अपने को पहिचाना, उसका परिणमन अब परमात्मा होने की ओर उन्मुख हुआ... थोड़े ही समय में वह साक्षात् सर्वज्ञ-परमात्मा होगा।

—यह है सर्वज्ञत्वशक्तिवाले आत्मा की पहिचान का फल!

इति श्री सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन समाप्त।

* * *

卐

[११]

स्वच्छत्वशक्ति

नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः।

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। (जैसे दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।)।११।

आत्मा की प्रकाशशक्ति वर्णन करके स्वसंवेदनरूप प्रकाश प्रगटाने की ऐसी सुन्दर पद्धति बतायी है कि उसके विचार में और मनन में ज्ञान को रोके तो स्वानुभव का मार्ग प्राप्त हो और जन्म-मरण के चक्र मिटें। इसलिए हे जीव! तेरे वीर्यबल को स्वसन्मुख उल्लसित करके तेरे स्वभाव की हाँ पाड़.... और पुरुषार्थ की तीक्ष्ण धारा से उस स्वभाव का अपूर्व पक्ष कर।—ऐसा करने से तुझे तेरा स्वसंवेदन होगा और आनन्द अनुभव में आयेगा।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में ऐसी स्वच्छता है कि उसके उपयोग में लोकालोक ज्ञात होता है। स्वयं अरूपी होने पर भी रूपी-अरूपी समस्त पदार्थ उसके ज्ञान में ज्ञात होते हैं। स्वयं अरूपी रहकर भी रूपी को जान लेता है। लोकालोक को जानने पर भी उसके उपयोग में जरा भी विकार न हो, ऐसी उसकी स्वच्छता है। जैसे दर्पण की स्वच्छता में अनेक चित्र-विचित्र पदार्थ ज्ञात होते हैं, वहाँ दर्पण में मानो कि कितने ही पदार्थ हों, ऐसा मेचकपना (अनेकपना) लगता है, परन्तु वास्तव में कहीं दर्पण में दूसरी वस्तु नहीं है, वह तो दर्पण की स्वच्छता का ही ऐसा स्वभाव है। उसी प्रकार अरूपी आत्मप्रदेशों में लोकालोक के समस्त पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्यायें प्रकाशमान होते हैं, वहाँ ज्ञान में मानो कितने ही पदार्थ ज्ञात होते हों, ऐसा मेचकपना (अनेकपना) लगता है, परन्तु वास्तव में कहीं ज्ञान में दूसरी वस्तु नहीं है, ज्ञान की ही ऐसी स्वच्छता है और दर्पण की भाँति वास्तव में ज्ञान में अन्य वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता—क्योंकि ज्ञान तो अरूपी है, उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परन्तु पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिम्बित हुए—इसका अर्थ ऐसा है कि पदार्थों का जैसा स्वरूप था, वैसा ज्ञान ने जान लिया। ज्ञान की स्वच्छता में ऐसी सामर्थ्य है कि सूक्ष्म में सूक्ष्म वस्तु को भी जान ले। ज्ञान में स्वच्छता होने से स्वयं अपने को तो जाने और लोकालोक को भी जान ले, ऐसी उसकी सामर्थ्य है। एक मतिज्ञान, कि जो केवलज्ञान के अनन्तवें भाग का है, उसकी स्वच्छता में भी ऐसी सामर्थ्य है कि पूर्व के कितने ही भवों को जान ले। तो केवलज्ञान की सामर्थ्य की क्या बात!

ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा को अनुभव में लेने से जो ज्ञान परिणमा, उस परिणमन में साथ ही ऐसी स्वच्छता भी परिणमती है। लोकालोक के जो अनेक पदार्थ हैं, वे सब पदार्थ आत्मा के ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होने से ज्ञान अनेकाकाररूप (-मेचक) है, तथापि उसमें कहीं मलिनता नहीं होती, लोकालोक उसमें ज्ञात होने पर भी ज्ञान तो स्वच्छ ही रहता है। अब इसी प्रकार से साधक का ज्ञान, वह भी ऐसी स्वच्छतारूप परिणमता है कि राग को जानने पर भी स्वयं रागरूप मलिन नहीं हो जाता। राग मलिन है, परन्तु राग को जाननेवाला ज्ञान मलिन नहीं है।—वाह! कैसा भेदज्ञान! स्वच्छत्वशक्ति के कारण आत्मा के उपयोग की ऐसी सामर्थ्य है कि चाहे जितने और चाहे जैसे पदार्थों को जानने पर भी स्वयं मलिन नहीं होता, तथा उसके ऊपर बोझा नहीं हो जाता। जैसे

करोड़ों-अरबों मण वजन को जाने, इससे कहीं आँख वैसी वजनदार नहीं हो जाती; उसी प्रकार ज्ञान बहुत पदार्थों को जाने, इसलिए कहीं ज्ञान में बोझा नहीं हो जाता, तथा मलिन पदार्थों को जाने, इससे कहीं ज्ञान स्वयं मलिन नहीं हो जाता; वह तो अरूपी, स्वच्छ और निरुपाधिक ही रहता है। देखो, एक दूसरी बात! अपने आनन्दादि स्वभाव को जानने पर भी ज्ञान उसमें तो तन्मय होता है, परन्तु रागादि परभाव को जानने पर ज्ञान उसमें तन्मय नहीं होता; इसलिए यही बात आकर खड़ी रही कि निजस्वभावरूप जो निश्चय, उसमें तो ज्ञान की एकता है, और परभावरूप जो व्यवहार, उसमें ज्ञान की एकता नहीं परन्तु भिन्नता है। इसलिए निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध, ऐसा साधक के ज्ञान का परिणमन है।

अहा! एक-एक शक्ति में तो कैसे रहस्य भरे हैं! ज्ञान तो दर्पण के समान अविकार है। उष्ण ज्वाला अग्नि की है, दर्पण की नहीं, दर्पण की तो स्वच्छता ही है; उसी प्रकार ज्ञानदर्पण में तो ज्ञान की स्वच्छता ही है, रूपीपना और राग, वे तो परज्ञेय हैं, वे कहीं ज्ञान के नहीं हैं; ज्ञान वैसा नहीं हो गया है, ज्ञान तो स्वच्छ ही रहा है। ऐसे स्वच्छ ज्ञान की अनुभूति जब आत्मा करेगा, तब ही वह प्रतिबुद्ध होगा, तब ही वह भेदज्ञानी और धर्मी होगा। यहाँ ज्ञान को 'मेचक' कहा, उस 'मेचक' का अर्थ मलिनता नहीं परन्तु मेचकपना अर्थात् अनेकविधपना; ज्ञान में अनेकता है, परन्तु मलिनता नहीं; लोकालोक को जाननेरूप मेचकता, वह तो उल्टे ज्ञान की स्वच्छता को प्रसिद्ध करता है। यदि लोकालोक ज्ञान में ज्ञात न हो तो वह ज्ञान की पूरी स्वच्छता नहीं, वह ज्ञान की दिव्यता नहीं।

भाई! लोकालोक जिसकी स्वच्छता में ज्ञात होते हैं, ऐसे तेरे पवित्र आत्मा को तुझे जानना हो तो तेरा ज्ञान स्वच्छ कर। मलिनदर्पण में मुख दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार मलिनभाव में आत्मा का सच्चा स्वरूप दिखाई नहीं देता। इसलिए ज्ञान को स्वच्छ कर। विकार रहित कर। शुरुआत के मंगल समय में ही सिद्ध भगवान को ज्ञान में पधराकर ज्ञान को स्वच्छ किया है, जिसने अपने ज्ञान में सिद्धप्रभु को पधराया, उसका ज्ञान, राग से पृथक् पड़कर स्वच्छ हुआ, और ऐसे स्वच्छ ज्ञान द्वारा ही अनन्त शक्तिवाले आत्मा की पहिचान और अनुभव हो सकता है।

परमाणु इत्यादि को जाने तो भी आत्मा उस जड़ परमाणुरूप होता नहीं, और आत्मा में परमाणु प्रवेश नहीं करता। परमाणु, परमाणु में रहता है; ज्ञान, ज्ञान में रहता है, दोनों अपने-अपने में रहते हैं, तथापि ज्ञान उसे जाने सही।—जानने का स्वभाव ही कोई अचिन्त्य है। जानने के लिये ज्ञान को बाहर निकलकर पर में जाना नहीं पड़ता और पर को अपने में लाना नहीं पड़ता। अहा! कैसा निरालम्बीपना! और कैसी स्वतन्त्रता! स्वयं स्वच्छ रहकर मलिनता को भी जान ले, स्वयं सुख में लीन रहकर दुःख को भी जान ले, ऐसी ज्ञान की स्वच्छता की सामर्थ्य है। वह स्वयं निश्चय का आश्रय रखकर व्यवहार को भी जान लेता है,—उसे जानता है परन्तु उसका आश्रय नहीं लेता।—ऐसा साधक का स्वच्छ ज्ञान है। निर्मल उपयोगरूप असंख्य प्रदेशी ज्ञानदर्पण में जगत के सभी पदार्थ ज्ञात होते हैं—ऐसी आत्मा की परमेश्वरता है। जैसे राजा की आज्ञा को कोई लोपता नहीं, उसी प्रकार इस ज्ञान-राजा की आज्ञा को जगत में कोई लोप नहीं सकता, एक भी ज्ञेय ज्ञान की आज्ञा से बाहर नहीं रहता, ज्ञान की पूरी स्वच्छता खिले और एक भी ज्ञेय उसमें ज्ञात हुए बिना रह जाये—ऐसा नहीं होता। ऐसी परमेश्वरी शक्तिवाला स्वयं,—परन्तु स्वयं को अपना माहात्म्य भासित नहीं हुआ, इसलिए जगत में दूसरा ईश्वर जगत के कर्तारूप से कल्पित कर लिया। भाई! किसी प्रभु में—किसी ईश्वर में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि अन्य को कुछ करे। यह ज्ञान-परमेश्वर इस जगत को जाननेवाला है, परन्तु करनेवाला नहीं।

भाई! तुझमें निरन्तर तेरी प्रभुता भरी हुई है; तू प्रतीति में ले तो भी भरी ही है और न ले तो भी भरी ही है। वह प्रभुता व्यक्त कैसे हो, उसकी यह बात है। सन्त स्वयं अपने में प्रभुता प्रगट करके उसकी पद्धति जगत को दिखलाते हैं। एक-एक शक्ति के वर्णन में अद्‌भुत आत्मवैभव की खिलावट की है। उसकी प्रतीति करने से पर्याय में वह वैभव प्रगट होता है।

एक-एक आत्मा में एक साथ अनन्त शक्तियाँ हैं; आत्मा के ज्ञानमात्रभाव में उन सभी का परिणमन वर्तता है। अमूर्त आत्मा को असंख्य प्रदेश है,—कितने? कि चौदह ब्रह्माण्ड में बिछ जायें उतने; उसके क्षेत्र की अवगाहना में संकोच-विस्तार होने पर भी आत्मप्रदेशों की संख्या में घट-बढ़ नहीं होती, और प्रदेश छोटा-बड़ा नहीं होता।

अमूर्तिक ऐसे असंख्य आत्मप्रदेशों में मूर्त-अमूर्त अनन्त पदार्थ ज्ञेयरूप से झलकते हैं; यह सब ज्ञात होने पर भी उपयोग में मलिनता नहीं आती, ऐसा स्वच्छ आत्मस्वभाव है। उपयोग स्वयं रागरहित होने पर भी उसमें राग ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है—यह तो उसकी स्वच्छता है। राग को और उपयोग को ज्ञेय-ज्ञायकपना है, वह कहीं आत्मा को रागरूप से प्रसिद्ध नहीं करता, परन्तु आत्मा को उपयोगरूप से ही प्रसिद्ध करता है। दर्पण में अग्नि ज्ञात होती है, वह दर्पण के प्रकाशस्वभाव को प्रसिद्ध करती है, उष्णस्वभाव को नहीं; उसी प्रकार आत्मा के शुद्ध-अरूपी उपयोगदर्पण में जगत के रूपी पदार्थ और विकार ज्ञात हों, वे कहीं उपयोग को रूपीपने और विकारपने प्रसिद्ध नहीं करते, परन्तु उसके स्वच्छ स्व-परप्रकाशी स्वभाव को प्रसिद्ध करते हैं। ऐसे भेदज्ञान द्वारा साधक को उपयोग की स्वच्छता का परिणमन शुरु हो गया है।

यह आत्मा स्वयं अनन्त शक्तिसम्पन्न परमात्मा है, स्वसन्मुख होकर स्वयं अपनी प्रतीति करने से अनुभव हो और शुद्धता—स्वच्छता प्रगटे। स्वच्छतारूप से परिणमता आत्मा, जगत को जानने पर भी जगत से अलिप्त रहता है। मूर्त को स्पर्श किये बिना मूर्त को जानता है, स्वयं रागी हुए बिना रागादि को जानता है, अपनी अनन्त शक्ति के निर्मल परिणमन में तन्मय रहकर सबको जानता है। इस प्रकार स्वच्छ स्वभाव से परिणमता यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अनेकान्तरूप से प्रकाशति हो रहा है।

वस्तु में जो 'उत्पाद' है, वही उसका कार्य है और वह तो वस्तु का स्वरूप ही है, तो दूसरे ने उसमें क्या किया? यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु में कारणरूप शक्ति जैसी शुद्ध है, वैसा ही शुद्ध उसका परिणमन प्रगटे, वह उसका सच्चा कार्य है, क्योंकि कारण और कार्य एक जाति के होते हैं। शुद्ध कारण का जहाँ स्वीकार हो, वहाँ कार्य भी शुद्ध होता ही है। स्वच्छत्वशक्ति से परिणमते आत्मा में सर्वत्र स्वच्छता व्याप्त है, अर्थात् सभी गुणों की पर्याय में स्वच्छता परिणम रही है।—परन्तु ऐसा कब हो? कि अनन्त शक्तिसम्पन्न स्वद्रव्य का अवलम्बन लेकर परिणमे तब। परसन्मुख रहकर परिणमे तो उसमें शक्ति का कार्य नहीं आता। शक्तिवान ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर परिणमे, उसमें ही शक्ति का कार्य आता है। स्वद्रव्य को अवलम्ब कर जो परिणमन हुआ, उसमें अनन्त गुण की निर्मल पर्यायें एक साथ उल्लसित होती हैं। इस प्रकार 'ज्ञानमात्र' स्वसन्मुख भाव में

पूरा आत्मा प्रसिद्ध होता है। ऐसी आत्मप्रसिद्धि द्वारा अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

आकाश में उड़ता पक्षी निर्मल पानी में दिखाई देता है, मलिन पानी में नहीं दिखाई देता। यद्यपि उसमें तो दोनों मूर्त हैं, यहाँ अमूर्त ज्ञानदर्पण में मूर्त और अमूर्त सब दिखता है; रागरहित के निर्मल ज्ञानदर्पण में लोकालोक स्पष्ट दिखाई देते हैं, मलिन ज्ञान में लोकालोक दिखाई नहीं देते। आत्मा की स्वच्छता के सामर्थ्य के कारण लोकालोक ज्ञात हों, इससे ज्ञान में कहीं मलिनता नहीं है। ज्ञान तो स्वच्छ है और साथ में अनन्त गुण की स्वच्छता को इकट्ठी रखकर परिणमता है। ऐसा ज्ञायक आत्मा का स्वभाव है।

जिसे आत्मा जानना हो और उसके श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव द्वारा मोक्ष साधना हो, उसे अपनी शक्तियों को पहिचानना चाहिए। शक्ति की सच्ची पहिचान द्वारा शक्तिवान ऐसा आत्मा पहिचानने में आता है और उसे दृष्टि में लेकर परिणमने से निर्मल पर्याय का विकास होता है। वहाँ उपयोग की स्वच्छता में स्व-पर समस्त पदार्थ ज्ञात हों, ऐसी उसकी स्वच्छता है। लोकालोक ज्ञात होने पर भी आत्मा नीरूप है—अमूर्त है; ज्ञेय पदार्थ कहीं उसमें प्रवेश नहीं कर गये, परन्तु ज्ञेय का जैसा स्वरूप है, वैसा यहाँ ज्ञान हुआ।—ऐसा ज्ञान की स्वच्छता का सामर्थ्य है। जिस उपयोगपर्याय में स्व-पर ज्ञेय यथार्थ न भासित हों, वह पर्याय स्वच्छ नहीं है। यहाँ तो स्वच्छ उपयोगरूप से परिणमता आत्मा ही वास्तविक आत्मा है। सम्यक्श्रद्धा के विषयभूत आत्मा में मलिनता नहीं; निर्मलपर्यायरूप परिणमते अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा सम्यक्श्रद्धा का विषय है।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में अनन्त शक्तियाँ—अनन्त गुण अथवा अनन्त धर्म पसरे हुए हैं। एक-एक धर्म के साथ दूसरे अनन्त धर्म भी साथ ही वर्तते हैं, इसलिए आत्मा के अनुभव में अनन्त शक्तियाँ एकरसरूप अनुभव में आती हैं। शाश्वत् चैतन्यनिधन से भरपूर आत्मा अनादि से ऐसा का ऐसा विराजमान है, नरक-स्वर्गादि के अनन्त भव किये, तथापि स्वभाव की स्वच्छशक्ति में वे प्रवेश नहीं कर गये। स्वच्छत्वशक्ति की स्वच्छता मिट नहीं गयी; आत्मा का स्वच्छ स्वभाव शाश्वत् ऐसा का ऐसा, नित्य आनन्द का धाम और अनन्त गुण का ग्राम (समूह) विराज रहा है; उस स्वभाव को कोई विघ्न नहीं, मलिनता नहीं और उस स्वभाव को पहिचानने पर उसमें से जो स्वच्छ पर्याय आयी, उसमें भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुआ, उसमें भी कोई विघ्न और मलिनता नहीं है।

यह आत्मा की स्वच्छता की बात चलती है। देखो न, लोगों को घर का आँगन इत्यादि में भी स्वच्छता रुचती है न! कविता में भी आता था कि मेरे स्वच्छ चित्त में प्रभु बसते हैं, तो यहाँ कहते हैं कि भाई! वास्तव में तुझे तेरे चित्त में प्रभु को बसाना हो तो तेरे चित्त को अर्थात् कि उपयोग को स्वच्छ—रागरहित कर। रागवाले चित्त में प्रभु नहीं बसते। प्रभु तो उपयोगस्वरूप है और अपने उपयोग में ही उसका वास है। भाई! उपयोग में बसनेवाला ऐसा प्रभु तू स्वयं ही है, तुझमें प्रभुता का महा वैभव भरा है, जो स्वच्छता से शोभ रहा है। अरे! इस चैतन्यप्रभु को राग की मलिनता कहीं शोभा देती होगी?—उसे तो आत्मा ही कौन कहता है?

अहो! तेरा आत्मवैभव तो महा स्वच्छ है; परन्तु पराधीन दृष्टि से तूने तेरी निजशक्ति की स्वच्छता को आच्छादित कर दिया है। स्व-शक्ति के वैभव में दृष्टि को जोड़ने से अनन्त शक्ति का धाम प्रसिद्ध होता है, अपना वैभव अपने अनुभव में आ जाता है। पर में देख-देखकर थका परन्तु तुझे कहीं सुख नहीं मिला, स्वर्ग के वैभव में से भी तुझे सुख नहीं मिला। भाई! सन्त तुझे तेरा जो निजवैभव दिखलाते हैं, उस निजवैभव को अन्तर्दृष्टि से निहारने से उसी क्षण तुझे, पूर्व में कभी नहीं हुआ—ऐसा अपूर्व आनन्द होगा। स्व में दृष्टि करने से निर्मल-पर्यायरूप आत्मा परिणमे, उसे मोक्ष का साधकभाव कहा जाता है। आनन्दधाम ऐसे चैतन्य भगवान की स्वच्छता में रागादि है नहीं तो वे रागादि, उसे मोक्ष का कारण कैसे हो? मलिनता, वह स्वच्छता का कारण कैसे हो? देह की जड़क्रिया तो आत्मा में है कहाँ? और शुभराग भी परलक्ष्यी विकृतभाव है, वह भी आत्मा के स्वच्छ स्वभाव में नहीं, इसलिए वह भी मोक्ष का कारण नहीं। जो अपने स्वभाव की जाति हो, वह मोक्ष का साधन होता है, परन्तु स्वभाव से जो विरुद्ध हो अथवा भिन्न हो, वह मोक्ष का साधन नहीं होता।

भाई! तेरा आत्मा अमूर्तिक, उसकी स्वच्छता का ऐसा सामर्थ्य है कि उसके उपयोग में समस्त पदार्थ प्रकाशमान हैं। आत्मा जड़ अथवा अन्ध नहीं कि पदार्थों को न जाने। अज्ञानरूपी मलिनता में स्व-पर पदार्थ ज्ञात नहीं होते, परन्तु स्व-शक्ति को सम्हालने पर जहाँ केवलज्ञानप्रकाश खिला और स्वच्छता प्रगट हुई, वहाँ सब उसमें ज्ञेयरूप से झलकता है। केवलज्ञान का आकार कितना? कि अपने द्रव्य-गुण जितना।—

और उसमें ज्ञात हो कितना?—कि लोकालोक के अनन्त पदार्थों के समस्त आकार उसमें ज्ञात होते हैं,—ऐसी उसकी असाधारण सामर्थ्य है।

अस्पर्श स्वभावी आत्मा जड़ को तो स्पर्शा नहीं और उसके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय विकार को भी स्पर्शे नहीं, उसके साथ एकमेक हुए नहीं। जैसे वज्र में कील प्रवेश नहीं करती, उसी प्रकार चैतन्य वज्र में विकारी कील प्रवेश नहीं करती। अस्पर्शी होने पर भी आत्मा निर्गुण या निराकार नहीं है, उसमें चैतन्यसहित अनन्त गुण हैं तथा प्रत्येक गुण का आकार असंख्यप्रदेशी आत्मा प्रमाण है। प्रत्येक गुण और पर्याय का आकार द्रव्यप्रमाण ही होता है। यद्यपि द्रव्य के गुण का और पर्याय का, ऐसे तीनों के आकार कहीं अलग-अलग तीन नहीं हैं, तीनों का होकर एक ही आकार है। इन तीनों को क्षेत्रभेद नहीं है।

ध्रुवधाम आत्मा अपनी अनन्त शक्तिसहित और गुण-पर्यायों के आकारसहित विराजता है। उसका क्षेत्र मर्यादित परन्तु सामर्थ्य अमर्यादित है। मर्यादित आकारवाली उसकी स्वच्छता में कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है कि अमर्यादित आकाश इत्यादि भी उसमें ज्ञात होते हैं। निजघर के निधान कितने बड़े हैं, उसकी जीव को खबर नहीं। जैसे श्रवणबेलगोला में चन्द्रगिरि पर तथा थूबोनजी में कितने ही मन्दिर ऐसे हैं कि बाहर से देखो तो दरवाजा एकदम छोटा, परन्तु अन्दर गर्दन झुकाकर देखे तो आहा! बड़े-बड़े भगवान खड़े हों; इसी प्रकार छोटे से आकारवाले इस आत्ममन्दिर में अन्दर स्वभाव में अन्तर्मुख होकर देखने पर अनन्त सामर्थ्यवाला महा चैतन्य भगवान विराज रहा है।—जिसे देखते ही महान आश्चर्य और आनन्द होता है। ऐसा चैतन्य भगवान तुझमें ही है। जीव बाहर की धमाधम में सब समय व्यतीत करते हैं परन्तु अन्दर के निजवैभव को निहारने के लिये एक क्षण का भी समय नहीं निकालते। अरे! यदि एक ही क्षण भी निज आत्मा के निधान को निहारे तो उसकी अचिंत्य महिमा लक्ष्य में आवे और जगत की महिमा छूट जाये। निज निधान को निहारने से ही संसार का व्यय और मोक्ष का उत्पाद होने लगता है।

उपयोग की स्वच्छता में लोकालोक झलकते हैं, इसलिए उसे साकार कहा है। परन्तु साकार का अर्थ ऐसा नहीं है कि नीम-पर्वत-प्रतिमा इत्यादि परद्रव्य का आकार

ज्ञान में प्रवेश कर जाये, अथवा ज्ञेय वस्तु जितनी लम्बी-चौड़ी-ऊँची हो, उतना लम्बा-चौड़ा-ऊँचा ज्ञान हो जाये। यदि ऐसा हो तब तो इस पाँच-छह फीट जितने आकार में ५७ फीट ऊँचे बाहुबली भगवान की मूर्ति का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा; और अलोक को जानने के लिये अलोक जितना चौड़ा होना पड़ेगा! परन्तु ऐसा नहीं है; ज्ञान की ही कोई ऐसी अचिंत्य सामर्थ्य है कि अपने आत्म-आकार रहकर अपने से बड़े आकारवाले समस्त पदार्थों को भी जान लेता है। जैसे ज्ञान में ज्ञेय का कड़वा-मीठा रस आ नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञान में पर का आकार भी नहीं आता; जैसे ज्ञान स्वयं अरस रहकर रस को जानता है, अरागी रहकर राग को जानता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं स्व-आकार रहकर पर के आकार को जानता है। अहो! ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञान की कैसी निरपेक्षता! परज्ञेयों को जानते हुए स्वयं उन ज्ञेयों में मिल नहीं जाता, पृथक् का पृथक् निज स्वरूप में रहता है। ज्ञान 'साकार' है, इसका अर्थ इतना कि वह स्व-पर का प्रकाशक है। ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे किसी में स्व-पर के भिन्न-भिन्न आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य नहीं है।

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों के प्रदेश एक हैं। असंख्यप्रदेशी क्षेत्ररूप आत्मा का जो स्वघर, उसकी मर्यादा कितनी और उसमें कैसा वैभव भरा है, उसका यह वर्णन है। स्वघर में आये बिना सुख कहाँ से होगा? इसलिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से आत्मा को पहिचानना चाहिए। इस प्रकार से ज्ञानमात्र आत्मा को लक्ष्यगत करके अनुभव में लेने से उसकी स्वच्छता ऐसी प्रगट होती है कि लोक-अलोक के समस्त पदार्थ उसमें ज्ञात होते हैं, तथापि उसमें मलिनता नहीं होती।

अलग-अलग शक्तियों का वर्णन करने में गुणभेद तो पड़ता है, परन्तु उस भेद का कुछ प्रयोजन नहीं है, अनन्त गुण के वैभववाला अभेद आत्मा समझाने का प्रयोजन है। यह बात आठवीं गाथा में कह गये हैं; दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से आत्मा का कथन किया, वहाँ उस भेद का विकल्प अनुसरनेयोग्य नहीं है, परन्तु अभेद आत्मा का अनुभव करनेयोग्य है। वह अभेद बतलाने के लिये ही भेद पाड़कर बतलाया है। भेद करनेवाले को उस समय ही लक्ष्य में है कि मुझे इस भेद का अवलम्बन कराना नहीं है, परन्तु अभेद आत्मा बतलाना है; और उस उपदेशक के आशय अनुसार शिष्य भी वैसे

अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर अनुभव करता है, वही वास्तविक शिष्य और वही वास्तविक श्रोता है। इसी प्रकार यहाँ भी एक-एक शक्ति अनन्त शक्तिवाले पूर्ण आत्मा को प्रसिद्ध करती है। ज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि गुणभेद से वर्णन करने पर भी किसी गुणभेद का अवलम्बन नहीं, अनन्त धर्मवाला आत्मा ही अवलम्बनयोग्य है, उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादिरूप स्वच्छता प्रगट होती है। एक साथ अनन्त गुणों में स्वच्छता का परिणमन होने लगता है, इसका नाम धर्म है। अनन्त गुण से भरपूर पूर्ण आत्मस्वभाव का अवलम्बन, वह मूलवस्तु है, वही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपाय है और उसी उपाय द्वारा चैतन्य दर्पण की पूर्ण स्वच्छता खिलकर लोकालोक सहजरूप से उसमें झलकता है। इसलिए ऐसे केवलज्ञान को जगत का मंगलदर्पण कहा है।

स्वच्छत्वशक्ति का वर्णन समाप्त हुआ।

* * *

गुरुदेव के हाथ में पहली बार संवत् १९७८ में जब समयसार आया और जरा सा पढ़ा, वहाँ ऐसा भणकार आया कि अहो! इस समयसार में अशरीरी होने की बात है। अशरीरी ऐसे सिद्धपद का मार्ग इसमें बतलाया है। अन्तर में से सिद्धपद की भणकार करती सन्तों की यह वाणी आयी है। इस समयसार में ज्ञायकस्वरूप बतलाकर सिद्धपद का अलौकिक मार्ग बतलाया है।

[१२]

प्रकाशशक्ति

स्वयम्प्रकाशमानविशदस्वसम्वित्तिमयी प्रकाशशक्तिः।

स्वयं प्रकाशमान विशद (–स्पष्ट) ऐसे स्वसंवेदनमयी(–स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति।१२।

आत्मा का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन, वह मोक्षमार्ग है। अरे जीव! एक बार तेरे वीर्यबल को स्वसन्मुख उल्लसित करके तेरे स्वभाव की हाँ कर... पुरुषार्थ की तीक्ष्ण धारा से अन्तरस्वभाव का अपूर्व पक्ष कर.... उसका उल्लास ला। स्वभाव का यथार्थ निर्णय करे, उसे स्वसंवेदन हुए बिना रहता नहीं। ऐसा स्वसंवेदन, वह धर्म है, वह परम आनन्दरूप है।

इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में एक प्रकाशशक्ति है; इस शक्ति के बल से आत्मा पर की सहायता बिना—रागरहित स्वयं अपने को स्पष्ट प्रकाशित करता है और स्वानुभव करता है। इस शक्ति की अचिन्त्य महिमा है।

जब जो शक्ति आवे, तब उसके गीत गाये जाते हैं, बाकी तो प्रत्येक शक्ति पूर्ण आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाली है; प्रत्येक शक्ति अपने पूर्ण सामर्थ्य से भरपूर है और विकार के अभावरूप है। एक शक्ति को पृथक् करके उसका आश्रय नहीं किया जा सकता। शक्ति और शक्तिवान पृथक् नहीं हैं, गुण और गुणी पृथक् नहीं हैं, इसलिए द्रव्य की शक्ति का और गुण का स्वरूप पहिचानने पर अनन्त धर्मसम्पन्न पूरा द्रव्य पहिचानने में आ जाता है, और उसकी प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन होता है। उसमें कहीं बीच में राग का या निमित्त का अवलम्बन नहीं है। उसके अवलम्बन बिना आत्मा स्वयं ही अपने को स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रकाशित करता है, ऐसा उसका प्रकाशस्वभाव है।

इसमें दो बातें आयीं—एक तो स्वानुभव में आत्मा स्वयं अपने को स्पष्ट प्रकाशित करता है और वह स्वभाव स्वयं प्रकाशमान है, उसमें आत्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी का हाथ नहीं। ऐसे स्वसंवेदन की सामर्थ्यवाला आत्मा है।

कोई कहे कि आत्मा ज्ञात नहीं होता?

— तो यहाँ कहते हैं कि भाई! आत्मा स्वयं अपने को स्वानुभव में प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा तो उसका स्वभाव ही है, और उसमें किसी दूसरे की आवश्यकता न पड़े, ऐसा स्वयं प्रकाशमान स्वभाव है। दीपक स्वयं ही प्रकाशित कर रहा है कि मैं दीपक हूँ, दीपक को देखने के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यप्रकाशी दीपक स्वयं ही अपने को स्वसंवेदन में प्रकाशित कर रहा है। ज्ञान स्वयं ही अपने को प्रकाशित कर रहा है कि मैं ज्ञान हूँ, इस प्रकार आत्मा स्वयं प्रकाशमान है, उसे प्रकाशित होने के लिये किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती, राग की और इन्द्रियों की तो बात ही कहाँ रही? वे तो अन्धकाररूप हैं, चेतनप्रकाश में उनका अभाव है।

कोई कहे कि आत्मा स्वयं अपने को नहीं जानता।—अरे भाई! तब तो आत्मा

स्वयं प्रकाशमान नहीं रहा! यहाँ तो भगवान कहते हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाशवान है; और अपने को भी ज्ञान को अन्तर्मुख करके स्पष्ट स्वसंवेदन होता है कि मेरा आत्मा मेरे वेदन में आया। आत्मा उपयोगस्वरूप है, उसके उपयोग में उपयोग ही है और उपयोग में रागादि नहीं—ऐसा धर्मी जीव भेदज्ञान द्वारा स्वयं अपने को स्पष्ट अनुभव करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि राग द्वारा अथवा इन्द्रियों की ओर के ज्ञान द्वारा आत्मा कभी अनुभव में आ नहीं सकता; परन्तु राग से और इन्द्रियों से पार ऐसे अन्तर्मुख उपयोग द्वारा तो आत्मा स्वयं अपने को साक्षात् अनुभव करता है और उस अनुभव में परम आनन्द होता है। ऐसा साक्षात् अनुभव करना, वह प्रकाशशक्ति का कार्य है।

रागादि आस्रवों में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि स्वयं अपने को प्रकाशित करे; ज्ञान में ही ऐसी सामर्थ्य है कि स्वयं अपने को प्रकाशित करे। राग को खबर नहीं कि मैं राग हूँ और उसे प्रकाशित करनेवाला तो ज्ञान है। ज्ञान को खबर है कि मैं ज्ञान हूँ और यह राग है; ऐसे स्व-पर दोनों को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान ही है।

श्रीगुरु के उपदेश से आत्मा का स्वरूप समझकर जो रत्नत्रयरूप परिणमा है और 'आत्माराम' हुआ, उसे अपने स्वरूप का संचेतन कैसा होता है, यह बतलाते हुए ३८वीं गाथा में कहते हैं कि मैं चिन्मात्रज्योति आत्मा वास्तव में आत्म-प्रत्यक्ष हूँ, मेरे आत्मा के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से मैं मुझे अनुभव करता हूँ। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा स्वसंवेदन हुआ है। अहा, इस स्वसंवेदन की अपार महिमा है, सभी गुणों का रस स्वसंवेदन में समाहित है; स्वसंवेदन द्वारा मोक्ष के द्वार खुल जाते हैं। शुरुआत के मंगलाचरण में ही '**स्वानुभूत्या चकासते**' ऐसा कहकर, शुद्ध आत्मा स्वानुभूति द्वारा प्रकाशित होता है अर्थात् कि अनुभव में आता है—ऐसा बतलाया था। यहाँ प्रकाशशक्ति में भी यही कहते हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाशमान है। आत्मा का स्वसंवेदन—स्वानुभव में दूसरे किसी का अवलम्बन नहीं है, वह स्वयं अपने आप ही अपने को प्रकाशित करता है।

अहा, आत्मा का प्रकाशस्वभाव तो एकदम स्पष्ट स्वसंवेदनरूप कार्य बतलाता है; उसमें जरा भी परोक्षता रहे, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं

अपने को और पर को जाने, उसमें उसे राग का निमित्त या दूसरे किसी का अवलम्बन लेना पड़े, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; किसी के अवलम्बन बिना स्पष्ट-प्रत्यक्षरूप से प्रकाशित हो, ऐसा उसका प्रकाशस्वभाव है। स्वयं अपने से स्वयं प्रकाशित होनेवाला है। अपनी स्वानुभूति से ही स्वयं अपने को प्रकाशित कर रहा है, उसमें दूसरे किसी का अवलम्बन नहीं है।

ऐसा स्वयं प्रकाशीपना वह आत्मा का वैभव है, आत्मा की वह सच्ची सम्पदा है। शुरुआत में आचार्य भगवान ने (पाँचवीं गाथा में) कहा था कि सुन्दर आनन्द की छापवाला जो प्रचुर स्वसंवेदन, उसके द्वारा मेरा आत्मवैभव प्रगट हुआ है और मेरे समस्त आत्मवैभव द्वारा मैं इस समयसार में एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा दिखलाता हूँ, तुम तुम्हारे स्वानुभव-प्रत्यक्ष द्वारा उसे प्रमाण करना। देखो, साधक के श्रुतज्ञान में भी आत्मा को स्वानुभव प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य है। स्वयं प्रकाशमान और स्पष्ट ऐसा आत्मा का स्वसंवेदन श्रुतज्ञान द्वारा हो सकता है और ऐसा स्वसंवेदन करे, तब ही सच्चा आत्मज्ञान होता है और तब ही धर्म होता है। इस स्वसंवेदन में अतीन्द्रिय आनन्द झरता है, अनन्त गुण की निर्मलता उसमें परिणमती है।

आत्मा को कैसे जानना, उसकी यह बात है। अहा! तू स्वयं कैसा, और कितना? यह जाने बिना तुझे तेरी महिमा कहाँ से आयेगी? महिमा आये बिना स्वसन्मुखता कहाँ से होगी? और स्वसन्मुखता बिना सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? सम्यग्दर्शन बिना सुख की राह कहाँ से हाथ आयेगी? इसलिए हे भाई! तेरा जैसा स्वरूप है, वैसा लक्ष्य में लेकर उसकी महिमा कर। स्व की महिमा जागृत होने से पर की महिमा उड़ जायेगी, अर्थात् स्व-पर का भेदज्ञान होकर स्वसन्मुखता होगी; स्वसन्मुख स्वसंवेदन में तेरा आत्मा स्वयं प्रकाशमान होगा अर्थात् कि आनन्दसहित अनुभव में आयेगा। सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने की और सुखी होने की यह पद्धति है। सुख की राह अन्दर में समाहित होती है, बाहर में कुछ नहीं।

जैसे बिल्ली लोटनजड़ी नाम की वनस्पति के आसपास घूमा करती है, उसी प्रकार मोह से आत्मा निजवैभव को भूलकर परद्रव्य में उपयोग को भ्रमाया करता है,—

मानो कि इसमें से मुझे सुख मिलेगा! परन्तु अन्दर में स्वयं अपने आत्मवैभव को देखता नहीं—कि जिसमें परम सुख भरा है। भाई! अन्दर नजर तो कर, तू तो शाश्वत् आनन्द का निधान है; केवली प्रभु की वाणी भी जिसकी महिमा गाये, सुधा का जो अमृतसागर, ऐसा तू, अरे! तेरे सुख के समुद्र को भूलकर पुण्य-पाप के कीचड़ में तू अटक गया! राग को ही अपना स्वरूप मानकर उससे तूने लाभ माना, परन्तु अनन्त गुणस्वरूप तेरे निजवैभव को तूने नहीं जाना। तेरा निजस्वरूप अनन्त गुण का रसकन्द है, जो मन के शुभ विकल्प से भी पार है, उस पर लक्ष्य कर तो उसका कोई अपूर्व आनन्द तुझे तेरे से अनुभव में आयेगा।

स्वयं अपने को जानने में आत्मा स्वतन्त्र है। उसमें किसी दूसरे का जरा भी अवलम्बन नहीं है। स्वयं प्रकाशित हो और स्पष्ट प्रकाशित हो, इसलिए दूसरे का अवलम्बन ले नहीं और अस्पष्टता रहे नहीं—ऐसे स्वसंवेदनरूप आत्मा है।

स्पष्ट ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, अर्थात् कोई अकेले परोक्षज्ञान द्वारा आत्मा को जानना चाहे तो वह जानने में नहीं आता, दूसरे प्रकार से कहें तो व्यवहार के अवलम्बन से आत्मा ज्ञात नहीं होता। स्वप्रकाशी आत्मा प्रकाशमान होता है अर्थात् कि अनुभव में आता है।

आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष नहीं हो सकता—ऐसा कोई माने तो वह बात सच्ची नहीं है। ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है कि स्वसंवेदन से आत्मा को प्रत्यक्ष करे।

मुमुक्षु : क्या मति-श्रुतज्ञान में आत्मा को प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष करने की मति-श्रुतज्ञान में भी सामर्थ्य है।

आत्मा को प्रत्यक्ष करे, ऐसी सामर्थ्य राग में नहीं, परन्तु ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है। अपने ज्ञान में अपनी वस्तु गुप्त कैसे रह सकती है? आत्मा का अनुभव करने के लिये पहले उस ओर ढलकर उसका निर्णय करना चाहिए कि स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष होने का मेरा स्वभाव है; राग द्वारा अनुभव में आ सके—ऐसा मेरा स्वभाव नहीं। इस प्रकार दृढ़ निर्णय करने से राग की ओर का झुकाव छूट जाता है और ज्ञानस्वभाव की ओर झुकाव

होता है; इस प्रकार बीच से राग के पर्दे को तोड़कर आत्मा स्वानुभव करता है। स्वानुभव में जो आत्मा आया, उसकी शक्तियों का अर्थात् उसके वैभव का यह वर्णन है।

जीव ने निजस्वरूप के वैभव को अनादि काल से निहारा ही नहीं था; अशुभ और शुभ के बीच ही गुलांट खाता रहा परन्तु उनसे पार तीसरी वस्तु का कभी वेदन नहीं किया। वह वस्तु यहाँ सन्त बतलाते हैं। आत्मा का आनन्द पुण्य-पाप रहित है, उसमें राग-द्वेष नहीं; ऐसे आनन्दस्वरूप आत्मा को स्वसंवेदन से ही अनुभव किया जा सकता है।

आत्मा में अपने में जो महाकीमती गुण हैं, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं और पर की कीमत करता है। बापू! तेरे अनन्त गुण की महिमा की क्या बात! जिसे अपने आनन्द के अनुभव के लिये आहार की आवश्यकता नहीं, शरीर की आवश्यकता नहीं; हवा की और पानी की आवश्यकता नहीं और विकल्प की भी आवश्यकता नहीं, स्वयं अपने से ही अपने को प्रत्यक्ष अनुभव करे और आनन्द को प्राप्त करे, ऐसी सामर्थ्यवाला आत्मा है। अन्न और पानी, मन और वाणी इन किसी की जिसमें आवश्यकता नहीं, ऐसा स्वाधीनसुख आत्मा में है।

आत्मा की प्रकाशशक्ति स्वसंवेदनमयी है, उसके दो विशेषण दिये—एक तो स्वयं प्रकाशमान, और दूसरा विशद अर्थात् कि स्पष्ट; ऐसे स्वसंवेदनवाली प्रकाशशक्ति है। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ ऐसी प्रकाशशक्ति निर्मलरूप से खिलने लगी, अर्थात् कि प्रत्यक्ष और राग बिना का एक स्वसंवेदन हुआ, ऐसे स्वसंवेदन बिना सम्यग्दर्शन हुआ नहीं कहलाता।

अरे! संसार में लक्ष्मी के लिये जीव कितना दगा—प्रपंच और राग-द्वेष करता है! उसमें जीवन गँवाता है और पाप बाँधता है। भाई! तेरे स्वघर की चैतन्यलक्ष्मी महान है, उसकी सम्हाल कर न! उसमें कहीं दगा—प्रपंच नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, किसी की आवश्यकता नहीं है, तथापि वह महा आनन्दरूप है। बाहर की लक्ष्मी मिले तो भी उसमें सुख नहीं मिलता; यह चैतन्यलक्ष्मी स्वयं महा आनन्दरूप है और स्वयं प्रकाशमान है। ऐसा अपार वैभव तुझमें भरा है, उसे तो लक्ष्य में ले। उसमें कहीं एक विकल्प का भी बोझ नहीं है।

दुनिया के वैभव से यह वैभव अलग प्रकार का है। आत्मा स्वशक्ति के वैभव से पूरा है, उसे किसी बाहर के साधन की आवश्यकता नहीं है। रंक हो या राजा, स्वर्ग में हो या नरक में, कहीं आत्मा को अपनी शान्ति के लिये बाहर के आधार की और बाहर के साधन की आवश्यकता नहीं है; अन्य पदार्थ की अपेक्षा बिना ही अपना प्रत्यक्ष संवेदन करके अपनी शान्ति का अनुभव करता है। उस अनुभव के लिये जैसे बाहर का साधन नहीं, उसी प्रकार बाहर की प्रतिकूलता उसमें अवरोधक भी नहीं। ऐसे अनुभव में स्वयं अपने को प्रत्यक्ष करता है।—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वानुभव में परोक्षता रहे, ऐसा स्वभाव नहीं है। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ (चौथे अविरत गुणस्थान में भी) आत्मा स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष हो जाता है। वाह! प्रत्यक्षता का स्वभाव है, परोक्षता रहे ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं। परोक्षता को भी जो अपना स्वभाव न माने, वह राग को अपना स्वभाव कैसे मानेगा? और जड़ को अपना कैसे मानेगा?—मानेगा ही नहीं; इसलिए इस शक्ति के निर्णय में निश्चय का आदर और व्यवहार का निषेध आ ही गया है।

भाई! ऐसे आत्मा के अनुभव का काल, वह तेरा सुकाल है—स्वकाल है, स्वसमय है, और वही तेरा स्वभाव है। अरे! ऐसे अनुभव के लिये प्रयत्न में और उसकी चर्चा में जो समय व्यतीत हो, वह भी सफल है। ऐसा उत्तम अवसर प्राप्त करके यही करनेयोग्य है। भव तो ऐसा का ऐसा चला ही जाता है, उसमें यह कर लेने योग्य है। परोक्षता में समाहित हो जाये, ऐसा आत्मा नहीं है, प्रत्यक्षता में ही वह आवे ऐसा है। प्रत्यक्षता कही, अर्थात् उसमें कोई आवरण नहीं रहा; आवरणवाला भाव वह आत्मा का स्वभाव नहीं। प्रकाशशक्ति के कारण आत्मा ऐसे स्पष्ट स्वसंवेदनवाला है कि वह स्वसंवेदन में गुप्त नहीं रह सकता। धर्मी के स्वसंवेदन में वह स्पष्टरूप से प्रकाशमान होता है। अकेले परोक्षता से कोई उसे जान ले, ऐसा आत्मा नहीं है।

अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा कर्म के आवरण से आवृत्त नहीं; उसके स्वभाव को कोई आवरण नहीं तथा उसका जो स्वसंवेदन प्रगट हुआ, उसमें भी कोई आवरण नहीं है। ऐसे आत्मा को स्वसंवेदन से प्रतीति में लेना—वह सुख का मार्ग है। गगन जैसे निरालम्बी आत्मा में स्वसंवेदन द्वारा आनन्द के झरने झरते हैं। चैतन्य के इस

आनन्द प्रवाह में बीच में रागादि मलिनता नहीं है। चैतन्य अमृत में विकाररूपी जहर का स्वाद कैसे हो? ऐसा शुद्धस्वरूप उपदेश करनेवाले वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र पूज्य हैं, विनय योग्य हैं, परन्तु इससे उनकी ओर के शुभराग द्वारा भगवान आत्मा प्रसिद्ध हो जाये या स्वसंवेदन में आ जाये—ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। राग की मर्यादा राग जितनी है, उसके द्वारा शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदन हो जाये—ऐसी उसकी मर्यादा नहीं है। शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदन तो राग के और मन के आधार रहित है। प्रकाशशक्ति के आधार से वह कार्य होता है, दूसरा उसमें कोई साधन नहीं है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा निरालम्बी है, वह स्वशक्ति को ही अवलम्बन करनेवाला है और पर को अवलम्बन करनेवाला नहीं। प्रकाशशक्तिरूप निजगुण का कार्य तो यह है कि रागरहित सीधे ज्ञान अपने आत्मा को वेदे; उस वेदन में अनन्त गुणों के स्वाद का प्रत्यक्षवेदन समाता है और अनन्त आनन्द प्रगट होता है। अभी तो ऐसे भगवान आत्मा को श्रद्धा में भी न ले, अरे! प्रेम से उसका श्रवण भी न करे, उसे उसका प्रत्यक्ष संवेदन तो कहाँ से प्रगट हो? स्वभाव जैसा है, वैसा प्रतीति में ले, तो उसका संवेदन प्रगट हो।

अहा! भरत चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भगवान के निकट जाकर नम्रतापूर्वक आत्मा के स्वसंवेदन की पद्धति पूछते थे और उसे झेलकर अपने अन्तर में वैसा स्वसंवेदन करते थे। उसकी यह बात है। इस काल में भी आत्मा का स्वसंवेदन हो सकता है। ऐसा संवेदन कैसे हो अर्थात् कि सम्यग्दर्शन कैसे हो, उसकी यह बात है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसके अतिरिक्त दूसरे उपाय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। ऐसे सत् आत्मा की महिमा आवे, उसकी प्रतीति हो और उसका वेदन हो, वह अपूर्व है, वह मंगल है, वह धर्म है और वह मोक्ष का मार्ग है। चौथे गुणस्थान से ही आंशिक प्रत्यक्ष स्वानुभव हो जाता है, और निःशंक प्रतीति होती है कि मेरा आत्मा सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वसंवेदन स्वभाववाला ही है, जरा भी परोक्षता रहे, वह मेरा स्वभाव नहीं। ऐसी प्रतीति द्वारा धर्मी जीव ने अनन्त धर्मवाले अपने शुद्ध आत्मा में अविचल दृष्टि स्थापित की है।

यह आत्मा चैतन्यहीरा वज्र जैसा है, परभाव का एक कण भी उसमें प्रवेश नहीं

कर सकता। अहा! ऐसा चैतन्य हीरा महादुर्लभ है, कभी किसी विरले को वह प्राप्त होता है। ऐसे चैतन्य हीरा की कीमत समझे तो जगत के पदार्थों की महिमा छूट जाये और उस निज तत्त्व की महिमापूर्वक अन्तर्मुख होकर स्वानुभव करे, अर्थात् सम्यग्दर्शनादि हो। सम्यग्दर्शन के साथ सब गुणों में आंशिक शुद्धता होती है, इसलिए 'सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व'—ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है।

आत्मा के सभी गुण एक साथ परिणम रहे हैं, इसलिए एक गुण में शुद्धता होने पर सभी गुणों में शुद्धता का अंश शुरु हो जाता है। आत्मा के अनन्त गुणों का परिणमन एक साथ है परन्तु कथन में वे एक साथ नहीं आ सकते; कथन क्रम-क्रम से होता है और उस कथन में भी अमुक ही गुण आ सकते हैं, सभी गुण आ नहीं सकते क्योंकि शब्द मर्यादित हैं और गुण अमर्यादित अनन्त हैं। तैंतीस सागरोपम के असंख्यात वर्षों तक सर्वार्थसिद्धि के सभी देव आत्मगुणों का कथन करे तो भी अनन्तवें भाग के गुणों का ही कथन हो सकता है; अनन्त गुणों का वर्णन शब्दों से पूरा नहीं हो सकता, अनुभव में पूरा आवे। अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा वचन का और विकल्प का विषय नहीं, वह तो अन्तर्मुख ज्ञान का विषय है।

शक्ति अर्थात् वस्तु का स्वभाव, अथवा गुण। अथवा धर्म। एक-एक आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण हैं; गुणों का पुंज अर्थात् कि सर्वगुणों का एक रस पिण्ड, वह आत्मा है; संख्या से और सामर्थ्य से दोनों प्रकार से अमाप शक्ति का समुद्र आत्मा है। विकल्प में भिन्न-भिन्न अनन्त शक्तियाँ नहीं आ सकतीं, अभेद अनुभव में सब शक्तियाँ एक साथ आ जाती हैं। यह ज्ञान, यह सुख, यह प्रभुता, यह प्रकाशशक्ति—ऐसे भेद पाड़कर अनन्त शक्तियों को जानना चाहे तो छद्मस्थ जान नहीं सकता, क्योंकि एक शक्ति को विचार में लेने पर असंख्य समय लगते हैं और अनन्त शक्ति को विचार में लेकर जानने में अनन्त काल लगे! परन्तु साधकदशा का काल अनन्त नहीं होता, साधकदशा असंख्य समय की ही होती है। इसलिए भेदसन्मुख रहकर अनन्त शक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु अभेद स्वभाव के सन्मुख होकर ही अनन्तशक्तिवाले आत्मा का ज्ञान हो सकता है। केवली भगवान अनन्त आत्मशक्ति को एकसाथ भिन्न-भिन्न स्वरूप से भी

जान रहे हैं। छद्मस्थ का ज्ञान भिन्न पाड़कर अनन्त शक्तियों को नहीं जान सकता परन्तु अभेद—अनुभव में जो अखण्ड आत्मा आया, उसमें उसकी सभी शक्तियाँ इकट्ठी ही हैं; स्वानुभव में सम्पूर्ण आत्मवैभव समाहित होता है। इस प्रकार अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा स्वानुभव का विषय है, विकल्प का विषय नहीं।

ऐसा स्वानुभवगम्य भगवान आत्मा स्वसंवेदन में ज्ञानी को अत्यन्त स्पष्टरूप से स्वयं प्रकाशित होता है, ऐसी उसकी प्रकाशशक्ति है। प्रकाशशक्ति का सच्चा कार्य कब प्रगट हो? कि अन्तर्मुख होकर स्वसंवेदन करे, तब उस स्वानुभव में आत्मा स्वयं प्रकाशमान होता है, वह प्रकाशशक्ति का सच्चा कार्य है।

भाई! तेरा स्वभाव अचिन्त्य है, तेरा आत्मवैभव अनन्त सामर्थ्यवाला है। क्षेत्र विशाल हो, इसलिए अधिक गुण और क्षेत्र छोटा हो, इसलिए कम गुण—ऐसा नहीं है। बड़ा आकार हो या छोटा आकार हो, प्रत्येक आत्मा में प्रदेश और गुण समान हैं, कम-अधिकार नहीं। उन गुणों का यह वर्णन है। आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से उसमें अकेला ज्ञान नहीं परन्तु ज्ञान के साथ अनन्त गुण हैं, यह बतलाकर अनन्त शक्तिवाले आत्मा की दृष्टि करानी है।

श्रुतपर्याय ने अन्तर्मुख होकर जहाँ चैतन्यस्वभाव को ध्येय बनाया, वहाँ उसका प्रत्यक्ष स्वसंवेदन हुआ, स्वानुभव में आत्मा स्वयं प्रकाशमानरूप से प्रगट हुआ। श्रुतपर्याय में पूरा आत्मा अनन्त गुणसहित प्रत्यक्ष होकर स्वसंवेदन में आया। स्वानुभव के समय आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में तन्मय होकर स्वयं अपने को स्पष्टरूप से वेदता है, उस वेदन में राग का अभाव है। ऐसा वेदन करे, तब सम्यग्दर्शन होता है। ऐसे सम्यग्दर्शन के पश्चात् ज्ञान की विशेष स्पष्टता और चारित्र की विशेष स्थिरता प्रगट होती है।

प्रकाशशक्ति के कारण आत्मा में ऐसा स्वभाव है कि स्वयं अपने स्वसंवेदन से ही प्रत्यक्ष होता है। अरूपी अतीन्द्रिय आत्मा रागादि के अभावरूप से स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है। स्वसंवेदन में चौथे गुणस्थान में भी ऐसा प्रत्यक्षपना है; उसके बिना प्रतीति सच्ची नहीं होती। द्रव्य पर दृष्टि करने से ऐसा स्वसंवेदन प्रगट होता है और सम्यग्दर्शन होता है। स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष होने का आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है, परन्तु वह प्रगटे कब? कि ऐसे स्वभाव-सन्मुख दृष्टि करे तब।

अरे! ऐसे आत्मस्वरूप के विचार में—मनन में ज्ञान को रोके तो उसके अनुभव का मार्ग मिले, और जन्म-मरण का चक्र मिटे। मुश्किल से ऐसा दुर्लभ अवसर मिला, उसमें यदि यह न समझे तो कहीं अन्त आवे, ऐसा नहीं है। तेरी आत्मवस्तु ऐसी है कि उसके ऊपर नजर करते ही निहाल कर दे। भाई! दृष्टि करनेयोग्य आत्मा कैसा है?—कि जिसके ऊपर दृष्टि देने से सम्यग्दर्शनरूपी दूज उगती है और केवलज्ञान होता है!—तो कहते हैं कि स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष होने का जिसका स्वभाव है, ऐसे आत्मा को दृष्टि में ले। उसे दृष्टि में लेते ही आनन्दसहित स्वसंवेदन होगा। सम्यग्दर्शन होगा और आनन्दसहित आत्मा प्रत्यक्ष न हो, ऐसा होता नहीं। जिसे आनन्द का अनुभव नहीं, उसे सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। सच्ची श्रद्धा है और आनन्द नहीं अथवा ज्ञान है और आनन्द नहीं—ऐसा कोई कहे तो उसने अनन्त गुण के पिण्ड को प्रतीति में लिया ही नहीं; क्योंकि आत्मा में ज्ञान-श्रद्धा-आनन्द इत्यादि सर्व गुणों का परिणमन एकसाथ है। 'सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व' यद्यपि सम्यक्त्व तो श्रद्धा-गुण की पर्याय है, परन्तु उस श्रद्धा के साथ आनन्द है, ज्ञान है, प्रत्यक्षपना है, प्रभुता है—इस प्रकार सर्व गुण इकट्ठे परिणमते हैं; ज्ञान और आनन्द को सर्वथा अलग माने, अथवा श्रद्धा और आनन्द को सर्वथा अलग माने, उसे अखण्ड आत्मा का अनुभव ही नहीं है, उसे अनेकान्त की खबर नहीं है।

राग के कारण आत्मा प्रत्यक्ष होता है—ऐसा नहीं है। जिसने राग को आत्मा के स्वसंवेदन का साधन माना, उसने स्वसंवेदनमय प्रकाशशक्तिवाले आत्मा को जाना नहीं, उसने तो राग को ही आत्मा माना है। राग द्वारा आत्मा का अनुभव होना माना, उसने राग को ही आत्मा माना। अन्दर सूक्ष्म गुण-गुणीभेद के विकल्प में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन कर सके। प्रकाशगुण में ऐसी सामर्थ्य है कि वह परिणमकर स्वसंवेदन में आत्मा को प्रत्यक्ष करे। ऐसे वैभववाले भगवान आत्मा को विकल्पगम्य माना, वह तो उसका अपवाद करने जैसा हुआ। जैसे बड़े राजा को भिखारी समझकर कोई बुलावे तो उसमें राजा का अपमान होता है, उसी प्रकार जगत में सबसे बड़ा यह चैतन्यराजा, उसे एक तुच्छ राग में प्राप्त हो, ऐसा मान लेना, वह उसका अपमान है, बड़ा गुनाह है और इस गुनाह की सजा संसाररूपी जेल है। भाई!

इस संसार की जेल में तू अनन्त काल से बन्द है; अब तुझे उस जेल में से छूटना हो तो चैतन्यराजा जैसा है, वैसा तू पहिचान।

अरे! अनन्त गुण के वैभव से भरपूर चैतन्य भगवान को रागगम्य मानना, वह तो उसे रागी मानने जैसा है। सम्यग्दर्शन ने पूरे आत्मद्रव्य को स्वीकार किया है, उसमें प्रकाशशक्ति का स्वीकार साथ ही है, इसलिए राग बिना स्वसंवेदन होता है, ऐसा आत्मा सम्यग्दर्शन ने स्वीकार किया है, रागवाला आत्मा सम्यग्दर्शन ने स्वीकार नहीं किया। सम्यग्दर्शन के आत्मा में अनन्त गुण का निर्मल कार्य है, परन्तु राग उसमें नहीं है।

अरे जीव! एक बार तेरे वीर्यबल को स्वसन्मुख उल्लसित करके तेरे ऐसे स्वभाव की हाँ तो पाड़! पुरुषार्थ की तीक्ष्ण धारा से ऐसे द्रव्यस्वभाव का अपूर्व पक्ष कर... उसका उल्लास ला। ऐसे स्वभाव का यथार्थ निर्णय करे, उसे स्वसंवेदन हुए बिना नहीं रहता। आत्मा का ऐसा स्वसंवेदन वही धर्म है। वही मोक्षमार्ग है। राग का अनुभव जीव को अनादि का है, वह कहीं धर्म नहीं। रागादि भाव का अनुभव, वह तो कर्मचेतना है। भगवान आत्मा को अनुभव में लेने की सामर्थ्य उसमें नहीं है; अन्तर में झुकी हुई ज्ञानचेतना में ही भगवान आत्मा को अनुभव में लेने की सामर्थ्य है।

भाई! तेरे अन्दर के शुभ विकल्प में भी स्वसंवेदन कराने की सामर्थ्य नहीं, तो फिर आत्मा से भिन्न बाहर की वस्तु में स्वसंवेदन कराने की सामर्थ्य कहाँ से होगी? इसलिए राग की—व्यवहार की और पराश्रय की रुचि छोड़, तब ही तुझे परमार्थ आत्मा अनुभव में आयेगा। निमित्त का और व्यवहार का आश्रय छोड़कर द्रव्यस्वभाव का आश्रय करे, तब पर्याय में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रगटे और तब सम्यग्दर्शन हो; और तब ही वास्तव में आत्मा को माना कहलाये। ऐसे अनुभव के पश्चात् विकल्प के समय धर्मी को बहुमान का ऐसा भाव आता है कि अहो! तीर्थंकरप्रभु की वाणी सुनने को मिली थी, उसमें ऐसा ही स्वभाव भगवान बतलाते थे, सन्त वह वाणी झेलकर ऐसा स्वभाव अनुभव करते थे। ऐसे वीतरागी देव-गुरु मेरे स्वसंवेदन में निमित्त हैं;—इस प्रकार धर्मी को उनका विनय और बहुमान का भाव आता है। इस प्रकार उसे परमार्थ सहित व्यवहार का और निमित्त का भी सच्चा ज्ञान है। अज्ञानी को एक भी ज्ञान सच्चा नहीं है।

आत्मा दिव्य वस्तु है, अनन्त शक्ति का दिव्य वैभव उसमें भरा है; उसकी एक-एक शक्ति में दिव्यता है। ज्ञान में ऐसी दिव्यता है कि केवलज्ञान दे; श्रद्धा में ऐसी दिव्यता है कि क्षायिक सम्यक्त्व दे; आनन्द में ऐसी दिव्यता है कि अतीन्द्रिय आनन्द दे; प्रकाशशक्ति में ऐसी दिव्य सामर्थ्य है कि दूसरे की अपेक्षा बिना अपने ही स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष करे। ऐसी दिव्यशक्तिवाले आत्मा को देखे तो दिव्यदृष्टि उघड़ जाये। तेरे आत्मा का वैभव तुझे देखना हो तो तेरी दिव्य आँखें खोल। यह बाहर की आँखों द्वारा वह नहीं दिखेगा, अन्दर राग की आँख द्वारा भी वह नहीं दिखेगा, परन्तु चैतन्य के ज्ञानचक्षु खोल तो तुझे तेरा दिव्यवैभव दिखेगा। चैतन्य दरबार की शोभा कोई अद्‌भुत और आश्चर्यकारी है।

प्रभो! यह जो कुछ कहा जाता है, वह सब तुझमें ही है। तेरे आत्मवैभव की यह बात सन्त तुझे सुनाते हैं। वाह रे चैतन्यप्रभु, तेरी प्रभुता!! अकेले ज्ञानप्रकाश का पुंज, अकेले आनन्द का धाम! ऐसी अनन्त शक्ति के धामरूप आत्मा है। वे शक्तियाँ कारणरूप हैं और उस कारण में से कार्य आता है। सच्चे कारण के स्वीकार से कार्य आता है। कारण का जहाँ स्वीकार नहीं, वहाँ कार्य कहाँ से आयेगा? जहाँ कारणरूप से राग का ही स्वीकार है, वहाँ कार्य में भी राग आयेगा। रागकारण में से वीतरागी कार्य नहीं आयेगा। भगवान आत्मा की अनन्त शुद्ध शक्तियाँ हैं, उनका स्वीकार करने से (अर्थात् कि उनके सन्मुख होने से) वे केवलज्ञानादि शुद्ध कार्य देती हैं, ऐसी उनमें सामर्थ्य है। आत्मा का शुद्ध कार्य देने की सामर्थ्य दूसरे किसी में नहीं है। अनन्त कारणशक्ति से भरपूर अपने चिदानन्दस्वभाव में दृष्टि करने से मिथ्यात्व का नाश होता है और उसमें लीन होने से अस्थिरता का नाश होता है।—ऐसे निर्मल कारण के स्वीकार से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है; दूसरा कोई बाहर में कारण है ही नहीं।

जिसे स्वसन्मुख होकर आत्मा का स्वसंवेदन प्रगट हुआ, उसमें चैतन्य का वीररस प्रगट हुआ, स्वानुभव का वीर्य प्रगट हुआ, वह कायरता को (परभाव को) अपने में नहीं आने देता; उसे अपनी रक्षा के लिये रागादि की सहायता नहीं होती। रत्नत्रय के साधक कोई एक मुनि समाधि करे, तब वैयावृत्य करनेवाले दूसरे मुनि उन्हें चैतन्य के

उपदेश द्वारा वीरता उपजाते हैं। किसी समय मुनि को जरा सा पानी का विकल्प आ जाये तो दूसरे मुनि वैराग्य से कहते हैं कि अरे मुनि! अन्दर चैतन्य का आनन्दरस भरा है, उस आनन्द का जल पीओ न! अभी तो स्वानुभव के निर्विकल्प अमृत पीने का अवसर है। यह पानी तो अनन्त बार पीया, इससे तृषा नहीं बुझती; इसलिए निर्विकल्प होकर अन्दर में स्वानुभव के आनन्दरस का पान करो। तब वे मुनि भी दूसरे ही क्षण विकल्प तोड़कर निर्विकल्प—आनन्द के समुद्र में डुबकी मारते हैं। उस आनन्द के लिये अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी का अवलम्बन नहीं है।

सम्यग्दर्शन होते समय जो स्वसंवेदन हुआ, वह प्रत्यक्ष है, उसमें व्यवहार के अवलम्बन का अभाव है—ऐसा अनेकान्त है। वात्सल्य, स्थितिकरण, प्रभावना इत्यादि, प्रशस्त व्यवहार के उपदेश शास्त्र में आते हैं, परन्तु उन सब शुभविकल्पों से पार अन्दर में स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष की जो परिणति धर्मी को वर्तती है, वही मोक्षमार्ग है। धर्मात्मा को अन्दर में चिदानन्दस्वभाव के स्वसंवेदन का जो जोर है, वह स्वयं प्रकाशमान है, उसमें दूसरे किसी की सहायता नहीं या अस्पष्टता नहीं। अहा! ऐसे आत्मस्वभाव का जिसे संवेदन हुआ, वह अब परमात्मा से पृथक् नहीं रह सकता, स्वसंवेदन के बल से अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करके वह स्वयं परमात्मा हो जायेगा और अनन्त सिद्ध भगवन्तों के साथ जाकर रहेगा।

अरे जीव! ऐसे जैनदर्शन में अर्थात् कि सर्वज्ञ परमात्मा के पंथ में तू अवतरित हुआ और सर्वज्ञदेव ने कहे हुए तेरे स्वभाव को तू लक्ष्य में भी न ले,—तो तुझे क्या लाभ? तेरा ऐसा अवसर चला जायेगा। अपने स्वभाव में जो वैभव भरा है, उसे श्रद्धा द्वारा खींचकर बाहर ला। जैसे अन्दर पानी भरा है, वह फब्बारे में उछलता है; उसी प्रकार अन्दर चैतन्य की शक्ति के पाताल में पानी भरा है, उसमें अन्तर्दृष्टि करने से पर्याय में वह उछलता है।

भगवान स्वयं आप अपने को प्रगट—स्पष्ट—प्रत्यक्ष वेदन में आवे और उसमें परोक्षपना अथवा अस्पष्टपना न रहे, ऐसा उसका प्रकाशस्वभाव है। प्रकाश में अन्धकार कैसा? चैतन्यज्योति जागती प्रकाशवती है, वह अन्ध नहीं कि स्वयं अपने को न जाने।

भाई! तेरी प्रकाशशक्ति का तू भरोसा कर, उसका विश्वास कर और पर्याय में वह न प्रगट हो, ऐसा नहीं होता। वर्तमान पर्याय अल्पशक्तिवाली होने पर भी अन्तर्मुख होकर अनन्त गुणरत्नों से भरपूर पूर्ण अद्भुत समुद्र को प्रतीति में और अनुभव में ले लेवे—ऐसी अद्भुत तेरी सामर्थ्य है। द्रव्यस्वभाव में अद्भुत सामर्थ्य है, उसके सन्मुख होने पर पर्याय में भी अद्भुत सामर्थ्य प्रगट होती है। पर्याय स्वयं एक समय की, तथापि अनन्त गुण के त्रिकाली पिण्ड को स्वीकार करे—उस पर्याय की सामर्थ्य कैसी? भगवान! तेरी दिव्य सामर्थ्य तो देख! जिसके समक्ष नजर करने से अमृत की रेलमछेल हो, ऐसे तेरे वैभव की बात अमृतचन्द्राचार्यदेव ने की है। भगवान ने जैसा आत्मा देखा, वैसा आत्मा बतलाया है और तू स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष देख सके, ऐसी तुझमें सामर्थ्य है। समयसार की शुरुआत में ही आचार्यदेव ने कहा था कि हम स्वानुभवरूप निज वैभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहते हैं और तुम भी तुम्हारे स्वसंवेदन से उसे प्रमाण करना।—अर्थात् ऐसा प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करने की आत्मा में सामर्थ्य है; इसलिए 'हमको समझ में नहीं आता' ऐसी कल्पना निकाल देना, और सिद्धभगवान को अन्तर में स्थापित करके स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से आत्मा को अनुभव में लेना। परोक्ष रहने का तेरा स्वभाव नहीं परन्तु स्वयं स्वयं को प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है। अहो! आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष हो—यह बात अलौकिक है। जैसे उत्कृष्ट हीरा की कीमत की तो क्या बात! परन्तु उसकी रज भी कीमती होती है; उसी प्रकार जगत में श्रेष्ठ ऐसे इस चैतन्य हीरा का स्वसंवेदन करे, उसके आनन्द की तो क्या बात! परन्तु उसका बहुमानपूर्वक श्रवण-मनन करे तो उसका फल भी अलौकिक है। उसके विकल्प द्वारा पुण्य बँधे, वह भी उत्कृष्ट जाति का होता है।

स्वयं प्रकाशमान ऐसे आत्मस्वभाव का भान होने पर पर्याय में उसका परिणमन प्रगट होता है अर्थात् स्वसंवेदन होता है। गुणी ऐसे स्वभाव के आश्रय से उसका वेदन होता है, किसी निमित्त के—पर के, राग के अथवा गुणभेद के आश्रय से उसका वेदन नहीं होता। वर्तमान पर्याय अन्तर में तन्मय होकर सम्पूर्ण स्वभाव को स्वसंवेदन में ले लेती है—ऐसी उसकी अद्भुतता है और उसके साथ प्रशान्त आनन्दरस भी साथ ही है।

इस प्रकार ज्ञानभाव में प्रकाशशक्ति का स्पष्ट स्वसंवेदनरूप कार्य भी स्वयं प्रकाशित है—यह बतलाया।

प्रकाशशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

रे जीव! तू जागृत हो... जागृत हो...
उपयोग को अन्तरोन्मुख कर।

✦

अल्प ज्ञान वह अवगुण नहीं,
उल्टा ज्ञान वह अवगुण है।

* * *

उसे साध्य आत्मा की सिद्धि हुई।

भाई! अपने आत्मवैभव को प्रतीति में लेने से पर की महिमा उड़ जाये तो ज्ञान स्व में स्थिर हो और आत्मा स्वसमयरूप परिणमे, राग से छूटकर अनन्त शक्ति का निर्मल परिणमन होने लगे—इसका नाम धर्म। मेरा आत्मा एक समय में परिपूर्ण अनन्त शक्ति का पिण्ड—ऐसे स्व में लक्ष्य आने से ज्ञान का, श्रद्धा का, सुख का, ऐसे अनन्त गुणों का निर्मल परिणमन एकसाथ उछलता है—निर्मलता प्रगट होती है, वही धर्म और वही मोक्षमार्ग है। उसे साध्य आत्मा की सिद्धि हुई।

[१३]

असंकुचितविकासत्वशक्ति

क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकाशत्वशक्तिः।

क्षेत्र और काल से अमर्यादित ऐसे चिद्विलासस्वरूप (–चैतन्य के विलासस्वरूप) असंकुचित–विकाशत्वशक्ति।१३।

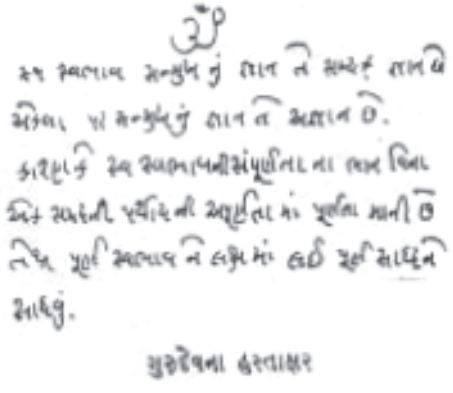

ॐ

स्वस्वभाव–सन्मुख का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है; मात्र परसन्मुख का ज्ञान, वह अज्ञान है, क्योंकि स्वस्वभाव की सम्पूर्णता के भान बिना एक समय की पर्याय की अपूर्णता में पूर्णता मानी है, इसलिए पूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेकर पूर्ण साध्य को साधना।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में 'असंकुचित-विकासत्व' शक्ति है; इसलिए उसके चैतन्य का विलास संकोच बिना विकास पाये, ऐसा उसका स्वभाव है। चैतन्यविलास में ऐसा संकोच नहीं कि इतने क्षेत्र को ही जाने अथवा इतने मर्यादित काल को ही जाने; उसका विकास तो अमर्यादित काल है, उसे कोई काल की और क्षेत्र की मर्यादा नहीं है; अमर्यादित काल को और अमर्यादित क्षेत्र को जान लेने की उसकी सामर्थ्य है। ऐसा चैतन्य का विलास है, संकोच बिना उसका विकास है।

आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न है, उन सभी शक्तियों का क्षेत्र एक है, काल समान है, द्रव्य भी एक है, और भाव में भिन्नता है। भिन्न-भिन्न लक्षणवाली अनन्त शक्तियाँ ज्ञानमात्र आत्मा में एकसाथ रही हुई हैं। उसमें यह तेरहवीं शक्ति का वर्णन चलता है।

आत्मा बहुत-बहुत जाने तो उसकी जानने की शक्ति कम हो जायेगी?—तो कहते हैं कि नहीं; जानने के स्वभाव में कभी संकोच नहीं; अथवा केवलज्ञानरूप से ज्ञान का जो अमर्यादित विकास हुआ, वह अब कभी संकुचित नहीं होगा; केवलज्ञानरूपी कमल खिला, वह कभी मुरझायेगा नहीं। संकोच बिना का विकास हो अर्थात् कि पूरा विकास हो और फिर से कभी मुरझाये नहीं, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। कोई क्षेत्र या काल चैतन्य के विलास को संकुचित कर डाले—ऐसा नहीं है।

धर्मी जानता है कि चैतन्य का विलास पूरा हो, ऐसा मेरा स्वभाव है; अल्पता रहे या संकोच रहे, वह मेरा स्वभाव नहीं। अनादि-अनन्त काल कि जिसका कहीं अन्त नहीं, तथा अमर्यादित आकाश, कि जिसके विस्तार की कोई मर्यादा नहीं, उसे भी पहुँच जाये अर्थात् कि प्रत्यक्ष जान ले, ऐसी अमर्यादित सामर्थ्य चैतन्यविलास में है। लोग बाहर के पदार्थों में विलास (आनन्द) मानते हैं, परन्तु भाई! तेरे चैतन्य के अद्भुत विलास को तो देख... उसमें ही परम आनन्द है। तेरे ज्ञान के विलास का यह चमत्कारिक सामर्थ्य है, उसे लक्ष्य में तो ले। उसके लक्ष्य से तेरी पर्याय पूर्णरूप से विकसित हो जायेगी अर्थात् कि केवलज्ञान होगा।

ज्ञानावरणीयकर्म आत्मा के ज्ञान को रोकता है, यह बात तो दूर रही, और अपने कारण से ज्ञान में हीनता या संकोच रहे—यह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का

स्वभाव तो परिपूर्ण विकसित होने का है। शक्ति में हीनता का अभाव है और हीनता का अभाव होने से उसके निमित्तरूप कर्म का भी अभाव है। आत्मा के द्रव्य में और गुण में ऐसा स्वभाव नहीं कि पर्याय हीन हो। हीन पर्याय हो, वह पर्याय का अपराध है, परन्तु शक्ति में हीनता नहीं और हीनता, वह शक्ति का कार्य नहीं। संकुचित होकर रहने का आत्मा की शक्ति का स्वभाव नहीं, परन्तु पूर्णरूप से विकसित होने का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव के सन्मुख होने से पर्याय में हीनता नहीं रहती, शक्ति के अवलम्बन से वह पूर्णरूप से विकसित हो जाती है।

ज्ञान का विकास हुआ, वह कोई बाहर के कारणों से नहीं हुआ, परन्तु पूर्ण विकसित होने का आत्मा का स्वभाव है, उसके ही आधार से ज्ञान का विकास हुआ है। विकास होने का अपना गुण है; समवसरणादि संयोग हों तो विकास हो—ऐसी संयोग की अपेक्षा उसे नहीं है। पर की अपेक्षा बिना स्वयं अपने स्वभाव से ही विकास होने का आत्मा का स्वभाव है। भाई! यह तेरे स्वघर की बात है। तेरे निजवैभव का वर्णन है। परमात्मा के घर में प्रवेश होने की यह बात है। परमात्मा का घर तूने कभी देखा नहीं, परमात्मा के घर का यह वैभव तुझमें भरा है। वह तुझे बतलाते हैं। उसे देखते ही तेरी दीनता टल जायेगी और भव का अन्त आ जायेगा। देख तो सही, तेरे आत्मवैभव को!

चैतन्यविलास क्षेत्र से अमर्यादित है।—इसका अर्थ ऐसा नहीं कि आत्मा का क्षेत्र अमर्यादित है; क्षेत्र तो असंख्यप्रदेशी मर्यादित है, परन्तु उसमें अमर्यादित क्षेत्र को जानने की सामर्थ्य है; जानने की सामर्थ्य को क्षेत्र की मर्यादा नहीं कि इतने क्षेत्र में हो, उसे ही जान सके। असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र में रहकर अनन्त-अमर्यादित क्षेत्र को जान ले, ऐसा चैतन्य का विलास है; उसके विकास में कोई संकोच नहीं है।

हे जीव! तू स्वशक्ति का विकास करके श्रद्धा की टंकार कर कि मुझमें केवलज्ञान लेने की सामर्थ्य है।—ऐसा विश्वास करे, वहाँ राग का स्वामित्व नहीं रहता। आत्मद्रव्य सर्वास्वभावी है, यह बात १६०वीं गाथा में की है। आत्मा के सर्व गुणों में पूर्ण विकसित होने की सामर्थ्य है; पूर्ण विकास प्रगट हो, ऐसा शक्ति का कार्य है। चैतन्य का विलास ऐसा है कि अपने स्वभाव से पूर्ण विकसित हो। अविचलित चेतनाविलास, वही शुद्ध

आत्मा का व्यवहार है; 'मैं मनुष्य हूँ', ऐसे मनुष्यपनेरूप व्यवहार, वह आत्मा का व्यवहार नहीं है, वह तो मोह का व्यवहार है, अज्ञानी का व्यवहार है, मिथ्यादृष्टि उस व्यवहार को अपना मानता है। 'मैं मनुष्य हूँ, मैं रागी हूँ', ऐसी मोहबुद्धि से मिथ्यादृष्टि वर्तता है। 'मैं चैतन्य हूँ', इस प्रकार धर्मी जीव तो शुद्धचेतना परिणति के विलास को ही अपना व्यवहार जानता है। रागादि भाव, वे वास्तविक आत्मव्यवहार नहीं। यह बात प्रवचनसार की ९३वीं गाथा में आचार्यदेव ने समझायी है।

सम्यग्दर्शन में जिसका स्वीकार है, वह शुद्धात्मा कैसा है? कि रागरहित है, संकोचरहित है, पूर्ण चैतन्यविलास से भरपूर है। शक्ति में है तो पर्याय में आता है। कारण बिना कार्य नहीं होता। पर्याय में जो चैतन्यविलासरूप कार्य प्रगट होता है, उसके कारणरूप स्वभाव आत्मा की शक्ति में भरा है; उस स्वभाव का स्वीकार करने से संकोचरहित विकास प्रगट होता है, उसे किसी क्षेत्र की या काल की मर्यादा अवरोधक नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण के मुकुट में मणि शोभती है, उसी प्रकार समयसाररूपी स्वर्ण-मुकुट में यह ४७ शक्तियोंरूपी मणि शोभती है।

अहा! विकसित चैतन्यविलास! उसे कौन रोक सकता है? चैतन्य के माहात्म्य में चढ़ा, उसके विकास को कोई रोक नहीं सकता। स्वर्ग में या सातवें नरक में भी नया सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव हैं। पर के क्षेत्र को और काल को स्पर्श किये बिना, स्वशक्ति के स्पर्शन से आत्मा स्वयं विकास पाता है। ऐसे स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसका वेदन करने से आत्मा अन्दर में आनन्द से उछल जाता है। रे जीव! तू भिखारी नहीं, तू पामर नहीं, तू दीन नहीं, तू अपूर्ण नहीं; तू तो प्रभुता का स्वामी है, तुझमें परमेश्वरता भरी है, तू सर्वशक्ति से पूरा है; ऐसे आत्मा की श्रद्धा कर। श्रद्धा का बल अपार है। तेरे द्रव्यस्वभाव की अचिन्त्य सामर्थ्य है, उसकी प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन होगा और परमात्मपद का विकास खिलेगा।

कैसा आत्मा ज्ञेयरूप से ज्ञान में आवे, तब आत्मा को जानना कहलाये? उसका यह वर्णन है। जितना महान पदार्थ है, उतना ज्ञान में आये बिना उसका सच्चा ज्ञान होता नहीं। निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह कार्य है; उस कार्य का कारण कौन? अर्थात् कि

जिसमें से निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वह द्रव्य-गुण कैसे हैं?—ऐसे कार्यसहित कारण को जो प्रतीति में ले, उसे सम्यग्दर्शन होता है और उसे कारणानुसार कार्य प्रगट होता है, अर्थात् कि द्रव्य-गुण जैसे शुद्ध हैं, वैसी शुद्धता पर्याय में प्रगटे—ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायवाले आत्मा को यहाँ शुद्धात्मा कहा जाता है। उसका यह वर्णन है।

जिस क्षेत्र में सिद्धभगवन्त पूर्ण चैतन्यविलाससहित विराजते हैं, उस क्षेत्र में निगोद जीव भी बसते हैं और निगोद की पर्याय अत्यन्त संकोचरूप है। क्षेत्र उसमें कुछ करता नहीं। जिस क्षेत्र में सिद्धभगवन्त परम आनन्दरूप निजशक्ति के विलास को अनुभव करते हैं, उसी क्षेत्र में निगोद के जीव महा दुःख का वेदन कर रहे हैं। इसलिए बाहर का क्षेत्र आत्मा के विकास को रोकता नहीं और विकास में सहायता भी नहीं करता। निगोद इत्यादि जीवों की पर्याय भले संकोचरूप है, तथापि उसमें भी असंकोचरूप से विकास पाये, ऐसी शक्ति तो है। आत्मा की चेतनाशक्ति में ऐसे विलास की सामर्थ्य है कि क्षेत्र और काल का ज्ञान करने में उसे कोई मर्यादा नहीं है, तीन लोक और तीन काल को जानने की अमर्यादित सामर्थ्य उसमें है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को एक संकुचित पर्याय जितना ही मान लेना, वह तो पर्यायबुद्धि है, संकुचितबुद्धि है; संकुचित ही माना तो वह विकास कहाँ से लायेगा? संकोच, वह कहीं द्रव्य-गुण का कार्य नहीं, द्रव्य-गुण में तो असंकुचित-विकास का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की प्रतीतिवाले को पर्याय में संकोच टलकर विकास हुए बिना नहीं रहता। जिसे अपने में अकेली अशुद्धता और संकोच ही भासित होता है, उसने आत्मा के द्रव्य-गुण को जाना ही नहीं, अर्थात् कि शुद्ध कारण को और शुद्ध उपादान को वह पहिचानता नहीं, वह अशुद्धता को ही देखता है। भाई! तेरी आत्मवस्तु कितनी है? क्या संकुचित—हीन पर्याय जितनी ही आत्मवस्तु है?—नहीं; आत्मा तो अनन्त गुण से पूरा है और पूरी पर्याय विकसित हो, ऐसा है।

आत्मा की असंकुचित-विकासशक्ति सर्व गुणों में व्यापक है, अर्थात् ज्ञान में केवलज्ञानरूप से विकसित होने की सामर्थ्य है, आनन्द गुण में पूर्ण आनन्दरूप विकसित होने का स्वभाव है। ऐसी शक्तिसहित आत्मा को पहिचाने, तब ही आत्मा को जानना कहलाता है और उसे पर्याय में वैसा स्वभाव खिल जाता है। ऐसे आत्मा की समझ में अपूर्व अन्तर्मुख प्रयत्न है। यह वस्तु समझने की वास्तविक जिज्ञासा जगे, वह भी अपूर्व

है। स्वरूप के सामर्थ्य सन्मुख रुचि का झुकाव होने से आत्मा की अनन्त शक्ति का वैभव हाथ में आता है।

उपसर्ग और परिषह के चाहे जैसे संयोग के बीच भी आत्मा की शक्ति घिर नहीं जाती अथवा नष्ट नहीं हो जाती; और जहाँ ऐसी शक्तिवाले आत्मा को दृष्टि में लिया, वहाँ पर्याय भी हीन नहीं होती, विकासशक्ति के आश्रय से पर्याय भी विकासरूप होती है। साधकपर्याय में कुछ हीनता रही, उसका स्वीकार शुद्धदृष्टि में नहीं है। जहाँ विकल्प नहीं, वहाँ आत्मा है; विकल्प और इच्छा वह कहीं आत्मा नहीं है। आत्मा के संवेदन में, आत्मा के स्ववैभव में इच्छा का तो अभाव है तो इच्छा द्वारा वह कैसे प्रगट हो ? इच्छा की अपेक्षा बिना का निरपेक्ष आत्मवैभव, वह पर के कारण बिना स्वयं से ही प्रगट होता है। आत्मस्वभाव की अपार महिमा है, किसी अन्य चीज़ द्वारा उसकी महिमा नहीं है। चैतन्य द्रव्य, उसके अनन्त गुण और उस ओर की निर्मल पर्याय—ये तीनों महिमावन्त हैं; ऐसा तेरा आत्मपना है; तेरा आत्मपना पर में या राग में नहीं, परन्तु शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय में तेरा आत्मपना है। शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय जितना आत्मा है। ऐसे शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में लेने से संकोचरहित विकास होता है। चैतन्य का वह विलास क्षेत्र और काल की मर्यादा रहित है।

मुनिराज को उठाकर कोई देव उन्हें जहाँ छठवाँ काल वर्तता हो, ऐसे क्षेत्र में रख दे—तो इससे कहीं उन मुनि का विकास संकुचित नहीं हो जाता, उस क्षेत्र में और उस काल में भी वे केवलज्ञान प्रगट करके संकोचरहित विकास प्रगट कर सकते हैं। नरक में असंख्य सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा के आनन्द का वेदन करते हैं। समुद्घात के समय केवली भगवान के आत्मप्रदेश नरक के क्षेत्र में भी है, परन्तु उन आत्मप्रदेशों में चैतन्य विलास पूरा विकसित हो गया है, उसमें जरा भी संकोच नहीं है; इस प्रकार नरक का क्षेत्र भी चैतन्य के असंकुचित—विकास को रोकता नहीं है। आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि गुणों का विकास हो, पश्चात् उसमें संकोच नहीं रहता। ज्ञानमात्र आत्मा के स्वानुभव में ऐसी एक शक्ति भी साथ ही परिणमती है।

इस प्रकार असंकुचित-विकासत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

[१४]

अकार्यकारणत्वशक्ति

अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः।

जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता, ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति। (जो अन्य का कार्य नहीं है और अन्य का कारण नहीं है, ऐसा जो एक द्रव्य उस-स्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति।)।१४।

आत्मा के अन्तर में जो वैभव भरा है, उसका यह वर्णन है। अरे! चैतन्य दरबार में कैसा अनन्त रत्नों का सागर भरा है! कैसा अचिन्त्य चैतन्यवैभव अन्दर भरा है, उसे सन्तों ने बतलाया है। अहो! ऐसे निजवैभव को कौन न देखे? कौन न ले? कौन न अनुभव करे? हे जीवों! तुम तुम्हारे ऐसे आत्मवैभव को देखो, अनुभव करो; तुमको परम आनन्द होगा।

यह ज्ञानस्वरूपी आत्मद्रव्य ऐसा है कि अन्य द्वारा वह कराया हुआ नहीं अर्थात् 'अकार्य' है; और स्वयं किसी अन्य को करता नहीं, इसलिए 'अकारण' है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा अकार्यकारणपनेरूप धर्म से सहित है। जैसे आत्मद्रव्य पर के कार्य-कारणपने रहित है, उसी प्रकार उसके सर्व गुण और पर्यायें भी पर के साथ के कार्य-कारण रहित हैं।

आत्मा पर का कारण नहीं और पर का कार्य भी नहीं। आत्मा का स्वभाव ऐसा स्वाधीन है कि पर से कराता नहीं; विकल्प कर्ता होकर आत्मा के स्वभाव का कार्य करे—ऐसा आत्मा नहीं है। तथा आत्मा कारणरूप होकर राग को करे—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ऐसा अकार्यरूप है कि अन्य कोई कारणों की अपेक्षा उसे नहीं है। निजस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं कारणों को वह अपने कारणरूप स्वीकार नहीं करता तथा कर्म इत्यादि अन्य पदार्थों का कारण हो, ऐसा कारणपना भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। त्रिकाली स्वभाव में तो नहीं और उस स्वभाव सन्मुख झुकी हुई निर्मलपर्याय में भी किसी परभाव के साथ में कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा की कोई शक्ति (गुण) स्वयं यदि विकार का कारण हो, तब तो विकार सदा हुआ ही करेगा।—परन्तु ऐसा नहीं है। स्वभाव-सन्मुख झुकने से तो विकार टल जाता है, इसलिए विकार, वह स्वभाव का कार्य नहीं तथा विकारीभाव (शुभराग) कारण होकर आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कार्य को करे, ऐसा भी नहीं है। ज्ञानादि निजशक्ति से आत्मा स्वयं निर्मल कार्यरूप परिणमता है। आत्मा की एक भी शक्ति ऐसी नहीं कि निज कार्य के लिये दूसरे का अवलम्बन ले। ज्ञान अपने कार्य के लिये दूसरे का अवलम्बन ले अथवा तो ज्ञान परिणमकर दूसरे का कार्य करे—ऐसा अन्य के साथ कार्य—कारणपना ज्ञान में नहीं है। आत्मा की ज्ञानशक्ति को ज्ञानावरणकर्म के साथ वास्तव में कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा की ऐसी अकारण-कार्यशक्ति सर्वगुणों में व्याप्त है, इसलिए ज्ञान की भाँति श्रद्धा, आनन्द इत्यादि किसी भी गुण को और उसकी पर्याय को पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। शुभराग कारण होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य को कर दे—ऐसा नहीं होता। राग में से सम्यग्दर्शनादि आर्य आवे, तब तो आत्मा रागमय हो गया; क्योंकि कारण और कार्य भिन्न जाति के नहीं होते।

आत्मा की प्रत्येक शक्ति में स्वयं कारण-कार्यपना समाहित होता है, पर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आनन्द का कारण कौन ? कि आत्मा की आनन्दशक्ति ही आनन्द का कारण है। ज्ञान का कारण कौन ? कि ज्ञानशक्ति ही ज्ञान का कारण है। इस प्रकार अनन्त गुणों में अपने-अपने कार्य का कारण होने की सामर्थ्य है। पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा के अनन्त गुण सदा एकक्षेत्र में रहे हुए हैं। गुणों को क्षेत्रभेद नहीं है। द्रव्य-गुण को सदा एकक्षेत्रपना है और उसकी पर्याय भी स्वक्षेत्र में ही व्यापक है। आत्मा के ऐसे द्रव्य-गुण और पर्याय में अन्य का कारण-कार्यपना जरा भी नहीं है। जहाँ अकारण-कार्यस्वभावी ऐसा द्रव्य दृष्टि में लिया, वहाँ स्वद्रव्य को ही कारण बनाकर निर्मल पर्यायरूप कार्य होता है। श्रद्धा में, ज्ञान में, चारित्र में, आनन्द में समस्त गुणों की निर्मल पर्यायों में स्वशक्ति ही कारणरूप है, दूसरा कोई कारण नहीं है। दूसरे को अपना कारण बनावे, ऐसी पराधीनता आत्मा के स्वभाव में नहीं है। स्व-कारण-कार्य की स्वाधीन प्रभुता में भगवान आत्मा विराज रहा है।

भगवान! तेरी शान्ति के लिये, सुख के लिये दूसरा कोई कारण है ही नहीं, तुझमें ही तेरी शान्ति का, सुख का कारण होने का स्वभाव है। श्री रामचन्द्रजी जब लक्ष्मण के शरीर को कन्धे पर उठाकर घूमते थे और जब सीता की शोध में वन-जंगल में घूमते थे, तब भी वे आत्मा की ऐसी प्रभुता को जानते थे; और उस समय के राग के साथ अपने स्वभाव का कारण-कार्यपना स्वीकार नहीं करते थे। उस समय भी पर के और राग के कारण रहित ही उनके आत्मा में सम्यग्दर्शनादि कार्य होता था। ज्ञानादि निर्मलभावों के ही कारण-कार्यरूप उनका आत्मा परिणमता था। इसी प्रकार सीताजी को भी वनवास के समय अन्दर ऐसे आत्मा का भान था। मेरे आत्मा के जीवन के लिये कोई अन्य कारण नहीं, मेरे ज्ञान को और मेरे सुख को अन्य के साथ कारण-कार्यपना नहीं है; पर के साथ कारण-कार्यसम्बन्ध रहित मेरा निरपेक्ष आत्मा ही मेरा शरण है; मेरे आनन्द में दूसरा कोई कारण हो, ऐसा नहीं है। मेरा आनन्दस्वभाव ही स्वयं परिणमकर आनन्दरूप कार्य करता है। प्रत्येक आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है, परन्तु उसे जो लक्ष्य में ले, उसे वह पर्याय में प्रगट होता है, और तब भगवान आत्मा अपने अनेकान्त-वैभव से प्रसिद्ध होता है। आत्मा में निर्मल पर्याय के उत्पाद-व्यय होते हैं, वह तो स्वभाव है, उसमें कोई

दूसरा कारण नहीं है। तथा आत्मा अपनी पर्याय द्वारा कारण होकर दूसरे के कार्य को करे, ऐसा भी नहीं होता। आत्मा की ज्ञानपर्याय को अपनी ज्ञानशक्ति के साथ ही कार्य-कारणपना है, ज्ञानावरणादि पर के साथ उसे कारण-कार्यपना नहीं है।

लोग कहते हैं कि कारण को खोजो।—परन्तु भाई! तू कारण को कहाँ खोजेगा?—तुझमें या पर में? पर में तो तेरा कारण है ही नहीं, इसलिए उसमें खोजना व्यर्थ है। तेरा सहजस्वभाव ही तेरे कारणरूप परिणमकर तुझे केवलज्ञान दे, ऐसा है। प्रवचनसार में आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करने से तुरन्त ही केवलज्ञान प्रगट होता है। निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारणपने का सम्बन्ध नहीं—कि जिससे शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) शोधने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ ही परतन्त्र होते हैं।

स्वयं कारणरूप होकर दूसरे का कार्य करता नहीं, ऐसा 'अकारण' स्वभाव, और दूसरे को कारणरूप से स्वीकार करके स्वयं उसका कार्य नहीं होता, ऐसा 'अकार्य' स्वभाव; ऐसा अकारण-कार्यस्वभाव आत्मा में त्रिकाल है; वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है, इसलिए जैसे त्रिकाली द्रव्य-गुण अन्य से नहीं किये जाते, वैसे पर्याय भी अन्य से नहीं की जाती। वाह! कितनी स्वाधीनता! आत्मा को अपने धर्म की परिणति के लिये देहादि की क्रिया साधन हो, ऐसा माने, उसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है। परमेश्वरपना अपने में से प्राप्त होता है और दूसरे की गुलामी नहीं रहे, ऐसी यह बात है। ऐसा ही आत्मा का वैभव है। यह वस्तु लक्ष्य में ले तो उपादान-निमित्त और निश्चय-व्यवहार इत्यादि सभी तत्त्वों का निर्णय हो जाये।

अरे आत्मा! तुझमें प्रभुता का परम सामर्थ्य भरा है, फिर तुझे दूसरे किसकी सहायता लेनी है? तेरी शक्ति में ऐसी कोई अपूर्णता कहाँ है कि फिर तुझे बाहर में दूसरे कारण को खोजना पड़े? अरे! स्वशक्ति में महान सामर्थ्य है, उसे भूलकर, निमित्तकारण के समक्ष दीनता करके तू क्यों अटका है? पर के कारण से आत्मा में हीनता होती है, यह बात तो दूर रही और अपनी पर्याय के कारण से हीनता होती है, यह भी आत्मा के स्वभाव में नहीं। दीनता और हीनता रहित आत्मस्वभाव है, उसकी शक्ति में से तो पूरा

विकास ही प्रगट होता है और वह अभी अन्य कारण रहित ही प्रगट हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव का ऐसा वैभव तुझमें भरा ही है, उसमें नजर कर, इतनी ही प्रगट होने में देरी है।

समयसार गाथा ७२ में आत्मा और आस्रवों की भिन्नता का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—आस्रव आकुलता के उपजनेवाले होने से दुःख के कारण हैं; और भगवान आत्मा तो, सदा ही निराकुलता-स्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण नहीं होने से, दुःख का अकारण है। आत्मा स्वयं निजस्वभाव से दुःख का कारण नहीं हो सकता, दुःख का कारण तो नये आगन्तुक मलिन आस्रवभाव हैं। आत्मा का स्वभाव दुःख का कारण नहीं। गुणस्वभाव आत्मा अपने गुणों के कार्य का कारण होता है, परन्तु अन्य का कारण नहीं होता। यदि दूसरे के साथ कारण-कार्यपना करने जाये तो वहाँ आकुलता और दुःख की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप आस्रव, वह दुःख का कारण है और भगवान आत्मा स्वयमेव सुखरूप होने से दुःख का कारण नहीं है।—इस प्रकार भिन्नता जानकर, क्रोधादि से भिन्न आत्मस्वभाव का अनुभव करते हुए आत्मा निर्मल सुखरूप परिणमता है और दुःखरूप ऐसे आस्रवभाव छूट जाते हैं।

इस चैतन्यसमुद्र में अनन्त गुणरत्न भरे हैं, एक-एक रत्न महान है; ऐसा महा चैतन्य-रत्नाकर आत्मा जगत में सर्वश्रेष्ठ रत्न है। ऐसे श्रेष्ठ चैतन्य-रत्नों का महा विशाल भण्डार तू स्वयं, और दूसरे से तू सुख लेने जाये—यह तो, मीठे पानी के समुद्र में रहनेवाली मछली अपनी प्यास बुझाने के लिये दूसरों से पानी माँगे, इसके जैसा है। जैसे चक्रवर्ती राजा दूसरों से भीख माँगे, वह शोभा नहीं देता; तो चक्रवर्ती भी जिसे सेवन करे, ऐसा यह महा चैतन्य चक्रवर्ती, वह अपना सुख दूसरों से माँगे, यह उसे शोभा नहीं देता। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव के सेवन से ही शोभा देता है। हे जीव! तेरा रूप तो स्वाधीनरूप से परिपूर्ण है, उसके बदले पर के कारण मुझमें गुण होता है, ऐसा तू मानता है, वह तो तुझे मोह का भूत लगा है।

तेरे कारण-कार्य तुझमें है—यह बात समझाकर सन्तों ने अपूर्व स्वाधीनता का

ज्ञान कराया है। स्वाधीन होने पर भी स्वयं अपने को पराधीन मान बैठा था। भाई! तेरा कार्य का कारण तुझमें ही है, पर के साथ तेरे किसी भी गुण को कारण-कार्यपना है ही नहीं, फिर अन्यत्र शोधने का कहाँ रहा? अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव को ही साधन बना। स्वभाव को साधनरूप से अंगीकार करने से, आत्मा स्वयं साधन होकर केवलज्ञानादि कार्यरूप परिणम जाता है। पर के अवलम्बन से और राग के अवलम्बन से आत्मा में केवलज्ञानादि कार्य होता है—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं। तथा परवस्तुओं में भी ऐसा स्वभाव नहीं कि वे आत्मा को कुछ दे, अथवा आत्मा का साधन हो।

अहा! कितना स्वाधीन स्वभाव! कितनी निराकुलता और कितनी शान्ति! अनन्त गुण के वैभववाले इस आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं कि जो राग को करे और कर्म को कारणरूप हो। और आत्मगुण के आश्रय से ही निर्मल परिणति प्रगट हुई, वह भी अन्य को (राग को और कर्म को) कारणरूप नहीं होती और अन्य को अपना कारण नहीं बनाती। धर्मी का आत्मा कारण होकर राग को करे या मकान इत्यादि की रचना करे—ऐसा नहीं है। जो शुभराग होता है, उस राग का कारण होने का आत्मा का स्वभाव नहीं; तथा अपने स्वभावकार्य में राग को कारण बनावे, ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं। ऐसा स्वभाव जिसने प्रतीति में लिया, उसे अकारण-कार्य-स्वभाव का सम्यक् परिणमन प्रगट हुआ, अर्थात् रागादि के कर्तृत्वरहित ज्ञानभावरूप ही रहता हुआ वह मोक्ष को साधता है।

शरीरादि के किसी भी कार्य का कारण हो, ऐसा कोई स्वभाव आत्मा के द्रव्य में गुण में और पर्याय में नहीं है तथा शरीरादि को कारण बनाकर आत्मा उनसे कहीं धर्म करे—ऐसा भी स्वभाव नहीं है। आत्मा को कुछ दे, ऐसा स्वभाव जड़ में नहीं और जड़ में से कुछ ले, वैसा स्वभाव आत्मा में नहीं। आत्मा को पर के साथ कारण-कार्यपने का अभाव है। कारण-कार्य की बात निकालकर पर के साथ का सम्बन्ध ही तोड़ डाला है। इसलिए अब अपने त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ ही पर्याय का सम्बन्ध हुआ, पर्याय पर से विमुख होकर स्वद्रव्य की ओर ढली; अपने शुद्ध द्रव्य-गुण में एकाग्र होने पर पर्याय भी वैसी निर्मल हुई। उस पर्याय में पर के साथ (राग के साथ) कारण-कार्यपने का कुछ सम्बन्ध नहीं। इसका नाम धर्म और यह मोक्ष का मार्ग है।

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि —

छूटे देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म,
नहीं भोक्ता तू उनका, यही धर्म का मर्म।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि —

छूटे राग-अध्यास तो, नहीं कर्ता तू कर्म,
नहीं भोक्ता तू उनका, यही धर्म का मर्म।

देह मैं, राग मैं और वह मेरा कार्य—ऐसी जो राग के साथ एकत्वबुद्धि, उसके कारण अज्ञानी रागादि का कर्ता होता है; मैं तो ज्ञान हूँ, राग मैं नहीं और राग मेरे ज्ञान का कार्य नहीं—ऐसी भिन्नता के भान द्वारा जहाँ राग के साथ एकत्वबुद्धि का अध्यास छूट गया, वहाँ धर्मी जीव ज्ञानरूप ही परिणमता है, वह रागादि का कर्ता-भोक्ता नहीं होता। ऐसी दशा प्रगट हो, उसका नाम धर्म है।

अशुद्ध उपयोग के नाश के लिये धर्मी जीव कैसी मध्यस्थभावना प्रगट करता है, उसका वर्णन करते हुए प्रवचनसार में कहते हैं कि —

मैं देह नहीं, वाणी न, मन नहीं, उनका कारण नहीं;
कर्ता न, कारयिता न, अनुमन्ता मैं कर्ता का नहीं।

जिसे देहादि के कार्यों के प्रति कर्तृत्वबुद्धि होती है, उसे उसमें मध्यस्थता रह सकती ही नहीं। धर्मी जानता है कि मैं देहादि का आधार नहीं, कर्ता नहीं, कारण नहीं; मेरे आधार बिना ही, मेरे कर्तृत्व बिना ही, मेरे कारण हुए बिना ही वे स्वतन्त्ररूप से परिणम रहे हैं; इसलिए उनके पक्षपात रहित मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा का ऐसा मध्यस्थ स्वभाव है।

धर्मी ने ऐसा आत्मा जाना है। सभी आत्माओं का ऐसा ही स्वभाव है परन्तु अज्ञानी उसे जानता नहीं, विपरीत मानता है; और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है। आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता तो वह शक्तिहीन हो गया—ऐसा अज्ञानी को लगता है। परन्तु भाई! तेरी स्वशक्ति तो तुझमें काम करे या पर में? यदि तेरा आत्मा पर के काम करे और परचीज़ तेरे आत्मा का काम करे,—तो तेरे कार्य के लिये तुझे पर के सामने ही देखने

की दासता रही, यह तो महा विपरीतता है, पराधीनता है, दु:ख है। तेरी स्वशक्ति तुझमें, वह स्वाधीनरूप से निजकार्य करती है। अपने कार्य के लिये उसे पर की जरा भी अपेक्षा नहीं है। ऐसा अकारण-कार्यपना तेरे आत्मा में है, तथा सभी पदार्थों में है। तेरे अकारण-कार्य स्वभाव के कारण तेरे समस्त गुणों में और उनकी पर्यायों में अकारण-अकार्यपना है, तेरे एक भी गुण में और एक भी पर्याय में पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। तेरा स्वभाव कारण और तेरी पर्याय कार्य; शुद्धस्वभावरूप जो कारण, उसका कार्य भी शुद्ध है। अशुद्धता वह वास्तव में शुद्धशक्ति का कार्य नहीं है। अशुद्धता का कारण होने का कोई गुण आत्मा में नहीं है। ऐसी शुद्ध शक्तिवाले ज्ञानमात्र आत्मा को (शुद्धकार्यसहित) सम्यग्दृष्टि देखता है।

महात्मा कहते हैं कि अरे आत्मा! भगवान तीर्थंकरदेव ने ऐसा आत्मा जानकर कहा है। सन्तों ने अपने अन्तर में ऐसा आत्मा अनुभव किया है। तेरे ऐसे आत्मा को भूलकर तू चार गति में भटका और तूने महान दु:ख भोगे। तेरा स्वभाव बड़ा है और तेरे दु:ख की व्यतीत कथा भी बड़ी है। उस दु:ख मिटाने की और आत्मसुख प्राप्त करने की यह बात है। तेरे स्ववैभव को सम्हालने से उसमें दु:ख कहीं है ही नहीं। जैनशासन में वीतरागी सन्तों ने ऐसे आत्मवैभव की प्रसिद्धि की है।

* * *

अनेकान्तस्वरूप आत्मा की अकारण-कार्यशक्ति ऐसा बताती है कि तेरा कार्य करने के लिये पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है; ज्ञानस्वरूप आत्मा में अपने में ऐसी सामर्थ्य है कि अपने कार्य का कारण स्वयं ही हो। आत्मा में ऐसा स्वभाव है कि उसका कार्य दूसरे से नहीं कराता और स्वयं दूसरे के कार्य का कारण नहीं होता। पर के साथ जिसे कर्ताकर्म की और कारण-कार्य की बुद्धि है, उसे तो अपने अकर्ता—ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं। ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाने, वहाँ पर के साथ कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती। आत्मा में जो अनन्त गुण हैं, वे सभी अपना-अपना कार्य करते हैं। किसी का कार्य पर से नहीं होता। मैं कारणरूप होकर पर का काम करूँ और परचीज़ को मेरे कार्य का कारण बनाऊँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, उसे अपने और पर के स्वभाव की खबर नहीं है, उसने आत्मा का वैभव देखा नहीं है।

आत्मा का स्वभाव समुद्र जैसा गम्भीर है। अनन्त गुण का वैभव तो आत्मा के अतिरिक्त दूसरे जड़ पदार्थों में भी है परन्तु उन पदार्थों को अपने वैभव की खबर नहीं; उनके वैभव को भी जाननेवाला तो आत्मा है। आत्मा अपने ज्ञानवैभव द्वारा सर्व पदार्थों को जानता है, वह ज्ञानवैभव महान है, वह साररूप है, उसे जानने से परम सुख होता है।

निजगुण का वैभव धारक आत्मा क्या करे? और किस प्रकार उसका कार्य हो, इसकी अज्ञानी को खबर नहीं। आत्मा के निजगुण का कार्य अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि निर्मल पर्यायें, वे अन्य से नहीं होते अर्थात् दूसरा उनका कारण नहीं। तथा वे सम्यग्दर्शनादि प्रगट होकर दूसरे में कुछ कर दे, ऐसा भी उनमें नहीं। इस प्रकार आत्मा दूसरे का कार्य नहीं और स्वयं दूसरे का कारण नहीं। अज्ञानी पर से कार्य होना मानता है,—माने भले, परन्तु ऐसा होता नहीं। इसी प्रकार पर के कार्य करने का मानता है; मानता भले ही है, परन्तु कर नहीं सकता। नहीं होता तो भी मानता है—यह अज्ञान है। अपनी अवस्था का कार्य पर से होना मानता है, तब तक वह पर के सन्मुख ही देखा करता है, पर में से उसकी दृष्टि (-एकत्वबुद्धि) हटती नहीं और उसका मिथ्यात्व मिटता नहीं। मेरे आत्मा की कोई शक्ति और उसकी अवस्था पर से नहीं होती और पर में कुछ नहीं करती, पर के साथ मुझे कुछ भी कारण-कार्यपना नहीं है—ऐसे अपने स्वभाव का निर्णय करे तो पर में से दृष्टि दूर हटकर स्वभाव-सन्मुख झुके, तो स्वभाव का निर्मल कार्य (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट हो और मिथ्यात्व टले।

'ज्ञानमात्र भाव' कहने से द्रव्य-गुण-पर्याय का जितना समूह लक्षित होता है, वह समस्त ही एक आत्मा है। अकारण-कार्यस्वभाव भी उसी में समाहित हो जाता है, परन्तु राग उसमें समाहित नहीं होता, क्योंकि रागादिभाव कहीं ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित नहीं होते। 'ज्ञानमात्र' लक्षण द्वारा तो निर्मल द्रव्य-गुण-पर्यायें ही लक्षित होती हैं। राग, वह ज्ञान का कार्य नहीं। 'ज्ञान' का कार्य तो ज्ञानरूप होता है। संवर-निर्जरा-मोक्षरूप निर्मलपर्यायसहित के आत्मा को ही 'आत्मा' कहा है। ज्ञानमात्र आत्मा में तो उसके अनन्त निर्मल गुण-पर्यायें समाहित होती हैं, परन्तु रागादि भाव उसमें समाहित नहीं होते।

ज्ञानलक्षण द्वारा ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान कराकर शुद्ध आत्मा लक्ष्यगत कराया है। भाई! अपने ही अन्तर में लक्ष्यगत हो सके, ऐसी यह वस्तु है। अपने अन्तर में जो वैभव भरा है, उसका ही यह वर्णन है। अरे! चैतन्य दरबार में कैसा अचिन्त्य चैतन्यवैभव अन्दर भरा है! यह सन्तों ने बतलाया है। अहो! ऐसे निजवैभव को कौन न देखे? कौन न ले? कौन न अनुभव करे? हे जीवों! तुम तुम्हारे ऐसे आत्मवैभव को देखो, अनुभव करो; तुमको परम आनन्द होगा।

स्वयं सर्वज्ञ जितने वैभव से पूर्ण परमात्मा है; रागादि विकल्प, वह उसका मूलस्वरूप नहीं है, तथापि भ्रम से उस विकल्प को निजस्वरूप मान रहा है। यह भ्रम भी उसका मूलस्वरूप नहीं है, इसलिए सच्ची पहिचान द्वारा वह भ्रम टल जाता है। भ्रम टलने पर भान होता है कि मैं तो ज्ञान हूँ, विकल्प द्वारा मेरा ज्ञान कार्य नहीं होता। ज्ञान को और विकल्प को कारण-कार्यपना नहीं है।

आत्मा को पर के साथ किंचित् भी कारण-कार्यपना नहीं है। तब कोई ऐसा कहता है कि द्रव्य-गुण त्रिकाल है, इसलिए उसमें तो दूसरे के द्वारा कुछ नहीं होता, परन्तु पर्याय तो नयी-नयी उत्पन्न होती है, इसलिए वह दूसरे के द्वारा की जाती है, क्योंकि वह कार्य है, और कार्य कभी कारण बिना नहीं होता।

तो यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तुझे आत्मा के अकारण-कार्यस्वभाव की खबर नहीं। अकारण-कार्यस्वभाव द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है, इसलिए जैसे द्रव्य-गुण अन्य के द्वारा नहीं किये जाते, इसी प्रकार उसकी पर्याय भी अन्य के द्वारा नहीं की जाती। द्रव्य-गुण अन्य के द्वारा न हो और पर्याय अन्य के द्वारा हो—ऐसा माने तो उसने अकारण-कार्यशक्ति को द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक नहीं माना। परन्तु जैसे आत्मा में ज्ञानशक्ति होने से उसके द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों ज्ञानमय है, उसी प्रकार आत्मा में अकारण-कार्यशक्ति होने से उसके द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों अन्य द्वारा नहीं किये जाते। पर्याय कार्य है—यह सत्य है, परन्तु इससे कहीं वह दूसरे के द्वारा किया जाता है—ऐसा नहीं है। कार्य कभी कारण बिना नहीं होता, परन्तु वह कारण अपने में या पर में? कार्य अपने में और कारण पर में—ऐसा नहीं होता। यदि कारण पर

में हो तो वह कार्य अपना नहीं रहा परन्तु पर का हो गया। अपने कार्य का कारण अपने में ही है, पर के साथ उसके कारण-कार्यपना नहीं, ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

पुनश्चः, जो निर्मलज्ञानादि कार्य है, उसका कारण राग भी नहीं है। यदि राग उसका कारण हो तो वह ज्ञान आत्मा का कार्य नहीं रहा परन्तु वह राग का कार्य हो गया। कारण और कार्य एक जाति के होते हैं, विरुद्ध जाति के नहीं होते, तथा कारण और कार्य एक वस्तु में ही होते हैं; भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं होते; ये वस्तुस्वभाव के त्रैकालिक नियम हैं, उन्हें कोई बदल नहीं सकता।

द्रव्य-गुण तो पर से नहीं होते और पर्याय पर से होती है—ऐसा तू कहता है, परन्तु भाई! द्रव्य-गुण में तो कार्य होनापना है ही कहाँ? कार्य होनापना तो पर्याय में ही है। उस पर्याय को पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। उस पर्याय का कारण आत्मा में ही है। आत्मा का आनन्दस्वभाव है, इसलिए वह आनन्द की पर्याय पर से नहीं होती; परवस्तु कारण होकर आत्मा को आनन्द दे, ऐसा कभी नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है, वह ज्ञान की पर्याय पर से नहीं होती; परवस्तु कारण होकर आत्मा के ज्ञानकार्य को उपजावे, ऐसा कभी नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के अनन्त गुण में से एक-एक गुण का कार्य पर से नहीं होता तथा गुण की पर्याय प्रगट होकर पर में कुछ करे, ऐसा नहीं होता। इस प्रकार भगवान आत्मा के आनन्द में, ज्ञान में, श्रद्धा में कहीं पर का कार्य नहीं है। आत्मा परद्रव्य बिना अकेला अपना कार्य कर सकता है।—इस प्रकार धर्मी जीव अपने कार्य के लिये अपने सन्मुख देखता है और स्वाश्रय से निर्मलकार्य प्रगट करता है।

यद्यपि रागादि विकार में भी पर का कारणपना नहीं, परन्तु अभी आत्मा की शक्ति के वैभव की बात है, इसलिए उसमें निर्मलकार्य की ही बात आती है, विकार की बात उसमें नहीं आती। वैभव में विभाव नहीं। जगत में प्रत्येक वस्तु अपने-अपने कार्यसहित ही वर्त रही है। कोई वस्तु ऐसी कार्यरहित नहीं है कि दूसरा उसका कार्य करे। वस्तु स्वयं अपने कार्यसहित ही है, पश्चात् दूसरा उसका कार्य करे, इस बात को अवकाश ही कहाँ है?

✦ यदि आत्मा पर के कार्य करे तो अपना कार्य करने के लिये निवृत्त कब हो?

✦ और यदि आत्मा का कार्य दूसरा करे तो स्वयं अपना हित कब करे?

अरे! तू स्वयं अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान, और तेरा कार्य दूसरा करे? क्या तू ऐसा शक्तिहीन है कि तेरे कार्य को स्वयं नहीं कर सकता? स्वाधीनरूप से दूसरे किसी की सहायता बिना ही तू स्वयं अपना कार्य (केवलज्ञान और सिद्धपद) करने की सामर्थ्यवाला है। तू स्वयं भगवान और तुझे पर की दासता हो? शक्तिरूप अपने भगवान स्वभाव को जो मानता है, वह व्यक्ति से प्रगट परमात्मा हो जाता है; उसमें अपनी शक्ति के अतिरिक्त दूसरे कारण की आवश्यकता नहीं है।

राजा राम जैसे महापुरुष धर्मात्मा छह महीने तक लक्ष्मण के मृतक शरीर को साथ में लेकर घूमे, उस समय भी उन धर्मात्मा को अन्तर में निजवैभव का भान था, लक्ष्मण के प्रति राग के साथ भी अपने स्वभाव का कारण-कार्यपना स्वीकार नहीं करते थे। और उस समय रामचन्द्रजी के दो कुमार संसार से विरक्त होकर आज्ञा माँगते हैं कि हे पिताजी! इस असार संसार से अब हमारा मन विरक्त हुआ है। हम अब परम सारभूत हमारे असंयोगी तत्त्व को साधने जा रहे हैं। इस दुःखमय संसार का नाश करनेवाला और परम आनन्द को उपजानेवाला ऐसा जो हमारा चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसे साधने के लिये हम जा रहे हैं। हम अब निजवैभव को साधेंगे और सिद्ध की पंक्ति में जाकर बैठेंगे। हमारे अन्तर में हमारा निजवैभव हमने स्वानुभव द्वारा देखा है, देखे हुए वैभव को अब हम अन्तर में एकाग्र होकर साधेंगे। ऐसा कहकर, पिताजी को प्रणाम करके वे वन में चले गये, और मुनि होकर आत्मध्यान द्वारा केवलज्ञान को साध लिया, तत्पश्चात् पावागढ़ से सिद्धपद को प्राप्त हुए। ऐसी शक्ति प्रत्येक आत्मा में है और प्रत्येक आत्मा ऐसे निजपद को साध सकता है। सीताजी जैसे भी अग्निपरीक्षा के पश्चात् संसार छोड़कर ऐसे निजपद को साधने के लिये वैराग्यपूर्वक चल निकले। अरे! ऐसा संसार! उससे अब बस होओ... बस होओ। अहा! अन्तर के भानपूर्वक ऐसे वैराग्यभाव से सीताजी जब सिर के केश का लोंच करके दीक्षित हुई, तब वह दृश्य कैसा होगा!! राम तो मूर्च्छित हो जाते हैं, प्रजाजन हाहाकार करते हुए रुदन करते हैं... और सीताजी

संसार से उदास होकर आर्यिका बनती हैं। सीताजी के प्रति राग से मूर्च्छित हुए, उस समय भी रामचन्द्रजी अन्तर की आत्मशक्ति के भान में हैं, उस समय भी निजशक्ति को भूले नहीं, और मोह का जरा सा विकल्प वर्तता है, उसे आत्मशक्ति का कार्य वास्तव में नहीं मानते थे; उस समय भी उनका आत्मा निर्मल भावों का ही कारण-कार्यरूप से परिणम रहा है।—यह तो बड़े प्रसिद्धि पुरुषों के नाम लेकर दृष्टान्त दिये, बाकी तो सभी धर्मात्माओं के अन्तर में ऐसा ही परिणमन वर्त रहा है। भगवान आत्मा अन्तर्दृष्टि से द्रव्य-गुण-पर्याय की एकतारूप परिणमा, वहाँ स्वकारण से निर्मलपर्याय ही परिणमती है; उसमें दूसरे किसी के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। निर्मलभावरूप से परिणमता वह आत्मा जहाँ विकारी कार्य का भी कर्ता नहीं, वहाँ पर का कर्ता तो कहाँ से होगा? आत्मा को पर के साथ कारण-कार्यपना तो तीन काल में नहीं है, मात्र प्रमाता-प्रमेयपने का सम्बन्ध है, यह बात आगे की (१५वीं) शक्ति में बतलायेंगे।

देह और भाषा की क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है, उसका कारण आत्मा नहीं है; इच्छा का कारण होने का स्वभाव भी आत्मा की शक्ति में नहीं है। ऐसे आत्मा का भान होने से पर के कार्य में से दृष्टि छूट जाती है और स्वकार्य के कारणरूप निजस्वभाव पर दृष्टि जाती है, इसलिए सम्यग्दर्शन इत्यादि निर्मल कार्य होता है। भाई! आत्मा की शान्ति के लिये तेरे ऐसे स्वभाव को दृष्टि में ले। तेरी शान्ति के लिये तुझे कोई परद्रव्य कारण हो—ऐसा नहीं है। तेरा आनन्दस्वभाव ही तेरी शान्ति का कारण है। तेरा आनन्दस्वभाव दुःख को और राग को उत्पन्न नहीं करता तथा राग तेरे आनन्द को उत्पन्न नहीं कर सकता। तेरा आनन्द, तेरी शान्ति और तेरा ज्ञान, उस कार्य में तुझे दूसरे किसी की आवश्यकता नहीं है। शान्ति इत्यादि पर के अकार्य-अकारणरूप है। पर का जरा भी कार्य-कारणपना उसमें नहीं है।

अपने ऐसे स्वभाव को दृष्टि में लेने से पर्याय में ज्ञानादि का निर्मल परिणमन प्रगट हुआ, तब उसमें आत्मा प्रसिद्ध हुआ और तब ही वास्तव में आत्मा को जाना और अनुभव किया कहलाये। शक्ति यदि निर्मलपर्यायरूप न परिणमे तो उसका कार्य क्या? शक्ति का निर्मल कार्य पर्याय में प्रगट होता है, उसे पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है, वस्तु का स्वभाव द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों सत्

हैं। द्रव्य-गुण का लाभ पर्याय में आवे, तब द्रव्य की सच्ची श्रद्धा कहलाये। ऐसी श्रद्धा, वह मोक्ष का बीज है। निर्मलपर्यायपूर्वक ही द्रव्य प्रतीति में आता है। अकेली मलिनतारूप परिणमता हो और उस पर्याय में द्रव्य की प्रतीति हो जाये—ऐसा नहीं होता। मलिनता में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि शुद्ध द्रव्यस्वभाव को झेल सके। स्वसन्मुख हुई निर्मल पर्याय में ही वह सामर्थ्य है। द्रव्यसन्मुख होकर उसे प्रतीति में लेने से ही पर्याय निर्मल हो जाती है।

शुद्ध द्रव्य हमको प्रतीति में आया है परन्तु पर्याय में शुद्धता जरा भी नहीं दिखती, ऐसा कोई कहे तो उसकी बात खोटी है। शुद्ध द्रव्य की उसकी प्रतीति भी कल्पनारूप है। शुद्धद्रव्य प्रतीति में ले और पर्याय में उसकी प्रसिद्धि (परिणमन) न हो, ऐसा नहीं होता। निर्मल पर्याय बिना द्रव्य को प्रतीति में लिया किसने? निर्मलपर्याय बिना का अकेला द्रव्य प्रतीति में नहीं आता। स्वसन्मुख होकर शुद्ध आत्मा की प्रतीति करने से निर्मल पर्यायरूप आत्मा परिणम जाता है, इसलिए अनन्त गुण का वैभव पर्याय में प्रसिद्ध होता है। किसी के कारण-कार्य बिना ही भगवान आत्मा का ऐसा वैभव प्रसिद्ध होता है।

इस प्रकार अकारण-कार्यत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

आचार्य भगवान कहते हैं कि — सुन्दर आनन्द की छापवाले स्वसंवेदन से प्रगट हुए मेरे समस्त निजवैभव द्वारा मैं एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा इस समयसार में दिखाता हूँ। उसे तुम स्वानुभव से प्रमाण करना।

[१५]

परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति

परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्य-परिणाम-कत्वशक्तिः।

पर और स्व जिनके निमित्त हैं, ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने के और ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति। (-पर जिनके कारण हैं, ऐसे ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के और स्व जिनका कारण है, ऐसे ज्ञानाकारों को ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व-शक्ति।)।१५।

अहा! मोक्षमार्गी जीवों के जीवन कोई अलग प्रकार के हैं। अपने चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य सबसे उसे उदासीनता है। जगत के प्रसंगों से उसकी परिणति हिल नहीं जाती। अन्तर की अनुभवदशा में चैतन्य के आनन्द के समुद्र डोलते देखे हैं, उसका चित्त अब अन्यत्र कैसे लगे? आत्मा के निजवैभव में लगा हुआ चित्त अन्यत्र कहीं नहीं लगता।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपार वैभव है। अनन्त गुण का उसका जो विस्तार, उसका पार वाणी से नहीं आता, विकल्प से भी उसका पार नहीं पाया जाता। अन्तर में आत्मा के स्वानुभव से ही उसका पार पाया जाता है। भगवान ने जैसा आत्मा देखा, वैसा वाणी में वर्णन किया, परन्तु वाणी की ओर के झुकाव से वह लक्ष्यगत नहीं होता; भगवान भी ऐसा ही कहते हैं कि तू तेरे स्वभाव सन्मुख देख तो तुझे तेरा आत्मा लक्ष्यगत होगा।

१४वीं अकारण-कार्यशक्ति में यह बताया है कि आत्मा को पर के साथ कारण-कार्यपने का किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। पर के साथ कारण-कार्यपना न होने पर भी, आत्मा पर को जाने और स्वयं पर के ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसा ज्ञेय-ज्ञायकपने का सम्बन्ध है, यह बात १५वीं शक्ति में बतलाते हैं।

आत्मा को पर के साथ सम्बन्ध नहीं, इसलिए कोई ऐसा समझ ले कि आत्मा पर को जानता भी नहीं होगा!—तो ऐसा नहीं है। परज्ञेयों के ज्ञानरूप से स्वयं परिणमे, ऐसी परिणम्यशक्ति आत्मा में है और अपने ज्ञानाकारों को सामनेवाले के ज्ञान में ज्ञात हो (ज्ञेय करे) ऐसी परिणामक शक्ति भी आत्मा में है। प्रमातास्वभाव के कारण स्वयं अन्य ज्ञेयों के ज्ञानरूप परिणमता है और प्रमेयस्वभाव के कारण स्वयं अन्य के ज्ञान में ज्ञेय होता है।—ऐसे स्वभाव को परिणम्य-परिणामकशक्ति कहा जाता है।

परिणम्य : आत्मा को परिणम्य कहा, वहाँ कोई सामने के ज्ञेय उसे परिणमाते नहीं हैं, परन्तु सामने जैसे ज्ञेय हैं, वैसा ज्ञान का परिणमन अपने स्वभाव से होता है, इसलिए आत्मा को परिणम्य कहा है। ज्ञान में उस प्रकार के परिणमन की सामर्थ्य है।

परिणामक : आत्मा को परिणामक कहा, इसलिए कहीं सामनेवाले के ज्ञान को आत्मा परिणमाता है, ऐसा नहीं है, परन्तु स्वयं ज्ञेयरूप से सामने के प्रमाणज्ञान में झलकता है, ऐसा उसका स्वभाव है, इसलिए आत्मा को परिणामक कहा है। ऐसा ज्ञेय होने का आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा स्वयं दूसरे को जाने तथा दूसरे के ज्ञान में स्वयं ज्ञात हो, ऐसे दोनों स्वभाव आत्मा में एक साथ वर्तते हैं, इसका नाम 'परिणम्यपरिणामकशक्ति' है। पर का जो

निमित्त है, ऐसे ज्ञेयाकार, उन्हें आत्मा ज्ञान से जानता है और आत्मा स्वयं जिसका निमित्त है, ऐसे अपने ज्ञानाकार दूसरे के ज्ञान में प्रमेय होते हैं; इस प्रकार प्रमाता और प्रमेय होने की आत्मा की सामर्थ्य है।

सामने जो अनन्त ज्ञेय पदार्थ, उनके ज्ञेयाकार अर्थात् कि उनके द्रव्य-गुण-पर्यायें, उनका कारण वे पदार्थ हैं, आत्मा उनका कारण नहीं; आत्मा उनका ज्ञाता है। ज्ञान करने की अपेक्षा से आत्मा परिणम्य है और आत्मा के ज्ञानाकार दूसरे के ज्ञान में प्रमेय होते हैं। इसलिए सामनेवाले के ज्ञान में ज्ञेय होने की अपेक्षा से आत्मा परिणामक है। ज्ञाता होने की तथा प्रमेय होने की यह दोनों सामर्थ्य आत्मा में एकसाथ है, ऐसा यह परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति सूचित करती है।

जगत के सभी ज्ञेयाकारों को जाननेरूप आत्मा परिणमता है; वहाँ उन ज्ञेय पदार्थों के आकारों का कारण वे पदार्थ ही हैं, और ज्ञानपर्यायरूप अपने ज्ञानाकारों का कारण आत्मा स्वयं है। सामनेवाले के ज्ञान में यह आत्मा ज्ञात हो, इससे कहीं सामनेवाले जीव के ज्ञान का कारण यह आत्मा नहीं तथा सामनेवाले पदार्थ इस जीव के ज्ञान में ज्ञात हो, इसलिए कहीं वे पदार्थ इस जीव के ज्ञान के कारण नहीं हैं। स्वतन्त्ररूप से ही अपने-अपने आकाररूप दोनों परिणमते हैं।

पर के ज्ञेयाकारों को आत्मा ग्रहण करता है—ऐसा कहा, उसमें 'ग्रहण करना', का अर्थ 'ज्ञान करना' ऐसा होता है; कहीं सामने के पदार्थ वहाँ से यहाँ ज्ञान में आ नहीं जाते, वे तो ज्ञान के बाहर ही रहते हैं। उन पदार्थों को जानने का आत्मा का स्वभाव है, परन्तु उनका कारण होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। सामने जीव के ज्ञानाकारों में यह आत्मा ज्ञेयरूप से निमित्त होता है, इस अपेक्षा से यह आत्मा उनका 'परिणामक' है। आत्मा में ऐसी प्रमेयत्वशक्ति है, वह यहाँ बताया है। आत्मा पर को जाने, ऐसी उसकी शक्ति है; और आत्मा स्वयं अपने को स्वसंवेदन से जानता है, यह बात प्रकाशशक्ति में बतायी है।

आत्मा सर्व पदार्थों को जाने सही,

परन्तु आत्मा सर्व पदार्थों को प्रमेय नहीं होता, क्योंकि सामने सर्व द्रव्यों में

जानने की शक्ति कहाँ है ? अनन्त जड़-अचेतन द्रव्य हैं, उनमें तो ज्ञान ही कहाँ है कि आत्मा को प्रमेय करे ? वे स्व-पर को न जानने के स्वभाववाले हैं और आत्मा स्व-पर को जानने के स्वभाववाला है। ज्ञात होने का अर्थात् कि प्रमेय होने का स्वभाव तो जड़-चेतन सभी पदार्थों में है, परन्तु जानने का स्वभाव तो चेतनमूर्ति आत्मा में ही है।

यहाँ ज्ञान का परिणमन स्वतन्त्र है, सामने ज्ञेयों का स्वतन्त्र परिणमन है; मैं ज्ञान द्वारा उन ज्ञेयों का जाननेवाला हूँ, परन्तु उनमें कुछ फेरफार करनेवाला मैं नहीं हूँ और ज्ञेयों में ऐसा स्वभाव है कि मेरे ज्ञान में प्रमेय हों, परन्तु वे मेरे ज्ञान में कुछ करे, ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। मुझे और पदार्थों को मात्र ज्ञाता-ज्ञेयपने का ही सम्बन्ध है; ज्ञाता-ज्ञेयपने के निर्दोष सम्बन्ध में बीच में विकार नहीं आता। ऐसे स्वभाव को जानने से ज्ञानमूर्ति आत्मा प्रसिद्ध होता है। विपरीत माने तो उस मान्यता में आत्मा प्रसिद्ध नहीं होता, मोह की प्रसिद्धि होती है।

आत्मा स्व-पर का ज्ञाता हो, तथा स्व-पर का ज्ञेय हो—ऐसा उसका प्रमाता और प्रमेय स्वभाव है। परन्तु यहाँ इस परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति में आत्मा पर को जाने और पर के ज्ञान में वह ज्ञात हो, इतना बतलाना है। आत्मा का स्व-प्रकाशकपना प्रकाशशक्ति में बतलाया है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, इसलिए जगत भी उसके ज्ञान का निमित्त है। जो राग-द्वेष करे, उसके लिये वह राग-द्वेष का निमित्त कहलाता है। कषायप्राभृत—जयधवला में—'पेज्ज-दोस' (अर्थात् कि राग-द्वेष) का विवेचन करते हुए कहा है कि जगत पूरा राग का निमित्त है, इस अपेक्षा से सब 'पेज्ज' (राग) है, और द्वेष का निमित्त है, इस अपेक्षा से सब 'दोस' (द्वेष) है। उपचार से, राग के निमित्त को भी राग कहा और द्वेष के निमित्त को द्वेष कहा। राग-द्वेष के निमित्त की अपेक्षा से सिद्ध भगवान को भी पेज्ज-दोस (राग-द्वेष) कह दिया, परन्तु वे कहीं राग-द्वेष कराते नहीं, परन्तु सामने रागी-द्वेषी जीव राग-द्वेष करके उन्हें राग-द्वेष का निमित्त बनाता है। वास्तव में तो आत्मा ज्ञानस्वभाववाला है और जगत ज्ञेय है, ऐसा निर्दोष ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध है, परन्तु राग-द्वेष करे और जगत को राग-द्वेष का निमित्त बनावे, ऐसा स्वभाव आत्मा का नहीं

है। आत्मा ज्ञाता होकर जगत को अपना प्रमेय बनावे, तथा दूसरे के ज्ञान में स्वयं प्रमेय हो, ऐसा स्वभाव है।

प्रत्येक वस्तु के कारण-कार्य उस वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय में ही हैं, दूसरे में नहीं। एक परमाणु एक समय में असंख्यात योजन (१४ राजू) गमन करे या स्थिर रहे, उसमें उसके द्रव्य-गुण-पर्याय ही कारण है, दूसरा कारण नहीं। उसी प्रकार आत्मा तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाने, वहाँ उस ज्ञान का कारण अपने द्रव्य-गुण-पर्याय ही हैं, दूसरा कारण नहीं है। सिद्ध भगवन्तों की लोकाग्रस्थिति का कारण उनके द्रव्य-गुण-पर्याय ही हैं, दूसरा कारण नहीं। धर्मास्ति-अधर्मास्ति इत्यादि निमित्तकारणों का कथन शास्त्रों में आता है, परन्तु वस्तुस्वभाव समझकर उसका अर्थ समझना चाहिए; वस्तुस्वभाव में ऐसी कोई पराधीनता नहीं कि पर को कारण बनावे। धर्मास्ति के द्रव्य-गुण-पर्याय धर्मास्ति में और सिद्ध के द्रव्य-गुण-पर्याय सिद्ध में; प्रत्येक के द्रव्य-गुण-पर्याय अपने-अपने में स्वतन्त्र हैं।

पर के साथ जिसे कारण-कार्य का कुछ सम्बन्ध नहीं—ऐसे अकारणकार्यस्वभावी आत्मा को जानने से पर के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर अपने स्वभाव में एकत्वबुद्धि होती है, इसलिए अन्तरस्वभाव में झुकाव होता है; अन्तर के चैतन्यमहासागर में डुबकी लगाने से आनन्द, प्रभुता इत्यादि महारत्न हाथ में आते हैं, मति-श्रुतज्ञान द्वारा भी चैतन्य में डुबकी लगाने से (अर्थात् कि स्वसंवेदन करने से) अपूर्व चैतन्यगुणरत्न अनुभव में आते हैं। मति-श्रुतज्ञान में भी अपार सामर्थ्य है, उसमें भी समुद्र जैसी अगाध गम्भीरता भरी है, अगाध चैतन्यसमुद्र का थाह लेने की उसमें सामर्थ्य है;—केवलज्ञान की अचिन्त्य सामर्थ्य की तो क्या बात! केवलज्ञान के अनन्तवें भाग का श्रुतज्ञान, वह श्रुतज्ञान एक भागरूप अंग-पूर्वज्ञान के धारक सन्तों को अन्दर ज्ञान के और आनन्द के समुद्र उल्लसित हुए हैं। अहा! यह एक-एक आत्मशक्ति का वर्णन लिखते समय आत्मा में कितना मंथन चलता होगा! लिखते हुए भी लिखने के बीच में विकल्प टूटकर कितनी ही बार निर्विकल्प अनुभव में (आचार्यदेव) स्थिर हो जाते होंगे! और फिर अन्दर तत्त्व के कुछ सूक्ष्म रहस्य का समाधान न हो और यदि आहारकशरीर का योग

हो तो कदाचित् विकल्प उठे और आहारकशरीर द्वारा भगवान के पास जाकर उसका समाधान कर आवे। कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो आहारकशरीर बिना साक्षात् विदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान के पास गये और दिव्यध्वनि का श्रवण किया—यह उनकी विशेषता है।

आत्मा के ज्ञान की कोई अपार सामर्थ्य है। यद्यपि प्रत्येक गुण अपार सामर्थ्य से भरपूर है, परन्तु उन सबके सामर्थ्य को ज्ञान ही जानता है। अन्दर चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगाकर स्वभाव के अनन्त वैभव का मति-श्रुतज्ञान स्वसंवेदन करता है। स्वसंवेदन में आत्मा का अनन्त वैभव समाहित होता है। एक छोटे में छोटे मतिज्ञान में भी इतनी सामर्थ्य है कि उसके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। ज्ञानगुण की सामर्थ्य का पार नहीं; और ऐसे अनन्तानन्त गुणों की सामर्थ्य से भरपूर आत्मा है।

अहो! आत्मा अर्थात् क्या? इसकी जगत को खबर नहीं। आत्मा उत्तम में उत्तम पदार्थ है, जगत में उसके जैसा दूसरा कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। जगत में आत्मा ही एक ऐसा पदार्थ है कि जिसे जानने से सुख होता है। जिसकी एक पर्याय में भी अपरिमित सामर्थ्य, उसकी पूरी महिमा की क्या बात! अनन्त गुणों का सागर चैतन्यप्रभु, उसके वैभव का पार नहीं है। उसके एक-एक गुण में अपार वैभव, उसकी एक-एक पर्याय में अपार वैभव, उसके एक-एक प्रदेश में अपार वैभव, ऐसे सर्व प्रकार से वैभवसम्पन्न आत्मा है, उसे तू जान। आचार्यदेव कहते हैं कि मेरे आत्मा में जो निजवैभव प्रगट हुआ है, उस समस्त निजवैभव द्वारा मैं एकत्व-विभक्त आत्मा का वैभव दिखलाता हूँ, तुम स्वानुभव द्वारा उसे पहिचानना। जिसकी प्रगट पर्याय में भी इतनी सामर्थ्य, उसकी शक्ति के वैभव की क्या बात! पर्याय भले छोटी, परन्तु वह परम स्वभाव की जाति है न! राजा भले छोटा हो, परन्तु छोटा तो भी राजा! उसका हुकम चलेगा; इसी प्रकार भगवान आत्मा की एक समय की पर्याय में भी स्वभाव की सत्ता है। पर्याय भले एक समय की परन्तु पूर्ण शक्ति में से आयी हुई है, उसका सामर्थ्य अपार है। ऐसे आत्मवैभव का यह वर्णन है। सन्तों ने खजाना खोल दिया है।

ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए श्री पद्मनन्दिस्वामी कहते हैं कि हे प्रभो! केवलज्ञान प्राप्त करके दिव्यध्वनि द्वारा आपने चैतन्य का खजाना खोल दिया, चैतन्य के

निधान खुल्ले करके जगत को बताया, तो अब उसे कौन नहीं लेगा? ऐसे चैतन्यनिधान लेने के लिये राजपाट को तृणवत् समझकर कौन नहीं छोड़ेगा? प्रभो! आपका उपदेश सुनकर राजा-महाराजा इत्यादि बहुत जीव जगत के वैभव को तुच्छ समझकर आत्मा का वैभव साधने के लिये चल निकले... और मुनि होकर आत्मध्यान करने लगे। जिसके पास जगत के वैभव की कुछ गिनती ही नहीं, ऐसा अचिन्त्य आत्मवैभव सन्तों ने बतलाया है।

* * *

१४वीं अकारणकार्यशक्ति में पर के साथ के कारण-कार्य का सम्बन्ध तो तोड़ा, तो फिर बाकी क्या रहा? कि ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध बाकी रहा, वह इस १५वीं परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति बतलाती है। पर के साथ कर्ताकर्मपना तोड़ा, वहाँ ज्ञेय-ज्ञायकपना रहा। ज्ञेय-ज्ञायकपने के वीतरागी सम्बन्ध के बीच कहीं राग-द्वेष नहीं रहे। आत्मा ज्ञाता और जगत के पदार्थ ज्ञेय, तथा सामने जीव के प्रमाणज्ञान में स्वयं प्रमेयरूप ज्ञात हो,— इस प्रकार ज्ञेयाकारों को जानने का तथा प्रमेय होने का आत्मा का स्वभाव है। उसमें अपने ज्ञानाकारों का कारण आत्मा है, परन्तु ज्ञान में ज्ञात होते जो पर ज्ञेयाकार, उनका कारण आत्मा नहीं है।

अहो! आत्मा का स्वभाव! जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं, अकेले शान्तरस से भरपूर समुद्र है, उसमें अपनी निर्मल पर्यायों का कारणपना है परन्तु पर का कारणपना नहीं, पर का ज्ञान करता है, परन्तु उसका कारण नहीं होता। आत्मा के कारण-कार्य आत्मा में समाहित होते हैं और पर के कारण-कार्य पर में समाहित होते हैं। आत्मा प्रमाता और पदार्थ उसके प्रमेय, तथा आत्मा प्रमेय और सामने का ज्ञानी जीव प्रमाता,— ऐसा निर्दोष सम्बन्ध है, इससे आगे बढ़कर एक-दूसरे के कार्य में कुछ करे, ऐसा सम्बन्ध नहीं है।

देखो, यह चैतन्य के निधान खोले जाते हैं। ज्ञानमात्र भाव की जो स्वानुभूति प्रगट हुई, वह अनन्त गुण के निजवैभवसहित प्रगट हुई है। आत्मा का वैभव ऐसा है कि उसमें से ज्ञान और आनन्द निकलते हैं, परन्तु उसमें से विकार निकले या पर का काम

करे—ऐसा आत्मा के वैभव में नहीं है। जगत के ज्ञेयों को जान लेने की आत्मा में सामर्थ्य है परन्तु उसमें कहीं कुछ फेरफार करने की सामर्थ्य आत्मा में नहीं है, जगत के जितने ज्ञेय हैं, उन ज्ञेयों के आकारों का (द्रव्य-गुण-पर्यायों का) कारण वे-वे पदार्थ हैं; और आत्मा उन्हें जानता है, उस जाननेरूप ज्ञानाकारों का कारण आत्मा स्वयं है।

और, आत्मा प्रमेय होकर दूसरे के ज्ञान में ज्ञात हो, उसमें आत्मा अपने प्रमेयपनेरूप ज्ञेयाकार का कारण है और सामने के जीव को जो ज्ञान हुआ, उन ज्ञानाकारों का कारण सामनेवाला जीव है। इस प्रकार पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय होते हैं, परन्तु ज्ञान के कारण नहीं होते। ज्ञान अपनी स्वाधीन सामर्थ्य से ही ज्ञानरूप परिणमता है, ज्ञेयों के कारण से ज्ञान नहीं परिणमता।

आत्मा में द्रव्य-गुण-पर्याय सब प्रमेय होता है, उन तीनों का जो ज्ञान है, वह आत्मा के ज्ञानाकार हैं; और दूसरे जीव के ज्ञान में यह आत्मा प्रमेय होता है, इस अपेक्षा से आत्मा ज्ञेयाकार है, सामने के जीव के ज्ञान में ज्ञात होने की अपेक्षा से आत्मा प्रमेय है। अहो! यह चैतन्यसृष्टि कोई अलग प्रकार की है, जिसमें अपार सूक्ष्म गम्भीर भाव भरे हैं, और राग का जिसमें प्रवेश नहीं। टीका के थोड़े शब्दों में वाच्यरूप से पूरे स्वभाव का रहस्य समाहित हो जाता है, परन्तु उन शब्दों का कर्ता आत्मा नहीं; शब्दों के ज्ञान का कर्ता आत्मा है। शब्द के साथ आत्मा को कर्ताकर्मपना नहीं है; उनके साथ तो ज्ञेय-ज्ञायकपना है। कर्ताकर्मपना तो अपने ज्ञान के साथ ही है। कर्ता-कर्मपना और भोक्ता-भोग्यपना, वह सब ज्ञानमात्र भाव में ही समाहित होता है।

यह आत्मा स्वयं प्रमाता होकर सामने के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानता है, तथा अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों से प्रमेय होकर उस सामनेवाले के ज्ञान में ज्ञात होता है। अन्तर इतना है कि आत्मा 'प्रमाता' तो जड़-चेतन सबका होता है—सबको जानता है, परन्तु आत्मा 'प्रमेय' तो मात्र चेतन का ही होता है, जड़ का प्रमेय नहीं होता क्योंकि जड़ पदार्थों में ज्ञान ही नहीं कि जिससे आत्मा को प्रमेय बना सकें। जिसमें ज्ञान है उसे, अपने ज्ञानाकारों का ग्रहण करने में आत्मा निमित्त है अर्थात् कि प्रमेय होता है, परन्तु जिसमें उपादानरूप से ज्ञानशक्ति ही न हो, उसे तो उसका निमित्त भी कैसा? आत्मा का 'प्रमेयत्व'

स्वभाव कहीं अधूरा नहीं, परन्तु जिसमें जानने की शक्ति हो, उसे वह प्रमेय होता है।

अहा! कैसा स्वतन्त्र और सुन्दर स्वभाव है! बस, ऐसे स्वभाव से आत्मा शोभित है, उसमें बीच में राग और विकल्प कहाँ रहे? ऐसे स्वभाववाला ज्ञानमात्र आत्मा, वह वास्तविक आत्मा है। ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करे, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और वह मोक्षमार्ग है।

आत्मद्रव्य में अक्रम से अनन्तगुण हैं और क्रमवर्ती पर्यायें हैं। पहले एक गुण की पर्याय और बाद में दूसरे गुण की पर्याय—ऐसा क्रमवर्ती नहीं, परन्तु एक पर्याय जाये और दूसरी पर्याय हो—इस प्रकार क्रमवर्ती है और अनन्त गुणों में ऐसी क्रमवर्ती पर्यायें एक साथ वर्तती है। 'ज्ञान' कहने से ऐसे गुण-पर्यायों का समूह पूरा आत्मा लक्षित होता है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके ऐसे आत्मा को ध्येय करने से उसका निर्मल परिणमन होता है और उस निर्मल परिणमन में अनन्त धर्म समाहित होते हैं, उनका यह वर्णन है।

जगत की चीज़ें जैसे वर्तती हैं, उन्हें वैसा जाने, ऐसा आत्मा का गुण है, परन्तु दूसरे से कुछ ले या दूसरे को कुछ दे, ऐसा कोई स्वभाव आत्मा में नहीं है। पर से मुझे कुछ नुकसान हुआ या लाभ हुआ, ऐसी मान्यता, वह अज्ञानी की भ्रमणा है। भाई! तुझमें जो गुण हों, उनका कार्य तुझमें होता है, परन्तु जो गुण ही तुझमें न हो, उसका कार्य तुझमें कहाँ से होगा? दूसरे के गुण का का कार्य तुझमें नहीं हो सकता। सामने जीव के सुन्दर और असुन्दर विचारों को तू जाने, ऐसा तेरा स्वभाव है, परन्तु उसके विचारों को तू बदल सके, ऐसी शक्ति तुझमें नहीं है; उस जीव के विचार तेरे आधीन नहीं तथा उसके विचार से तुझे कोई लाभ-नुकसान नहीं। बस, तू तो निरपेक्षरूप से ज्ञाता है। जानने के स्वभाव में तो आनन्द, प्रभुता, स्वच्छता, प्रकाश इत्यादि अनन्त भाव भरे हुए हैं। ऐसे स्वभाव को प्रतीति में लेकर आत्मा को ध्येय बना।

जड़ में आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय होने का स्वभाव है और आत्मा उसे जाने, ऐसा उसका स्वभाव है, परन्तु उस आत्मा में कुछ करे, ऐसा स्वभाव नहीं है। आत्मा के ज्ञान को घात करे और ज्ञान दे, ऐसा स्वभाव पर में नहीं है तथा आत्मा में भी ऐसा स्वभाव नहीं कि पर में से ज्ञान ले, अथवा पर के द्वारा उसके ज्ञान का घात हो। पर से पृथक् ऐसा

ज्ञान का ज्ञानपना जीव ने कभी जाना नहीं। ज्ञान विकार से भी पृथक् रहकर उसे जाननेवाला है। ऐसे 'ज्ञान' को पहिचाने तो अनन्त शक्तिवाला आत्मा पहिचाना जाये। शरीर और कर्म, क्रोध और राग, ये सभी ज्ञानधर्म से बाहर हैं; ज्ञानधर्म में आत्मा का अनन्त वैभव समाहित है, परन्तु उसमें विकार अथवा जड़ समाते नहीं हैं। ज्ञान में जानने का धर्म है, परन्तु ज्ञान में विकार करने का धर्म नहीं है। एक समय की पर्याय में विकार की योग्यता हो तो भी वह कहीं गुण का वास्तविक कार्य नहीं है। 'गुण' का कार्य दोष कैसे हो? गुण का कार्य तो वह कहलाता है कि गुण की जाति का हो, विरुद्ध न हो। गुण में तो एक समय भी अशुद्धता नहीं, इसलिए अशुद्धता, वह गुण का कार्य वास्तव में है ही नहीं। साधकदशा में बीच में व्यवहार के विकल्प आवें, उन्हें करने का ज्ञान का गुण नहीं है, परन्तु उन्हें जानने का ज्ञान का गुण है। ज्ञान का ज्ञानपना राग में नहीं जाता। यदि उस राग को जानने से ज्ञान उसका कर्ता हो जाये, तब तो उस ज्ञान का ज्ञानपना कहाँ रहा? ज्ञान और राग को पृथक् अनुभव करे तो ही ज्ञान का ज्ञानपना रहता है।

अहो! जगत में यह चैतन्यस्वभाव, वह तो शान्ति का पर्वत है। 'हिमालय' अर्थात् बर्फ का पर्वत; उसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा परम शान्तरस का हिमालय है। जैसे गर्मी की उष्णता में हिमालय के बीच जाकर बैठे तो कैसी ठण्डक लगे! उसी प्रकार परभावों की आकुलता से सुलगते हुए इस संसार में यदि शान्तरस के हिमालय ऐसे आत्मस्वरूप में जाकर बैठे तो उपशान्तरस की परम शीतलता अर्थात् कि निराकुल शान्ति का वेदन हो। प्रभु! एक बार ऐसे तेरे गुण में नजर तो कर! तेरे गुण के कार्य को पहिचानकर उसकी शान्ति का स्वाद एक बार चख तो सही!—पश्चात् तेरे उस शान्तरस के समक्ष पूरा संसार तुझे नीरस लगेगा,—सुलगते हुए ताप जैसा लगेगा। जैसे बर्फ शीतलता का पिण्ड है, उसी प्रकार यह चैतन्यप्रभु मात्र आनन्द का पिण्ड है; शान्तरस का सागर इसमें भरा है। ऐसे तेरे स्वभाव में जाकर नजर तो कर; विकार का आताप उसमें है ही नहीं। विकार का स्पर्श भी तेरे स्वभाव में नहीं है। ऐसे स्वभाव की शान्ति में सन्त बसते हैं और जगत के लिए उन्होंने ऐसा स्वभाव प्रसिद्धि में रखा है। अरे, जगत के जीवों! तुम्हारे ऐसे अद्भुत आत्मवैभव को तुम जानो... रे... जानो!

आत्मा का जो जानने का गुण अर्थात् कि जानने का स्वभाव, उसमें महाआनन्द है, प्रभुता है, स्वच्छता है, स्ववीर्य है, विभुता है, आनन्द का भोक्तापना है; परन्तु उसमें

क्रोधादि विकार नहीं, विकार का कर्तापना नहीं। शुद्धता के मेरुपर्वत जैसा जो यह चैतन्यस्वभाव, उसमें बीच में कहीं विकार भरा नहीं है। असंख्यप्रदेशी आत्मा अचलमेरु है। चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी निजस्वरूप से वह डिगता नहीं है, उसके गुण की एक कंकरी चलित नहीं होती अथवा एक प्रदेश भी हिलता नहीं, जैसे मेरुपर्वत ऐसा स्थिर है कि चाहे जैसी हवा से भी वह हिलता नहीं; उसी प्रकार चैतन्यमेरु आत्मा निजस्वभाव में ऐसा अडोल है कि प्रतिकूलता की हवा से वह घिरता नहीं, उसके कोई गुण या गुण की परिणति घात नहीं होती। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करनेवाला धर्मात्मा प्रतिकूल संयोग के घेरे के बीच भी स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान से डिगता नहीं। वह नि:शंक जानता है कि मैं तो ज्ञान हूँ और यह मेरा ज्ञेय है। ऐसे स्वभाव को प्रतीति में लेने से पर्याय में भी वैसा परिणमन प्रगट होता है। इस प्रकार ज्ञान परिणाम से परिणमता आत्मा अपने ज्ञान में पर को जानता है। तथा स्वयं भी दूसरे के ज्ञान में प्रमेय होता है। ऐसा द्विरूप स्वभाव (अर्थात् कि ज्ञातास्वभाव और ज्ञेयस्वभाव) आत्मा में एकसाथ वर्तता है।

इस प्रकार १५वीं परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

आत्मा का जीवन

प्रश्न : — शरीर के बिना जिया जा सकता है?

उत्तर :— हाँ; शरीररहित जीवन, वही सच्चा जीवन है। शरीर तो जड़ है, उस जड़ में आत्मा का जीवन नहीं है। आत्मा का जीवन तो चैतन्यप्राण द्वारा ही है। अनन्त सिद्ध भगवन्त शरीररहित ही चैतन्यजीवन जी रहे हैं। इस जीव ने भी अनन्त शरीर धारण करके छोड़े, तथापि जीव मर नहीं गया, वह तो जीवित ही है, इसलिए शरीर बिना जिया जाता है, परन्तु ज्ञान के बिना नहीं जिया जाता है। जैसे शरीर के बिना जिया जाता है, वैसे राग के बिना भी जिया जाता है। 'ज्ञान' ही आत्मा का जीवन है।

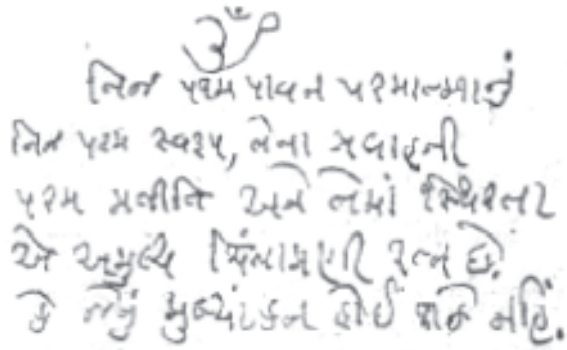

उपरना हस्ताक्षर द्वारा पू. गुरुदेवे
चिंतामणिरत्न देखाड्युं छे.

ॐ

निज परम पावन परमात्मा का निज परम स्वरूप, उसके प्रवाह की परम प्रतीति और उसमें स्थिति, यह अमूल्य चिन्तामणि रत्न है कि जिसका मूल्यांकन हो नहीं सकता।

(उक्त हस्ताक्षर द्वारा पूज्य गुरुदेव ने चिन्तामणि रत्न दिखलाया है।)

[१६]

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

अन्यूनाति-रिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः।

जो कम-बढ़ नहीं होता, ऐसे स्वरूप में नियतत्वरूप (-निश्चित्तया यथावत् रहनेरूप) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति।१६।

निजभाव को छोड़े नहीं,
किंचित् ग्रहे परभाव नहीं
जाने अरु देखे सर्व को मैं हूँ
वही ज्ञानी चिन्तवन करे।

गाथार्थ :-

(नियमसार .....)

आत्मा सदा त्याग-ग्रहण रहित अपने निजस्वरूप में रहता है, वह निजस्वरूप कभी घटता और बढ़ता नहीं है। अपने एकरूप स्वरूप में सदा रहता है और उस स्वरूप में त्याग और ग्रहण नहीं करे, ऐसी त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति आत्मा में है। ज्ञानमात्र आत्मा का जो अनन्त गुण से भरपूर निजस्वरूप है, वह घटता और बढ़ता नहीं। अनन्त गुण से अभिन्न एकरूप स्वभाव में आत्मा सदा ऐसा का ऐसा विराज रहा है, वह स्वभाव घटता और बढ़ता नहीं। विकार होने से द्रव्यस्वभाव में से कुछ घट गया और शुद्धता होने से द्रव्यस्वभाव में कुछ बढ़ गया—ऐसा नहीं है। विकार के समय आत्मा का एक भी गुण कम नहीं हो गया और शुद्धता के समय एक भी गुण बढ़ नहीं गया। दोनों समय शुद्धदृष्टि से आत्मा ऐसा का ऐसा एकरूप विराजता है।

जैसे सौ रुपये की थैली में से एक रूपया निकालने पर थैली में से उतना घटता है, परन्तु इस अनन्त गुण से भरपूर चैतन्य थैली में से केवलज्ञानादि निकालने पर भी अन्दर की शक्ति में से जरा भी कम नहीं होता। अथवा, पर्याय में कम प्रगट हो, तब शक्ति में अधिक रहे और पर्याय में अधिक प्रगट हो, तब शक्ति में कम रहे—ऐसा घट-बढ़पना वस्तु के स्वभाव में नहीं है। परद्रव्य तो आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, वे तो आत्मा से बाहर ही हैं, उन्हें आत्मा कभी ग्रहता या छोड़ता नहीं। अपने से पृथक् ही हैं, फिर उन्हें छोड़ने का कहाँ रहा? आत्मा के असली स्वभाव में विकार का ग्रहण-त्याग नहीं, वहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग की तो बात ही क्या?

आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग नहीं है। आत्मा ने कभी शरीर को, कर्म को और आहार इत्यादि को अपने में ग्रहण नहीं किया, इसलिए उस परद्रव्य को छोड़ना भी आत्मा में कभी नहीं है, सदा ही उनसे पृथक् का पृथक् ही है। 'पर को मैं छोड़ूँ'—इसका अर्थ यह हुआ कि वे मुझमें थे, मैंने उन्हें ग्रहण किया था और अब मैं उन्हें छोड़ता हूँ।—इस प्रकार पर को छोड़ने की बुद्धि में पर को ग्रहण की बुद्धि भी आ जाती है। पर को छोड़ने की बात सामान्य जनता को अच्छी लगती है, उसमें पर की कर्तृत्वबुद्धि का अज्ञान कहाँ पोषित हो रहा है—इसकी उसे खबर नहीं है। भाई! परपदार्थ तुझमें कभी थे ही नहीं, फिर छोड़ने की बात कैसी? क्या तूने परद्रव्य को ग्रहण किया है?—कि तू उन्हें छोड़ता है? पर का ग्रहण-त्याग तुझमें नहीं है। भिन्न हैं, उन्हें भिन्न जान। तो

तेरे अभिप्राय में से परद्रव्य का स्वामित्व छूट जायेगा।

अपना अनन्त गुण से भरपूर जो स्वरूप है, उसमें आत्मा सदा अवस्थित रहता है; उसमें किसी का ग्रहण-त्याग नहीं है। जो निजगुण है, उसे आत्मा कभी छोड़ता नहीं और स्वरूप से भिन्न ऐसे परभावों को आत्मा कभी ग्रहण नहीं करता; उसके निजरूप का एक अंश भी कभी घटता नहीं और उसमें कोई नया अंश बाहर से आता नहीं। इस प्रकार भगवान आत्मा ग्रहण-त्याग बिना निजस्वरूप में सदा अवस्थित रहता है,—ऐसी उसकी 'त्याग-उपादानशून्यत्व' शक्ति है। पर्याय में हीनाधिकता हो, परन्तु इससे कहीं पर का ग्रहण-त्याग नहीं होता और स्वभाव में वध-घट नहीं हो जाती। अपना जो गुण है, वही पर्याय में परिणमता है। पर्याय में हीनाधिकता होने पर भी गुणस्वभाव से आत्मा एकरूप है। पर्याय घटने से आत्मा के अनन्त गुण में से एक भी गुण घट जाये और पर्याय बढ़ने से एक भी गुण बढ़ जाये—ऐसा नहीं होता तथा गुण का सामर्थ्य भी घटता-बढ़ता नहीं है—ऐसा पूर्ण स्वभाव स्वीकार करने से उसके आश्रय से पर्याय में भी पूर्णता प्रगट होती है।

आत्मा की पर्याय पर से भिन्न है; उस पर्याय में भी परद्रव्य के साथ किंचित् भी कार्य-कारणपना और ग्रहण-त्यागपना नहीं है। विकार के साथ भी कारण-कार्यपना और ग्रहण-त्यागपना आत्मा के स्वरूप में नहीं है। स्वगुण में विकार कभी तन्मय हुआ नहीं, उसमें विकार कभी प्रविष्ट हुआ नहीं, विकार को कभी ग्रहण किया नहीं, इसलिए विकार का छोड़ना भी उसमें नहीं है। ज्ञान विकार के त्यागस्वरूप ही है (ज्ञान प्रत्याख्यान है); पहली पर्याय में राग था और स्वरूप में लीन होने से दूसरी पर्याय में राग की उत्पत्ति नहीं हुई,—ऐसी पर्याय अपेक्षा से आत्मा ने राग को छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। स्वभाव से देखने पर ज्ञानस्वभावी आत्मा ने कभी विकार को ग्रहण किया नहीं, और ऐसे ज्ञानस्वभाव को अवलम्बकर जो पर्याय परिणमित हुई, वह पर्याय भी विकार के ग्रहण रहित ही है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विकार के ग्रहण से रहितपना है। ऐसे स्वभाववाला आत्मा, वह सच्चा आत्मा है, वह परमार्थ आत्मा है; वह शुद्धनय का आत्मा है और वह सम्यग्दर्शन का आत्मा है।

राग को जाने, ऐसा गुण आत्मा में है, परन्तु राग को ग्रहण करे, ऐसा गुण आत्मा में नहीं है। इसलिए ऐसे आत्मगुण को जाननेवाला धर्मात्मा राग को जानने से राग में तन्मय नहीं होता, परन्तु पृथक् ही रहकर ज्ञानभाव से परिणमता है। ज्ञान और राग की सन्धि उन्होंने छेद डाली है। अहा! ऐसा आत्मस्वभाव! निजस्वभाव को उसने कभी छोड़ा नहीं और परभाव को अपने में कभी ग्रहण किया नहीं। ऐसा जो जाननेवाला स्वभाव हूँ, वही मैं हूँ, ऐसा ज्ञानी अपने को अनुभव करता है।

निज भाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहीं,
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिंतन यही॥

(नियमसार, गाथा ९७)

'णमो अरिहंताणं' अरिहन्त भगवान ने कर्मरूपी अरि को नष्ट किया—उन्हें नमस्कार हो। भगवान ने कर्मों को ग्रहण किया था और फिर छोड़ा—ऐसा उपचार कथन है; निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध की यह बात है। वास्तव में पर्याय में राग-द्वेष-मोहरूप शत्रु थे, उन्हें घातकर भगवान ने वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट की;—और वह भी पर्याय अपेक्षा से है; त्रिकाली स्वभाव-अपेक्षा से तो परभाव का भी ग्रहण-त्याग करनापना नहीं है। स्वभाव में परभाव का तो अभाव ही है, इसलिए उसका नया त्याग करना रहता नहीं। ऐसे स्वभाव का अवलम्बन करने से पर्याय में से भी परभाव का अभाव हो जाता है।—तो यह शक्ति के विश्वास का फल है।

अनादि-अनन्त आत्मा का ज्ञानस्वभाव, उसमें कभी परवस्तु और विकारभाव तन्मयरूप नहीं, इसलिए उसके ग्रहण-त्याग का कर्तापना ज्ञानस्वभाव में नहीं।

कोई कहे कि—परभाव के ग्रहण का कर्तापना नहीं परन्तु परभाव का त्याग तो करता है न?

उसका समाधान :— भाई! क्या परभाव ज्ञानस्वभाव में प्रविष्ट हुए हैं? यदि ज्ञानस्वभाव में वे प्रविष्ट ही नहीं हुए तो फिर उनका त्याग करना भी कहाँ रहा? जिसका ग्रहण किया हो, उसका त्याग करे न? अज्ञानदशा में 'रागादि मैं'—ऐसा अभिप्राय में उनका ग्रहण किया था, अब ज्ञानस्वभाव को पहिचानने से 'ज्ञान मैं और राग मैं नहीं'—ऐसे अभिप्राय में राग का ग्रहण छूट गया। वस्तुस्वभाव में तो रागादि थे ही नहीं, अज्ञानी

ने उल्टा अभिप्राय किया था, वह ज्ञानदशा में छूट गया, इस अपेक्षा से आत्मा ने राग-द्वेष को छोड़ा कहलाता है।

पर्याय में पहले विकार था, वह छूटा—परन्तु उस पर्याय जितना ही कहीं पूर्ण आत्मा नहीं है। पर्याय में राग के समय भी भूतार्थस्वभाव तो रागरहित ही विद्यमान था। अहा! अनन्त वीतरागी शक्ति का पिण्ड आत्मा, उसकी किसी शक्ति में विकार नहीं है, उसकी किसी शक्ति को राग का स्पर्शा नहीं है। अनादि-अनन्त निजस्वभाव से ज्ञायकभावरूप ही रहा है। ऐसे आत्मा के अपार वैभव की क्या बात करना?—जिसकी एक-एक शक्ति का और उसकी एक-एक पर्याय का अपरिमित सामर्थ्य है; अपने स्वभाव में जिसे कुछ नया ग्रहण करना नहीं और जो है, उसमें से कुछ छोड़ने का नहीं। ऐसे सामर्थ्यवाला आत्मस्वभाव कहीं दूसरा नहीं परन्तु अभी अपने में ही (-आप ही स्वयं) विराज रहा है। ऐसे महिमावन्त भगवान आत्मा को अपने अन्तर में ध्येय बनाने से पर्याय में भी रागादि परभावों का अकर्तृत्व हो जाता है और अकेला ज्ञानपरिणमन रहता है, इसका नाम धर्म है। इस ज्ञानपरिणमन के साथ आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों का परिणमन है; ऐसा अनेकान्तस्वभाव है।

सर्वज्ञ भगवान ने अपने में और पर में, प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्तियाँ देखी हैं। उन शक्तियों का स्वभाव जैसा है, वैसा व्यक्त करके वर्णन किया कि हे जीव! तेरी अनन्त शक्तियाँ तुझमें हैं, उसमें से प्रत्येक शक्ति परिपूर्ण सामर्थ्यसहित है; उसमें कहीं पर को ग्रहण और छोड़नापना नहीं है। पर के ग्रहण-त्याग का अभाव कहने से शक्ति का निजस्वरूप से निर्मल परिणमन रहा। इस प्रकार सब गुणों में और उनकी निर्मल पर्यायों में ग्रहण-त्यागरहितपना है। स्वयं अपने स्वरूप से रहता है, उसमें किसी परभाव को ग्रहण करना नहीं और अपने किसी निजस्वभाव को छोड़ना नहीं। ऐसा ग्रहण-त्यागरहितपना पहिचाने तो स्वभाव और परभाव का भेदज्ञान हो और मोक्षमार्ग प्रगट हो।

आत्मा के स्वभाव-गुणों में विकल्प का और पर का अभाव है ही, फिर उनका त्याग करने का कहाँ रहा? ऐसे स्वभावसन्मुख जो पर्याय हुई, उस पर्याय में भी रागादि का अभाव ही है तथा आत्मा के शुद्ध गुण-पर्यायों में रागादि का ग्रहण नहीं है। इस

प्रकार शुद्ध आत्मा, परभाव के ग्रहण-त्याग रहित है। ऐसा होने पर भी, मैं रागादि को ग्रहण करूँ और छोड़ूँ—ऐसा जो रागादि का कर्तृत्व मानता है, वह वास्तव में राग के अभावस्वरूप आत्मस्वभाव को नहीं जानता, परन्तु रागादि अनात्मभावों को ही आत्मा मानता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप की उसे खबर नहीं।

आत्मा किस आत्मा को ग्रहण करे? और आत्मा क्या आत्मा को छोड़े?

नहीं; अपना ही ग्रहण और अपना ही त्याग नहीं होता।

और, जो आत्मा से भिन्न परवस्तु है, आत्मा में जो वस्तु नहीं, उसे क्या आत्मा अपने में ग्रहण करे? और उसे आत्मा छोड़े?

—नहीं; जो वस्तु पृथक् है, उसे अपने में ग्रहण नहीं किया जा सकता; और जो वस्तु अपने से भिन्न है ही, उसे छोड़नापना कहाँ रहा? जैसे झबेरी की पर की दुकान में हीरा-माणेक पड़े हों, वहाँ रास्ते में जाता हुआ कोई मनुष्य ऐसा कहे कि 'मैं इन हीरा-माणेक का त्याग करता हूँ'—तो ऐसा कहनेवाले को लोग मूर्ख ही समझते हैं। भाई! वे तेरे स्वामित्व के थे ही कहाँ? कि तू उन्हें छोड़ने का कहता है; इसी प्रकार परद्रव्य को मैं छोड़ता हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। परन्तु परद्रव्य तेरे आत्मा में थे ही कहाँ—कि तू उसे छोड़ना मानता है! पर्याय में अज्ञान से राग का ग्रहण था, परन्तु कहीं स्वभाव में वह राग प्रविष्ट नहीं हो गया था; स्वभाव में तो राग का अभाव ही था। ऐसे स्वभावरूप आत्मा को पहिचाने तो आत्मा को पहिचाना कहलाये और तब ही आत्मा की दिव्यशक्तियाँ पर्याय में खिले अर्थात् कि प्रगट हो।

अहो! सिद्ध भगवान जैसा इस आत्मा का वैभव है, उसे दिखलाकर सन्त कहते हैं कि हे जीव! स्वभाव की मूर्ति आत्मा ऐसा का ऐसा है; तू दूसरे प्रकार से माने, इससे कहीं स्वभाव बदल नहीं जाता। कीमती रत्न को कोई पत्थर मान ले, इससे कहीं उस रत्न की चमक चली नहीं जाती। उसी प्रकार अज्ञानी, आत्मा को राग के कर्तृत्व जितना ही माने, इससे कहीं आत्मा का स्वभाव वैसा नहीं हो जाता। आत्मा के गुण-स्वभाव में जैसे पर का और विकार का ग्रहण-त्याग नहीं, उसी प्रकार उस स्वभाव को झेलनेवाली जो परिणति प्रगट हुई, उस परिणति में भी पर का और विकार का ग्रहण-त्याग नहीं है।

ऐसे स्वभाव को स्वीकार करने से अर्थात् कि श्रद्धा में—ज्ञान में लेकर उसके सन्मुख होने से पर्याय में वह प्रसिद्ध होता है। यद्यपि उस पर्याय में राग का अभाव तो है, परन्तु उस पर्याय में 'इस राग को छोड़ूँ' ऐसा रहा नहीं। राग के साथ उसे सम्बन्ध ही नहीं रहा, इसलिए उसका ग्रहण और त्याग दोनों में से एक का भी कर्तृत्व नहीं रहा।

अज्ञानी को तो राग के समय उस राग के कर्तृत्व जितना ही आत्मा अनुभूत होता है, इसलिए राग के समय मानो शुद्धस्वभाव छूट गया हो—ऐसा उसे लगता है, इसलिए सच्चा तत्त्व उसकी श्रद्धा में नहीं आता; वह 'अभूतार्थ' भाव को ही आत्मा मानकर श्रद्धा करता है, इसलिए उसकी श्रद्धा मिथ्या है। ज्ञानी समझाते हैं कि भाई! राग के समय भी तेरा भूतार्थस्वभाव ऐसा का ऐसा विद्यमान है, स्वभाव का त्याग कभी होता नहीं; इसलिए यदि भूतार्थदृष्टि से देख तो तेरा आत्मा शुद्धस्वभावरूप तुझे अनुभव में आयेगा। ऐसी भूतार्थदृष्टि द्वारा ही सच्ची तत्त्वश्रद्धा होती है... और आत्मा का वैभव दिखता है।

देखो! यह भगवान ने देखा हुआ आत्मा का वैभव! आत्मा में अनन्त शक्ति होने पर भी उसका कार्य अपने में ही है; अपने से बाहर पर में एक रजकण मात्र को भी वह ग्रहण और छोड़ नहीं सकता। और जो अपनी निजशक्ति है, उसे भी कभी वह छोड़ता नहीं। ऐसी आत्मशक्ति को जाननेवाला धर्मात्मा देह की शक्ति को अपनी नहीं मानता।

श्रीकृष्ण महाराजा की सभा में एक बार चर्चा चल रही थी कि इस सभा में सबसे बलवान कौन? तीर्थंकर नेमिकुमार भी वहाँ राज्यसभा में विराजमान थे। किसी ने भीम का नाम दिया, किसी ने अर्जुन का, किसी ने बलदेव का, किसी ने श्रीकृष्ण वासुदेव का, किसी ने युधिष्ठिर का—ऐसे अलग-अलग नाम दिये। तब बलभद्र कहते हैं कि ये सब भले बलवान हों, परन्तु तीर्थंकर ऐसे इन नेमिकुमार के बल की तुलना में कोई नहीं आता, ये ही सर्वाधिक महाबलवान हैं। श्रीकृष्ण और नेमिनाथ दोनों चचेरे भाई थे। नेमिकुमार के बल की बात श्रीकृष्ण को नहीं बैठी और बल की परीक्षा करने को तैयार हुए। तब नेमिकुमार को भी शरीरबल का विश्वास कराने का जरा विकल्प आ गया। परन्तु उस समय भी वे भगवान जानते थे कि यह देह और यह विकल्प—इसमें मैं नहीं, शरीर की शक्ति मेरी नहीं; मेरी आत्मशक्ति का कार्य शरीर में नहीं आता। ज्ञान-

आनन्दादि अनन्त शक्ति, वही मेरी निजशक्ति है। जिसमें से केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट हो, ऐसी अपार शक्तिवाला मैं हूँ। ऐसी आत्मशक्ति की प्रतीति, वह सम्यग्दृष्टि का कार्य है। धर्मी जानता है कि बाहर के कार्य स्वप्न में भी हमारे नहीं हैं। हम जड़ के जाननेवाले, परन्तु उसके ग्रहण करनेवाले और बदलनेवाले हम नहीं हैं। विकल्प, वह भी हमारी चैतन्यशक्ति का कार्य नहीं। हमारी चैतन्यशक्ति का कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है और उसका कार्य हमारे अन्तर में ही समाहित होता है।

आत्मा की अनन्त शक्तियाँ आत्मा में हैं, जड़ की अनन्त शक्तियाँ जड़ में है। दोनों की शक्तियाँ अपने-अपने में ही कार्य करती है। चिदानन्द भगवान आत्मा में भी अनन्त शक्तियाँ, और अचेतन-जड़ परमाणु में भी अनन्त शक्तियाँ; क्षेत्र से जिसकी अनन्त विशालता है, ऐसे आकाश में भी अनन्त शक्तियाँ और एक सूक्ष्म बारीक रजकण में भी अनन्त शक्तियाँ।—कहाँ अनन्त आकाश और कहाँ एक परमाणु!—तथापि अनन्त शक्तियाँ दोनों में समान।—इसी प्रकार, कहाँ चैतन्यमूर्ति परमात्मा और कहाँ अचेतन परमाणु, तथापि दोनों अपनी-अपनी अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण हैं। ऐसा ही कोई अचिन्त्य वस्तुस्वभाव है। वस्तु का स्वभाव दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं रखता; किसी संयोग से वह डिगता नहीं; वस्तु के स्वभाव को कोई हिला नहीं सकता।

निज वैभव के रस में स्थिर... जमा हुआ ज्ञायकबिम्ब भगवान आत्मा, शान्त-आनन्दरस में लवलीन, उसमें जगत की कोई उपाधि कैसी?—चिन्ता कैसी? पर का ग्रहण-त्याग कैसा? वह तो निजरस में मग्न है। पर तो उसमें नहीं और 'पर को छोड़ूँ', ऐसा विकल्प भी उसमें नहीं। परवस्तु आत्मा में है ही कहाँ कि उसे छोड़ना पड़े! और परवस्तु आत्मा में कभी प्रवेश नहीं कर सकती, कि जिससे आत्मा उसका ग्रहण करे! इस प्रकार आत्मा का स्वभाव पर के ग्रहण-त्याग से रहित है। ऐसे स्वभाव को दृष्टि में लेने से पर के साथ एकत्वबुद्धि छूट गयी और स्वभाव की सन्मुखता से आनन्द का वेदन हुआ।—ऐसा आत्मा का वैभव है।

शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायरूप चैतन्य भगवान के वैभव में भावकर्म-नोकर्म और द्रव्यकर्म का ग्रहण नहीं और उसका त्याग करना भी स्वभाव में नहीं। क्योंकि स्वभाव

में वह हो तो छोड़े न! ग्रहण-त्याग के विकल्प का आत्मा के स्वभाव में अभाव है, इसलिए उस विकल्प का कर्तृत्व आत्मा में नहीं है।—ऐसे आत्मा को जाने, उसने आत्मा को जाना कहलाये। आत्मा त्याग-ग्रहण से रहित है; यदि वह अपने स्वरूप में से कुछ छोड़े तो वह 'न्यून' हो जाये; और यदि अपने स्वरूप में अन्य कुछ ग्रहण करे तो वह 'अधिक' हो जाये—परन्तु आत्मा तो न्यूनाधिकतारहित अपने निजस्वरूप में ही सदा अवस्थित है।—ऐसी उसकी त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है।

सोलहवीं त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का विवेचन पूर्ण हुआ।

* * *

卐

आत्मवैभव और आत्मप्रसिद्धि

इन आत्मशक्तियों के पूर्व के प्रवचन 'आत्मप्रसिद्धि' पुस्तकरूप से प्रकाशित हुए हैं; यह 'आत्मवैभव' और 'आत्मप्रसिद्धि' — ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं; दोनों पुस्तकों में अपनी-अपनी विशेषता है। इसलिए इस 'आत्मवैभव' में प्रत्येक शक्ति के वाँचन के समय, साथ ही साथ आत्मप्रसिद्धि में से भी उस शक्ति का वांचन करने से प्रत्येक शक्ति के भावों की अधिक स्पष्टता होगी। 'आत्मवैभव' और 'आत्मप्रसिद्धि' ये दोनों एक-दूसरे के भाई-बहिन जैसे हैं।

ૐ

સ્વાવલંબી ઉર્ધ્વરૂપ સ્વરૂપને સાધીને
જે ક્ષેત્રથી સિદ્ધ થયા તે જ ક્ષેત્રે
સમશ્રેણીએ ઊર્ધ્વ સિદ્ધપણે વિરાજે છે,
તેનાં સ્મરણના કારણરૂપ
આ તીર્થ નિમિત્ત છે.

ॐ

स्वावलम्बी ऊर्ध्वरूप स्वरूप को साधकर जिस श्रेणी से सिद्ध हुए, उसी क्षेत्र में समश्रेणी से ऊर्ध्व सिद्धपने विराजते हैं, उनके स्मरण के कारणरूप यह तीर्थ निमित्त है।

[१७]

अगुरुलघुत्वशक्ति

षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।

षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप से परिणमित, स्वरूप-प्रतिष्ठत्व का कारणरूप (वस्तु के स्वरूप में रहने के कारणरूप) ऐसा जो विशिष्ट (-खास) गुण है उस-स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति। इस षट्स्थानपतित वृद्धिहानि का स्वरूप 'गोम्मटसार' ग्रन्थ से जानना चाहिए। अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट्स्थानों में पतित-समाविष्ट-वस्तुस्वभाव की वृद्धिहानि जिससे (-जिस गुण से) होती है और जो (गुण) वस्तु को स्वरूप में स्थिर होने का कारण है, ऐसा कोई गुण आत्मा में है; उसे अगुरुलघुत्वगुण कहा जाता है। ऐसी अगुरुलघुत्वशक्ति भी आत्मा में है।।१७।

आत्मा की शोभा को भूलकर, पर से अपनी शोभा मानकर जीव संसार में भटक रहा है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! यह भटकना तुझे शोभा नहीं देता। तेरी शोभा तो अनन्त गुणसम्पन्न तेरे स्वरूप से ही है, तेरे आत्मवैभव से ही तेरी शोभा है। रत्नत्रयरूप आभूषण द्वारा आत्मा की शोभा है। अहा! आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाये, इसके जैसी शोभा कौन सी?

अनन्त धर्मोंवाले ज्ञानस्वरूप आत्मा में अगुरुलघुत्व नाम का कोई सूक्ष्म स्वभाव है। इस स्वभाव के सामर्थ्य के कारण आत्मा छह प्रकार की वृद्धि-हानिरूप परिणमता है, तथा अपने निजस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। अपने स्वरूप की मर्यादा छोड़कर वह गुरु और लघु नहीं हो जाता, ऐसा अगुरुलघुस्वभाव आत्मा में है। अगुरुलघुस्वभाव का विशेष स्वरूप केवलीगम्य है। परन्तु आत्मा में ऐसा कोई सूक्ष्म-अचिन्त्य स्वभाव है— ऐसा लक्ष्यगत करके उसकी महिमा लाना। साधक को उसका पृथक् स्वरूप भले लक्ष्य में न आवे, तथापि वह गुण अन्तर में अपना कार्य तो कर ही रहा है। आत्मा के स्वसंवेदन में वह अगुरुलघुशक्ति भी साथ ही समाहित है; कहीं स्वसंवेदन से वह बाहर नहीं रहती।

जैसे चीनी में मिठास इत्यादि स्वभाव है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, आनन्द इत्यादि अनन्त स्वभाव हैं; उसमें ज्ञान और आनन्द की भाँति अगुरुलघुत्व भी एक स्वभाव है। आत्मा के विशिष्ट गुणरूप यह एक खास शक्ति है कि जिसके कारण से षड्विध हानिवृद्धिरूप परिणमने पर भी आत्मा अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है। परिणमन में किसी प्रकार की वृद्धि-हानि होने पर भी वह गुरु और लघु होकर स्वरूप से च्युत नहीं हो जाता।

१. अनन्तगुण वृद्धि	१. अनन्तभाग हानि
२. असंख्यगुण वृद्धि	२. असंख्यभाग हानि
३. संख्यातगुण वृद्धि	३. संख्यातभाग हानि
४. संख्यातभाग वृद्धि	४. संख्यातगुण हानि
५. असंख्यभाग वृद्धि	५. असंख्यगुण हानि
६. अनन्तभाग वृद्धि	६. अनन्तगुण हानि

—ऐसे छह प्रकार से वृद्धि तथा छह प्रकार से हानि है। उसरूप अगुरुलघुस्वभाव का कोई सूक्ष्म परिणमन होता है, वह केवलीगम्य है। यह अगुरुलघुगुण आत्मा को स्वरूप में प्रतिष्ठित रखता है; स्वरूप में प्रतिष्ठा, वही आत्मा की शोभा है। बाहर की प्रतिष्ठा द्वारा आत्मा की शोभा नहीं है, स्वयं अपने स्वरूप में स्थिर रहे, ऐसी स्वरूप-प्रतिष्ठा द्वारा आत्मा की शोभा है। अपने आत्मा की शोभा को भूलकर, पर से अपनी

शोभा मानकर जीव संसार में भटक रहा है। भाई! यह भटकना तुझे शोभा नहीं देता; आचार्यदेव तुझे तेरी सच्ची शोभा बतलाते हैं। तेरी शोभा तो अनन्त गुणसम्पन्न तेरे स्वरूप से है। तेरे आत्मवैभव से तेरी शोभा है। रूपवान शरीर से और बाहर के वैभव से तेरे आत्मा की शोभा नहीं। अरे! जीव संसार में भटका—ऐसी बन्धन की बात करना, उसमें भी तेरी शोभा नहीं; तेरा आत्मा पर से भिन्न अपने एकत्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है—उसमें ही तेरी त्रिकाली शोभा है और उसमें एकाग्रता से पर्याय में रत्नत्रयरूप शोभा प्रगट होती है। बाहर के ठाठबाट से अथवा पुण्य से भी आत्मा की शोभा मानना, वह वास्तविक शोभा नहीं है परन्तु कलंक है। अपने अगुरुलघुधर्म द्वारा स्वरूप में प्रतिष्ठा से आत्मा सदा शोभित हो रहा है। स्वयं शोभायमान आत्मा की किसी चीज़ द्वारा शोभा नहीं। आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाये, इसके जैसी शोभा कौन सी? और ऐसी परमात्मदशा अनन्त काल जिसमें से निकला करे—ऐसे द्रव्यस्वभाव की शोभा की क्या बात! द्रव्य की महा शोभा त्रिकाल है और उसके आधार से पर्याय भी शोभित हो उठती है। आत्मा की ऐसी शोभा को जो समझे, उसका झुकाव अन्तरस्वभाव सन्मुख ढल जाता है; पर से वह अपनी शोभा नहीं मानता, इसलिए उसकी दृष्टि में पर के प्रति वीतरागभाव हो जाता है, इसका नाम धर्म है।

'अगुरुलघुत्व' का एक ऐसा भी अर्थ है कि द्रव्य-गुण अपने निजस्वरूप में रहते हैं; एक द्रव्य पलटकर अन्य द्रव्यरूप नहीं हो जाता और द्रव्य का कोई गुण पलटकर अन्य गुणरूप नहीं हो जाता। आत्मा पलटकर कभी जड़ नहीं हो जाता; ज्ञानगुण पलटकर कभी दर्शनादि नहीं हो जाता। 'जड़, वह जड़ तीन काल में; चेतन, चेतन होय।' कोई द्रव्य अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता। तथा आत्मा के ज्ञान का परिणमन घट-घटकर किसी समय ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाये और आत्मा जड़ हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता तथा ज्ञान परिणमन बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान होने के बाद भी बढ़ा ही करे—ऐसा भी नहीं होता, ऐसी ही गुण की मर्यादा है। (केवलज्ञान-परिणमन में षड्गुण वृद्धि का कोई प्रकार हो, वह अलग बात है। उसका सूक्ष्म स्वरूप केवलीगम्य है।)

आत्मा में जितने अनन्त गुण हैं, उतने ही सदाकाल रहते हैं, उसमें से एक भी

गुण कभी घटता या बढ़ता नहीं है। पर्याय में हीनता-अधिकता होने पर भी त्रिकाली द्रव्य-गुण घटते-बढ़ते नहीं हैं, वे तो स्वरूप में ऐसे के ऐसे स्थिर रहते हैं। अधूरी अवस्था के समय गुण में से कुछ घट गया और पूरी अवस्था होने पर गुण में कुछ बढ़ गया—ऐसा नहीं है। अथवा, पर्याय में जब अल्प शुद्धता प्रगट थी, तब गुण में शक्तिरूप से अधिकता थी और पर्याय में विशेष शुद्धता प्रगट हुई, तब गुण की शक्ति में से उतना कम हुआ—ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वभाव ही कोई अचिन्त्य है। एकरूप स्वरूप में प्रतिष्ठा से भगवान आत्मा त्रिकाल महिमावन्तरूप से शोभित हो रहा है। ऐसे शोभित स्वभाव को दृष्टि में लेने से पर्याय में वीतरागी शोभा प्रगट हो जाती है, परन्तु उस पर्याय पर दृष्टि नहीं, क्योंकि वह पर्याय स्वयं अन्तर में एकाग्र होकर त्रिकाली द्रव्य की शोभा में समाहित हो गयी है।

देखो, इस अगुरुलघु में आत्मा की निजस्वरूप में प्रतिष्ठा की है। जैसे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा नयी होती है और अनादि के जिनबिम्ब भी जगत में हैं; उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य-जिनबिम्ब अनादि से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है और उसकी श्रद्धा-ज्ञान द्वारा पर्याय में नयी प्रतिष्ठा (अर्थात् कि निर्मलतारूपी शोभा) प्रगट होती है। साधकदशा हो या सिद्धदशा हो, चाहे जिस दशा के समय भी यदि स्वभावदृष्टि से देखो तो आत्मा निजस्वरूप में ही रहा हुआ है। अपने अनन्त गुणों के स्वरूप में स्थायी रहनेरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा अनादि-अनन्त है; सदा ही स्वरूप में प्रतिष्ठारूप आत्मा का अगुरुलघुस्वभाव है।

देखो, जगत में अनन्त सिद्ध जीव हैं और उनसे अनन्त गुणे निगोद के जीव हैं। अब प्रत्येक छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं, इसलिए इतने जीव सिद्ध में बढ़ते जाते हैं और नित्यनिगोद में से इतने कम होते जाते हैं, इस प्रकार अनादि काल से हो रहा है और अनन्त काल तक होता रहेगा... तथापि सिद्ध की संख्या कभी भी निगोद से बढ़ नहीं जायेगी और निगोद कभी सिद्ध से घट नहीं जायेगा; जब देखो तब सिद्ध से निगोद अनन्त गुणे ही रहनेवाले हैं। —

बढ़े न सिद्ध अनन्तता, घटे न राशि निगोद,
जैसे के तैसे रहे, यह जिनवचन विनोद।

कोई अगम्य वस्तुस्वभाव है, वह तर्क का विषय नहीं है। आत्मा की शक्ति में से सादि-अनन्त काल तक केवलज्ञान परिणमा ही करे, तथापि स्वभाव की शक्ति किंचित् भी घटती नहीं। ऐसे के ऐसे परिपूर्ण स्वभाव में आत्मा अवस्थित रहता है। आत्मा का स्वभाव गुरु या लघु हो जाये, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जो स्वभाव है, वह कभी बढ़ता नहीं, कभी घटता नहीं।—**'जैसे के तैसे रहे'** जैसा अनन्त स्वभाव है, वैसे स्वभावरूप सदा आत्मा टिक रहा है। छह प्रकार की हानि-वृद्धि है, वैसी हानि-वृद्धिरूप से परिणमन होने पर भी आत्मा अपने स्वरूप को कभी छोड़ता नहीं और उसका स्वभाव बढ़-घटरूप हो नहीं जाता, ऐसा 'अगुरुलघुस्वभाव' कोई अचिन्त्य सूक्ष्म, आगमगम्य अर्थात् कि सर्वज्ञगम्य है; यद्यपि छहों द्रव्यों में अगुरुलघुस्वभाव है, परन्तु यहाँ आत्मा की बात है। आत्मा सदा निजस्वरूप में प्रतिष्ठित है, परन्तु ऐसे के ऐसे निजस्वरूप में रहा है। स्वरूप घटता नहीं, स्वरूप का कोई अंश कभी छूटता नहीं और नया कुछ उसमें आता नहीं, ऐसा अगुरुलघुपना आत्मा में है। आत्मा के सभी गुणों में भी अगुरुलघुपना है; ज्ञान सदा ज्ञान में, आनन्द सदा आनन्दस्वरूप में, ऐसे सभी गुण निजस्वरूप में रहते हुए शोभते हैं।

शरीर का भारी-हलकापन तो आत्मा में कभी है ही नहीं, क्योंकि अरूपी को वजन क्या? और निजस्वरूप में बढ़ने-घटनेरूप गुरु-लघुपना भी आत्मा में नहीं, ऐसा अरूपी-अगुरुलघुत्व आत्मा में है। यह तो अगुरुलघु की सामान्य व्याख्या की है; बाकी इस अगुरुलघुस्वभाव का सूक्ष्मस्वरूप तो सर्वज्ञगम्य है।

गुण-पर्यायें अनन्त हैं, वह प्रत्येक गुण-पर्याय पूरे द्रव्य को निजस्वरूप में टिकने का-रहने का कारण है। एक भी गुण-पर्याय का नाश होने से द्रव्य का निजस्वरूप ही नहीं रहता। इस प्रकार अनन्त गुण-पर्यायरूप अपने निजस्वरूप में आत्मा को सदा प्रतिष्ठित रखे, ऐसी उसकी अगुरुलघुत्वशक्ति है। ऐसे आत्मस्वभाव को लक्ष्यगत करने से और स्वानुभव करने से वीतरागता होती है; और वीतरागपना, वह समस्त शास्त्रों का सार है।

भाई! तेरा आत्मा स्वघर को अर्थात् कि अपने स्वरूप को छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाता, ऐसे तेरे स्वघर के वैभव को तू देख। अपनी अनन्त सम्पत्ति—कि जो आत्मा

से कभी पृथक् नहीं पड़ती, वही आत्मा की वास्तविक सम्पत्ति है, वही आत्मा का वास्तविक वैभव है और उससे ही आत्मा की महत्ता है। इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती का वैभव और इन्द्रपद की विभूति के द्वारा आत्मा की कोई महत्ता नहीं है। अपने अनन्त गुण का निधान अन्दर भरा है, उसे अज्ञानी देखता नहीं; यदि उस निधान को देखे तो पर का, पुण्य का और जानपने का अभिमान छूट जाये और अनादि काल की दीनता का अन्त आकर सिद्धपद के निधान प्रगट हों। इसलिए अपनी त्रिकाली शक्ति की शोभा की महिमा करके उसमें अन्तर्मुख होना, वही सम्यग्दर्शन का और सिद्धपद का उपाय है। अहो! द्रव्यस्वभाव की अपार महिमा की क्या बात!—कि जिसके आश्रय से क्षण में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

केवलज्ञान होने के पश्चात् ऐसी की ऐसी पूर्ण पर्याय नयी-नयी प्रत्येक समय में सदा ही हुआ करती है। केवलज्ञान की एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जानने की सामर्थ्य अधिक या कम नहीं होती, सामर्थ्य इतनी की इतनी ही रहती है, तथापि उसमें भी षड्गुणवृद्धि-हानिरूप अगुरुलघुगुण का सूक्ष्म परिणमन तो समय-समय में हुआ ही करता है। ऐसा कोई अचिन्त्य स्वभाव है, वह केवलीगम्य है।

देखो, यह केवलज्ञान और वस्तुस्वभाव की गम्भीरता! छद्मस्थ के ज्ञान में यदि सब ही ज्ञात हो जाये तो फिर केवलज्ञान की विशेषता कहाँ रही? केवलज्ञान में जितना ज्ञात होता है, वह सब छद्मस्थ नहीं जान सकता, परन्तु अपने आत्महित के लिये प्रयोजनभूत जो हो, उसे तो सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ भी बराबर निःसन्देहरूप से जान सकता हे और पूर्णस्वभाव को प्रत्यक्ष करता है।

अगुरुलघुत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

[१८]

उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति

क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः।

क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है, ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति। (क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पाद-व्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप है।)।१८।

वाणी में या विकल्प में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि अनन्त शक्तिरूप आत्मस्वभाव को प्रतीति में या लक्ष्य में ले सके। वह तो स्वसन्मुख ज्ञान का ही काम है; उस ज्ञान में ही आत्मस्वभाव को लक्ष्यगत करने की और अनुभव में लेने की सामर्थ्य है।—इस प्रकार आत्मा स्वानुभूतिगम्य है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनन्त धर्मों के साथ एक ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है कि जिससे आत्मा क्रम तथा अक्रम वृत्तिरूप से वर्तता है। उत्पाद-व्यय वह क्रमवर्तीपना सूचित करता है और ध्रुवता, वह अक्रमवर्तीपना सूचित करता है। इस प्रकार से क्रमवर्तीपना तथा अक्रमवर्तीपना ये दोनों आत्मा का स्वभाव ही हैं। इसमें अक्रमपना कहा, वह गुण की ध्रुवता-अपेक्षा से है, परन्तु कहीं पर्याय अक्रम से होती है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है; पर्याय अपेक्षा से तो क्रमवर्तीपना ही है क्योंकि पर्यायें प्रतिसमय उत्पाद-व्ययरूप हैं।

आत्मवस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनके कहने में क्रम है परन्तु रहने में क्रम नहीं है; सभी शक्तियाँ अक्रम से एक साथ आत्मा में रही हुई है। आत्मा का स्वभाव ऐसा महान है कि एक समय में अपनी अनन्त शक्ति में वह विस्तरित है। अनन्त शक्तियों का कथन शब्दों में नहीं आ सकता, क्योंकि शब्द ही अनन्त नहीं हैं; और एक-एक करके कहने जाये तो अनन्त शक्तियों का वर्णन अनन्त काल में भी पूरा नहीं होगा। सर्वार्थसिद्धि के सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं, असंख्य वर्ष के आयुवाले हैं, वे सभी देव इकट्ठे होकर ३३ सागरोपम तक कथन करे तो भी आत्मा की अनन्त शक्तियों में से अनन्तवें भाग की शक्तियाँ भी नहीं कह सकते। अपरिमित शक्ति का पिण्ड आत्मा वचनातीत और विकल्पातीत है, विकल्प में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं कि अनन्त शक्तिरूप आत्मस्वभाव को लक्ष्य में और प्रतीति में ले सके। वह तो स्वसन्मुख ज्ञान का ही काम है; उस ज्ञान में ही आत्मस्वभाव को लक्ष्यगत करने की और अनुभव में लेने की सामर्थ्य है। ज्ञानमात्र में स्थापित अचलित दृष्टि द्वारा ही वह अनुभव में आता है। इसके अतिरिक्त रागदृष्टि द्वारा वह कभी अनुभव में नहीं आता।

आत्मा गुण-पर्यायस्वरूप एक वस्तु; वह गुण अपेक्षा से अक्रम ध्रुव रहे, और पर्याय अपेक्षा से क्रम से वर्ते अर्थात् कि उत्पाद-व्यय हुआ करे—ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवता, वह उसका अपना स्वाधीन स्वभाव है, इसलिए दूसरे के द्वारा वे उत्पादादि नहीं होते। यदि उत्पाद दूसरे के द्वारा हो तो उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति ने क्या किया?—वह तो व्यर्थ ही हो गयी!—परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा अपनी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति द्वारा ही क्रम-अक्रमरूप वर्तता है।

आत्मा कितना? कि क्रम से वर्तते उत्पाद-व्यय और अक्रमरूप ध्रुवता, ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव जितना आत्मा है। आत्मा में क्रम से प्रवर्तती पर्यायों को न माने तो उसने आत्मा को जाना नहीं और अक्रम से रहे हुए गुणों को न माने तो उसने भी आत्मा को जाना नहीं। एक शक्ति के वर्णन में तो कितना रहस्य आ जाता है! इस उत्पाद-व्यय-ध्रुव में जो गुण-पर्यायों का समुदाय है, उसमें विकार नहीं लेना, परन्तु निर्मल गुण-पर्यायें ही लेना, क्योंकि यहाँ तो अपने स्वानुभव में जो ज्ञानमात्र आत्मा प्रसिद्ध हुआ, उसके गुण-पर्यायों की बात है, इसलिए उसमें अशुद्धता नहीं आती। 'ज्ञानमात्र भाव' के साथ तो अनन्त गुणों की शुद्धता ही उल्लसित होती है, 'ज्ञानमात्र भाव' के साथ कहीं अशुद्धता उल्लसित नहीं होती, वह तो ज्ञान से पृथक् बाहर रह जाती है। ज्ञानभाव से परिणमता हुआ अर्थात् कि निर्मलपर्यायसहित का आत्मा कैसा है, उसका यह वर्णन है। साधकभावरूप से परिणमित आत्मा कैसा है और उसका निर्मल साध्य कैसा है, वह यहाँ बताया है। आत्मद्रव्य में [१]असंख्यप्रदेश में, [२]एक समय में, [३]अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायें, [४] इकट्ठी वर्तती हैं, अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों इसमें आये हैं, परन्तु इसमें कहीं विकार नहीं आया।

साधक को निर्मलपर्याय के साथ उस समय जो रागादि हों, उन रागादि को आत्मा नहीं कहते, निर्मल गुण-पर्यायों को ही आत्मा कहते हैं। 'ज्ञानमात्र' आत्मा कहने से उस लक्षण से राग लक्षित नहीं होता परन्तु निर्मल गुण-पर्यायें ही लक्षित होती हैं। ज्ञानलक्षण निर्मल गुणपर्यायवाले आत्मा को प्रसिद्ध करता है, राग को नहीं। ज्ञान लक्षण से आत्मा को लक्षित करके अनुभव करने से उसमें राग का अनुभव साथ में नहीं आता। वह राग तो शुद्धात्मा के अनुभव से बाहर रह जाता है।

भगवान आत्मा में अनन्त गुण एक साथ वर्तते हैं और पर्यायें क्रम-क्रम से प्रवर्तती हैं, ऐसे गुण-पर्यायरूप से आत्मा की वृत्ति है, अर्थात् कि आत्मा का अस्तित्व ही इस प्रकार का है। उसमें से पर्याय के क्रम को निकाल देना चाहे तो अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। अस्तित्व अर्थात् कि सत् वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है। आत्मा के अनन्त गुण ध्रुव रहकर अपनी-अपनी क्रमपर्यायसहित ही वर्त रहे हैं। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप आत्मवस्तु है। जीव के जीवन में ये समस्त भाव इकट्ठे ही समाहित हैं।

ऐसी वैभवशाली आत्मवस्तु को निर्णय करनेवाले का लक्ष्य कहाँ जाता है ?—बाहर में नहीं जाता, क्योंकि बाहर के लक्ष्य से आत्मवस्तु नहीं दिखती। उसका लक्ष्य तो अनन्त गुण के पिण्डरूप अपने आत्मा के ऊपर जाता है और उसके आश्रय से वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र होते हैं। इस प्रकार स्व में सन्मुखता और पर से विमुखता द्वारा वीतरागता होना, वह बारह अंग का सार है। सन्तों के हृदय में और उन्होंने कहे हुए शास्त्रों में वीतरागता बहती है। इस एक-एक आत्मशक्ति के वर्णन द्वारा शक्तिमान की सन्मुखता होने से वीतरागता प्रगट होती है और शक्ति का निर्मल कार्य होता है। शक्ति अकेली शक्तिरूप से नहीं रहती, परन्तु उसका निर्णय होने पर वह शक्ति व्यक्त होकर, उसके निर्मल कार्यसहित स्वसंवेदन में आती है; और तब ही शक्ति का निर्णय सच्चा कहलाता है। शक्ति की पहिचान करे और उसका फल अनुभव में न आवे, ऐसा नहीं होता। स्वसंवेदन द्वारा पर्याय में खिले, ऐसा शक्ति का कार्य है।

ज्ञानादि अनन्त गुणों से भरपूर एक द्रव्य, उसके गुण कायम टिककर उसमें उत्पाद-व्यय भी हुआ करता है। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु स्वयं ही है। अहा! उत्पाद-व्यय-ध्रुव के निर्णय में तो द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वाधीनता का, उपादान-निमित्त का, अक्रम गुण और क्रमवर्ती पर्याय का—इन सब तत्त्वों का निर्णय आ जाता है और पराश्रितबुद्धि छूट जाती है; क्योंकि अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव के कारण वस्तु स्वयं स्वाधीनरूप से कार्य में परिणम रही है। जैसे ध्रुव किसी दूसरे के कारण नहीं, उसी प्रकार उत्पाद-व्यय भी किसी दूसरे के कारण से नहीं है।

अहा! स्वपरिणति में परिणमते इस चैतन्यभगवान का नाटक (नृत्य-परिणमन) कोई अद्‌भुत है। ऐसा तत्त्व सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसलिए ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को सर्वज्ञ का भी निर्णय हो जाता है। आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव है, उसका निर्णय करने से अनन्त सर्वज्ञ का निर्णय हो जाता है। श्रुतपर्याय में स्वसन्मुख होकर ऐसा निर्णय करने की सामर्थ्य है।

जगत में जो कोई वस्तु है, वह सत् है और उसका सत्पना उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित है।— **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्** और **सत्लक्षणं द्रव्यं,** अथवा **गुणपर्ययवत्**

द्रव्यं —ये महा सिद्धान्त हैं। ध्रुव अर्थात् अक्रमवर्ती गुण और उत्पाद-व्यय अर्थात् क्रमवर्ती पर्यायें—ऐसे क्रम-अक्रमवर्ती भावों का समूह (अर्थात् कि गुण-पर्यायों का एक पिण्ड), वह द्रव्य है। आत्मा और जगत के सभी द्रव्य भी ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप हैं। ऐसे स्वभाव का निर्णय करनेवाले जीव को स्वभाव-आश्रित निर्मलपर्याय का उत्पाद होता है। वहाँ साधक को जो अल्प मलिनता रही, उसे गौण करके, व्यवहार गिनकर, शुद्ध आत्मा में उसका अभाव कहा है। ऐसे शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेना, वह सम्यग्दर्शन है।

क्रम-अक्रमवर्तीपनेरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व आत्मा की सभी शक्तियों में व्यापक है, इसलिए सभी शक्तियाँ गुणरूप से ध्रुव और पर्यायरूप से उत्पाद-व्यय, ऐसे स्वरूप से आत्मा में ज्ञानमात्र भाव के साथ निर्मलरूप से उछलती है। प्रत्येक शक्ति स्वयं ही अपने उत्पादरूप कार्य की कर्ता है। और वह निर्मल उत्पादरूप कार्य की ही कर्ता है; मलिनता, वह वास्तव में उसका कार्य नहीं है, क्योंकि शक्ति के आश्रय से मलिनता का उत्पाद नहीं होता है।

सत् ऐसा आत्मस्वरूप निर्विकल्प-प्रतीति द्वारा प्रतीति में आता है; विकल्प द्वारा वह प्रतीति में नहीं आता। विकल्प को तो यहाँ सत् स्वरूप से बाहर रखा है। अपने निर्मल गुण-पर्याय में रहा हुआ चैतन्यस्वभाव सत् है, और उस सत् की स्वीकारता में स्वसन्मुख पुरुषार्थ है; उसके साथ ज्ञान है, प्रतीति है, स्वसंवेदन है, आनन्द है, जीवत्व है।—ऐसे सभी गुण एकसाथ अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं एक साथ ऐसी अनन्त शक्तियों से उल्लसित होने से अनेकान्तस्वरूप है। उस-काल में रागादि विकल्प हो, वह अभावरूप परिणमता है। स्वभाव-शक्ति की निर्मलता की अस्ति, और उसमें विकार की नास्ति—ऐसा अनेकान्तरूप साधक का परिणमन है। अभी साधक है, इसलिए शुद्धता के साथ (एकरूप नहीं परन्तु भिन्नरूप से) किंचित् राग भी है; परन्तु उस राग का शुद्धता में अभाव है। उसे राग का ज्ञान है परन्तु उस राग का अपनी शक्ति में स्वीकार नहीं, उसे परज्ञेयरूप से अर्थात् व्यवहारज्ञेयरूप से जानता है। परमार्थज्ञेय ऐसे अपने आत्मस्वभाव को उसमें तन्मय रहकर जानता है; और रागादि

परभावों को उनमें तन्मय हुए बिना जानता है। ऐसा साधक का परिणमन है, उसे ज्ञानी ही वास्तविकरूप से पहिचानते हैं।

जो अपने निर्मल गुण-पर्यायों में व्याप्त है, उतना ही आत्मा है और उतना ही (अर्थात् कि उस आत्मा की श्रद्धा जितना ही) सम्यग्दर्शन है। ज्ञान का समुद्र, शान्तरस का पिण्ड, आनन्द से भरपूर, श्रद्धा से शोभित और अपनी प्रभुता में पसरता भगवान आत्मा, उसके अनुभव का मार्ग निर्विकल्प और अन्तर्मुखी है। जहाँ अचिन्त्य आत्मस्वभाव प्रतीति में आवे और उसकी सन्मुखता हो, वहाँ विकल्प टूटे बिना नहीं रहते। और फिर जो विकल्प आवे, वे पररूप से आते हैं, उनके साथ एकताबुद्धि नहीं रहती। ज्ञानी उन विकल्पों को स्वपने नहीं जानता परन्तु परपने जानता है; उसे अपने ज्ञान का कार्य नहीं मानता।—ऐसी दशा साधक को होती है।

आत्मस्वभाव के निर्णय में और वेदन में अक्रम से अनन्त गुण और क्रम से वर्तती उन सब गुणों की निर्मलपर्यायें समाहित हो जाती हैं, क्योंकि उन गुण-पर्यायों जितना ही सच्चा आत्मा है। अहा! आत्मा की एक-एक शक्ति सम्पूर्ण चैतन्य खजाने का अपूर्व वैभव खोल देती है। रे जीव! तेरे गुण के सामर्थ्य की क्या बात! और उसकी पूर्ण पर्याय के सामर्थ्य की क्या बात! आत्मा की सभी बातें बड़ी हैं; आत्मा ही जगत में सबसे महान महिमावन्त पदार्थ है, इसलिए उसकी बात भी बड़ी ही होगी न! अज्ञान के राग से रंगे हुए छोटे कलेजे में यह बात समाये, ऐसी नहीं है। ज्ञानी का श्रुतज्ञान उदार है, वही चैतन्य की महिमा को अपने में समा सकता है—ज्ञान द्वारा अनुभव कर सकता है।

दसों दिशाओं में चाहे जितना लम्बाया ही करो, परन्तु जिसके क्षेत्र का विस्तार कहीं पूरा नहीं होता, ऐसा जो अनन्त विस्तारवाला आकाश, उसे अपनी एक पर्याय में (अरे! उस पर्याय के भी अनन्तवें भाग के सामर्थ्य द्वारा) जान ले, उस ज्ञान की अपार सामर्थ्य की क्या बात! कुन्दकुन्दस्वामी जैसे सन्त कहते हैं कि 'महिमा अहो! उस ज्ञान की! **अहो हि णाणस्स माहप्पं!**' आत्मा में ऐसा अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य है। अन्तर्मुख होकर ऐसे आत्मा को स्वानुभवगम्य करे, वह ज्ञान आनन्दरस में सराबोर हो जाता है,

विकल्प से वह पार है। विकल्प की अस्ति शुद्ध आत्मा के द्रव्य में गुण में और पर्याय में कहीं नहीं है, इसलिए विकल्प 'आत्मा' रूप से नहीं वर्तता परन्तु 'अनात्मा' रूप से वर्तता है। शुद्ध गुण-पर्याय का जितना समूह है, उसे ही ज्ञानी आत्मारूप अनुभवते हैं।

बापू! तेरा परम तत्त्व विकल्प द्वारा प्रगट हो, ऐसा नहीं है। विकल्प को साधन मानना, वह तो परम चैतन्यतत्त्व को विकल्प में बेच देने जैसा है। अरे भाई! तेरे अमूल्य चैतन्यहीरा को क्या तू एक राग के कण में बेच देगा? चैतन्यतत्त्व अपने निर्मल गुण-पर्याय में वर्तता, उसे फिर राग का अवलम्बन कैसा? राग द्वारा उसका मूल्यांकन क्या? अन्तर्दृष्टि से शुद्धस्वरूप को देख तो तेरी ध्रुवता में और तेरे उत्पाद-व्यय में कहीं राग नहीं है, उसमें तो अनन्त गुणों की मात्र निर्मलता ही भरी है।

अक्रमगुणरूप ध्रुवता और क्रमपर्यायरूप क्षणिकता, ऐसे ध्रुव और क्षणिक दोनों धर्मोंवाला उपादान है; यदि अकेला ध्रुवपना या अकेला क्षणिकपना हो, तब तो कार्य हो नहीं सकता। ध्रुवपना और क्षणिकपना दोनों एकसाथ उपादान में वर्तते हैं, उसमें परचीज़ का अवलम्बन कहीं नहीं है। इसी प्रकार से साधक को निश्चय और व्यवहार दोनों साथ में वर्तते होने पर भी, दोनों की धारा पृथक् है, एक-दूसरे के कारण से कोई नहीं है। वीतराग परमात्मा ने कहा हुआ यह वस्तुस्वभाव है, उसके निर्णय बिना अनेकान्त का निर्णय नहीं होता और निर्मलता प्रगट नहीं होती। निर्मलता प्रगट होना, यह अनेकान्त का फल है।

गुण का वास्तविक वर्तन कब प्रगट हो?—कि स्वभावसन्मुख होकर निर्मलरूप से परिणमे तब। और उसे ही गुण का वास्तविक वर्तन कहा जाता है। जब ज्ञानगुण स्वसन्मुख होकर स्व-परप्रकाशकरूप से परिणमे, तब ज्ञान का सम्यक् वर्तन (सच्चा परिणमन) कहलाता है; श्रद्धा जब निर्विकल्परूप से शुद्ध आत्मा को प्रतीति में ले, तब श्रद्धा का सच्चा वर्तन कहलाता है। जब आनन्द अनाकुल शान्ति का वेदन दे, तब आनन्दगुण का सम्यक्वर्तन कहलाता है। इस प्रकार जीवत्व, वीर्य, चारित्र, प्रभुता इत्यादि सभी गुणों के सम्यक् वर्तन का समझ लेना। इस प्रकार अक्रम गुण अपनी-अपनी निर्मल क्रमवर्ती पर्यायों सहित वर्ते, तब क्रम-अक्रमस्वरूप आत्मा अनेकान्तस्वरूप

से प्रसिद्ध हुआ कहलाता है। यदि मात्र राग-द्वेष, पुण्य-पाप और अज्ञानादिरूप अशुद्ध परिणमन ही हो तो उस अशुद्धता में भगवान आत्मा की अनेकान्तरूप से प्रसिद्धि नहीं होती।

अरे भाई! तू स्वयं अनन्त धर्म के वैभव से भरपूर है। यह तेरे स्वभाव की चीज़ तुझे बतलाते हैं, तेरी वस्तु की एकबार हाँ तो पाड़! इस स्वभाव की हाँ पाड़ने में अर्थात् इसकी प्रतीति करने में विकल्प की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसमें विकल्प नहीं। जिसमें विकल्प नहीं, ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने में विकल्प का अवलम्बन कैसे होगा? निर्विकल्प वस्तु में विकल्प को साथ लेकर नहीं जाया जाता। अहो! चैतन्य भगवान कैसा शुद्ध है!—तो इस चैतन्य भगवान से भेंट करनेवाली परिणति उसके जैसी शुद्ध, रागरहित ही होती है। उसकी परिणति रागवाली नहीं होती। जैसे चक्रवर्ती की पटरानी चक्रवर्ती की जाति जैसी होती है, कुजाति नहीं होती; उसी प्रकार चैतन्य चक्रवर्ती की परिणति उसके स्वभाव जैसी जाति की होती है, कुजाति की नहीं होती। राग, वह चैतन्य की जाति नहीं, परन्तु कुजाति है, विरुद्ध जाति है, वह चैतन्य राजा की वास्तविक परिणति नहीं है।

अरे चैतन्य राजा! शास्त्र और सन्त तुझे तेरे स्वभाव का महल बताते हैं, तेरे स्वभाव-महल में भरे हुए निधान बतलाकर तुझे स्व में लक्ष्य कराते हैं और पर की महिमा छुड़ाते हैं। पर का माहात्म्य छोड़कर स्वमहिमा में लीन होना, वही वीतरागी शास्त्रों का तात्पर्य है। भेदज्ञान के बल से जो निज महिमा में लीन होते हैं, वे ही शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करके कर्मों से मुक्त होते हैं। अहा! चैतन्यमहल में जाकर 'आत्मवैभव' को लक्ष्य में ले तो उसमें लीनता हुए बिना रहती नहीं और पर की महिमा आती नहीं।

आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना आत्मा में अपने स्वभाव से ही है, पर के कारण नहीं।—ऐसा निर्णय करके स्वसन्मुख परिणमने से आनन्दसहित निर्मल सम्यक्त्वादि परिणति का उत्पाद होता है। आत्मशक्ति के निर्णय का ऐसा उत्तम फल है। भाई! जगत के कोलाहल से जरा शान्त होकर, तेरे स्वभाव को लक्ष्य में ले। जगत क्या करता है और

जगत क्या बोलता है, उसके साथ तेरे तत्त्व को सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि तेरा उत्पाद-व्यय तुझमें से होता है। दूसरे में से नहीं आता। 'यह ऐसा कैसे ?' ऐसा विकल्प करने का तेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे स्वभाव का भान होने पर भी कुछ राग-द्वेष हो तो वह कहीं ज्ञानस्वभाव का कार्य नहीं।—इस प्रकार धर्मी को भिन्नता का भान है, अर्थात् उस समय भी अपना ज्ञानभाव चूकता नहीं।

जगत में प्रतिकूलता के पर्वत टूट पड़ते हों, अज्ञानी सत्यधर्म का विरोध करते हों, अन्याय होता हो, तथापि ज्ञान में विकल्प करने का या आकुलता करने का स्वभाव नहीं है। क्या सिद्ध भगवान आकुलता करते हैं ?—नहीं; अनाकुलरूप से रहने का ज्ञान का स्वभाव है। प्रतिकूलता की हवा में ऐसी ताकत नहीं कि ज्ञान के पहाड़ को चलायमान कर सके। ऐसे बेहद वीतराग शान्तस्वभाव से आत्मा भरपूर है। आत्मा की एक-एक शक्ति में आकुलता या विकल्प करने का स्वभाव नहीं; अकेले गम्भीर शान्तरस से ही सर्व गुण सराबोर है। अहा! आत्मशक्ति तो वीतरागी निर्मल कार्य की ही करनेवाली है और आनन्द की ही देनेवाली है; विकार की करनेवाली या दुःख की देनेवाली वह नहीं है। परिपूर्ण वीतरागभावरूप ही विकसित हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। उसमें कहीं संकोच नहीं और कोई प्रतिकूल संयोग उसके विकास को रोक नहीं सकते। चैतन्य-साधना के पंथ में चढ़े हुए साधक को जगत की कोई प्रतिकूलता डिगा नहीं सकती या उलझा नहीं सकती।

आत्मा की एक-एक शक्ति में कोई अचिन्त्यस्वभाव है; उसकी कोई भी शक्ति की पहिचान करने से पूरा भगवान आत्मा उसके अनन्त गुण-पर्यायोंसहित लक्ष्य में आ जाता है। ऐसे निज-आत्मा को दृष्टि में लेकर उसमें लीनता द्वारा जिसने शान्तदशा प्रगट की, उसकी शान्ति को जगत के महासंवर्तक—आँधी भी डिगा नहीं सकती। 'अभी पंचम काल की प्रतिकूलता बहुत प्रसंगों में होने से उसके समाधान के लिये बहुत अटकना पड़ता है, इसलिए अभी आत्मा की साधना नहीं हो सकती'—ऐसा कोई कहे तो कहते हैं कि अरे भाई! ऐसा नहीं है; अभी भी प्रतिकूलता के ढ़ेर के बीच भी आत्मा की पवित्र आराधनावाले और जातिस्मरणज्ञानवाले आत्माएँ यहाँ नजरों से दृष्टिगोचर

होते हैं; जगत की कोई प्रतिकूलता उन्हें आराधना में अवरोधक नहीं है। अन्तर्मुख होकर चैतन्यगुफा में जो प्रवेश कर गये, उन्हें चैतन्यगुफा में फिर प्रतिकूलता कैसी? कोई प्रतिकूलता का भार (दम) नहीं कि चैतन्य के अन्दर प्रवेश कर सके। चैतन्यसिंह की शूरवीरता के समक्ष प्रतिकूलता नहीं टिकती, परभाव भी नहीं टिक सकते।

'बहिरभाव वे स्पर्शे नहीं आत्मा को,
वास्तव में वह ज्ञायकवीर गिनाये जो।'

चैतन्यसिंह ज्ञायकवीर अपने पराक्रम की वीरता से जहाँ जागृत हुआ, वहाँ उसकी पर्याय के विकास को कोई रोक नहीं सकता। अहो! सन्तों ने आत्मशक्ति के ऐसे रहस्य खोलकर गजब काम किये हैं... और मुमुक्षु जीवों पर महाउपकार किया है। उन्होंने तो अन्तर में श्रुतज्ञान की आवाज लगाकर केवलज्ञान को बुलाया है, श्रुतज्ञान में केवलज्ञान का निर्णय आ जाता है। केवलज्ञान का निर्णय न हो तो वह श्रुतज्ञान ही सच्चा नहीं है। जहाँ अपने सर्वज्ञस्वभाव में स्वसन्मुख होता श्रुतज्ञान जागृत हुआ, वहाँ सर्वज्ञपद प्रगट हुए बिना नहीं रहता। ऐसे स्वभाव को जानने से जीव को सम्यग्दर्शन होता है और स्वसन्मुख होकर वह शीघ्र-शीघ्र मोक्ष में जाता है।

* * *

अनन्त स्वभावों से भरपूर आत्मा में ज्ञान को मुख्य करके आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहा है; उस ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा को लक्ष्य में लेने से जो अनन्त गुणवाला आत्मा लक्षित होता है, उसका यह वर्णन चलता है; ज्ञान द्वारा लक्षित हुए आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं, यह बताते हैं। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को जानने से सुख होता है। जगत के हीरा-माणेक-मोटर-बँगला-स्त्री-पुत्र इत्यादि किसी भी पदार्थ को जानने से उनसे आत्मा को सुख नहीं होता, क्योंकि आत्मा का सुख उसमें नहीं है; स्वसन्मुख होकर आत्मा को जानने से सुख होता है, क्योंकि आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है।

सुख को कहाँ शोधना? ..... आत्मा में।

किस प्रकार शोधना? ..... आत्मा के सन्मुख होकर।

अनन्त गुण के वैभव से भरपूर आत्मा जितना है, उतना उसे जाने तो ही वह

जवाब देता है अर्थात् कि अनुभव में आता है, परन्तु उसे कम और विपरीत माने तो वह अनुभव में नहीं आता। जैसे बड़े राजा-महाराजा को उसके पदप्रमाण बहुमान से बुलावे तो ही वह जवाब देता है, उसके पद से कम मान से बुलाने पर वह जवाब नहीं देता; इसी प्रकार राजाओं का भी राजा ऐसा यह चैतन्यमहाराजा, उसे उसके अनन्त वैभव की महिमा से लक्ष्य में लो तो ही वह अनुभव में आता है, परन्तु यदि उसे छोटा माने अर्थात् कि शुभराग जितना माने तो वह उसका अपमान करने जैसा है, अर्थात् रागादि जितना मानने से वह चैतन्य राजा सच्चे स्वरूप से अनुभव में नहीं आता।

यह चैतन्य राजा अपनी ज्ञान लक्ष्मी से शोभित होता है। विकार का और संयोग का उसमें अभाव है। चैतन्य राजा की सत्ता पुण्य और पाप से भिन्न है; शुद्ध जीवसत्ता का अस्तित्व पुण्य-पापरूप नहीं है; इसलिए पुण्य-पाप के किसी भी भाव द्वारा शुद्ध जीवसत्ता लक्ष्यगत नहीं होती; ज्ञान द्वारा ही वह लक्ष्यगत होती है। इस प्रकार शुद्ध जीव को लक्ष्यगत करने से ज्ञान के साथ अनन्त गुणपर्यायें निर्मलरूप से उल्लसित अनुभव में आती है। ऐसे आत्मद्रव्य को दृष्टि में लेना, ज्ञान में लेना और अनुभव में लेना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह आत्मवैभव है, वह आत्मप्रसिद्धि है, और वही मोक्षमार्ग है। यह अपने स्वघर की चीज़ होने से सरल है, सुगम है, सहज है। परचीज़ को अपनी करना, वह तो अशक्य है, रागादि विकार को स्वभावघर में प्रवेश करने का भी अशक्य है; निर्मलस्वभाव को दृष्टि में लेकर निर्मल सम्यक्त्वादि भाव उत्पन्न करना सुगम है, सहज है, सुखकर है। उसमें किसी की गुलामी भी नहीं करनी पड़ती और उससे अपना महान हित होता है।—तो ऐसा उत्तम कार्य कौन बुद्धिमान नहीं करेगा?

सत् है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है; उसमें उत्पाद-व्यय, वह क्रमिक-पर्याय में है और ध्रुवरूप गुण रहे हुए हैं। ऐसे क्रम और अक्रम स्वभाववाला सत् द्रव्य है। क्रम-अक्रमस्वभाव कहो, उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना कहो अथवा गुणपर्यायें कहो,—ऐसे स्वभाववाला आत्मा है। ऐसे स्वभावरूप ज्ञानभाव को लक्ष्य में लेकर स्वसन्मुख परिणमने से निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना सभी शक्तियों में रहा हुआ है। प्रभुत्व में प्रभुता का उत्पाद-व्यय-ध्रुव है; ज्ञान में ज्ञान के उत्पाद-व्यय-ध्रुव

हैं; आनन्द में आनन्द के उत्पाद-व्यय-ध्रुव हैं, परन्तु प्रभुता में पामरता के उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं; ज्ञान में अज्ञान के उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं; आनन्द में दु:ख के उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं; प्रत्येक गुण अपनी-अपनी निर्मल पर्याय के उत्पाद से शोभित होता है। (ज्ञान में अज्ञान का अभाव है, इस अपेक्षा से अज्ञान का व्यय भले कहलाये, परन्तु यहाँ तो ज्ञान के उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों ज्ञानमय ही है, ऐसा लेना है। क्योंकि पहले अज्ञान था और उसका व्यय हुआ, यह विवक्षा अभी नहीं लेनी है। यहाँ तो ज्ञान का परिणमन ज्ञानमय ही है, इसलिए उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों ज्ञानमय ही है, ऐसा बतलाना है, और इस प्रकार सभी गुणों के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में समझ लेना।) अनन्त गुण के निर्मल परिणमन से आत्मा शोभता है।

देखो! ऐसे आत्मा की पहिचान बिना आत्मा की सच्ची दया पालन नहीं की जा सकती। विकार को निजस्वरूप मानने से आत्मा के स्वभाव का घात होता है;—स्वभाव का यद्यपि अभाव तो नहीं हो जाता, परन्तु उसकी उल्टी मान्यता में उस स्वभाव का सच्चा परिणमन नहीं होता, आत्मा का सच्चा जीवन प्रगट नहीं होता, इसलिए उस उल्टी मान्यता द्वारा आत्मा की हिंसा हुई, ऐसा कहा जाता है। विकारभावों से निजस्वभावभाव को नहीं घातना, नहीं हनन करना, और निजस्वभाव का पालन करना, रक्षण करना, यह सच्ची आत्मदया है और ऐसी आत्मरक्षारूप दया, वह धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन बिना ऐसा दयाधर्म नहीं हो सकता। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मस्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसका पालन करना, विकार द्वारा उस स्वभाव को हनन नहीं होने देना, उसका घात न होने देना, वह वीतरागी दया है, वह स्वदया है।—ऐसी दया, वह धर्म है।

आत्मा में जो अनन्त गुणस्वभाव हैं, उसमें परजीव की दया का और हिंसा का (शुभ और अशुभ) कोई विकल्प नहीं; ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव है, उसमें राग की वृत्ति का उत्थान कैसा? राग होता है, वह ज्ञान का कार्य नहीं। साधक को, अर्थात् कि साधक की भूमिका में जिनपूजा-भक्ति-दान-तीर्थयात्रा इत्यादि के भाव होते हैं, तथापि उस शुभराग और ज्ञानभाव दोनों की जाति अलग है, उसे पहिचानना चाहिए। साधकपना शुभराग के कारण नहीं टिका, ज्ञानभाव के कारणसे ही साधकपना टिका है। विकल्प के

काल में विकल्प का ज्ञान होता है परन्तु ज्ञान स्वयं उस विकल्परूप नहीं हो जाता। ज्ञान का उत्पाद ज्ञानरूप से है; ज्ञान का उत्पाद विकल्परूप से नहीं, तथापि जिस भूमिका में पूजादि का जैसा राग हो, उसे ज्ञान उस प्रमाण जानता है। भगवान सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मस्वभाव जाना, वैसा धर्मी जानता है और साथ ही पर्याय में भूमिका-अनुसार जैसा राग और जैसा व्यवहार होता है, उसे उस प्रमाण धर्मी का ज्ञान जानता है; जानने पर भी उसका वह कर्ता नहीं होता, उसमें तन्मय नहीं होता, उसे निजस्वरूप रूप से वेदन नहीं करता। ज्ञान में तन्मय रहकर ज्ञान को ही निजस्वरूप से वेदन करता है। ऐसी निश्चय-व्यवहार की धारा साधक को वर्तती है।

अहो! अध्यात्म की अलौकिक बात है; अन्दर की आत्मवस्तु की कोई अपार महिमा है; उसे साधनेवाले धर्मात्मा की दशा भी बहुत गम्भीर है। सम्यग्दृष्टि जीव ३३ सागरोपम के असंख्य वर्षों तक सर्वार्थसिद्धि में जिसकी महिमा की चर्चा करते हैं, तथापि जिसकी महिमा पूरी नहीं पड़ती, अनुभव से ही जिसकी महिमा पूरी पड़ती है, ऐसा परम शक्तिमान आत्मा है। ऐसे आत्मा को अपने में ध्येय बनाने से पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। राग उसका कारण नहीं। राग के कारण से राग और ज्ञान के कारण से ज्ञान; ज्ञान के कारण से राग नहीं और राग के कारण से ज्ञान नहीं; एक पर्याय में एक काल में दोनों साथ में वर्तने पर भी उन दोनों को कारण-कार्यपना नहीं है, कर्ता-कर्मपना नहीं है, और साध्य-साधनपना नहीं है। जहाँ अकषायी शान्तस्वभावी आत्मा का अनुभव प्रगट हुआ, वहाँ उस भूमिका के योग्य ही विकल्प-राग आता है, विपरीत नहीं आता, ऐसा मेल है; तथापि जो शुद्धि प्रगट हुई, वह विकल्प की और राग की कर्ता नहीं।

सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा देखा और कहा, वैसा अपने को अनुभवगम्य कैसे हो और वह अनुभव होने पर अपने में क्या होता है? उसका यह वर्णन है। आत्मा के अनन्त गुण अपने-अपने स्वभावसामर्थ्य से पूरे हैं; ज्ञान का पूरा स्वभाव अर्थात् सर्वज्ञता, दर्शन का पूर्ण स्वभाव अर्थात् क्षायिक दर्शन, आनन्द का पूर्ण स्वभाव अर्थात् पूर्णानन्द; इस प्रकार पूर्ण स्वभाव के पूर से भरपूर जो आत्मद्रव्य, उसे दृष्टि में लेने से वह अपनी

निर्मल क्रमपर्यायों को द्रवता है, स्वयं वैसे उत्पादरूप होता है। उसमें विशेष लीन होने से मुनिदशा प्रगट होती है। उस मुनिदशा में साथ में पंच महाव्रतादि सम्बन्धी विकल्प हो, परन्तु अव्रतादि के विकल्प नहीं होते, ऐसा उस भूमिका का व्यवहार है और तो भी उस समय की शुद्धपरिणति में वह व्यवहार नहीं है; उस व्यवहार के विकल्प शुद्धता से तो बाहर ही रहते हैं। आत्मा का स्वभाव ही साधन होकर शुद्धतारूप से परिणमता है।

आत्मा के स्वभाव की सन्मुखता से अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायें रचती जाती है, उसके साथ (साथ अर्थात् एकरूप नहीं परन्तु पृथक्रूप से) जैसा व्यवहार होता है, उसे भी धर्मी जानता है, परन्तु उन तत्त्वों की एक-दूसरे में मिलावट नहीं कर देता। जड़ की पर्याय जड़ में, आत्मा में उसका अभाव; विकार परिणाम आस्रवतत्त्व में, आत्मा की शुद्धता में उसका अभाव। आत्मा कितना ?—कि ज्ञानलक्षण द्वारा जो कुछ जितना निर्मल गुण-पर्यायों का समूह लक्षित होता है, उतना आत्मा है। ज्ञानलक्षण द्वारा तो अनन्त गुण-पर्यायों का निर्मल समूह ही लक्षित होता है, विकार लक्षित नहीं होता; इसलिए विकार, वह वास्तविक आत्मा नहीं; उसे 'अनात्मभाव' कहने में आया है। ज्ञान अन्तर्मुख होने पर निर्मल गुण-पर्यायसहित आत्मा लक्ष्य में—अनुभव में आता है, परन्तु उस अनुभव में विकार नहीं आता। ऐसे आत्म-अनुभव से ही अनन्त काल के जन्म-मरण का अभाव होता है और अनन्त काल रहे, ऐसा आनन्द प्रगट होता है।

भाई! तेरे अनन्त काल के दुःख टलें और अनन्त काल का सुख प्रगट हो, ऐसा यह उपाय है। एक बार तेरे आत्मा को अनुभव में तो ले; उसका एक बार स्वाद चखने के पश्चात् तुझे कुछ उलझन नहीं रहेगी और अन्यत्र कहीं तेरा चित्त नहीं जमेगा। अरे! बन्दूक की गोली खाकर भी दुःख से छूटने का प्रयास करता है, परन्तु बापू! वह मार्ग सच्चा नहीं... भाई! सुख तो तेरे स्वभाव में है, उसमें से आयेगा या बाहर से ? 'तुझे कहीं न रुचे तो आत्मा में रुचि लगा।'

आत्मा का अन्तर स्वभाव सुख से भरपूर है, उसमें जाकर एकता कर तो वह सुख प्रगट हो और दुःख मिटे। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से दुःख नहीं मिटता और सुख नहीं होता। तेरी उल्टी मिथ्यात्वदशा से तुझे दुःख है और तेरे स्वभाव-सन्मुख

की सुल्टी दशा से तुझे सुख है। दु:ख कहीं बाहर के संयोग का नहीं है और सुख भी बाहर के संयोग से नहीं होता। जहाँ तेरा सुखस्वभाव है, उसमें दु:ख नहीं, वह तो सहज आत्मस्वरूप सुख से भरपूर है। उसमें दु:ख का प्रवेश नहीं, उसमें प्रतिकूलता का प्रवेश नहीं। ऐसे आनन्दधाम चैतन्यराम के समीप जा तो सुख प्रगट होगा और दु:ख छूट जायेगा। अनन्त गुणधाम में अकेला सुख ही भरा है, उसके पास जाने से दु:ख की गन्ध भी नहीं आती। सुख का मार्ग सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा कहा है, दूसरा मार्ग नहीं।

भाई! तेरे स्वभाव में एक साथ रहनेवाले अनन्त गुण हैं; अनन्त गुण से एकरूप तेरे स्वभाव में तू दृष्टि कर तो तेरे अनन्त गुणों की निर्मलपर्यायें प्रगट होंगी। ज्ञान-आनन्द-श्रद्धा-प्रभुता-स्वच्छता इत्यादि सभी आत्मशक्तियाँ स्वाश्रय से निर्मलरूप से उल्लसित होकर पर्याय में व्यक्त होती है और स्वसंवेदन में अनन्त शक्ति की निर्मलता एकसाथ समाहित होती है। ऐसा अद्‌भुत आत्मवैभव तुझमें है। इस अद्‌भुत चैतन्यरत्नाकर के समक्ष नजर करने से सम्यग्दर्शनादि अपूर्व रत्न तुझे प्राप्त होंगे।

आचार्यदेव मोह से मूर्च्छित जीवों को जगाते हैं कि भाई! तू अब जाग और तेरी निजशक्ति को सम्हाल। अनन्त काल से तू मोहमूर्च्छा में सो रहा है परन्तु अब तो इन जिनवचनरूपी अमृत द्वारा तू जाग। रावण की शक्ति से मूर्च्छित हुए लक्ष्मण को राम जगाते थे; उसी प्रकार यहाँ मोहरावण से मूर्च्छित जीवों को आत्मारामी सन्त जगाते हैं और 'वि-शल्या' अर्थात् शल्यरहित आत्मपरिणति (सम्यक्‌श्रद्धा) आने पर ही मोहमूर्च्छा दूर होकर आत्मा निजशक्ति को सम्हालता हुआ जागृत होता है और मोहरूपी रावण को नष्ट कर डालता है। अहा! ऐसी करुणा से सन्त तुझे जगाते हैं, तो हे भाई! अब तू जाग... अब जागकर तेरी शक्ति के निजवैभव को देख। अनादि से मोह निद्रा में सो रहा है और निजवैभव को भूला है, परन्तु अब इन समयसार के मन्त्रों द्वारा तू शीघ्र जाग... जागकर तेरे आत्मवैभव को देख... अब जागकर मोक्ष में जाने का अवसर आया है। १६ वर्ष से भी कम उम्र में श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं कि 'रात्रि व्यतीत हुई, प्रभात हुआ; निद्रा से मुक्त हुए, अब भावनिद्रा टालने का प्रयत्न करना।'

मेरा परमेश्वरपना मुझमें है—ऐसा स्वीकार तो करो। एक बार श्रीमद् राजचन्द्रजी

ने किन्हीं ग्वाले लोगों में अनुकरण की जिज्ञासाबुद्धि देखकर उन्होंने कहा कि 'भाईयों! आँख बन्द करो और अन्दर मैं परमेश्वर हूँ, ऐसा विचार करो।' वे ग्वाले भद्र थे, उन्होंने इस बात में शंका अथवा प्रतिकार नहीं किया, परन्तु विश्वास से ऐसा विचार किया कि यह कोई महात्मा है और हमको हमारे हित की कुछ अपूर्व बात कहते हैं; जगत के जीवों की अपेक्षा इनकी चेष्टा कोई अलग ही लगती है। इसी प्रकार हे भद्र! यहाँ कुन्दकुन्दस्वामी जैसे परम हितकारी सन्त तुझे तेरा सिद्धपना बताते हैं, तो तू उल्लास से उसकी हाँ कर, और मैं सिद्ध हूँ—इस प्रकार तेरे आत्मा को चिन्तवन में ले। अन्तर में सम्यग्ज्ञानरूपी सुप्रभात उदित कर और मोहनिद्रा छोड़कर आत्मा के वैभव को सम्हाल। अनादि से संयोगवाला और विकारवाला ही आत्मा मानकर तू अज्ञान में सो रहा था, वह मान्यता अब छोड़ और अनन्त गुण के धाम आत्मा को देख... अनन्त किरणों से जगमगाते चैतन्यसूर्य का प्रकाश देख। इस भावनिद्रा में से झंझोड़कर सन्त और जिनवाणी माता तुझे तेरी निजशक्ति बतलाते हैं।

एक सिंह के बच्चे की बात आती है; सिंह का एक छोटा बच्चा था। भूल से वह बकरी के झुण्ड में मिल गया और अपना सिंहपना भूलकर अपने को बकरा ही मानना लगा। एक बार दूसरे सिंह ने उसे देखा और उसे उसके सिंहपने का भान कराने के लिये सिंहनाद किया। सिंह की दहाड़ सुनते ही बकरे तो सभी भाग गये, परन्तु यह सिंह का बच्चा तो निर्भयरूप से खड़ा रहा, सिंह की आवाज का भय उसे नहीं लगा। तब दूसरे सिंह ने पास आकर प्रेम से कहा कि — अरे बच्चा! तू बकरा नहीं, तू तो सिंह है। देख, मेरी दहाड़ सुनकर सभी बकरे तो भयभीत होकर भाग गये और तुझे भय क्यों नहीं लगा?—क्योंकि तू तो सिंह है... मेरी जाति का ही तू है। इसलिए बकरों का संग छोड़कर तेरे सिंह—पराक्रम को सम्हाल। और विशेष भरोसा करने के लिये तू मेरे साथ चल और इस स्वच्छ जल के झरने में तेरा मुख देख! विचार कर कि तेरा मुख किसके जैसा लगता है? मेरे जैसा (अर्थात् कि सिंह जैसा) लगता है या बकरे जैसा? अभी विशेष लक्षण बताते हुए सिंह ने कहा कि तू एक आवाज कर... और देख कि तेरी आवाज मेरे जैसी है या बकरे जैसी? सिंह के बच्चे ने जहाँ दहाड़ की, वहाँ उसे विश्वास हो गया कि मैं तो सिंह हूँ; पानी के स्वच्छ झरने में अपना मुख देखकर भी उसे

स्पष्ट दिखलाई दिया कि मैं तो सिंह हूँ, भ्रम से ही सिंहपना भूलकर, मेरी निज शक्ति को भूलकर बकरे जैसा मान रहा था।

यह तो एक दृष्टान्त है। उसी प्रकार धर्मकेसरी ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा स्वयं सर्वज्ञ होकर दिव्यवाणीरूपी सिंहनाद से तुझे तेरा परमात्मपना बतलाते हैं; जैसे हम परमात्मा हैं, वैसा ही तू परमात्मा है; दोनों की एक ही जाति है। भ्रम से तूने अपने को पामर माना है और तेरे परमात्मपने को तू भूल गया है, परन्तु हमारे साथ तेरी मुद्रा (लक्षण) मिलानकर देख तो सही, तो तुझे विश्वास होगा कि तू भी हमारे जैसा ही है। स्वसंवेदन द्वारा तेरे स्वच्छ ज्ञानसरोवर में देख तो तुझे तेरी प्रभुता तुझमें स्पष्ट दिखाई देगी। स्वसन्मुख वीर्य उल्लसित करके श्रद्धारूपी सिंहनाद कर तो तुझे विश्वास होगा कि मैं भी सिद्धपरमात्मा जैसा हूँ, मुझमें भी सिद्ध जैसा पराक्रम भरा है! प्रभुता से भरपूर तेरा आत्मा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव में अनन्त स्वभावोंसहित परिणम रहा है। ऐसे चैतन्यतत्त्व के भान बिना चार गति का अभाव कैसे हो? और आनन्द कहाँ से प्रगट हो? चार गति और उस गति का भाव जिसमें नहीं, ऐसे चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख होने से चार गति का अभाव होकर सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

* * *

आत्मस्वभाव की अनुभूति में उसके सर्व गुणों के निर्मल कार्य की प्रतीति साथ ही समाहित हो जाती है।

[भाद्र शुक्ल १२ (संवत् २०२२) के दिन इस 'उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति' पर पूज्य गुरुदेव ने जो विशेष प्रवचन किया, उसे गुरुदेव की आज्ञानुसार यहाँ दिया गया है।]

आत्मा की ४७ शक्तियों में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व नाम की एक शक्ति है। क्रमप्रवृत्ति अर्थात् उत्पाद-व्यय, और अक्रमप्रवृत्ति अर्थात् ध्रुवता; आत्मा के स्वभाव को दृष्टि में लेनेवाले को ऐसे क्रम-अक्रम स्वभाव का निर्णय भी हो जाता है। सर्वज्ञदेव ने तीन काल जाने, इसलिए क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसे सर्वज्ञता के आधार से तो क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती ही है; परन्तु यहाँ तो आत्मा की ही शक्ति के आधार से क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है, यह बात आज दोपहर के मन्थन में आयी थी, वह यहाँ कही जाती है।

अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा को अनुभव में लेने से उसकी यह उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति भी प्रतीति में आ ही गयी और उसकी प्रतीति होने पर अक्रमरूप गुण और क्रमरूप पर्याय, वह भी प्रतीति में आ ही गये। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति द्वारा भी क्रमबद्धपर्याय सिद्ध हो जाती है। द्रव्य में ही ऐसी शक्ति है कि पर्यायें क्रम-क्रम से प्रवर्तती हैं, और गुण एकसाथ अक्रम से रहते हैं; इसलिए द्रव्यस्वभाव की प्रतीति में उसकी प्रतीति भी आ जाती है।

क्रम-अक्रमवर्तनरूप जो उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभाव, उस स्वभाव का निर्णय करनेवाली की दृष्टि कहाँ जाती है? आत्मा के स्वभाव में जाती है, क्योंकि आत्मा के स्वभाव की दृष्टि से ही उसके धर्म का सच्चा निर्णय होता है। एक-एक गुण के भेद के लक्ष्य से यथार्थ निर्णय नहीं होता। गुण किसका? कि गुणी का; उस गुणी ऐसे आत्मद्रव्य पर दृष्टि गये बिना उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप धर्म का (और क्रम-अक्रमवर्तीपने का) निर्णय नहीं होता। आत्मा पर दृष्टि रखकर आत्मा के धर्म का निर्णय होता है, परन्तु अन्यत्र कहीं दृष्टि रखकर आत्मा के धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। आत्मा को प्रतीति में लेने से उसका उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव भी प्रतीति में आ जाता है, इसलिए उसमें अक्रमरूप गुण और क्रमरूप वर्तती पर्याय भी प्रतीति में आ ही गयी।

देखो, इसमें अपने ही स्वभाव के सन्मुख देखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो गया; उस निर्णय के लिये दूसरे के सन्मुख देखने का नहीं आया।

अनन्त गुण एक साथ अक्रम से रहनेरूप ध्रुवता और क्रम-क्रम से पर्याय होनेरूप उत्पाद-व्यय, ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप आत्मा का एक गुण है; इसलिए जिसने ऐसे धर्मवाले आत्मा को दृष्टि में लिया, उसे क्रमबद्धपर्याय भी साथ ही प्रतीति में आ ही गयी, क्योंकि ऐसा स्वभाव आत्मा की शक्ति में समाहित है।

आत्मा को प्रतीति में लेने से उसके धर्म भी प्रतीति में आ जाते हैं। यदि क्रम से प्रवर्तती पर्यायरूप उत्पाद-व्यय न माने तो उसने उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्तिवाला आत्मा माना ही नहीं। आत्मा पर दृष्टि जाने से उसके अक्रमगुणों की और उसकी क्रमवर्ती पर्यायों की प्रतीति हो ही जाती है। और ऐसे द्रव्य की दृष्टि का फल सम्यग्दर्शन है; उसमें

राग का अकर्तापना भी समाहित हो जाता है। 'मेरे द्रव्य का ऐसा धर्म है कि क्रम से और अक्रम से वर्ते'—ऐसा निर्णय करने से दृष्टि द्रव्य पर जाती है। द्रव्य की दृष्टि से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन होते ही क्रमबद्ध की वास्तविक प्रतीति होती है और आत्मा रागादि अपने परभावों का अकर्तारूप परिणमता है।

आत्मा की वास्तविक प्रतीति तब कहलाती है कि उसके अनन्त गुण की प्रतीति भी साथ में आये। अकेली पर्याय का और गुणभेद का लक्ष्य छोड़कर जहाँ अखण्ड द्रव्य का लक्ष्य हुआ, वहाँ द्रव्य के सभी गुण अनादि-अनन्त क्रम-अक्रमरूप वर्तते हुए प्रतीति में आये। पर्यायरूप से क्रम से परिणमना और गुणरूप से अक्रम से रहना, ऐसा मेरा स्वभाव है—इस प्रकार दोनों बात दृष्टि में साथ ही समाहित हो ही गयी।

अहो! द्रव्य की दृष्टि में तो गम्भीरता है; वह अनन्त गुणों को अपने में समाहित कर देती है। अनुभूति में धर्मी को ऐसा द्रव्य आया कि जिसके अनन्त गुण अक्रम से ध्रुव रहे और जिसकी पर्यायें क्रम-क्रम से उत्पाद-व्ययरूप हों; ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप (शक्तिमान) आत्मद्रव्य दृष्टि में लेना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे उत्पाद-व्यय और ध्रुवतारूप आत्मा का एक गुण है। ऐसे गुणसहित आत्मा धर्मी को अनुभूति में आया है; वहाँ विकल्प का कर्तृत्व नहीं रहा, पर्यायबुद्धि नहीं रही। द्रव्यदृष्टि में राग से भिन्न निर्मल परिणमन हुआ, वहाँ राग उस काल में होता है, परन्तु वह कर्तृत्व में से बाहर रह गया। उस काल में उसका ज्ञान रह गया परन्तु कर्तृत्व नहीं रहा। ऐसा द्रव्यदृष्टि का फल है। इसमें अपूर्व धर्म है।

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय का रहस्य! ठेठ अन्तरस्वभाव में दृष्टि गयी, तब क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति सच्ची हुई।

सर्वज्ञदेव ने देखा है, इसलिए क्रमबद्ध है—उसमें तो सर्वज्ञ का आधार देकर क्रमबद्ध की सिद्धि हुई।—यह न्याय तो बहुत बार कहा जा चुका है। अभी तो वस्तु के स्वभाव में ही ऐसा धर्म है कि उस उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वरूप धर्म के आधार से क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि हो जाती है, यह बतलाना है। आत्मा की शक्ति के आधार से ही उसकी पर्याय का क्रमबद्धपना सिद्ध हो जाता है।

ऐसा क्रमवर्तीरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभाव तो सभी द्रव्यों में है, जड़ में भी है, परन्तु अपने तो यहाँ आत्मा की बात अभी मुख्य लेनी है। वस्तु की उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति को ख्याल में लेने से यह बात ख्याल में आ जाती है। क्योंकि आत्मा की इस शक्ति का ही ऐसा कार्य है कि गुणों से अक्रमरूप और पर्यायों से क्रमरूप वर्ते।

आत्मा के अनन्त गुण सर्वज्ञ भगवान ने देखे, उसमें एक गुण उत्पाद-व्यय-ध्रुवता है। ध्रुवता अर्थात् अक्रम रहते गुण, और उत्पाद-व्यय अर्थात् क्रम-कम से होती पर्यायें। ऐसे गुण-पर्यायोंसहित उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाववाले आत्मा को दृष्टि में लेने से सम्यग्दर्शन होता है। आत्मा को अभेद दृष्टि में लिया, उसमें यह गुण (उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति) आ ही गया, इसलिए गुण का अक्रमवर्तीपना और पर्याय का क्रमवर्तीपना—ऐसी प्रतीति आत्मा की अनुभूति में समा ही गयी। उसके बिना आत्मा को माना ही नहीं कहलाता।

आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति त्रिकाल है। अब उसका कार्य क्या?—कि गुणों को अक्रमरूप रखना और पर्यायों को क्रमरूप प्रवर्ताना—ऐसा इस शक्ति का कार्य है। तीनों काल में वस्तु में ऐसा अक्रम और क्रमवर्तीपना है।

आत्मा में गुणअपेक्षा से सदृशता और पर्याय अपेक्षा से विसदृशता—ऐसा जो स्वभाव है, उसमें से भी यह बात निकलती है।

२१वीं अकर्तृत्वशक्ति में, विकारभाव का कर्तृत्व उपराम पा गया। उसकी बात है अर्थात् कि द्रव्यदृष्टि होने पर आत्मा विकार का अकर्ता हुआ; राग को जानने का रहा परन्तु उसका कर्तृत्व ज्ञान में नहीं रहा। ऐसी अकर्तृत्वशक्ति से आत्मा राग के अकर्तारूप से शोभित हो उठा। सम्यग्दर्शन होने से जो अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मद्रव्य प्रतीति में आया, उसके साथ उसकी ऐसी अकर्तृत्वशक्ति भी प्रतीति में आयी, अर्थात् राग का अकर्तापना प्रगट हुआ।—ऐसा अकर्तृत्वशक्ति का कार्य है। सम्यग्दर्शन होने पर सभी गुण स्वकार्य को करते हैं, निर्मलरूप से परिणमन शुरु होता है।

सम्यग्दृष्टि को राग का अकर्तृत्व कैसे हुआ?—कि आत्मा की अनुभूति में राग के अकर्तापनेरूप अकर्तृत्वशक्ति भी साथ अनुभूति में आ गयी है। इसलिए वहाँ राग का

कर्तृत्व रहा नहीं; राग के अकर्तारूप परिणमन हुआ है। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि होने से ऐसा अकर्तृत्वरूप निर्मलपर्याय का क्रम शुरु हुआ, वह दृष्टि का फल है। राग का कर्तृत्व आत्मा के किसी गुण में नहीं, इसलिए आत्मा की प्रतीति होने पर किसी गुण में राग के कर्तृत्वरूप परिणमन नहीं रहता। राग का ज्ञान भले रहे, परन्तु उसका कर्तृत्व नहीं रहता। द्रव्य-गुण में जो अकर्तृत्व था, वह अकर्तृत्व (स्वभावदृष्टि होने पर) पर्याय में भी व्याप्त हो गया, इसलिए पर्याय भी राग के अकर्तृत्वरूप होकर परिणमित हुई। इस प्रकार, धर्मी को राग के समय भी अकर्तृत्वशक्ति 'राग के कर्तृत्व से उपरामरूप' परिणम रही है, राग के अभावरूप स्वयं परिणमता है, इसका नाम 'ज्ञान आस्रवों से निवृत्त हुआ' ऐसा कहा जाता है। ऐसा कार्य हो, तब अकर्तृत्वशक्तिवाले आत्मा को जाना और अनुभव किया कहलाये। वहाँ धर्मी को व्यवहाररत्नत्रय के राग का भी कर्तृत्व और स्वामित्व नहीं रहता। उस-उस काल के व्यवहार को जानता है परन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता। रागरूप व्यवहार है, उसका अकर्ता हुआ, तब उसके व्यवहार को व्यवहार कहा।

इसमें स्व-स्वामित्वशक्ति का भी निर्मलकार्य आ गया। सम्यग्दृष्टि होने पर अपनी निर्मलपर्याय के स्वामित्वरूप से ही परिणमा है और रागादि के स्वामित्वरूप से नहीं परिणमा, ऐसा स्व-स्वामित्वसम्बन्धशक्ति का कार्य प्रगट हुआ।

ऐसे आत्मा के स्वभाव में जो आया, वह परभाव से निवृत्त हुआ, क्योंकि परभाव का कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा के अकर्तृत्वस्वभाव को जाने और राग का कर्तृत्व रहे, ऐसा नहीं होता। स्वभाव को जानने से पर्याय उस ओर उन्मुख होती है इसलिए रागादि परभावों से निवृत्ति होती ही है। पर्याय अन्तर्मुख होकर आत्मा को जाने और परभावों से निवृत्ति न हो, ऐसा होता ही नहीं। स्वभाव को जानने से ही राग का कर्तृत्व छूट जाता है और ज्ञान अपने स्वभाव में झुक जाता है, इसलिए निर्मल ज्ञान-आनन्द की पर्यायें प्रगट होती हैं।—ऐसा भेदज्ञान का फल है।

इसमें अकारण-कार्यत्वशक्ति का निर्मल कार्य भी आ गया। अन्तरस्वभाव की दृष्टि से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उसने पूरे आत्मा को अकारणकार्यस्वरूप जाना।

इसलिए पर्याय में से भी राग का कारणपना छूट गया तथा वह निर्मलपर्याय स्वयं राग का कार्य भी नहीं; राग को कारण बनाकर निर्मलपर्यारूप कार्य हुआ, ऐसा नहीं। इस प्रकार एक आत्मस्वभाव की प्रतीति और अनुभूति में उसके सर्व गुणों के निर्मल कार्य की प्रतीति साथ ही समाहित हो जाती है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति का विवेचन पूर्ण हुआ।

* * *

हे जीव!

तू परिवार के बिना रह सकेगा।

तू शरीर के बिना रह सकेगा।

तू राग के बिना रह सकेगा। (किन्तु)

तू ज्ञान के बिना नहीं रह सकेगा।

इसलिए—

कुटुम्ब, शरीर और राग से भिन्न ऐसे तेरे ज्ञानस्वरूप को तू पहिचान।

[१९]

परिणामशक्ति

द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः।

द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित (-स्पर्शित), सदृश और विसदृश जिसका रूप है, ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति।१९।

आत्मा का एक अस्तित्व, उत्पाद-व्यय और ध्रुव ऐसे तीन भावों से आलिंगित है। उत्पाद-व्यय और ध्रुवता ये तीनों भाव द्रव्य के स्वभावभूत हैं, तो फिर उसमें से कोई भाव पर के कारण कैसे हो?—होता ही नहीं। आत्मा में अकेला ध्रुवस्वभाव नहीं, परन्तु ध्रुवता तथा उत्पाद-व्यय ये तीनों, द्रव्य के स्वभावभूत भाव हैं। द्रव्य का अस्तित्व ही ऐसे तीन भावों स्वरूप है। उसमें से एक को माने और दूसरे को न माने तो सच्चा अस्तित्व ज्ञान में नहीं आता। स्वभावदृष्टि से देखने पर आत्मा विकार को स्पर्शता नहीं, परन्तु अपने निर्मल उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को ही स्पर्शता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। उसमें, द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्यव्ययोत्पाद से आलिंगित सदृश और विसदृश जिसका रूप है, ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है। देखो, एक शक्ति में कितने भाव भरे हैं! ध्रौव्य से आलिंगित ऐसा सदृशपना अर्थात् एकरूप रहनापना; और उत्पाद-व्यय से आलिंगित ऐसा विसदृशपना अर्थात् बदलनापना— ऐसे स्वरूप से अपना एक अस्तित्व रखे, ऐसी आत्मा की परिणामशक्ति है। आत्मा में अकेला ध्रुवस्वभाव नहीं, परन्तु ध्रुवता तथा उत्पाद-व्यय ये तीनों ही, द्रव्य के स्वभावभूत हैं, द्रव्य का अस्तित्व ही ऐसे तीन भावोंस्वरूप है। उसमें से एक को माने और दूसरे को न माने तो सच्चा अस्तित्व ज्ञान में नहीं आता।

प्रत्येक द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप सत्-स्वभाव में अवस्थित है, इसलिए वह सत् है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव, ये तीनों भाव द्रव्य के स्वभावभूत हैं, तो फिर उसमें से कोई भाव पर के कारण कैसे हो? वस्तु का जो स्वभाव ही है, वह पर के कारण कैसे हो? हो ही नहीं। आत्मा स्वयं द्रव्यरूप से एकरूप रहकर अपनी पर्याय के प्रवाहरूप से बहा करता है। जैसे पानी का दल पानीरूप से रहकर प्रवाहित हुआ करता है, वैसे अनन्त गुण का चैतन्यदल ऐसा यह आत्मद्रव्य द्रव्यरूप से सदृश रहकर अपनी पर्याय में प्रवाहित हुआ करता है। ऐसा उसका परिणामस्वभाव है। जहाँ वस्तु स्वयं परिणामस्वभावी है, वहाँ दूसरा उसे परिणमावे, यह बात कहाँ रही? वस्तु समय-समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को स्पर्श करती है। अनन्त गुणसहित भगवान आत्मा अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव में वर्तता है; ध्रुव अपेक्षा से सदृशता है और उत्पाद-व्यय अपेक्षा से विसदृशता है, क्योंकि उत्पाद-व्यय सदा एक सरीखे नहीं होते, परन्तु ध्रुव सदा एक सरीखा रहता है। ऐसे अपने सदृश और विसदृश भावों में निजशक्ति से वर्तता आत्मा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को स्पर्श करता है, परन्तु पर को स्पर्श नहीं करता। वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव पर के कारण से नहीं हैं, परन्तु वह तो वस्तु का स्वभाव ही है। वस्तु का स्वभाव पर के कारण से कैसे हो?

गुणों में सदृशता अर्थात् कि एकरूपता है और पर्यायों में विसदृशता अर्थात् कि विविधता है; ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। पर्याय में विविधता का होना, वह कहीं पर के कारण से नहीं है, तथा वह कोई दोष नहीं है। पर्याय की विसदृशता तो सिद्ध में भी

होती है। विसदृशता अर्थात् पर्याय एक ही सदा नहीं रहती और एक सरीखी ही नहीं रहती, परन्तु पुरानी पर्याय विनशती है और नयी पर्याय उपजती है, तथा वह पर्याय नये-नये प्रकार की हुआ करती है। ऐसा पर्याय की विसदृशता वस्तु के स्वभाव से ही है। वस्तु अपने स्वभाव से ही स्वपरिणामरूप से उपजती है, निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श किये बिना ही, अपने स्वभाव से ही निजपरिणामस्वरूप से वस्तु परिणमती है, यह बात समयसार गाथा ३७२ में आचार्यदेव ने स्पष्ट समझायी है।

पुनश्च, शुरुआत में तीसरी गाथा में भी कहा था कि सभी द्रव्य अपने द्रव्य में रहनेवाले अनन्त स्वधर्म के समूह को स्पर्श करते हैं—उसमें तन्मयरूप से रहते हैं, परन्तु कोई द्रव्य अन्य के द्रव्य को स्पर्शता नहीं—तन्मय नहीं होता; परस्पर एक क्षेत्र में रहने पर भी कोई द्रव्य अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। पर से अत्यन्त भिन्नरूप से अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव में ही प्रत्येक द्रव्य सदाकाल वर्तता है।

यहाँ आत्मा की शुद्ध शक्ति के वर्णन में कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव में दृष्टि करने से भगवान आत्मा विकारभावों को भी स्पर्शता नहीं; अपने निर्मल उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को ही स्पर्शता है। निर्मल उत्पाद-व्यय-ध्रुव में वर्तना, वह परिणामशक्ति का सच्चा कार्य है। भाई! जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही तू है; सिद्ध के और तेरे आत्मवैभव में किंचित् भी अन्तर नहीं है। ऐसे स्वभाव के सन्मुख होकर निर्मलभावरूप से उत्पाद पा तो तेरी पर्याय में भी सिद्धपना प्रगट होगा।

* * *

(पौष शुक्ल १० : वीर संवत् २४९१)

आत्मा के अनन्त स्वभावों में एक ऐसा स्वभाव है कि जिससे वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमनसहित है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव ऐसे तीन भावों से आलिंगित होने पर भी वस्तु का अस्तित्व तो एक ही है। कहीं तीन पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं हैं। ऐसी वस्तु सदृश और विसदृशरूप अपने स्वभाव से उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वर्तती है। ध्रुवता और क्षणिकता, ये दोनों स्वभाव एक वस्तु में रहे हुए हैं। सत् में समय-समय का जो उत्पाद है, वह वस्तु के स्वभाव से ही है, दूसरा कोई उसका कारण नहीं है। जैसे वस्तु

का ध्रुवभाव किसी दूसरे के कारण से नहीं है, परन्तु वस्तु के स्वभावभूत है, इसी प्रकार उसके परिणामों का प्रवाह (उत्पाद-व्यय) भी किसी दूसरे के कारण से नहीं है, परन्तु वस्तु के स्वभावभूत है।

आत्मा के जो उत्पाद-व्यय-ध्रुव हैं, वे ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से भरपूर हैं। स्व के लक्ष्य से जो निर्मल परिणाम होते हैं, उनकी यहाँ बात है। क्योंकि ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित किया गया अनन्त धर्म के समूहवाला जो आत्मा प्रसिद्ध हुआ है, उसका यह वर्णन है। निर्मलपर्याय में परिणमता ज्ञान अपने सामर्थ्य द्वारा विकल्प को और संयोगों को भी जान लेता है। जो ऐसे ज्ञानपरिणाम वर्तते हैं, वे पूरी वस्तु को साथ रखकर वर्तते हैं, परिणाम से वस्तु पृथक् नहीं रह जाती; इसलिए 'परिणाम' को वस्तु का सर्वस्व कहा है। वस्तु की प्रसिद्धि परिणाम द्वारा होती है। द्रव्य के परिणमन में एकसाथ अनन्त गुण का परिणमन समाहित है, परन्तु द्रव्य-गुण में और उसके निर्मल परिणमन में राग का अभाव है। अनेकान्तस्वभावी भगवान आत्मा अपनी निर्मलपर्याय में डोल रहा है। निर्मल ज्ञानतरंगों में अद्‌भुत चैतन्य-रत्नाकर उल्लसित हो रहा है। अन्तर्दृष्टि से ऐसा परिणमन हो, वह मोक्षमार्ग है; उसमें आत्मा प्राप्त होता है, इसके अतिरिक्त बाहर के किसी भाव में आत्मा प्राप्त नहीं होता।

अहा! अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु आत्मा स्वयं, परन्तु अन्तर में नजर करने के आलस्य से स्वयं अपने निधान को देखता नहीं। जिसमें नजर डालते ही निधान मिले और निहाल हुआ जाए, ऐसे निज अनन्त गुणवैभव को देखते ही आनन्द होता है। परन्तु अपने आत्मवैभव को भूलकर बाह्य वैभव की लालसा से जीव दुःखी हो रहा है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि भाई! दुःख तेरा स्वभाव नहीं है; भगवान आत्मा दुःख को और राग को स्पर्श न करे, ऐसे स्वभाववाला है। अपने आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों के निर्मल उत्पाद-व्यय-ध्रुव को स्पर्श करे अर्थात् कि उसरूप परिणमे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। रागस्वरूप और दुःखस्वरूप ही जो अपने को मानता है, उसे आनन्दस्वभावी आत्मा अनुभव में नहीं आता। और यदि अन्तर्मुख होकर आत्मा को अनुभव में ले तो उसमें राग और दुःख नहीं रहते।

हे जीव! ऐसा चैतन्यस्वरूप तेरा आत्मा ही है, वही तुझे शरणरूप है; इसके

अतिरिक्त दूसरा कहीं कोई तुझे शरणरूप नहीं। अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमे, तब स्वसत्ता का स्वीकार किया कहलाये। मात्र पर के सन्मुख रहकर स्वभाव का सच्चा स्वीकार नहीं हो सकता। मेरे परिणाम पर से नहीं और स्व से है, ऐसा वास्तव में स्वीकार करनेवाले के परिणाम स्वसन्मुख होना चाहिए, तब ही सच्चा स्वीकार किया है। परसन्मुख परिणमा करे, उसे अपने परिणाम की स्वतन्त्रता की अर्थात् कि स्वाश्रित परिणाम की खबर नहीं है। 'निजस्वभाव के सन्मुख हुए बिना उसका सच्चा निर्णय नहीं होता।' अर्थात् विकल्प में खड़े रहकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं होता—यह महा सिद्धान्त है। उसमें ज्ञान की और विकल्प की पृथक्ता प्रसिद्ध होती है।

यह परमेश्वर के घर में प्रवेश करने की बात है, अर्थात् कि आत्मा का अनुभव करने की यह बात है। परमेश्वर का घर वीतराग है, राग द्वारा उसमें प्रवेश नहीं होता, अर्थात् कि राग द्वारा वह अनुभव में नहीं आता। 'मैं परमेश्वर हूँ' ऐसे स्वसंवेदनसहित स्वीकार बिना परमेश्वर के घर में प्रवेश नहीं होता; स्वसंवेदन, वह परमात्मा के घर का प्रवेशद्वार है। 'मैं रागी हूँ' ऐसे वेदन द्वारा परमात्मा के घर में प्रवेश कहाँ से होगा?

आत्मा अनन्त गुणस्वभाववाला है—ऐसा स्वीकार करनेवाले की दृष्टि कहाँ है? उसकी दृष्टि पर में नहीं, राग में नहीं, क्योंकि पर के ऊपर और राग के ऊपर दृष्टि रखकर अनन्त गुण-स्वभाव का स्वीकार नहीं हो सकता; अनन्त गुणस्वभाव को स्वीकार करनेवाली दृष्टि तो स्वसन्मुख झुकी हुई है, क्योंकि स्वसन्मुखता द्वारा ही उस स्वभाव का सच्चा स्वीकार होता है और दृष्टि स्वसन्मुख होने से पर्याय भी निर्मल ज्ञाताभाव से परिणमने लगी, उसमें विकल्प का कर्तृत्व नहीं रहा। आत्मशक्ति के वैभव का स्वीकार करने से ऐसा फल आता है।

अरे जीव! तेरे चैतन्यघर की तुझे खबर न पड़े और पराश्रय से धर्म होने की बातें तू करे, उसमें कहीं तेरे आत्मा की निर्मलता का लाभ तुझे नहीं होगा। पर्याय में अपने आत्मा का प्रगट लाभ यदि न हो तो चाहे जो क्रिया या जानपना किस काम का? आत्मा की निर्मलता का जिसमें लाभ हो, वही सच्चा ज्ञान और वही सच्ची क्रिया है, और वही सच्चा धर्म है। अपने को अपने आत्मा की प्रगट प्राप्ति हो और अनुभव से अपने को उसकी खबर पड़े, तब आत्मा को वास्तव में जाना और माना कहलाये।

आत्मा में एक साथ अनन्त शक्तियाँ हैं, उसमें से कोई भी एक शक्ति का अभाव होने से पूरे आत्मा का ही अभाव हो जायेगा। आत्मा में यदि परिणामशक्ति न हो तो उसके सभी गुण उत्पाद-व्यय-ध्रुवता बिना के हो जायेंगे, इसलिए उनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा, आत्मा का ही अस्तित्व न रहे, यदि आत्मा में ज्ञानशक्ति न हो तो सभी गुण जड़ हो जाये, आत्मा का चेतनपने अस्तित्व ही न रहे। इस प्रकार एक-एक शक्ति पूरे आत्मा को जिलाती है। 'अनेकान्त' आत्मा को जिलाता है, 'अनेकान्त' वह आत्मा का जीवन है। अनेकान्त अर्थात् अनन्त धर्म, उनमें से एक भी धर्म निकाल दो तो आत्मा ही जीवित नहीं रहता, अर्थात् कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप सिद्ध नहीं होता, उसकी श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते अर्थात् मिथ्यात्वरूपी भावमरण होता है। उससे बचने का और आत्मा का सच्चा जीवन प्राप्त करने का उपाय वीतरागी सन्तों ने प्रसिद्ध किया है; सन्तों ने अनेकान्तस्वभाव से आत्मा को प्रसिद्ध किया है।

अनेकविध संयोगों और विभावों के मध्य में रहने पर भी भगवान आत्मा उनसे भिन्नरूप से रहा है। जैसे 'भगवान' नाम का कोई व्यक्ति भीड़ के बीच रहा है, उसका अर्थ यह कि भीड़ में सबके बीच वह पृथक् रहा है; उसी प्रकार यह ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा जगत के संयोगों और परभावों के बीच खड़ा हुआ होने पर भी उनमें दब नहीं गया—मिल नहीं गया; वह तो उन सबसे पृथक् का पृथक् रहकर अपनी अनन्त शक्ति में ही तन्मयरूप से परिणम रहा है। ज्ञानी की परिणति में रागादि व्यवहार भले हो परन्तु उससे पृथक् शुद्ध-परिणमन उसे वर्तता है; वह शुद्धता में तन्मय है और राग में तन्मय नहीं। शुद्धता में भी तन्मय परिणमे और राग में भी तन्मय परिणमे—ऐसे एकसाथ दो में तन्मयता नहीं होती। स्वभावसन्मुखी उत्पाद-व्यय में निर्मलता है, उसमें राग की तन्मयता नहीं। राग ज्ञेयरूप से रहता है और उसका ज्ञान स्वकाल में समाता है। राग, वह चैतन्य का वास्तविक स्वकाल नहीं, वह तो परकाल है—परपरिणति है। ज्ञान और राग—समय दोनों का एक ही, क्षेत्र दोनों का समान, तथापि एक स्वकाल में और दूसरा परकाल में,—कितना सूक्ष्म भेदज्ञान! यह तो अलौकिक वीतरागी-विज्ञान है।

यह चैतन्यराजा ज्ञानचिह्नवाला है। जैसे राजा को राजारूप से देखे तो उसे राजा को पहिचानना कहलाता है, परन्तु राजा को भिखारीरूप से देखे तो उसने राजा को

पहिचाना नहीं कहलाता। उसी प्रकार इस चैतन्यराजा को जो पामर-विकारी-रागी-संयोगवाला माने, उसने वास्तव में चैतन्यराजा को पहिचाना नहीं; चैतन्यराजा तो स्वाधीनरूप से अनन्त निर्मल गुणों के वैभव का स्वामी है। उसे उस स्वरूप से पहिचाने तो ही चैतन्यराजा को पहिचाना कहलाता है। जैसे राजा को भिखारी मानना, वह राजा का अपमान है, उसी प्रकार चैतन्यराजा को रागी मानना, वह उसका अपमान है। भाई! राग, वह कहीं चैतन्य का राजचिह्न नहीं है। यदि तू रागचिह्न द्वारा आत्मा को पहिचानता हो तो तूने आत्मा को पहिचाना ही नहीं। चैतन्यचिह्न द्वारा पहिचानने में आवे, ऐसा आत्मा है। चैतन्यराजा को राग का मुकुट पहनाना (राग का कर्तृत्व उसके सिर डालना) वह तो राजा को जूते का मुकुट पहनाकर उसका अपमान करने के समान है। रागरहित चैतन्यराजा अपने अनन्त निर्मल गुण-पर्याय के परिणाम में शोभता है, उसे पहिचानकर आदर करे, उसने आत्मा को पहिचाना कहा जाता है और उसे राग का आदर नहीं रहता।

स्फटिक जैसा निर्मल चैतन्यमूर्ति आत्मा है, वह रागरहित शुद्धरूप से परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव है। उसने अपने शुद्धस्वरूप को कभी छोड़ा नहीं और राग को निजस्वरूप से कभी ग्रहण नहीं किया। भूतार्थस्वभाव में दृष्टि करके जब देखे, तब आत्मा ऐसा ही है। ऐसे स्वभाव को दृष्टि में ले, तब ही आत्मा को देखा कहलाता है। तब ही आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है और तब ही सच्चे आत्मा को माना कहलाता है। वहीं से धर्म की और मोक्षमार्ग की शुरुआत है।

प्रवचनसार गाथा ९, १०, ९९, १०० इत्यादि में द्रव्य को परिणामस्वभावी कहा है; प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामस्वभाव में वर्त रहा है; वहाँ तो छहों द्रव्यों की बात है। समस्त द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जो परिणामस्वभाव, उस स्वभाव में रहे हुए हैं और इससे वे सत् हैं। सत् कहो या उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणामस्वभाव कहो, उसके बिना कोई द्रव्य होता नहीं। जगत के सभी पदार्थ अपने सत्स्वभाव में रहे हुए हैं, इसलिए वे पर से पृथक्रूप से अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणाम में वर्तते हैं। उसमें तो विकार या अविकार, जड़ या चेतन चाहे जो परिणाम लिये जाते हैं, उस परिणाम में वस्तु वर्तती है।

और यहाँ, समयसार में शुद्ध आत्मशक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि

ज्ञानस्वभाव में दृष्टि करने से ज्ञानमात्रभाव के जो निर्मल परिणाम हुए, उन निर्मल परिणाम में ही आत्मद्रव्य वर्तता है। यहाँ जो उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणाम लिये, उसमें निर्मल परिणाम ही आते हैं, उसमें विकार नहीं आता, क्योंकि विकार में वर्ते, उसे यहाँ आत्मद्रव्य नहीं कहते; यहाँ तो ज्ञानलक्षण जिसे प्रसिद्ध करे, ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्य की बात है, इसलिए ज्ञानादि निर्मल परिणाम ही उसमें आते हैं, विकार परिणाम उसमें नहीं आते। आत्मा ऐसी दैवीशक्ति का धारक देव है, उस देव को दृष्टि में लिये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अविचलदृष्टि, अर्थात् रागादि के साथ एकतारूप चलायमानपना जिसमें नहीं, रागादि परभावों से जो पृथक् की पृथक् रहती है, ऐसी अविचलदृष्टि स्थापित कर आत्मा को देखने से अर्थात् कि अनुभव में लेने से आत्मा अपने निर्मल उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप ज्ञानपरिणाम में ही रहा हुआ है। ऐसा आत्मा परिणाम की एकाग्रता द्वारा पकड़ में आता है। अन्यत्र सभी से लक्ष्य हटाकर आत्मा के स्वभाव में लक्ष्य एकाग्र करे, तब वह अनुभव में, श्रद्धा में और ज्ञान में आता है।

परिणामशक्ति में उत्पाद-व्यय-ध्रुव समाहित होते हैं। अपनी चैतन्यशक्ति में व्यापकर, अर्थात् चैतन्य के साथ रहनेवाली अनन्त शक्तियों में व्यापकर उत्पाद-व्यय-ध्रुवपने परिणमता आत्मा सदृश-विसदृशरूप अपने सत्स्वभाव में वर्तता है। सत्स्वभाव सदृश-विसदृशरूप अपने सत्स्वभाव में वर्तता है। सत्स्वभाव सदृश और विसदृश दोनों स्वरूपवाला है। सदृशता में ध्रुव और विसदृशता में उत्पाद-व्यय, इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव उसमें समाहित होते हैं। यह सब एक आत्मा में एक समय में समाहित होते हैं। विस्तार करो तो अनन्त भावों का पार नहीं और समेटो तो ये सब भाव एक अभेद-अनुभव में समा जाते हैं।—ऐसा अचिन्त्य आत्मवैभव है।

अरे जीव! तेरे आत्मवैभव को जानने के लिये तेरे उपयोग को चतुर कर। 'कठिन है—कठिन है' ऐसा कहकर उसमें उकताहट न कर। तू संसार के कार्य में चतुर और आत्मा के कार्य में मूर्ख रहता है, वह तेरी विपरीतता है। जिसे जानने से आनन्द हो, उसे तो जानता नहीं और संसार की चतुराई, कि जिसमें कुछ सुख नहीं, जिसमें अकेला

दु:ख और आकुलता है, उसमें तू उत्साह और चतुराई बताता है तो तेरी रुचि संसार की ओर है, तुझे आत्मा के स्वभाव की रुचि नहीं, इसलिए परपरिणाम तुझे सुगम लगते हैं और स्वपरिणाम को तू दुर्लभ मानता है।—यह बात अनुभवप्रकाश में की है।

परिणामशक्तिवाले आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुव के तीन पृथक्-पृथक् परिणाम नहीं, परन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुव की एकतास्वरूप परिणाम है, एक-एक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रुव ऐसे तीन भावों सहित है। ऐसे परिणामस्वभाव में वस्तु रही हुई है। वस्तु का ऐसा स्वभाव शाश्वत् है। ऐसा स्वभाव छहों द्रव्यों में है, यह बात प्रवचनसार में बतायी है। और यहाँ ४७ शक्ति में आत्मा का जो परिणामस्वभाव लिया, उसमें इतनी विशेषता है कि विकारपरिणाम उसमें नहीं आते; निर्मल परिणाम ही उसमें आते हैं। प्रवचनसार में छहों द्रव्यों का जो परिणाम-स्वभाव बतलाया है, उसके ज्ञान का फल भी यही है कि अपने में निर्मल परिणाम उत्पन्न हों; क्योंकि वस्तुस्वभाव के सम्यक् ज्ञान का फल वीतरागता है। इसलिए वहाँ जो ज्ञान कराया, उसका फल भी वीतरागता ही है और यहाँ परिणामशक्ति द्वारा आत्मा का जो स्वरूप बतलाया है, उसका फल भी वीतरागता ही है।—इस प्रकार सभी शास्त्रों का तात्पर्य एक ही है। कथनशैली में विवक्षा अलग-अलग होती है। वहाँ ज्ञानप्रधानशैली से प्रमाण का कथन है, इसलिए छहों द्रव्य के सभी परिणाम की बात है और यहाँ शुद्धदृष्टि की प्रधानता से शुद्ध आत्मा का कथन है, इसलिए इसमें आत्मा के शुद्धस्वभाव की ही बात है।

ज्ञानलक्षण से लक्षित जो आत्मवस्तु है, वह अपने शुद्ध उत्पाद-व्यय-ध्रुव को स्पर्श करती है; पर को तो नहीं और विकार को भी वह स्पर्श नहीं करती। यदि निर्मल स्वभाव मलिनभाव को स्पर्श करे, तब तो दोनों एक हो जायें। भाई! तेरा निर्मल स्वभाव विकार से पृथक् का पृथक् ही है। तुझे शुद्ध आत्मा का अनुभव करना है न!—तो विकार साथ में मिलाकर शुद्ध आत्मा को अनुभव नहीं किया जा सकता। शुद्ध आत्मा को श्रद्धा में और ज्ञान में लिये बिना तू स्थिर कहाँ होगा? उपयोग को किसमें लीन करेगा? क्या राग में स्थिर होगा? विकार में स्थिर होगा? वह तो अस्थान है, अपद है, वह कहीं ज्ञानलक्षणवाले भाव नहीं हैं, वह तेरा स्थिर होने का स्थान नहीं है। तेरा स्थिर होने का स्थान तो वह है कि जो ज्ञानलक्षणवाला है; ज्ञानलक्षण से जो लक्षित है, वही

तेरा निजपद है। अनन्त गुणों से परिपूर्ण निर्मलभाव में परिणमता जो आत्मा, वही तेरा स्थिर होने का स्थान है, वही आनन्द का धाम है। ऐसे आत्मा को दृष्टि में और अनुभव में लेकर उसमें स्थिर होने से चारित्रदशारूप मुनिपना होता है। इस प्रकार आत्मा के स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसमें स्थिर होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग होता है और केवलज्ञानरूप आत्मवैभव खुलता है।

भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द से भरपूर प्रभु, जिसके सन्मुख होकर स्वानुभव करने से आनन्द प्रगट होता है, उसके अस्तित्व में विकार का—उदयभाव का अस्तित्व नहीं; वह तो उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभावरूप निर्मल भावरूप से ही परिणम रहा है; उदयभाव, वह उसके स्वभाव की जाति नहीं है। आत्मशक्तियाँ त्रिकाल पारिणामिक -स्वभाव से है और क्षायिकादि निर्मलभाव उसके परिणाम हैं। ऐसे परिणामस्वभावी आत्मा को पहिचानने से निर्मलपर्याय के उत्पादरूप वह परिणमता है। यह पहिचान का फल है, वह धर्म है और वह मोक्ष का मार्ग है।

परिणामशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

रे जीव! तुझे मोक्षमार्गी होना है न! तो संसारमार्गी जीवों से मोक्षमार्गी जीवों के लक्षण एकदम अलग होते हैं। इसलिए प्रतिकूलता इत्यादि प्रसंग आने पर तू संसारी जीवों की भाँति नहीं वर्तना, परन्तु मोक्षमार्गी धर्मात्माओं की प्रवृत्ति लक्ष्य में लेकर उस प्रकार से वर्तना। मोक्षमार्ग में दृढ़ रहना... मोक्षमार्गी धर्मात्माओं के जीवन को आदर्शरूप रखना।

[२०]

अमूर्तत्वशक्ति

कर्मबन्धव्यपगमव्यञ्जितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्व-शक्तिः।

कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादिशून्य (-स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से रहित) ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति।२०।

चैतन्यमूर्ति आत्मा तो अमूर्त है और शरीर तो मूर्त है; अभी भी दोनों के लक्षण भिन्न ही हैं। इस प्रकार लक्षणभेद द्वारा भिन्नता जानकर हे जीव! तू मूर्त शरीर का पड़ोसी हो जा... जैसे सिद्धप्रभु अमूर्त, वैसा ही तू भी अमूर्त है, इसलिए मूर्त शरीर की चेष्टाओं से भिन्न ऐसी तेरी चैतन्यचेष्टा को जान। इन्द्रियादि मूर्त पदार्थ, वे कहीं तेरे सहायक नहीं हैं। विज्ञानघन आत्मा मृतककलेवर में मूर्च्छित हो जाता है, यह उसे शोभा नहीं देता।

अमूर्तिक ज्ञानस्वरूप आत्मा जब अपने ज्ञानस्वभाव का भान करके शुद्ध चैतन्यभावरूप परिणमता है, तब समस्त कर्मों का अभाव होकर सिद्धदशा प्रगट होती है, वहाँ साक्षात् अमूर्तपना व्यक्त होता है। संसारदशा में कर्म और शरीर के सम्बन्ध से मूर्तपने का जो व्यवहार था, वह अब रहता नहीं; मूर्त के सम्बन्धरहित, स्पर्शादिरहित मात्र अरूपी असंख्यप्रदेशी चैतन्यबिम्ब आत्मा है। प्रत्येक आत्मा का ऐसा अमूर्त स्वभाव है। सिद्धदशा होने पर तो साक्षात् अमूर्तपना प्रगट होता ही है, परन्तु अभी भी ज्ञानस्वरूपी आत्मा सिद्ध जैसा अमूर्तस्वभावी ही है। कर्म के सम्बन्ध के समय भी (अर्थात् कि व्यवहार से मूर्तपना होने पर भी) उसी समय शुद्धदृष्टि से धर्मी जीव अपने आत्मा को कर्मसम्बन्धरहित अमूर्त अनुभव करता है। ज्ञानमात्रभाव तो अमूर्त ही है, 'ज्ञान' में और मूर्तिकपना कैसा?

मुमुक्षु : सिद्ध होते हैं, तब आत्मा अमूर्त होता है, परन्तु अभी संसारदशा के समय आत्मा को अमूर्त नहीं कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं है; भाई! अभी भी आत्मा अपने अमूर्तस्वभाव से ही परिणम रहा है। आत्मा अमूर्त मिटकर कभी मूर्त होता नहीं। धर्मी अपने ज्ञानमात्र आत्मा को अमूर्तरूप से ही अनुभव करता है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहना और फिर मूर्त कहना, यह कैसे बने? 'ज्ञान' और 'मूर्तपना' ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। एक ही वस्तु में ये दोनों साथ में नहीं रह सकते; अनन्त शक्तिस्वरूप ज्ञानमात्र आत्मा में देह का तथा कर्म का अभाव ही है। इसलिए वह अमूर्त ही है। यदि अभी वह मूर्त हो तो सिद्ध में वह अमूर्त कहाँ से हो जाये? संसार में जीव को मूर्त कहा है, वह उपचार से ही कहा है, वास्तव में मूर्त नहीं है। अभी साधकदशा के समय ही धर्मी को अपना आत्मा कर्मबन्ध से भिन्न अमूर्त ज्ञानमात्ररूप से प्रगट अनुभव में आता है। कोई सिद्धदशा हो, तब की ही यह बात नहीं है, परन्तु आत्मा ज्ञानमात्ररूप से जब-जब लक्षित होता है, तब-तब वह अमूर्तस्वभाव से लक्षित होता है। 'ज्ञानमात्र' में मूर्त का अभाव है।

ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा रागवाला भी नहीं, तो कर्म के सम्बन्धवाला है, यह बात कहाँ से आयी? अभी ही शुद्धनय से देखने पर आत्मा कर्म के सम्बन्धरहित

अबद्ध-अस्पृष्ट दिखाई देता है। जिसमें राग का भी सम्बन्ध नहीं, उसमें फिर मूर्तपना कैसा? भाई! तेरा आत्मा अभी ऐसा ही है, उसे तू धीर होकर (आकुलता बिना) तेरे अन्तर में देख। ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसा है, उसकी यह बात है। जीव जब राग और कर्म के सम्बन्धरहित अपने स्वभाव में दृष्टि करके परिणमित हुआ, तब आत्मा अमूर्तरूप से उसके अनुभव में आया। इस प्रकार वर्तमान में ही ऐसा अमूर्त आत्मा धर्मी के अनुभव में व्यक्त होता है—उसकी यह बात है। अन्तर्मुख होकर ऐसे आत्मा को अनुभव करे, तब ही वास्तव में जैनशासन को जानना कहलाये और तब ही अमूर्त आत्मा को जानना कहलाये। देह की क्रिया मैं करता हूँ अथवा देह की क्रिया से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा माननेवाले ने आत्मा को वास्तव में जाना नहीं, उसने तो आत्मा को मूर्त के साथ एकमेक माना है। आत्मा को और अनात्मा को, अर्थात् कि जीव को और शरीर को एकत्व कभी हो नहीं सकता।

कर्म के सम्बन्धरहित आत्मस्वभाव को देखता नहीं—अनुभव में लेता नहीं और मात्र कर्म के सम्बन्धवाले अशुद्धभावरूप ही आत्मा को अनुभव करता है, उसे शुद्ध आत्मा की खबर नहीं, अर्थात् कि सच्चे आत्मा की उसे खबर नहीं परन्तु वह अनात्मा को आत्मा मानता है। आत्मा को शुद्धरूप से देखे बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। यह बात समयसार की गाथा १४-१५ में अद्भुत रीति से समझायी है। भाई! आत्मा अभी शुद्धनय से कर्मबन्धरहित है और पर्याय को अन्तर्मुख करने से ऐसे स्वरूप से आत्मा अनुभव में आता है। ऐसे अनुभवरूप से आत्मा परिणमित हुआ, तब आत्मा आत्मारूप से प्रसिद्ध हुआ। रागादि को तो मूर्त भी कहा है, वे अमूर्त-आत्मस्वभाव से भिन्न हैं और मूर्तकर्म के सम्बन्ध से हुए हैं, इसलिए उन्हें मूर्त कहा है, और अवधिज्ञान के मूर्त विषय में गिने हैं। भगवान आत्मा को स्वभावदृष्टि से देखो तो, अभी कर्मसम्बन्ध के बीच रहने पर भी वह अपने अमूर्तस्वभाव से ही परिणमता है। अमूर्तपना उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में हैं; और वही आत्मा है; मूर्त और मूर्त के सम्बन्ध से हुए विकारी भाव, वह वास्तव में आत्मा नहीं है। अभी द्रव्य-गुण अमूर्त और पर्याय मूर्त—ऐसा कुछ नहीं। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से एकाकार आत्मा अमूर्तरूप से अनुभव में प्रसिद्ध होता है। मूर्त ऐसे देह के सामने (अथवा रागादि के सामने) देखने से अमूर्त आत्मा की वास्तविक

पहिचान नहीं होती। अभी आत्मा को मूर्त माने और बाद में अमूर्तपना (सिद्धदशा) प्रगट हो, ऐसा नहीं बनता। अमूर्तस्वभाव है, उसके स्वीकार से ही साक्षात् अमूर्तपना प्रगट होता है और पर्याय में से कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है। अभी आत्मा कर्म के सम्बन्धवाला है—देहवाला है—मूर्त है—विकारी है, ऐसा ही अनुभव किया करे तो शुद्ध आत्मा अनुभव में कब आयेगा?

प्रश्न — गोम्मटसार इत्यादि में तो जीव को मूर्त भी कहा है न?

उत्तर — अशुद्धपर्याय में जीव को मूर्तकर्म के साथ निमित्तसम्बन्ध है, इसलिए उपचार से ही उसे मूर्त कहा है, तथापि निश्चय से जिसका स्वभाव सदा ही अमूर्त है और उपयोग गुण द्वारा अन्य समस्त द्रव्यों से जिसकी अधिकता है, ऐसे जीव को वर्णादि मूर्तपना किंचित् भी नहीं है। समयसार गाथा ६२ में, वर्णादिक के साथ जीव का तादात्म्य माननेवाले को कहते हैं कि—हे मिथ्या अभिप्रायवाले! यदि तू ऐसा मानता है कि यह वर्णादिक सर्व भाव जीव ही हैं अर्थात् जीव मूर्त ही है, तो तेरे मत में जीव और अजीव में कुछ भेद ही नहीं रहता।

और यदि तू ऐसा कहे कि संसारी जीव को ही वर्णादिक के साथ तादात्म्यपना है अर्थात् कि संसारी जीव मूर्त हैं, तो भी संसार में स्थित सभी जीव रूपी हो जायें; और रूपी तो पुद्गल होता है, जीव नहीं होता। इसलिए हे मूढमति! तेरी मान्यता में तो पुद्गल, वही जीव सिद्ध हुआ; इसलिए मोक्ष भी पुद्गल का ही हुआ; इसलिए हे भाई! तू न्याय से समझ कि अरूपी ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा को सिद्धदशा में या संसारीदशा में कभी मूर्तपना नहीं है, वह सदा अमूर्तस्वभावी ही रहा है। देहादि मूर्तवस्तु के संयोग में रहा, इसलिए कहीं वह मूर्त नहीं हो गया। जगत में छहों द्रव्य एकक्षेत्र में सदा इकट्ठे रहने पर भी कोई भी द्रव्य अपने स्वधर्म को छोड़ता नहीं और अन्य के धर्मरूप होता नहीं, ऐसी ही वस्तुस्थिति है। अमूर्तशक्ति का कार्य भी अमूर्त है; आत्मा के अमूर्तत्त्व गुण ने पूरे आत्मा को अमूर्त अर्थात् कर्म के सम्बन्धरहित रखा है। ऐसे स्वभाव से आत्मा को पहिचानना, वही उसकी सच्ची पहिचान है।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा स्वभाव से अमूर्त ही है; उसके उत्पाद-व्यय अमूर्त है,

उसके गुण-पर्यायें अमूर्त हैं; उसके स्वभाव में मूर्त का स्पर्श नहीं, कर्म का स्पर्श नहीं। ऐसा ज्ञानमूर्ति आत्मा अमूर्तपने शोभित हो रहा है। 'ज्ञानमात्रभाव' में अमूर्तपना साथ ही समाहित होता है, परन्तु ज्ञानमात्रभाव में मूर्तपना इकट्ठा समाहित नहीं होता। ज्ञानमात्र में कर्म का सम्बन्ध कहीं आता नहीं, अथवा देहादि की क्रिया आती नहीं। अमूर्त आत्मा मूर्त की क्रिया को कैसे करे? ऐसा आत्मा दृष्टि में और अनुभव में लिये बिना धर्म नहीं होता, अर्थात् आत्मवैभव की प्रसिद्धि नहीं होती। 'आत्मवैभव कैसे प्रसिद्ध हो' यह बात इस 'आत्मख्याति' में बतलायी है।

आत्मा के ज्ञान के साथ अविनाभावी धर्मों का यह वर्णन है। क्या ज्ञान के साथ मूर्तपना होता है?—नहीं; ज्ञान के साथ तो अमूर्तपना होता है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहे और फिर उसमें कर्म का सम्बन्ध और मूर्तपना माने तो उसने वास्तव में आत्मा को ज्ञानमात्र नहीं जाना। ज्ञानमात्र आत्मा में जैसे दुःख नहीं, वैसे ज्ञानमात्र आत्मा में मूर्त का सम्बन्ध नहीं। ज्ञानमात्र वस्तु स्पर्शादि रहित ही है। ज्ञान के साथ का जो स्ववीर्य है, वह अमूर्तपने को रचता है, वह कहीं मूर्त के सम्बन्ध को रचता नहीं। इस प्रकार ज्ञान के साथ सभी गुण अमूर्तभाव से वर्त रहे हैं। ज्ञानशक्ति से पूरा आत्मा ज्ञानमात्र है, वैसे अमूर्तत्वशक्ति से पूरा आत्मा अमूर्त है, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अमूर्त हैं, उसमें मूर्त का सम्बन्ध कैसा?—और मूर्त कर्म का सम्बन्ध होने के कारणरूप विभाव भी उसके स्वभाव में कैसा? अरे! अशरीरी चैतन्यबिम्ब अरूपी आत्मा को मूर्तशरीर के सम्बन्ध से पहिचानना, वह तो शर्म है—कलंक है। अपनी अनन्त चैतन्यशक्ति में भगवान आत्मा ने मूर्तपने को कभी ग्रहण ही नहीं किया। उपचार से कहीं मूर्त कहा हो परन्तु वह उपचार की बात यहाँ स्वभाव में लागू नहीं पड़ती। यहाँ तो स्वभाव पर दृष्टि करके आत्मा शुद्धरूप परिणमे और उसमें उपचार का अथवा पर के सम्बन्ध का अभाव हो जाये, ऐसी बात है।

पंचास्तिकाय इत्यादि में आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय अमूर्त कहे हैं, पुद्गल के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अमूर्त हैं—ऐसा कहा है। वहाँ तो राग-द्वेषादि विकारी परिणाम भी उस अमूर्तपने में समाहित होते हैं। और यहाँ आत्मा का जो अमूर्तस्वभाव कहा, उसमें यह विशेषता है कि रागादि विकारभाव उसमें नहीं आते। ज्ञानलक्षण से लक्षित जो

अमूर्तस्वभाव है, वह यहाँ बतलाया है; इसलिए उसमें पुण्य-पापरहित निर्मल अमूर्तपना ही आता है; विकार इस अमूर्तपने में समाता नहीं, क्योंकि वह 'ज्ञानलक्षण से लक्षित' नहीं है।

आत्मा के चैतन्य मन्दिर में विराजमान अनन्त शक्तिरूपी देवी का यह वर्णन है। एक-एक शक्ति दिव्य शक्तिवाली देवी है। परन्तु निजशक्ति को भूलकर मूर्ख जीव पर को ही भज रहे हैं। भाई! तेरी एक-एक शक्ति में महान सामर्थ्य है, उसे पहिचानकर उसे भज। कर्म के सम्बन्ध को तोड़ने की शक्ति तुझमें है। कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, वह व्यवहार है, शुद्धस्वभाव की दृष्टि में उस सम्बन्ध का स्वीकार नहीं; उसमें तो शुद्धता का ही स्वीकार है। शुद्धस्वभाव की दृष्टि से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उसे भी कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है; भावबन्ध का भी सम्बन्ध उस निर्मल पर्याय में नहीं है। शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय, वही आत्मा है, उसमें विकार नहीं, पर का सम्बन्ध नहीं।

अरे! आत्मा अनन्त चैतन्यशक्ति का समुद्र; वह समुद्र, वह किसी से बँधता होगा? यह समुद्र अपनी पर्याय के स्वच्छ तरंगरूप से उल्लसित हुआ, वहाँ कोई उसे रोकनेवाला नहीं है, बाँधनेवाला नहीं है, उसमें कर्म का सम्बन्ध नहीं है। ऐसी पर्यायसहित भगवान आत्मा स्वानुभव में प्रगट होता है, स्वानुभव में आनन्द का समुद्र डोलता है। स्वानुभव में निर्मल पर्यायसहित आत्मा प्रकाशमान हुआ, उसके गम्भीर भावों का यह वर्णन है। अहा! स्वानुभूति की एक टंकार से जो केवलज्ञान ले—ऐसी महान जिसकी सामर्थ्य, उसे अपने आत्मा की यह बात समझ में न आये—ऐसा कहना, वह तो लज्जा है, शर्म है। अपना स्वरूप अपने को कैसे न समझ में आये? समझने की वास्तविक लगन हो तो अवश्य समझ में आये। ज्ञानस्वरूप आत्मा को अज्ञान में रहना और संसार में जन्म-मरण धारण करना, वह तो कलंक है—शर्म की बात है। श्री योगीन्द्रदेव योगसार में कहते हैं कि —

ध्यान द्वारा अभ्यन्तर में देखे जो अशरीर,
शर्मजनक जन्मो टले, पीये न जननी-क्षीर॥ (६०)

अरे प्रभु! तू अशरीरी, तुझे यह शर्मजनक शरीर धारण करके संसार में भटकते

हुए शर्म नहीं आती ?—और भव के अभाव की यह बात सुनते हुए तुझे शर्म लगती है!! भव के अभाव की बात समझन में तुझे उमंग-उत्साह नहीं आता और संसार की बात में तुझे उत्सा आता है, तो तू भव से कब छूटेगा ? भव से छूटना हो, शरीररहित होना हो तो ध्यान द्वारा तेरे अन्तर में अशरीरी आत्मस्वभाव को देख... अशरीरी आत्मा के अनुभव द्वारा तुझे अशरीरी सिद्धदशा होगी और शर्मजनक जन्मों से तेरा छुटकारा होगा, फिर से दूसरी माता का दूध तुझे नहीं पीना पड़ेगा।

भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा अपार है, आत्मा का वैभव अचिन्त्य है, उसे तू देख। अहा! जिसके उदय से चौदह ब्रह्माण्ड में उजाला हो और इन्द्रों के इन्द्रासन डगमगा जाये, ऐसी तीर्थंकरप्रकृति, वह तेरे एक विकल्प का फल! और वह विकल्प भी तेरे स्वभाव की चीज़ नहीं; तो विचार तो सही कि तेरे अचिन्त्य चैतन्यस्वभाव की शक्ति कितनी ? मनुष्यलोक में तीर्थंकर भगवान का मंगल जन्म होने पर स्वर्ग में इन्द्र का सिंहासन काँप उठता है, तब इन्द्र को ख्याल आता है कि अहो! मध्यलोक में भरत में-विदेह में अथवा ऐरावतक्षेत्र में देवाधिदेव तीर्थंकर का अवतार हुआ है। धन्य उनका अवतार! धन्य यह प्रसंग! जगत में आश्चर्यकारी मंगल प्रसंग है... चलो, यह कल्याणक उत्सव मनाने मध्यलोक में जायें। अहा! भक्ति से ऊर्ध्वलोक के इन्द्र भी मनुष्यलोक में उतरे—वह प्रसंग कैसा! इन्द्र चारों प्रकार के देवों की सेना लेकर ठाठमाठ सहित भगवान का जन्माभिषेक करने और पूजन इत्यादि उत्सव करने आते हैं और आश्चर्यकारी महोत्सव करते हैं।—ऐसा तो जिनके स्वभाव की बाहर के एक विकल्प का फल, तो उनके स्वभाव के अन्तर सामर्थ्य की महिमा की क्या बात!—वह तो विकल्प से पार! उसके अनुभव के आनन्द के समक्ष जगत के स्वाद फीके लगते हैं। भाई! ऐसा आत्मा तू स्वयं है; तेरे स्वभाव की महिमा लक्ष्य में लेकर उसे अनुभव में लेने का बारम्बार उद्यम कर।

तीर्थंकर प्रभु की माता के दोहला-मनोरथ और स्वप्न भी कोई लोकोत्तर होते हैं, चारों ओर के तीर्थों की वन्दना करें, जगत में धर्म की प्रभावना करें, मेघवृष्टि हो, भगवान के दर्शन करें—इस प्रकार के भाव उन्हें जागृत होते हैं, क्योंकि तीर्थंकर जैसा लोकोत्तर पुत्र उनके गर्भ में विराजता है। यहाँ कहते हैं कि ऐसे लोकोत्तर पुण्य के ठाठ से भी पार

आत्मा के स्वभाव की यह बात है। लोकोत्तर पुण्य को भी जो स्पर्शता नहीं, उसमें तन्मय होता नहीं—ऐसे स्वभाव के आनन्द की यह बात है। लोकोत्तर पुण्य को भी जो स्पर्शता नहीं, उसमें तन्मय होता नहीं—ऐसे स्वभाव के आनन्द की क्या बात! आनन्दस्वभाव के सन्मुख परिणमता आत्मा, वह विकार के सामने देखता नहीं, कर्म को और उसके फल को अपने में स्वीकारता नहीं और जिससे कर्म बँधते हैं, ऐसे रागभाव को भी अपने में स्वीकारता नहीं। ऐसा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा 'चैतन्य समुद्र, सुख से भरपूर'—उसके आश्रय से निर्मल पर्याय उपजती है, मूर्त इन्द्रियों के सम्बन्धरहित अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आता है और कर्म का सम्बन्ध टूटकर सिद्धपद होता है, ऐसा अमूर्तपना ज्ञान में है।

अहा! ज्ञान का अमूर्त स्वभाव! अमूर्तज्ञान स्वयं मूर्त आहार को कैसे करे? मूर्त वचन को कैसे बोले? अथवा मूर्त शरीर के कार्य कैसे करे? अमूर्तज्ञान में मूर्त कर्मों का सम्बन्ध कैसे हो? ऐसे अमूर्त ज्ञानस्वभाव के अनुभव द्वारा समस्त कर्म का अभाव होकर साक्षात् अमूर्त ऐसी सिद्धदशा प्रगट होती है, उसमें असंख्य प्रदेश व्यक्त हो जाते हैं, अर्थात् कि निमित्तरूप से भी कर्म का आवरण नहीं रहता।

यह आत्मा अनन्तशक्तिरूपी अनन्त पासावाला चैतन्य हीरा है। इस चैतन्य हीरा की अलौकिक महिमा आचार्यदेव ने इस समयसार में खुल्ली करके रखी है। अहा! आत्मस्वभाव की अपार महिमा सन्तों ने निजवैभव से प्रसिद्ध की है। ऐसी शक्तिवाला भगवान आत्मा दृष्टि में आने पर उसका परिणमन पुण्य-पाप से पृथक् पड़कर स्वभाव -सन्मुख झुकता है, अर्थात् कि परिणमन में आत्मशक्तियाँ निर्मलरूप से व्यक्त होती है। अरे भाई! ऐसे आत्मा को जाने बिना तू सच्चा निर्णय कहाँ से करेगा? तेरी निजशक्ति को जाने बिना तू उसे साधेगा कैसे? स्वसंवेदन में ऐसी शक्तिवाला आत्मा प्रगट होता है, और ऐसे स्वसंवेदन द्वारा ही आत्मा सधता है। परन्तु इसके लिये जगत से कितना वैराग्य! कितनी उदासीनता! स्वभाव का कितना उल्लास और कितना पुरुषार्थ चाहिए!—ऐसे प्रयत्न से स्वसंवेदन द्वारा चौथे गुणस्थान में आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय में व्यापकर आत्मा परिणमता है; वहाँ विकार का और कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है।—ऐसा अमूर्तज्ञान का सम्यक् परिणमन है।

चैतन्य हीरा की खान में विकार नहीं भरा है, उसमें तो उसके अनन्त गुण की

निर्मलतारूपी हीरे भरे हैं। विकार की खान में खोजे तो चैतन्यगुणरूपी हीरा नहीं मिलता। चैतन्य की खान में विकार नहीं और विकार की खान में हीरा नहीं। जिसकी खान में जो हो, उसमें से वह निकलता है। अनन्त गुणमणि की जो खान है, ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेने से उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी उत्तम रत्न निकलते हैं। आत्मशक्ति में ऐसी वीरता है कि विकार के आधीन नहीं होती। ज्ञानशक्ति में अपने में अज्ञान को आने न दे, आनन्द अपने में दुःख को आने न दे, वैसे अमूर्तस्वभाव मूर्तपने को अपने में आने न दे; इस प्रकार आत्मा की प्रत्येक शक्ति अपने स्वरूप को निर्मलरूप से साधती है। स्वशक्ति द्वारा आत्मा अपनी रक्षा करता है और अपने स्वघर में स्थिर रहता है। ऐसी अनन्त शक्तिवाला आत्मा है, उसे अन्तर्मुख होकर जानना—मानना—अनुभव करना, यह अमूर्त होने का अर्थात् कि मूर्तकर्म के सम्बन्धरहित सिद्ध होने का उपाय है।

अमूर्तत्वशक्ति का विवेचन पूर्ण हुआ।

* * *

भाई! तू जागृत हो...

एक क्षण का सत्स्वभाव का लक्ष्य टंकार करते हुए केवलज्ञान को लाये और सादि-अनन्त आनन्द को दे। अनन्त-अनन्त काल में भी जिस आनन्द का अन्त न आवे, ऐसा अक्षय आनन्द जिसके फल में प्राप्त हो, उस धर्म की क्या बात! और ऐसा धर्म स्वभाव के निर्णय द्वारा होता है; इसलिए बारम्बार आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू जागृत हो... और तेरे स्वभाव को देख। तेरा स्वभाव राग में मिल नहीं गया है परन्तु पृथक् है, उसका निर्णय कर।

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दु:खों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है, वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती; असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दु:ख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशमरस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया क्या?

- पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११

[२१]

अकृर्तत्वशक्ति

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्व-शक्तिः।

समस्त, कर्मों के द्वारा किये गये, ज्ञातृत्वमात्र भिन्न जो परिणाम उन परिणामों के कारण के उपरमस्वरूप (उन परिणामों को कराने की निवृत्तिस्वरूप) अकर्तृत्वशक्ति। (जिस शक्ति से आत्मा ज्ञातृत्व के अतिरिक्त कर्मों से किये गये परिणामों का कर्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मा में है)।२१।

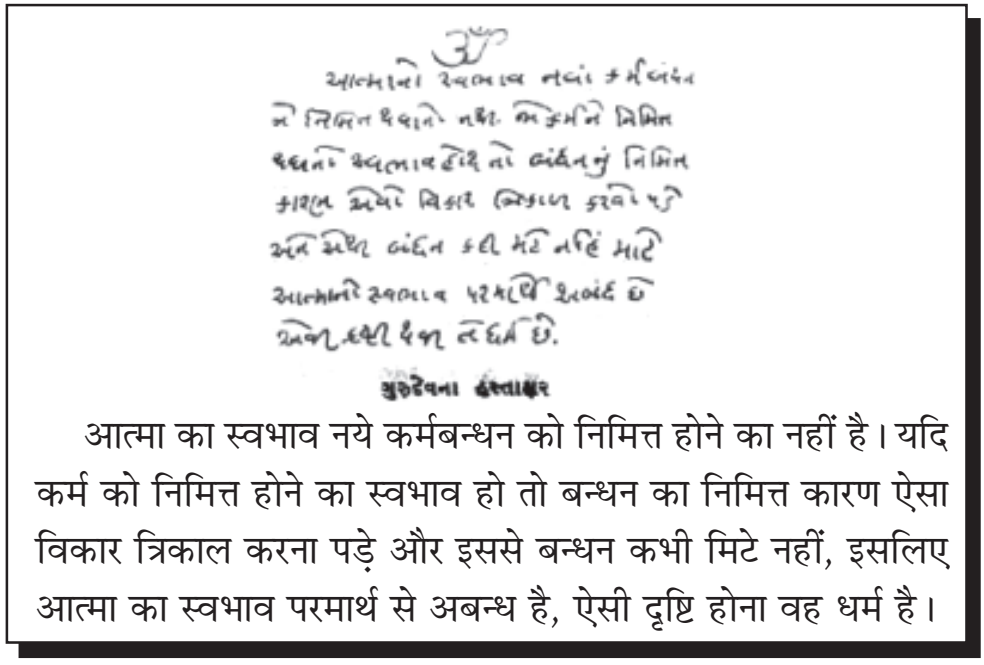

आत्मा का स्वभाव नये कर्मबन्धन को निमित्त होने का नहीं है। यदि कर्म को निमित्त होने का स्वभाव हो तो बन्धन का निमित्त कारण ऐसा विकार त्रिकाल करना पड़े और इससे बन्धन कभी मिटे नहीं, इसलिए आत्मा का स्वभाव परमार्थ से अबन्ध है, ऐसी दृष्टि होना वह धर्म है।

समयसार अर्थात् आत्मा, उसके अनन्त वैभव का यह वर्णन है। आत्मा तीन लोक में सबसे श्रेष्ठ सारभूत पदार्थ है। एक समय में अनन्त गुण को और उसके निर्मल परिणमन को धारण करे, ऐसा अद्‌भुत वैभववाला आत्मा है। ऐसा आत्मा त्रिलोक का सार है और धर्मी का ध्येय है। सभी पदार्थों में आत्मा की ऊर्ध्वता है, क्योंकि आत्मा न हो तो जगत को जाने कौन? जगत है—ऐसे उसके अस्तित्व का निर्णय आत्मा के अस्तित्व में ही होता है। जगत को जाननेवाला ऐसा जो ज्ञानस्वरूप आत्मा, उसके अस्तित्व के स्वीकार बिना जगत के किसी पदार्थ के अस्तित्व का निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए सभी पदार्थों में आत्मा की ऊर्ध्वता है। ऐसा चैतन्यराजा भगवान आत्मा है, उसके चैतन्यवैभव का यह वर्णन है।

आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहा, इससे कहीं उसमें अकेला ज्ञान ही है—ऐसा नहीं है। ज्ञान के साथ दूसरे अनन्त गुण के भाव भी वर्तते हैं, और सर्वज्ञ के अनेकान्त द्वारा उसकी प्रसिद्धि होती है, उसका यह वर्णन है। वचन में क्रम पड़ता है, परन्तु वेदन में क्रम नहीं पड़ता, ज्ञान के वेदन में अनन्त धर्मों का वेदन एक साथ समाहित हो जाता है। अखण्ड आत्मा के वेदन में अनन्त धर्मों का स्वाद आता है, उस वेदन में ज्ञान के साथ एक अकर्तृत्व नाम का धर्म भी आता है। कर्म से किये गये जो समस्त परभाव हैं, वे ज्ञातापने से भिन्न हैं, इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा में उन परिणामों का अकर्तृत्व है; ज्ञानभावरूप से परिणमित आत्मा उन कर्मकृत परिणामों के कर्तृत्व से विराम पा गया है। ज्ञानपरिणाम है, वह रागादि परिणामों को करने के उपरमस्वरूप है। कर्म की ओर के झुकाववाले जितने परपरिणाम हैं, वे सब परिणाम ज्ञानपरिणति से भिन्न हैं; इसलिए उनका कर्तृत्व छोड़कर ज्ञानमात्रभावरूप से परिणमे, ऐसी अकर्तृत्वशक्ति आत्मा में है। जो राग के कर्तृत्व में रुका रहे, उसने ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाना नहीं, उसे ज्ञान प्रगट हुआ नहीं। यदि ज्ञान प्रगटे तो वह राग का अकर्तृत्व साथ में लेकर ही प्रगट होता है। ज्ञान को और रागादि के कर्तृत्व को विरोध है, वे दोनों साथ में नहीं रहते, परन्तु ज्ञान को और रागादि के अकर्तृत्व को सहभावीपना है, वे दोनों धर्म साथ ही परिणमते हैं।

आत्मवस्तु स्वयं एकसाथ अनन्त गुणस्वरूप है। उसके अनन्त गुण की सूखड़ी (गुजराती मिष्टान्न) का स्वाद एक बार चखे तो आत्मा की अनन्त काल की भूख मिट

जाये और जन्म-मरण के दु:ख मिटकर अपूर्व तृप्ति हो। आत्मा की शक्तियाँ सुखकरी है—सुख की करनेवाली है। आत्मा के सुखरूपी सूखड़ी (मिष्ठान) का स्वाद चखने पर अन्दर क्या होता है, उसकी यह बात है। जैसे गन्ने में मीठा रस है, उसी प्रकार आत्मा परमशान्त अनाकुलरस से भरपूर है, उसमें आनन्द भरा है। जगत के जीवों को बाहर के पदार्थों में—वस्त्रों में, मिठाई में, आमोद-प्रमोद में, स्त्री में, मकान में, रेडियो, मोटर और धन इत्यादि में तथा राग में सुख भासित होता है, वह तो मूढ़ता से मात्र माना हुआ है; वास्तव में उसमें कहीं सच्चे सुख का अंश भी नहीं है। आत्मा के स्वभाव में सहज सुख है। बाहर में आनन्द न होने पर भी कल्पना से उसमें जो आनन्द मानता है, वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। अपना आनन्द अपने में भरा है, परन्तु अपने आनन्द को भूला, इसलिए उसका आरोप दूसरे में किया कि 'इसमें मेरा आनन्द है।'—परन्तु वह आरोप मिथ्या है—खोटा है। पर में मेरा सुख—इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा यहाँ और उसका सुख कहीं अन्यत्र, इसलिए आत्मा और सुख दोनों भिन्न ही सिद्ध हुए; सुख वह आत्मा का स्वभाव नहीं रहा!—परन्तु भाई! ऐसा आत्मा नहीं होता। आत्मा तो सुखस्वरूप है। आत्मा आनन्द से खाली नहीं, आत्मा अपने आनन्द से भरपूर है। उसका भान करने से आनन्द के स्वाद का वेदन होता है। और उस वेदन में रागादि परभावों का अकर्तृत्व है।

जिसे अनादि का दु:ख टालकर आनन्द प्रगट करना हो और जन्म-मरण टालना हो, उसे परभावों के अकर्तारूप आत्मस्वभाव को जानकर उसका अवलम्बन लेना चाहिए। उसके अवलम्बन से दु:ख टलेगा और सुख होगा। इसके अतिरिक्त दूसरे उपाय से दु:ख टलेगा नहीं और सुख होगा नहीं। चैतन्य से बाह्य ऐसे किन्हीं भी परभावों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व, वह दु:खरूप है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा की शक्ति, स्वभाव, गुण और धर्म, वे विकार में नहीं, पर में नहीं, परन्तु चैतन्यमय निजभाव में है। आत्मा का ऐसा निजभाव है, वह कर्म के निमित्त से हुए समस्त परभावों के कर्तृत्वरहित है। उन किन्हीं परभावों का कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं है। स्वभावसन्मुख होकर जहाँ निर्मलरूप से आत्मा परिणमित हुआ, वहाँ विकार का कर्तृत्व छूट गया। आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं कि विकार को करे। ज्ञानस्वभाव में अविचलदृष्टि करने से विकार का कर्तृत्व छूटकर निर्मलपर्याय परिणमती है। ऐसे शुद्धपरिणमनवाला आत्मा, वह धर्मी का

आत्मा है। विकार के कर्तृत्वरूप अज्ञानभाव को वास्तव में आत्मा नहीं कहते। कर्म से किये गये जितने रागादि परभाव हैं, वे सभी अनात्मभाव हैं—अस्वभावभाव हैं, उन अनात्मभावों का कर्तृत्व शुद्ध आत्मा में नहीं है। शुद्ध आत्मस्वभाव में उनका कर्तृत्व नहीं, इसलिए उन परभावों को कर्मकृत कहा और उनके कर्तृत्वरहित का शुद्ध आत्मा बतलाया।

आठों कर्मों के निमित्त से हुए जितने अशुद्धभाव हैं, वे सभी शुद्धनय के विषय में नहीं हैं; वे अशुद्धभाव आत्मा के शुद्धस्वभाव का कार्य नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा कर्ता होकर सम्यक्त्वादि निर्मल वीतराग परिणाम को करता है, उस निर्मल परिणाम में विकार के कर्तृत्व का अभाव है। मोहकर्म के संग से जो अशुद्धभाव होते हैं, उन्हें मोहकृत कहा, अर्थात् कि कर्म के संगरहित निर्मोही ज्ञानस्वभावी आत्मा द्वारा वे अशुद्धभाव नहीं किये जाते। वह चेतन का आत्मभाव नहीं परन्तु मोहभाव है। उसे कर्मकृत कहकर यहाँ विकाररहित आत्मस्वभाव और उसकी शक्तियों का निर्मल कार्य बतलाना है। विकारी भाव ज्ञाता के स्वभावभूत नहीं परन्तु ज्ञाता से भिन्न हैं; जिसे अपने से भिन्न जाने, उसका कर्तृत्व धर्मी अपने में कैसे स्वीकार करे? धर्मी जानता है कि मैं ज्ञाता हूँ, मेरा कार्य ज्ञानमयभाव है, विकारभाव वह मेरा कार्य नहीं। ऐसे भेदज्ञान के बल से विकार से पृथक् और पृथक् ज्ञानधारा धर्मी को वर्त रही है जो कि मोक्ष को साधती है। अहा! स्वसन्मुख होकर अनन्त निजशक्ति के निर्मल परिणमन के झूले में चढ़ा हुआ धर्मात्मा विकार में कैसे मिले? विकार का कर्ता कैसे हो?—होता ही नहीं। अनन्त गुण-रत्नों से भरपूर चैतन्यरत्नाकर धर्मी के अन्तर में उल्लसित हो रहा है; उस चैतन्यरत्नाकर में डुबकी लगाकर उसकी श्रद्धा और एकाग्रता करने से अनन्त गुण का निर्मल परिणमन पर्याय में निर्मलता की तरंगें उछलती हैं... आनन्द का पूरा समुद्र उछलता है। जिस प्रकार समुद्र में ज्वार आता है, उसी प्रकार चैतन्यसमुद्र में आनन्द का ज्वार आता है। ऐसे निर्मल परिणमन में व्यवहार के विकल्प पुण्य-पाप इत्यादि सर्व परभावों का अभाव है, इसलिए धर्मात्मा उन परभावों का अकर्तारूप से परिणमा है। इस प्रकार परभावों के कर्तृत्व से छूटकर चैतन्यसमुद्र के निर्मल आनन्द की लहरों से उल्लसित आत्मा, उसे ही 'आत्मा' कहते हैं। विकार को 'आत्मा' नहीं कहते। विकार का कर्तृत्व यदि भगवान आत्मा के स्वभाव में हो तो पूरा आत्मा विकारमय ही हो, और विकार का कर्तृत्व कभी

छूटे ही नहीं, इसलिए विकार से पृथक् ज्ञानभाव तो कभी हो ही नहीं।—ऐसे ज्ञानभाव बिना के आत्मा को तो 'आत्मा' कौन कहे ? सर्वज्ञ भगवान ने तो आत्मा ज्ञानभावमय कहा है, सन्तों ने अपने स्वानुभव में भी आत्मा को ज्ञानमय अनुभव किया है। भाई! ऐसा तेरा आत्मा है, उसे तू जान।

आत्मस्वभाव की किसी शक्ति में विकार का कर्तृत्व नहीं है। यद्यपि अज्ञानभाव से आत्मा को विकार का कर्ता कहा है, परन्तु वह अज्ञानभाव और विकार, शुद्ध आत्मस्वभाव में नहीं आता; इसलिए शुद्ध आत्मा की दृष्टि से देखने पर वह अज्ञानजन्य कर्तृत्व छूट जाता है और निर्मलपर्याय का कर्तृत्व खिलता है। आत्मा पर का तो कुछ नहीं करता और विकार का भी कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं है; ऐसा अकेला अकर्ता ज्ञायकभाव है; ऐसे स्वभाव से आत्मा को जानना, वह जैनदर्शन है। पर के कर्तृत्ववाला आत्मा मानना, वह तो भ्रमणा है। जैनधर्म का वीतरागी विज्ञान तो स्व-पर का भेदज्ञान कराता है और पर के साथ की एकताबुद्धि छुड़ाता है; उसके बदले तू स्व-पर की एकत्वबुद्धि करेगा और पर के कर्तृत्व का अभिमान करेगा तो उस एकताबुद्धि के दुःख तुझे कठोर पड़ेंगे। बापू! उस दुःख से बचना हो और सुखी होना हो तो अकर्तारूप से शोभित ऐसे तेरे ज्ञायकभाव को पहिचान।

पर के कार्य का कर्तृत्व आत्मा के द्रव्य-गुण में तो नहीं, पर्याय में भी ऐसा धर्म नहीं कि पर का कुछ करे। इसी प्रकार से विकार का कर्तृत्व भी द्रव्य-गुणस्वभाव में नहीं है, पर्याय में यद्यपि ऐसी योग्यता विकार के समय है, परन्तु जहाँ द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा परिणमित हुआ, वहाँ उसकी पर्याय में भी विकार का कर्तृत्व नहीं रहता। इस प्रकार पर्याय में अकर्तापने के परिणमनसहित की यह बात है।

अरे! यह जीवन तो क्षण में फू हो जायेगा; शरीर की स्थिति कब पूरी हो जायेगी! इसका मेल नहीं। इसलिए शरीर की सम्हाल एकओर छोड़कर आत्मा की सम्हाल कर, भाई! शरीर को व्यवस्थित रखना तेरे अधिकार की बात नहीं है; आत्मा की सम्हाल करना—उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र करना, वह तेरे अधिकार की बात है। सन्त तुझे तेरी अपार शक्ति की महिमा बारम्बार सुनाते हैं। इसलिए हे जीव! ऐसा उत्तम अवसर पाकर आत्मा की निजशक्ति की सम्हाल कर। तेरे स्वभाव का वैभव जाने बिना तुझे सुख का

रास्ता किसी प्रकार से हाथ नहीं आयेगा। देखो, तीन बातें निश्चित करनेयोग्य हैं—

(१) पर का कर्तृत्व तो किसी आत्मा को द्रव्य में, गुण में और पर्याय में किसी से प्रकार नहीं है।

(२) विकार का कर्तृत्व द्रव्य-गुण में तो किसी आत्मा को नहीं; पर्याय में अज्ञानभाव से विकार के कर्तृत्वरूप अज्ञानी जीव परिणमता है।

(३) निजस्वभावशक्ति की सम्हाल करके जो जीव स्वसन्मुख निर्मलपर्यायरूप परिणमा, उसे पर्याय में भी विकार का कर्तृत्व नहीं, वह जीव विकार का साक्षात् अकर्ता होकर ज्ञानभावरूप से परिणमता है।

१— पर से पृथक्ता, २— विभाव की विपरीतता तथा हेयता, और ३— स्वभाव का सामर्थ्य तथा उपादेयता—ये तीनों बोल उपरोक्त तीन बातों में आ जाते हैं।

जो अकर्तृत्वशक्तिवाले अपने आत्मवैभव को स्वीकार करता है, उसे पर्याय में विकार का अकर्तृत्व प्रगट हुए बिना नहीं रहता। इस प्रकार पर्याय में प्रगट परिणमन होता है, तब ही शक्ति का सच्चा स्वीकार होता है; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विकार का अकर्तृत्व है।—ऐसा आत्मा पहिचानना, वही सच्चे आत्मा की पहिचान है। आत्मा को विकार के कर्तृत्ववाला ही देखे, उसने ज्ञानस्वरूपी सच्चे आत्मा को नहीं जाना है।

बापू! तुझे सच्चा होना है न!—तो सच्चे आत्मा को जान। सच्चे आत्मा को जाने बिना तेरे श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र में सच्चापन (सम्यक्पना) नहीं हो सकेगा। तेरा सत् स्वभाव अलौकिक गुणों का भण्डार है, उसे तू दोषवाला न मान। जितना ज्ञान है, उतना तेरा सत्यस्वरूप है; राग तेरा सत्यस्वरूप नहीं है। उस विकारी वृत्ति करने जितना तू नहीं है। प्रभु! तेरे अनन्त गुण में कहीं विकार नहीं है। यदि गुण में विकार हो तो विकार कभी मिटे नहीं; इसलिए दुःख और परिभ्रमण कभी मिटे नहीं। आत्मा तो ज्ञान है; ज्ञान को और रागादि परभाव को कर्ता-कर्मपना नहीं है। इसलिए मोहादि कर्म के संग से हुए जो कोई शुभाशुभ परभाव हैं, वे समस्त परभाव ज्ञानभाव से भिन्न हैं और उन परभावों का कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा की त्रिकाली शक्ति और उस शक्ति का

निर्मल परिणमन, उसमें कहीं विकार का कर्तृत्व नहीं है। ज्ञान में विकार के अकर्तृत्व को जो न देखे और विकार के कर्तृत्व को ही देखे, उसे आत्मा की निर्मल शक्तियाँ नहीं दिखतीं; और निर्मल शक्तिवाले आत्मा को जो देखता है, उसे उसमें विकार का कर्तृत्व नहीं दिखता। इस प्रकार शुद्धशक्तिवाले आत्मा को दृष्टि में लेने से विभाव का कर्तृत्व विराम पा जाता है और विभाव के अकर्तारूप से ज्ञान का निर्मल परिणमन होता है। अकर्तृत्वशक्ति पर्याय में भी निर्मलरूप से उल्लसित होती है।

भगवान! तू चैतन्यवस्तु है; बाहर के देहादि अचेतन पदार्थों की किसी क्रिया का कर्ता तू तीन काल में नहीं है; बाह्य लक्ष्य से राग-द्वेष की वृत्तियाँ तेरी पर्याय में होती है, उन राग-द्वेष का कर्तृत्व भी तेरे स्वभाव की एक भी शक्ति में नहीं है। पर्याय में जो कर्तृत्व है, वह भी स्वभावसन्मुख होने से टल जाता है। अकर्तास्वभाव को देखने से पूरा आत्मा विकार के अकर्तारूप ही दिखाई देता है; ज्ञानस्वभाव से देखने पर पूरा आत्मा ज्ञानमय अनुभव में आता है; आनन्दस्वभाव से देखने पर पूरा आत्मा आनन्दमय दिखता है। एक-एक शक्ति से देखने पर अभेदरूप से उसमें पूरा आत्मा दिखता है, उसकी अनन्त शक्तियाँ उसमें इकट्ठी समाहित हो जाती है। स्वसन्मुखता में गुण-गुणी के भेद का विकल्प नहीं रहता, अनन्त गुण से अभेदस्वरूप अनुभव में आता है। ऐसे अनुभव को 'ज्ञानमात्र भाव' कहा है और उसमें अनन्त गुण गर्भित होने से उस ज्ञानमात्रभाव को अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकाशित होता है। एक-एक शक्ति द्वारा शक्तिमान पूरा आत्मा प्रसिद्ध होता है। एक शक्ति अलग पड़कर लक्ष्य में नहीं आती, एक शक्ति का निर्णय करने पर अनन्त शक्ति का पूरा पिण्ड लक्ष्य में आता है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान अभेद है। ऐसे अभेद आत्मा में अचलितदृष्टि स्थापित करने से पर्याय में उसकी अनन्त शक्तियों का निर्मल परिणमन प्रगट हो जाता है। वहाँ 'अनेकान्तस्वरूप आत्मा प्रसिद्ध हुआ' ऐसा कहा जाता है। ऐसा अनुभव, वह आत्मा का वास्तविक वैभव है।

द्रव्य-गुण शुद्ध और पर्याय में अकेली मलिनता ही रहे—तो ऐसे आत्मा को वास्तव में आत्मा नहीं कहते, वहाँ आत्मा अपने सच्चे स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं होता। शुद्ध द्रव्य-गुण का स्वीकार करने से पर्याय भी उसमें मिलकर शुद्ध होती है और ऐसे 'शुद्ध' आत्मा को ही वास्तविक आत्मा कहा जाता है। वह आत्मा वास्तव में अनेकान्तरूप से

प्रसिद्ध हुआ। पर्याय में निर्मलता के परिणमन बिना ही भगवान आत्मा प्रसिद्ध किसमें हो ? पर्याय के निर्मल परिणमन में ही आत्मा प्रसिद्ध होता है।

राग हो, उस काल में भी धर्मी का आतमा अपने ज्ञातापने के परिणमन में परिणमता हुआ उस राग के अकर्ताभाव से परिणमता है।—ऐसा परभाव का अकर्तापना, वह आत्मा का स्वभाव है। विकार को करे, ऐसी ही अशुद्ध पर्याय की योग्यता है, वह कहीं स्वभाव की शक्ति का कार्य नहीं। स्वभाव को दृष्टि में लेने से जो अकर्तापर्याय प्रगट होती है, वह पर्याय राग को स्पर्श नहीं करती; ऐसी निर्मलपर्याय, वही स्वशक्ति का कार्य है। अनन्त शक्ति से भरपूर भगवान आत्मा महा महान है, उसका स्वरूप भी महान है, उसका सामर्थ्य महान है। ऐसे आत्मा के ज्ञानभाव के साथ ऐसा अकर्तापना परिणमता है कि जो विकार के कर्तृत्व को अपने में नहीं आने देता। सर्वज्ञदेव ने देखा हुआ और अनेकान्त द्वारा प्रसिद्ध किया हुआ आत्मा ऐसे स्वभाववाला है। उसके बदले पुण्य-पाप के कर्तारूप से आत्मा को पहिचाने तो उसने वास्तविक आत्मा को नहीं जाना, उसने अनेकान्त को नहीं पहिचाना, उसे जैनधर्मी नहीं कहते। भाई! आत्मा के स्वभाव में विकार का कर्तृत्व किसी प्रकार से समाहित हो, ऐसा नहीं है; इसलिए यदि तुझे आत्मा को जानना हो तो परभाव के कर्तृत्व की बुद्धि छोड़कर द्रव्य-गुण के शुद्ध स्वभाव को तू जान तो पर्याय भी वैसी हो जायेगी, उसमें से परभाव का कर्तृत्व छूट जायेगा।—ऐसा परिणमन हो, तब आत्मा को जाना कहलायेगा।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा को एक राग के कण का भी रचनेवाला जो मानता है, वह अपने आत्मा को नहीं जानता। तीर्थंकरनामकर्म जिससे बँधता है, उस भाव का भी कर्तृत्व ज्ञान में नहीं है, ज्ञानी का ज्ञान उसका अकर्ता है। और जो उसका कर्तृत्व मानता है, उसे तो वह प्रकृति बँधती नहीं; जिसे बँधती है, वह उसका कर्तृत्व मानते नहीं। पुण्य-पाप के कोई भी भाव सम्यक् चैतन्यप्रकाश रहित है। उसे तू अपना माने तो तू अन्धकार में है—भ्रम में है। तुझे ज्ञानप्रकाश प्रगट नहीं हुआ है। जो ज्ञानदरबार में विकार का कर्तृत्व घुसाना चाहता है, वह चैतन्य राजा के दरबार का बड़ा चोर है। जैसे राजा के अन्तःपुर में जाकर कोई चोरी करे तो वह चोर, राजा का बड़ा गुनाहगार है; उसी प्रकार इस भगवान चैतन्य राजा के अन्तरंग दरबार में विकार का प्रवेश नहीं,

तथापि जो जीव चोर होकर अन्तर के अकर्तास्वभाव में भी विकार का कर्तृत्व घुसाना चाहता है, वह चैतन्यराजा का बड़ा चोर है, बड़ा गुनहगार है और उसका फल संसार की जेल है। मिथ्यात्व, वह बड़ा अपराध है। अनन्त गुण की सत्ता से शोभित चैतन्य महाराजा को विकार का कर्ता कहना, वह उसका अपमान है। बापू! तुझे तेरे आत्मा के पवित्र स्वभाव की खबर नहीं पड़ती और तू तेरे निर्दोष आनन्दस्वभाव को मलिनभाव के साथ मिला दे—वह तो, जैसे कोई मूर्ख मिष्टान्न के साथ धूल मिला-मिलाकर खाये, उसके जैसी मूर्खता है। अरे जीव! तेरे चैतन्य का स्वाद परम निर्मल, राग की मिलावटरहित, शान्त-अमृतमय है, उस स्वाद को छोड़कर तू राग के स्वाद में रुका?—वह स्वाद तेरा नहीं; बापू! तेरे चैतन्य में उस रागादि अशुचिभाव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है।

शान्तरस का सागर, समता का समुद्र आत्मा है; दुनिया में प्रतिकूलता के और अनुकूलता के चाहे जैसे खेल बने, तथापि जिसमें आकुलता की खलबलाहट नहीं, जिसमें विकार की रचना नहीं, वह तो अपने शान्त-समतारस में मग्न रहता है, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को भूलकर अज्ञानी परपरिणति का स्वामी होता है। जैसे सज्जन को परनारी का संग शोभा नहीं देता, उसी प्रकार इस सत्स्वभावी चैतन्यभगवान आत्मा को परपरिणति का संग शोभा नहीं देता; वह तो अनन्त गुण की निर्मल धारा में अपनी आनन्द परिणति का भोग करनेवाला है। भाई! रागादि के कर्तृत्व में क्या तुझे शान्ति लगती है?—या रागादि का अकर्ता होकर ज्ञानभाव में रहने से तुझे शान्ति लगती है? शान्ति तो ज्ञान में ही है। अरे! इस जगत में अनुकूल और प्रतिकूल किसी भी संयोग में शान्ति का धाम तो आत्मा है; उसकी अपार शक्ति है, उसकी अचिन्त्य महिमा है, उसका अद्भुत वैभव है, उसका अवलम्बन, वही परम शान्ति का उपाय है।

रे जीव! पुण्य-पापरूप मलिन भाव, जो कि तेरे स्वभावरूप नहीं, परन्तु अस्वभावभाव हैं, उनके साथ तेरे चैतन्य के अमृत को न मिला। तू तो निर्मल चैतन्य-अमृत की खान है, उस खान में से विकार नहीं निकलता। तेरी चैतन्य खान में से तो विकार के अकर्तृत्वरूप परम ज्ञानामृत निकलता है। तेरे स्वभाव की अलौकिक सृष्टि में तू कभी आया नहीं, तेरी चैतन्यसृष्टि के धाम में कैसा वैभव है, उसे तूने कभी देखा नहीं और अज्ञान से मलिनभावों की ही सृष्टि उत्पन्न करके, उस मलिनता का ही स्वाद तूने

लिया है, मलिनभाव में खड़े रहकर तूने उसका ही कर्तृत्व माना है,—परन्तु भाई! वह स्वाद तेरा नहीं। तेरे स्वाद में तो परम आनन्दरूप अतीन्द्रिय रस है, तेरा स्वाद महाआनन्दरूप है, परम उपशान्तरस का झरना उसमें बहता है; वह स्वाद आत्मा को शान्त... शान्त... तृप्ति उपजाता है। अन्तर्मुख होकर एक बार तो वह स्वाद चख। तेरी चैतन्यसृष्टि ऐसी आह्लादकारी है कि जिसमें दुःख का प्रवेश नहीं, जिसमें विकार का प्रवेश नहीं। ऐसी अन्तरसृष्टि में एक बार प्रवेश कर, फिर तुझे उसमें से बाहर आना सुहायेगा नहीं। तेरी अन्तरसृष्टि में चैतन्य का कोई आश्चर्यकारी चमत्कार भरा है।

आत्मा अर्थात् अनन्त गुण का पिण्ड, ज्ञानमात्र भाव; ज्ञान में फिर विकार का कर्तृत्व कैसा? शुभराग से जो लाभ माने, उसे उस शुभराग में कर्तृत्वबुद्धि नहीं छूटती। राग से लाभ माना, उसने राग की और ज्ञान की एक जाति मानी, परन्तु विरुद्ध जाति नहीं जानी, भिन्नता नहीं जानी। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे! चैतन्य की लीनता में परम सुख है, आत्मा सुखस्वभाव से भरपूर है, उसमें तो ज्ञातृत्वभाव ही है, पुण्य-पाप के परिणाम उससे भिन्न हैं, उन परिणामों का करणपना ज्ञानस्वभाव में नहीं है। ज्ञानमय भाव तो विभाव से विरक्त है। ऐसे अकर्तृत्वस्वभावी ज्ञातास्वभावी आत्मा को जानो।

आत्मा की शक्ति में बेहद सामर्थ्य है; वह शक्ति तो केवलज्ञान प्रगट करने का कार्य करनेवाली है। क्रोधादि को करे, ऐसा चैतन्य का किसी शक्ति का कार्य नहीं है, परन्तु विकार का अपने में अभाव रखकर परिणमना, ऐसा प्रत्येक शक्ति का कार्य है। अरे प्रभु! तेरी चैतन्यजाति तो अपूर्व है, उसका कार्य तो केवलज्ञान ले, ऐसा है। जिसके ऊपर नजर करने से आत्मा वीतराग होकर जागृत हो और सिद्धपद को साधे, ऐसी चैतन्यवस्तु तू है। चैतन्यवस्तु ज्ञानपरिणाम की ही कर्ता है, उसमें विकार का कर्तृत्व नहीं है। ऐसी वस्तु के सन्मुख होने से पर्याय में भी विकार का कर्तृत्व उपराम पा जाता है—छूट जाता है। साधकपना शुरु हुआ, तब से ऐसा अकर्ताभाव शुरु हो गया है। अकर्तास्वभाव को दृष्टि में रखकर पर्याय भी अकर्तारूप से ही परिणमती है। जो अल्प विकार है, उसका भूतार्थदृष्टि में अभाव है, साधक की पर्याय में उसका कर्तापना नहीं। स्वभावसन्मुख ज्ञानपरिणति प्रगट हुई, उसमें परभाव के कर्तृत्व का अभाव परिणमता है। देखो, यह साधकपना! उसमें भगवान आत्मा निजवैभवसहित प्रसिद्ध हुआ है।

हे जीव! तू तेरे चैतन्यस्वांग को धारण कर। राग और कर्म का संग, वह तेरा सच्चा स्वांग नहीं है। तेरे अकृत्रिम चैतन्यस्वभाव का सहज स्वांग (अर्थात् कि सहज दशा) तो ज्ञान-आनन्द से गम्भीर है। आत्माराम के सहज वेश में विकार का कर्तृत्व शोभा नहीं देता। वैराग्य के एक भजन में—रावण को कोई कहता है कि तुम सीता को उठाकर ले जाने के लिये राम का स्वांग धारण करो। तब रावण कहता है कि मैं जब राम का स्वांग धरता हूँ, तब मेरा भाव पलट जाता है, मेरे मन में विकार नहीं रहता। उसी प्रकार यहाँ जीव जब अपने आत्माराम के सहज स्वांग को धारण करता है, तब उसके भाव निर्मल हो जाते हैं और उसमें विकार का कर्तृत्व नहीं रहता। नाटक में एक बार राम-लक्षण का स्वांग देखकर एक बाबा उनकी आरती उतारने लगा था। यहाँ साधक कहता है कि हे चिदानन्द आतमराम! तेरी सहजदशा के ऊपर मैं वारी जाता हूँ, असंख्य प्रदेश में श्रद्धा-ज्ञान के दीपक प्रगटाकर तेरी आरती उतारता हूँ। भगवान आतमराम अपनी सहज लीला से केवलज्ञान प्रगटावे, ऐसा है। परन्तु उसने अपनी महिमा प्रेमपूर्वक सुनी नहीं, लक्ष्य में ली नहीं।

अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा में रागादि की मिलावट नहीं, तो फिर देहादि जड़ के काम आत्मा में कैसे? रागादि परभाव को अपने में मिलावे, उसे सच्चा आत्मा नहीं कहते। स्वभावसन्मुख होकर अकर्तारूप से परिणमने से आत्मा की पर्याय में भी परभाव का अकर्तापना प्रगट होता है और ऐसी पर्यायवाले आत्मा को वास्तविक आत्मा कहा है। आत्मा को जब परभावों से भिन्नरूप से उपासित किया जाता है (अनुभव में आता है), तब ही उसे 'शुद्ध' कहा जाता है। अज्ञानी को अन्तर में शुद्ध द्रव्यस्वभाव विद्यमान तो है, परन्तु उसके भान बिना उसे पर्याय में वह प्रगट नहीं होता; वह अज्ञानरूप से विकार के कर्तृत्वरूप से परिणमता है, उसे वास्तविक आत्मा (अर्थात् कि शुद्ध आत्मा) नहीं कहते।

अरे भाई! आत्मा से बड़ा महिमावन्त इस जगत में कोई नहीं है। आत्मा में जो बेहद-स्वभाव है, उसकी महिमा सुनते हुए तू प्रसन्नता कर। तेरे आत्मा के अचिन्त्य वैभव की महिमा कोई अलौकिक है। तीर्थंकरप्रकृति और समवसरण को जो दैवीवैभव, वह तो विकल्प का फल है, उसकी अपेक्षा, उस विकल्प का भी कर्तृत्व जिसमें नहीं, ऐसे चैतन्य के निर्विकल्प आनन्दवैभव का कोई अपार माहात्म्य है। विकल्प को

करनेवाला आत्मा जो मानता है, उसे सच्चे आत्मवैभव को नहीं जाना है। उसके कर्तृत्वरहित का जो ज्ञानमात्र स्वभाव है, वैसे स्वभाव से आत्मा को जाने—माने और तद्रूप होकर परिणमे, उसने वास्तविक आत्मवैभव को जाना है और उसे वह आत्मवैभव प्रगट होता है।

* * *

आत्मा को वास्तव में कब जानना कहलाये? और आत्मा आत्मारूप से हुआ कब कहलाये? अर्थात् कि आत्मा प्रसिद्ध हुआ कब कहलाये? यह बात है। आत्मा अनन्त निर्मल शक्ति का पिण्ड, उसका भान होने पर अनन्त गुणों की निर्मलपर्याय परिणमित हुई, तब उसमें आत्मा आत्मारूप से प्रसिद्ध हुआ। आठ कर्म के संग से जितने विकार परिणाम होते हैं, वे आस्रवपरिणाम हैं, उनके कर्तारूप से जीव को पहिचानना, वह सच्चे जीवतत्त्व की पहिचान नहीं है। जीवतत्त्व तो ज्ञानपरिणाममय है, आनन्दमय है। विकार का अकर्ता है। ऐसे स्वभाववाले शुद्ध जीवतत्त्व का भान होने पर पर्याय में निर्मलपरिणमन हुआ और वह पर्याय भी आनन्दमय हुई, विकार की अकर्ता हुई।—इस प्रकार भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुआ।

धर्मी को स्वसन्मुख झुके हुए निर्मल परिणाम आत्मा के साथ तन्मय हुए हैं, इसलिए उसे राग के साथ तन्मयता नहीं रही। जो परसन्मुख अशुद्धपरिणाम है, उसे द्रव्य के साथ एकता नहीं है, द्रव्य में उसका कर्तृत्व नहीं है; आत्मा का स्वभाव उस विकार को रचनेवाला—करनेवाला नहीं है, वह तो ज्ञानमय परिणाम का ही रचनेवाला है।—ऐसे स्वभाव से आत्मा को पहिचाने, तब ही वह प्रसिद्ध होता है अर्थात् कि प्रगट अनुभव में आता है।

भगवान ने पराश्रितभावरूप समस्त व्यवहार को बन्ध का कारण कहकर उसका आश्रय छुड़ाया है। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं, इसलिए भगवान ने व्यवहार के आश्रय का निषेध किया है। जैसे पर को मैं करूँ—ऐसे स्व-पर की एकता का मिथ्याध्यवसाय, वह बन्ध का ही कारण है, उसी प्रकार पराश्रित व्यवहारभावों के आश्रय से मोक्षमार्ग सधेगा—ऐसी मान्यता, वह भी मिथ्या है और बन्ध का ही कारण है। सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा कहा है कि हे भाई! तेरा आत्मा परम ज्ञानस्वभावी है, उस स्वभाव के आश्रय से ही निश्चयमोक्षमार्ग है, इसलिए अन्तर्मुख होकर उसका आश्रय

कर।—'निश्चयनयारित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।'

सर्वज्ञदेव ने कहे हुए मोक्षमार्ग को प्रसिद्ध करते हुए आचार्यदेव समझाते हैं कि—स्व-पर की भिन्नता है, उसमें जैसे पर के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है, उसी प्रकार पराश्रित ऐसे विकारभावों के आश्रय से भी मोक्षमार्ग नहीं है। पर से विभक्त और अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में एकत्व, ऐसा जो तेरा स्वभाव है, उसके ही आश्रय से तेरा मोक्षमार्ग है। भाई! मोक्षमार्ग, वह तो चैतन्य का पंथ है। देखो न, संसार कैसा असार है! मुमुक्षु को तो उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो, ऐसा है। क्षणभंगुर संसार में शरण कैसा? संसार अर्थात् पराश्रितभाव, उसमें कहीं जीव को शरण और शान्ति नहीं है।

धर्मात्मा को एक समय में दो धारायें वर्तती हैं; किंचित् रागपरिणमन और उसी समय उससे पृथक्—उसके अकर्तापनेरूप ज्ञाताभावरूप परिणमन, ऐसी दोनों धारायें एक साथ पृथक्-पृथक् वर्तती हैं। उसमें से ज्ञानभावरूप निर्मल कार्य के कर्ता धर्मी जीव हैं और रागादि मलिनभाव के वे कर्ता नहीं हैं। संवर और निर्जरा, आस्रव और बन्ध—ऐसे चारों तत्त्व धर्मी को एक ही पर्याय में समाहित होते हैं, पर्याय एक ही, तथापि उसमें जो संवरभाव है, वह आस्रवभाव नहीं, दोनों भावों की भिन्नता है। एक ही समय में एक ही पर्याय में किंचित् शुद्धता, किंचित् अशुद्धता, दोनों को प्रदेशभेद नहीं, तथापि उसमें शुद्धता का कर्ता और अशुद्धता का कर्ता नहीं। ज्ञानभाव में शुद्धता का कर्तृत्व, विकार का अकर्तृत्व—इसका नाम धर्म है।

अहो! सर्वज्ञ के मार्ग में अनेकान्तस्वरूप आत्मा की शक्ति का ऐसा अलौकिक वर्णन करके वीतरागी सन्तों ने आत्मा को प्रसिद्ध किया है। सन्तों के अन्तर के गम्भीर गहराई में से आये हुए ये भाव हैं। अहा! अमृतचन्द्राचार्य अनुभव में झूलते होंगे और अन्तरस्वभाव का घोलन कर-करके यह शक्तियाँ निकालते होंगे!—उनका दिखाव कैसा होगा! उनके अन्तर में कैसा घोलन चलता होगा!

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा का भगवानपना सुनाया है। हे जीव! तू भगवान है... उत्साह से हाँ करना। ना करना नहीं और हाँ करने में विलम्ब करना नहीं। बात कान में पड़ते ही उत्साह से हाँ करके उसके लक्ष्य में दक्ष होने से तेरी पर्याय में भगवानपना प्रगट हो जायेगा। जहाँ श्रद्धा-पर्याय प्रगट हुई, वहाँ साथ के समकित मोह के किंचित्

उदय से वे श्रद्धा-परिणाम पृथक् वर्तते हैं, चारित्र के जो निर्मल परिणाम प्रगट हुए वे चारित्रमोह के उदय से पृथक् वर्तते हैं। स्वभाव के लक्ष्य में झुका हुआ वीर्य, स्वभाव के लक्ष्य से प्रगट हुआ आनन्द—ऐसे निजपरिणाम का कर्ता आत्मा है, परन्तु वहाँ उदय की ओर का जो अल्प विकार बाकी रहा, उस परभाव का कर्ता आत्मा नहीं, धर्मी उसमें तन्मय होकर परिणमित नहीं होता। दोनों धारायें एक समय में वर्तती होने पर भी उसमें निर्मल धारा के प्रवाह का कर्तृत्व धर्मी को है, विकारधारा का कर्तृत्व धर्मी को नहीं है। विकार का कर्तृत्व, वह तो अज्ञानभाव है, पामरता है, प्रभु के पंथ में पामरता नहीं होती। प्रभुता के पंथ में चढ़े हुए आत्मा को तो प्रभुता का ही कर्तृत्व होता है।

स्वाश्रित निश्चय और पराश्रित व्यवहार—साधकभूमिका में ये दोनों एक साथ, तथापि धर्मी को एक का कर्तृत्व और दूसरे का नहीं, इसलिए उन दोनों को एकता नहीं है। पराश्रित व्यवहार में एकता करे, ऐसा आत्मा के किसी गुण का स्वभाव नहीं है। भाई! स्वलक्ष्य से तेरे स्वभाव को सम्हाल... तो उसमें तुझे परभाव दिखेंगे नहीं। तेरे आत्मा को परभाव से निराला रखकर श्रद्धा में-ज्ञान में-अनुभव में ले। प्रवचनसार गाथा ८६ में मोह के नाश का उपाय बताते हुए कहते हैं कि—परम शब्दब्रह्म की उपासना का अर्थात् कि उस शब्दब्रह्म में कहे हुए शुद्ध आत्मा की उपासना का, भावज्ञान का अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये हुए परिणाम से सम्यक् प्रकार से अभ्यास करना, वह मोहक्षय का उपाय है। द्रव्यस्वभाव के लक्ष्य से उसका जो निर्मल परिणमन खड़ा होता है, वह निश्चय है; वहाँ जो विकार-दुःख-रागादि पराश्रित परिणाम रहे, वे निर्मलपरिणमन में अत्यन्त अभावरूप हैं; और उनका कर्ता उस समय ही आत्मा नहीं है, उस समय ही उसके अकर्तापने आत्मा परिणमता है।

अहा! यह तो जिनेन्द्रों का वीतरागमार्ग है; इन्द्र-नरेन्द्र और गणधरादि मुनिन्द्र जिसका सेवन करते हैं। संसार से तुझे तिरना हो तो तू भी इस मार्ग में आ। इससे दूसरे मार्ग में जायेगा तो तेरा निवेड़ा नहीं आयेगा। स्वभाव में स्थिर हुआ जो आनन्द का परिणमन, उसमें दुःख का कर्तृत्व कैसे होगा? वीतरागी परिणमन में राग का कर्तृत्व कैसे होगा? ज्ञानपरिणमन में अज्ञानभावों का कर्तृत्व कैसे होगा?—इस प्रकार ज्ञातृपरिणाम में किसी भी विकारपरिणाम का कर्तृत्व नहीं है। धर्मी को ऐसा भेदज्ञान वर्तता है और

उस भेदज्ञान के बल से उसके परिणाम में भगवान आत्मा निजवैभवसहित प्रसिद्ध हुआ है। स्वभाव-आश्रित वर्तते परिणाम पराश्रित बाह्य परिणामों से भिन्न हैं। धर्मात्मा के ध्येय में शुद्धता का ही कर्तृत्व है, उसमें अशुद्धता नहीं है। आत्मा के स्वाश्रय में पूर्णानन्द का पूर बहता है। अन्तर्मुख होकर अनन्त गुण की निर्मलता के पूर में जो लीन हुआ, उसे तो परिणति में निर्मल ज्ञान-आनन्द का ही प्रवाह बहता है। उस प्रवाह में बीच में विकार नहीं होता। आत्मद्रव्य तो निर्मल परिणाम को ही करनेवाला है, मलिन परिणाम को करनेवाला आत्मद्रव्य नहीं है। अहो! निजस्वभाव के घर की यह अलौकिक बात है। ऐसे निजस्वभाव को लक्ष्यगत करने से अलौकिक शान्तरस की धारा उल्लसित होती है।

शान्तरस में डूबा हुआ आत्मतत्त्व, उसके वेदन में अशान्ति नहीं है। परिणति का जो प्रवाह चैतन्यसमुद्र की ओर ढला, वह अब विकार की ओर नहीं ढलेगा, उसमें विकार का कर्तृत्व नहीं रहता। शुद्धस्वभाव को ध्येय करती हुई जो धारा शुरु हुई, वह धारा स्वभाव जैसी निर्मल ही है, उसमें कहीं कर्म का निमित्तपना नहीं, उसमें कर्मकृत परिणाम का अभाव है। आठ कर्म के निमित्त से जो कोई परिणाम होते हैं, वे समस्त अशुद्ध परिणाम हैं, स्वसन्मुखी ज्ञानभाव में उनका अभाव है। जिस भाव से कर्म बँधते हैं, वह आत्मा नहीं। आत्मा तो कर्म के सम्बन्धरहित, आनन्दस्वरूपी ज्ञानपरिणामी है। उसका द्रव्य अबन्ध, उसके गुण अबन्ध और उसकी परिणति भी अबन्ध, ऐसे शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायवाला आत्मा, वही ज्ञानलक्षण से लक्षित वास्तविक आत्मा है, जो ऐसे अबद्ध आत्मा को जाने, उसने जिनशासन के आत्मा को जाना है। जो विकार के कर्तारूप से ही आत्मा को देखता है, उसने तो आत्मा को मलिन ही देखा है, रागवाला ही देखा है, परन्तु ज्ञानमय आत्मा उसने देखा नहीं। ज्ञानमय आत्मा के लक्ष्य से मलिनता नहीं होती। जहाँ अबन्ध शुद्धस्वभाव का स्वीकार हुआ, वहाँ उसमें बन्धभाव कैसा? अबन्धस्वभाव के आश्रित परिणमन में तो अबन्धपना होता है, परन्तु बन्ध कहाँ से होगा? जिससे आठ कर्म बँधे, ऐसा कोई भी बन्धभाव आत्मा के स्वभाव के चीज़ नहीं; अशुद्धपर्याय की वैसी योग्यता हो, वह कहीं स्वभाव की चीज़ नहीं; धर्मी उसे स्वभाव से पृथक्रूप जानता है, इसलिए वह स्वभाव में उसका कर्तृत्व स्वीकार नहीं करता। विकार के काल में ही ज्ञान में उसका अकर्तापना जिसे भासित न हो, उसने विकार से भिन्न आत्मा को जाना ही नहीं।

आयुकर्म से जीवे, वह आत्मा—ऐसी पहिचान, वह जीव की सच्ची पहिचान नहीं है। क्षणिक आयुवाला आत्मा नहीं है; आत्मा तो अक्षयआयुवाला है; भावचैतन्य द्वारा वह सदा जीवन्त है। प्रवचनसार के परिशिष्ट में जहाँ ४७ नयों से आत्मा का वर्णन किया है, उसमें तो व्यवहारधर्मों का भी ज्ञान कराया है, इसलिए वहाँ विकार का कर्तापना तथा अकर्तापना, यह दोनों बतलाये हैं। यहाँ शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में विकार का कर्तृत्व नहीं आता। ज्ञानभाव के साथ के निर्मल धर्मों का ही यह वर्णन है। ज्ञानमात्रभाव से विकार के परिणाम तो भिन्न हैं। उनके कर्तापनरहित का ज्ञानस्वभावी आत्मा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है।

आहारकशरीर और तीर्थंकरप्रकृति जिससे बँधे, ऐसे परिणाम मिथ्यादृष्टि की भूमिका में नहीं होते, सम्यग्दृष्टि की ही भूमिका में होते हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि को उसका कर्तृत्व नहीं होता। आत्मा आत्मभावरूप होकर परिणमित हुआ, वहाँ उसमें आत्मस्वभाव से विरुद्ध ऐसे किसी अनात्मभाव का कर्तृत्व नहीं रहता। अहा! आत्मा के स्वभाव को दिखलानेवाली ऐसी वाणी का सर्वज्ञदेव की सभा में बड़े-बड़े इन्द्र भी अतिशय बहुमानपूर्वक श्रवण करते हैं, बड़े राजकुमार भी आत्मवैभव सुनकर उसे प्राप्त करने के लिये अन्दर में उतर जाते हैं। प्रभु के निकट तो वीतरागी वाणी के प्रपात बहते हैं... तथापि उसमें भी आत्मवैभव का वर्णन पूरा नहीं आता; अपने अनुभव द्वारा ही पूरा पड़ता है, ज्ञानस्वभाव के सत्त्व का कस ऐसा है कि उसमें ज्ञान-आनन्द के परिणाम होते हैं, परन्तु उसमें रागादि नहीं होते। शुद्ध जीवतत्त्व में आस्रवतत्त्व नहीं। शुद्ध जीव के आश्रय से तो संवर-निर्जरा-मोक्षरूप शुद्ध परिणति ही होती है।

देखो, यह धर्मकथा है। धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसके अनन्त धर्मों को दिखलानेवाली ऐसी यह धर्मकथा है। आत्मा के वीतरागभाव को पोषण करनेवाली यह उसकी कथा है। आत्मा के लक्षणभूत जो ज्ञानभाव, उसके साथ तो वीतरागभाव होता है, उसके साथ राग नहीं होता। राग उससे पृथक्रूप है, उस राग का कर्तृत्व ज्ञान में समाहित नहीं होता। ज्ञातापरिणाम को भी करे और राग के परिणाम को भी करे—ऐसे एक साथ दोनों में तन्मयता नहीं होती। स्वसन्मुखपरिणाम विकार से निवृत्त है। स्वसन्मुख परिणमित आत्मा जड़कर्म को और विकार को स्पर्शता नहीं, वह तो अपने अनन्त गुण की निर्मल परिणति को स्पर्शता है, उसमें वह तन्मय होकर उसे करता है।

देखो, यह चैतन्य के सेवन की रीति! सर्वज्ञदेव की सच्ची सेवा भी इसमें ही आती है। राग की सेवा में सर्वज्ञ की सच्ची सेवा नहीं आती। वीतराग की सेवा राग द्वारा कैसे हो? तलवार की तीक्ष्ण धार पर नाचने से भी सूक्ष्म और कठिन इस चैतन्यतत्त्व का सेवन है। 'अनन्तनाथ भगवान' अर्थात् परमार्थ से अनन्त शक्ति का नाथ ऐसा यह चैतन्यभगवान, उसकी सेवा अन्तर के स्वानुभव द्वारा होती है; और उसकी सेवा की पद्धति सन्तों ने बतलायी है। राग के कर्तृत्व में अटके हुए अज्ञानी को 'अनन्तनाथ भगवान' की सच्ची सेवा करना नहीं आता। भाई! चैतन्य समुद्र में जो तरंगें उल्लसित हों, उसमें तो चैतन्यरस उछलता है। अन्दर मीठा चैतन्यरस भरा है, तो उसकी तरंग भी मीठी चैतन्यरूप ही होती है। चैतन्यरस के समुद्र में विकार की खारी तरंगें नहीं होतीं। जैसा अन्दर भरा हो, वैसी बाहर उसकी तरंग होती है।

अन्तर्मुख होकर चैतन्यभगवान की भेंट करने से उस शुद्धता की प्राप्ति होती है, विकार की नहीं होती। अन्तर्मुख परमात्मा से भेंट करे और पामरता रहे, ऐसा नहीं होता, आत्मा के स्वभाव को साधा, वहाँ विकार का कर्तृत्व नहीं रहता। आत्मा के सन्मुख होकर उसे साधने से ज्ञातापरिणाम हुए, और वहाँ रागादि विभावपरिणाम को पररूप से (व्यवहाररूप से) जाने, उसका कर्तृत्व नहीं रहा। उसका आदर नहीं रहा। देखो! इसमें निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण आ गया। निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध— ऐसे प्रकार द्वारा मोक्षमार्ग सधता है।

आत्मा की एक-एक शक्ति में बारह अंग का सार भरा है। स्वशक्ति के सन्मुख होकर परिणमना, उसमें जिनवाणी का सार समाहित हो जाता है। स्वरूप के परिणमन का जिसमें लाभ होता है—उतना आत्मा है; और जितने बाहर के परिणाम हैं, वे आत्मा के स्वभाव की चीज़ नहीं हैं। ऐसे स्वशक्तिसम्पन्न आत्मा को प्रतीति में लेना, वह सच्ची आत्मप्रतीति है और ऐसी प्रतीति होने पर आत्मा परभावों के अकर्तृत्वरूप से परिणमता है। ऐसा अकर्तृत्वशक्ति का सम्यक् परिणमन ज्ञानभाव के साथ वर्तता है।

अकर्तृत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

दुःख के कारणों से दूर हट जा

भाई! तेरे दुःख की कथा तो इतनी बड़ी है कि उसे पूर्णतः केवली भगवान ही जानते हैं; कथन में तो अल्प ही आता है। मिथ्यात्वादि कैसे भाव तुमने सेये और उनके सेवन से तुम कैसे दुःखी हुए? — यह बात सुनो! सुनकर अब उनका सेवन छोड़ दो। तुमको किसी दूसरे ने नहीं रुलाया, किन्तु अपने मिथ्यात्वभाव से ही तुम रुले और दुःखी हुए। मिथ्यात्व और राग-द्वेष, दुःख के कारण हैं। राग, अशुभ हो या शुभ, दोनों में दुःख है। शुभ से भले स्वर्ग मिले, किन्तु वह भी दुःख है। शुभराग से स्वर्ग मिल जाए, किन्तु कहीं भी शुभराग से आत्मा नहीं मिल सकता अथवा आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कोई गुण, शुभराग से नहीं मिलते। राग तो स्वयं दोष है, उसके द्वारा गुण की प्राप्ति कैसे हो? कभी नहीं होती। मिथ्यात्व और राग, स्वयं ही दुःख है, उसका फल भी दुःख है, तब फिर वह मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी उसको सुख का कारण समझ रहा है। जो वीतराग-विज्ञान है, वह सुख है; जो राग-द्वेष-अज्ञान है, वह दुःख है — ऐसा जानकर, हे जीव! दुःख के कारणों से तू दूर हट जा और सुख के लिये वीतराग-विज्ञान को प्रकट कर।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन

[२२]

अभोक्तृत्वशक्ति

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्व –शक्तिः।

समस्त, कर्मों से किये गये, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणामों के अनुभव की (–भोक्तृत्व की) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति।२२।

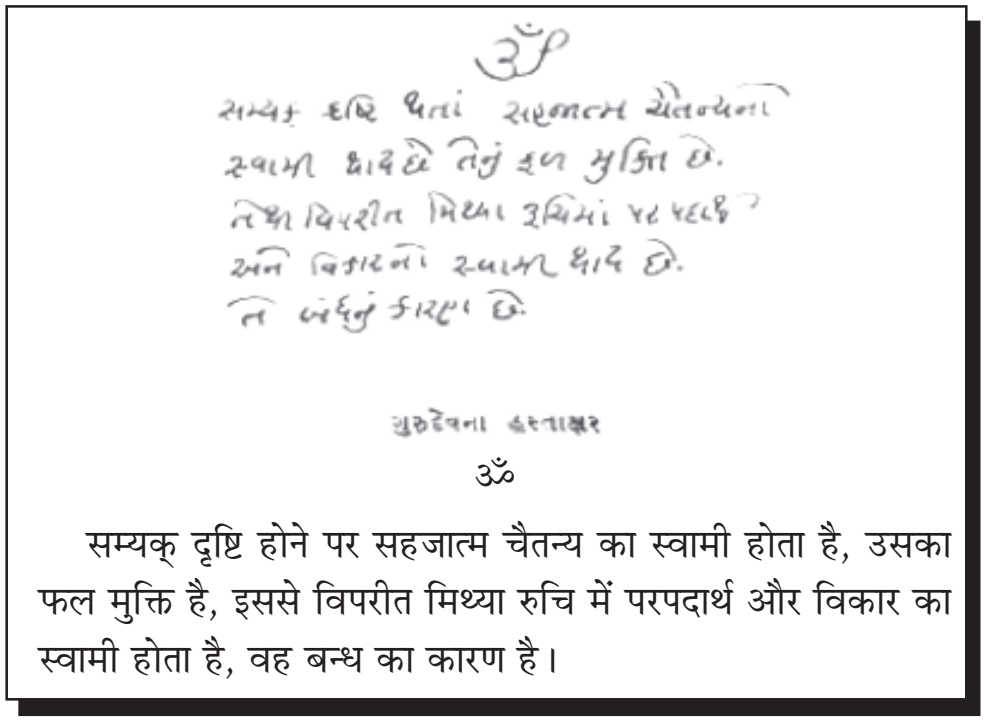

ॐ

सम्यक् दृष्टि थतां सहजात्म चैतन्यना
स्वामी थाय छे तेनुं फल मुक्ति छे.
तेथी विपरीत मिथ्या रुचिमां परद्रव्य
अने विकारनो स्वामी थाय छे.
ते बंधनुं कारण छे.

गुरुदेवना हस्ताक्षर

ॐ

सम्यक् दृष्टि होने पर सहजात्म चैतन्य का स्वामी होता है, उसका फल मुक्ति है, इससे विपरीत मिथ्या रुचि में परपदार्थ और विकार का स्वामी होता है, वह बन्ध का कारण है।

जैसे राग-द्वेषादि कर्म की ओर के भाव ज्ञान से भिन्न हैं, उनके कर्तृत्वरहित आत्मा का स्वभाव है—वह अकर्तृत्वशक्ति द्वारा बतलाया। इसी प्रकार हर्ष-शोकादि भाव भी ज्ञान से भिन्न हैं और उनके भोक्तृत्वरहित आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह इस अभोक्तृत्वशक्ति में बतलाते हैं। यद्यपि जिसे अकर्तास्वभाव का भान होता है, उसे अभोक्तास्वभाव का भी भान साथ में होता ही है, परन्तु समझाने के लिये प्रत्येक शक्ति का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है, क्योंकि सभी शक्तियाँ एक साथ नहीं कही जा सकती। किसी भी एक शक्ति द्वारा आत्मा को पहिचानने पर, उसकी अनन्त शक्तियाँ भी साथ आ ही जाती हैं।

ज्ञानभाव से परिणमते आत्मा में ऐसा अभोक्तृत्व है कि कर्मकृत हर्ष-शोकादि को वह भोगता नहीं। आठों कर्म के किसी फल का भोक्तापना ज्ञान में नहीं है। अनन्त गुण के वैभव से भरपूर आत्मा अपने आनन्द के निधान को भोगनेवाला है। स्वभावघर में भरपूर आत्मवैभव का यह वर्णन है। जो वैभव तुझमें विद्यमान है, वह सन्त तुझे बतलाते हैं। कहीं बाहर से लाना नहीं है, आत्मा में ही अनन्त गुणनिधान भरे हुए हैं। एक-एक गुण अपने स्वभावसामर्थ्य के पूर्ण परिणमन की सामर्थ्य से भरपूर है। ज्ञान में केवलज्ञान की सामर्थ्य भरी है, आनन्द में पूर्ण आनन्द की सामर्थ्य भरी है, अभोक्तृत्व में कर्मफलचेतना का अभाव करके पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द को देने की सामर्थ्य है, ऐसी अनन्त आत्मशक्तियों को आचार्यदेव ने बहुत खोल-खोलकर वर्णन किया है। प्रवचनसार के अन्त में वे कहते हैं कि हे जीवों! स्याद्वादविद्या के बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक पूर्ण स्वतत्त्व को अनुभव करके तुम आनन्दित होओ। चैतन्य के स्वाधीन ज्ञान-आनन्दस्वभाव की बहुत-बहुत महिमा वर्णन करके अन्त में उसके अनुभव के लिये कहते हैं कि चैतन्य की महिमा वाणी से तो कितनी कही जा सकती है? अमन्दपने जोर से जो कुछ कहने में आया, वह तो सब चैतन्य में 'स्वाहा' हो गया। इसलिए वाणी की ओर का विकल्प छोड़कर तुम तुम्हारे चैतन्य को चैतन्यभाव से आज ही अनुभव करो। इस परम चैतन्यतत्त्व के अनुभव से दूसरा कोई इस जगत में उत्तम नहीं है। अनन्त शक्ति का चाहे जितना वर्णन करके महिमा की जाये, परन्तु आत्मा स्वयं अन्तर्मुख होकर जब अपने निजवैभव को साक्षात् अनुभव करे, तब उसे अपनी सच्ची महिमा की खबर

पड़ती है। आचार्यदेव के कथन में गहरे स्वानुभव का जोर है। अपने स्वानुभवरूप निजवैभव के जोर से शुद्ध आत्मस्वभाव का वर्णन इस समयसार में किया है। कोई अद्‌भुत रचना है! तथापि कहते हैं कि हे भाई! वाणी से पार नहीं पड़ेगा, स्वानुभव से पार पड़ेगा; इसलिए आज ही आत्मा का स्वानुभव कर। हम हमारे स्वानुभव से बतलाते हैं और तू तेरे स्वानुभव से अन्तर में ऐसे आत्मा को देखना।

आत्मा में जैसे ज्ञान है, आनन्द है, वैसे एक अभोक्तृत्वस्वभाव भी है कि जिस शक्ति का कार्य हर्ष-शोकादि कर्मफल के भोगपने से विराम पाने का है। आनन्द का ही भोग करने का आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के स्वभाव में ऐसा कोई गुण नहीं अथवा किसी गुण का ऐसा कार्य नहीं कि जो दुःख का भोग दे। आत्मा जहाँ ऐसे स्वभाव में झुककर परिणमित हुआ, वहाँ उस परिणमन में आनन्द का ही अनुभव रहा, मोहादि का अनुभव उसमें नहीं रहा; इस प्रकार परभावों का अभोक्तापना हुआ।

जिस परिणाम ने अन्तर्मुख होकर ज्ञानस्वभावी द्रव्य को दृष्टि में लिया, उस परिणाम में द्रव्य के आनन्दभाव का ही वेदन है, दुःख का वेदन उसमें नहीं है। दुःख, वह कहीं द्रव्यस्वभाव के आश्रय से हुए परिणाम नहीं है। श्रेणिकराजा का जीव नरक में भी अभी अपने आत्मा को आनन्द परिणाम का ही भोक्ता जानता है और जो दुःख है, उसे स्वभाव के कार्यरूप से नहीं जानता; उसके अभोक्तापने ही उसका आत्मा परिणम रहा है। अहा! पर्याय में विद्यमान, तथापि उन परभावों का अभोक्तापना—यह तो स्वभावदृष्टि की कोई अपूर्व बात है; स्वभाव की परिणति प्रगट करे, तब ही समझ में आये—ऐसी यह अन्तर की बात है—जिसे समझने से अवश्य सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

*

(वीर संवत् २४९१, पौष शुक्ल १४)

भाई! तुझे आनन्द चाहिए है न? तो आत्मा में आनन्द का भोग कैसे प्रगट हो? और दुःख का भोग कैसे मिटे? उसकी यह बात है। आत्मा ज्ञानस्वभावी पदार्थ है, उसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। उसमें एक अभोक्तृत्वशक्ति ऐसी है कि जिसके बल से आत्मा परभावों के भोक्तृत्व से दूर रहता है। आत्मा का स्वभाव क्या है? वह स्वभाव

किसका कर्ता है ? किसका भोक्ता है ? और किसका कर्ता-भोक्तापना उसमें नहीं ?— यह सब पहलू बराबर समझकर, उस स्वभाव को लक्ष्य में ले तो उसे स्वभाव का लाभ होता है; और स्वभाव से विरुद्ध ऐसे परभावों का वेदन रुक जाता है।

विकार के भोगपने का जिसमें अभाव है, ऐसे ज्ञानस्वभाव को दृष्टि में लेने से पर्याय में उसका लाभ होता है, अर्थात् कि विकार का भोगपना मिटकर आनन्द का वेदन प्रगट होता है। ज्ञानभाव में ऐसे आनन्द का वेदन है, परन्तु ज्ञानभाव में क्रोधादि का वेदन नहीं। ये क्रोधादि भाव तो ज्ञान से भिन्न हैं।

✦ आत्मा शरीर को—पैसे को—भोजन इत्यादि पर को भोगे, ऐसा तो उसके द्रव्य-गुण में और पर्याय में भी नहीं है, क्योंकि अज्ञानदशा में भी पर का भोक्तृत्व नहीं है।

✦ अज्ञानभाव से पर्याय में हर्ष-शोक को भोगता है, दुःख को भोगता है, परन्तु वह भोग त्रिकाली द्रव्य-गुणस्वभाव में नहीं है।

✦ अभोक्ता शक्तिवाला जो ज्ञानस्वभाव, उस स्वभावसन्मुख परिणति हुई, वहाँ पर्याय में भी विभाव के अभोक्तारूप परिणमन हुआ। वहाँ द्रव्य-गुण और पर्याय में कहीं आत्मा को परभाव का भोक्तापना नहीं है। ऐसा परिणमन करे, तब आत्मलाभ हुआ कहलाये, तब आत्मवैभव प्रगट हुआ कहलाये।

पर से भिन्न और अपने अनन्त गुण-पर्यायों से अभिन्न—ऐसा ज्ञानमूर्ति आत्मा अपनी निर्मलपर्यायों में व्यापनेवाला है। अपने स्वभावसन्मुख होकर निर्मलपर्याय में आत्मा व्याप्त हो, वह धर्म है; अपने स्वभाव को भूलकर विकार में व्याप्त हो, वह अधर्म है; जड़ में और पर में तो आत्मा कभी व्याप्त होता ही नहीं।

हर्ष-शोक, वह आस्रवतत्त्व है; वह शुद्ध जीवतत्त्व नहीं है। शुद्ध जीवतत्त्व के भोग में हर्ष-शोक का भोगपना रहता नहीं और हर्ष-शोक के भोगपने में शुद्ध जीव का स्वाद आता नहीं। इसलिए स्वभाव में परिणमते आत्मा को हर्ष-शोक के भावों का भोक्तापना नहीं है, वह उसका अभोक्ता है। स्वभाव में से जो निर्दोष आनन्द प्रगट हुआ है, उसका उसे भोक्तापना है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा को ध्येय करने से जो ज्ञानमात्र भाव प्रगट हुआ, उस ज्ञानमात्रभाव में कर्म की ओर के किसी भावों का भोक्तृत्व नहीं रहता;

कर्म की ओर के भाव ज्ञानभाव से अत्यन्त भिन्न हैं; जितने उदयभाव हैं, उन सबसे ज्ञानी का ज्ञान भिन्न ही वर्तता है; प्रज्ञाछैनी से लक्षणभेद द्वारा अत्यन्त भेद कर ज्ञान को और परभावों को पृथक् कर दिया है, इसलिए उसके ज्ञान में परभावों का भोक्तापना किंचित् भी नहीं है।—ऐसा ज्ञान के साथ की अभोक्तृत्वशक्ति का सम्यक् परिणमन है।

'ज्ञानभाव' प्रगट हो और उसके साथ परभावों का अभोक्तापना प्रगट न हो, ऐसा नहीं होता। जगत के जीव एक मीठी (प्रिय) चीज़ के लक्ष्य से दूसरी चीज़ों के स्वाद को भूल जाते हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु को जगत में सबसे मीठे अतीन्द्रिय आनन्दरस से भरपूर इस चैतन्य भगवान आत्मा का स्वाद जहाँ प्रगट हुआ, वहाँ हर्ष-शोक के आकुल स्वाद का भोक्तापना नहीं रहता। उस आकुलस्वाद को चैतन्य के स्वाद से भिन्न जानता है। अतीन्द्रिय-आनन्द के मधुर स्वाद के समक्ष हर्ष-शोकादि कलुष परिणामों का भोक्तृत्व नहीं टिकता—उसका भोक्तृत्व विराम पा जाता है।

आनन्दमय चैतन्यस्वभाव स्वाद में (अनुभव में) आने पर पर्याय भी वैसे ही आनन्दभाव से परिणम जाती है; पश्चात् उसमें आकुलता का स्वाद नहीं रहता। भाई! तेरे अन्दर के सहज परिणमन की बात है; यह कहीं बोझा नहीं है; बोझा तो विकार में है। स्वभाव का अनुभव होने से उस विकार के भोक्तृत्व का बोझा उतर गया; विकार के वेदन का अन्त आ गया और आत्मा हल्का फूल होकर आनन्दरस का स्वाद लेने में लीन हुआ। स्वभाव में तो विकार का अभाव था ही, और अब पर्याय में भी उसका वेदन छूट गया। आत्मा का जैसा अभोक्ता स्वभाव था, वैसा प्रगट प्रसिद्ध हुआ।

चैतन्य के आनन्द का परमस्वाद अज्ञानी को ख्याल में भी नहीं आता, विकार के वेदन में लवलीन वर्तता आत्मा उससे भिन्न चैतन्य के आनन्द का स्वाद कहाँ से जाने? यहाँ अभोक्तास्वभाव बतलाकर विकार का वेदन कैसे छूटे, यह बताया है। १४८ कर्मप्रकृति की ओर के भाव का भोक्तृत्व आत्मा के स्वभाव की चीज़ नहीं, इसलिए आत्मा जहाँ स्वभावरूप होकर परिणमित हुआ, वहाँ उस भाव का भोक्तृत्व विराम पा जाता है—छूट जाता है और ज्ञानमय आनन्द का वेदन प्रगट होता है।

विकार का वेदन, वह आत्मवेदन नहीं; वह तो अनात्मवेदन है। जैसे शोक का

वेदन दु:खरूप है, उसी प्रकार हर्ष का वेदन भी आकुलता और दु:खमय है, वह कहीं आत्मवेदन नहीं। आत्मा का वेदन तो आनन्दरूप होता है, उसमें आकुलता (हर्ष और शोक) नहीं होते। आत्मा तो आनन्दस्वभाव का पिण्ड है। उसमें से तो आनन्द का वेदन प्रगट हो, उसमें से हर्ष-शोक का और आकुलता का वेदन प्रगट नहीं होता। स्वभाव सन्मुख जहाँ परिणति उल्लसित हुई, वहाँ उस परिणति में परभाव का वेदन नहीं रहता; उसमें तो आनन्द और शान्ति का उफान आता है। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा ने ऐसा आनन्दमय आत्मा प्रगट अनुभव किया और समवसरण में सभा में श्रोताओं को भी उसके अनुभव की पद्धति बतलायी। वही बात इस समयसार में सन्तों ने बतलायी है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान अलग, कर्म अलग; ज्ञान में कर्म नहीं, कर्म में ज्ञान नहीं; ऐसी दोनों की भिन्नता है। आठ कर्म के फल का भोक्तृत्व भगवान आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा की अनन्त शक्तियों में आठ कर्म के फल के भोक्तृत्व का अभाव है और ऐसे स्वभाव को ध्येयरूप—लक्ष्यरूप करने से जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ, उस ज्ञानभाव में विकार का भोक्तृत्व नहीं है, इसलिए पर्याय में भी अभोक्तापना हुआ। इस प्रकार पर्याय में अभोक्तापने के परिणमनसहित अभोक्तास्वभाव प्रसिद्ध होता है। अभोक्तास्वभावी आत्मा को स्वीकार करे और पर्याय में वैसा परभाव का अभोक्तापना न खिले, ऐसा नहीं होता।

बड़ा राजा या सेठ हो, पुण्य के ठाठ के बीच खड़ा हो, बँगला-मोटर इत्यादि लाखों-करोड़ों के वैभव का भोग करता दिखाई दे, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि इस भोग में कैसा सुख है!—यह सेठ भारी सुखी है। परन्तु भाई! यह तो तेरी बाहर की दृष्टि है, और वह दृष्टि मिथ्या है। बाहर के पदार्थों का भोग तो आत्मा को है ही नहीं। बाहर का वैभव आत्मा का है ही नहीं तो फिर उसमें आत्मा का सुख कहाँ से होगा? यहाँ तो अन्तर के स्वभाव की गहरी बात है कि पर्याय में क्षणिक हर्ष-शोक का और साता-असाता का वेदन करने का आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा का स्वभाव विभावों के भोक्तृत्व से विराम पा गया है और उस स्वभावसन्मुख झुकी हुई पर्याय भी परभावों के भोक्तृत्व से विराम पा गयी है। आत्मा में ऐसी पर्याय प्रगट हो, तब वह जीव सच्चा जैनधर्मी हुआ कहलाता है। जिसमें विकार के भोक्तृत्वरूप वस्त्र नहीं, ऐसी जो निरालम्बी,

विकार के आवरणरहित की ज्ञानपरिणति, वही दिगम्बर जैनधर्म है। ऐसी ज्ञानपरिणति बिना किसी जीव को धर्म नहीं होता।

सर्वज्ञप्रभु को जितना आत्मवैभव प्रगट हुआ, वह समस्त ही तेरे गुण में है। जहाँ अन्तर्मुख होकर उसका स्वीकार किया, वहाँ उसे प्रगट होने की शुरुआत हो गयी—साधकभाव हो गया। अरे! ऐसा वह कौन होगा कि अपने में उत्तम वस्तु पड़ी हो, उसे तो न भोगे और तुच्छ अशुद्ध वस्तु का स्वाद ले? हे जीव! परम आनन्द के स्वाद से भरपूर तेरी उत्तम वस्तु हम तुझे बतलाते हैं, उसे तू भोग, और विकार के भोक्तृत्व से विराम पा! विभाव का भोक्तृत्व जिसमें विराम पा गया है, ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा कर, ज्ञान कर, अनुभव कर। अहो! ऐसा मेरा स्वभाव!—इस प्रकार स्वसन्मुख का उल्लास उछलने से पर्याय विकार का भोक्तृत्वपना छोड़कर स्वभाव के आनन्द को भोगती है।

भाई! एक बार तेरी दृष्टि पलटा दे। बाहर में वैभव का संयोग होने पर भी धर्मात्मा को अन्तर में निजवैभव के ऊपर दृष्टि पड़ी है, उस दृष्टि में कहीं अंशमात्र विकार का और पर का स्वामित्व और भोक्तृत्व नहीं है; स्वभाव की महिमा की दृष्टि में निजानन्द का ही भोक्तृत्व है; उसमें अन्य भोक्तृत्व का अभाव है।

✦ यदि आत्मा अजीव को भोगे तो आत्मा अजीव हो जाये।

✦ यदि आत्मा विकार को तन्मयरूप से भोगे तो वह 'अनात्मा' हो जाये।

✦ आत्मा निजस्वभाव से अपने ज्ञानानन्दरूप निर्मलभाव को भोगता है। उसमें आत्मा की आत्मारूप से प्रसिद्धि है और उसमें समस्त परभावों का अभोक्तृत्वपना है।

हे जीव! राग की मिठास की आड़ में तू तेरे चैतन्य भगवान के आनन्द का भोग भूल गया है। अरे! राजा अपना राजपन भूलकर बेभानरूप से कचरे का स्वाद लेने गया! क्या राजा को वह कहीं कचरे के दुर्गन्धी पदार्थ का भोक्तृत्व शोभा देता है?—शोभा नहीं देता। उसी प्रकार जगत का यह चैतन्य राजा, उसे वह अपने निजवैभव को छोड़कर क्या विकार का भोक्तृत्व शोभा देता है?—नहीं बापू! वह भोक्तृत्व तेरा नहीं; भूल से उसमें तूने आनन्द माना। तेरे भोगपने की वस्तु तो महा आनन्दरूप है, उसमें विकार के भोक्तृत्व का स्थान नहीं है।

जीव के परिणाम, उसमें दो जाति—

(१) स्वभाव के लक्ष्य से हुए अभोक्तारूप ज्ञाता परिणाम;

(२) कर्म की ओर के झुकाव से हुए हर्ष-शोकादि परिणाम;

—उसमें हर्षादि के अभावरूप और ज्ञातापरिणाम के भावरूप—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। जितना स्वभाव-सन्मुख आया, उतना विभाव के भोक्तृत्व से निवृत्त हुआ; जो अल्प रागादि बाकी रहे, उनसे पृथक् रहकर उन्हें जानता है, परन्तु उनमें तन्मय होकर उनके भोक्तापने नहीं परिणमता। पर्यायदृष्टि में उसका भोक्तृत्व दिखता है परन्तु स्वभाव दृष्टि में वह भोक्तृत्व आत्मा में नहीं है; और आत्मा की ओर एकाग्र हुई पर्याय में भी वह भोक्तृत्व नहीं है।—इस प्रकार धर्मी को ज्ञानभाव के साथ अभोक्तापना वर्तता है।

सात भयों में वेदना का भय ज्ञानी को क्यों नहीं है? यह बताते हुए आचार्यदेव ने कलश १५६ में कहा है कि अभेदरूप ऐसे वेद्य-वेदक के कारण ज्ञानी निराकुलरूप से एक अचल ज्ञान का सदा वेदन करते हैं। ज्ञानियों को यह एक ज्ञान का ही वेदन होता है; ज्ञान से भिन्न दूसरी कोई वेदना ज्ञानी को नहीं होती, इसलिए ज्ञानी को पुद्गलकृत वेदना का भय नहीं होता। वह तो निरन्तर निःशंकरूप से अपने सहज ज्ञान को आनन्द से अनुभव करता है। ज्ञान वेदक और राग उसका वेद्य, ऐसा भिन्न वेद्य-वेदकपना नहीं होता। ज्ञान वेदक होकर अपने से अभिन्न ऐसे निर्मल ज्ञान-आनन्दादि निजभावों को वेदता हे परन्तु अपने से अभिन्न ऐसे परभावों को वह वेदता नहीं; उनका तो वह अवेदक है, अभोक्ता है।

प्रभु! तेरी प्रभुता में तो आनन्द का भोग है, उसमें विकार का भोग नहीं होता। जैसे 'खाखरा की गिलहरी आम के स्वाद को क्या जाने?' इसी प्रकार विकार की गिलहरी चैतन्य के आनन्द के अत्यन्त मधुर स्वाद को कहाँ से जाने? भाई! राग के वेदन में तन्मय होकर तू भिन्न ज्ञान के स्वाद को भूल जाता है, इसलिए तुझे चैतन्य के आनन्द का भोग करना नहीं आता। मिष्टान्न इत्यादि का भोग करना तू मान रहा है, परन्तु वह स्वाद तो जड़ है, तेरे आत्मा को जड़ के और विकार के स्वाद का भोगनेवाला मानकर तू पामर हो रहा है, परन्तु तेरा स्वभाव ऐसा नहीं है। क्या तेरा अस्तित्व विकार

में है ? क्या तेरा अस्तित्व संयोगों में है ? नहीं; तेरा अस्तित्व तो तेरे अनन्त गुण के धाम में है। संयोगरूप और विकाररूप तू नहीं है, तू तो अनन्त गुणरूप है। जहाँ तू है, वहाँ तो अनन्त आनन्द के समुद्र भरे हैं। तू आनन्द के समुद्र में रहनेवाला है और उसमें तो विकार का अभोक्तापना है; उसके बदले तू विकार के और संयोग के भोक्तृत्व में ही तेरा अस्तित्व मानता है—वह तो महाभ्रम है। यहाँ ज्ञान में विकार का अभोक्तृत्व समझाकर आचार्यदेव वह भ्रम छुड़ाते हैं।

अहा! इतना बड़ा यह आत्मा,—इसे कौन स्वीकार करे ? विकार के वेदन में खड़ा हुआ जीव उसे स्वीकार नहीं कर सकता। विकार से पार ऐसे चैतन्यलक्षण को पकड़कर अन्तर्मुख होनेवाला ही अपने महान आत्मा को देखता है। जगत में अनन्त जीव हैं, उसमें से प्रत्येक जीव ऐसे महान परमस्वभाव से परिपूर्ण है। जगत (अर्थात् कि लोकाकाश) अनन्तानन्त जीवों से ठसाठस भरा हुआ है, और उन सभी जीवों में अपनी-अपनी परमात्मशक्ति ठसाठस और परिपूर्ण भरी है। आत्मस्वभाव में ऐसा सामर्थ्य है कि तीन काल—तीन लोक को सहजरूप से, विकल्प बिना जाने, अपने अनन्त आनन्द को लीनरूप से भोगे और परभावों का अभोक्ता रहे—ऐसा आत्मा का स्वभाव, उसमें विकल्प नहीं; दया का शुभ, और हिंसा का अशुभ कोई विकल्प ज्ञानस्वभाव की चीज़ नहीं है और उसका भोक्तृत्व ज्ञान में नहीं है। अरे भाई! आत्मा का स्वभाव, वह कहीं परभाव के भोक्तृत्व में अटके ? परभाव का भोक्तृत्व, वह कहीं आत्मशक्ति का कार्य है ? नहीं। आत्मा अर्थात् 'ज्ञायकभाव'—वह तो पुण्य-पाप और हर्ष-शोक की वृत्ति से पार ज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्र स्वभाव को तू लक्ष्य में ले। उस ज्ञान के साथ अनन्त शक्तियों का वेदन आयेगा, परन्तु विकार का वेदन उसमें नहीं आयेगा।

सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा गृहस्थपने में हो, अनेक वैभव हो, हर्षादि परिणाम होते हों, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह जीव सबको करता है—भोगता है। धर्मी के अन्तर के ज्ञान परिणमन की उस अज्ञानी को खबर नहीं, पहिचान नहीं। बापू! जिसके वेदन में हम नहीं खड़े, वहाँ तू हमको माने तो वह तेरी भूल है, हम हमारे अनन्त गुणों की निर्मलता के भोक्तृत्व में हैं, उसकी तुझे खबर नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव बाहर की प्रतिकूलता में हो, अरे! नरक के संयोग में हो, आकुलपरिणाम भी होते हों, तथापि वह

प्रतिकूलता को नहीं भोगता, आकुलता को नहीं भोगता; वह तो स्वभाव की दृष्टि द्वारा निर्मल परिणति के सुख की गटागटी करता है, उसमें उसे विकार का अभोक्तापना है। सम्यग्दृष्टि की परिणति अटपटी (गम्भीर) है, बाहर में तो नारकीकृत दुःख भोगता है और अन्तर में चैतन्य के सुखरस को गटगटाता है। (इसी प्रकार से स्वर्ग के सम्यग्दृष्टि देव को बाहर में स्वर्ग के सुख का भोक्तृत्व दिखाई दे, परन्तु वास्तव में उसका भोक्तृत्व उसे नहीं है, वह तो अन्तर के चैतन्यसुख को ही गटगटाता है।—इस प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के संयोगों में ज्ञानी का अभोक्तृत्वपना जानना चाहिए।) सातवें नरक में भी जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उस जीव को ऐसी अन्तरदशा होती है। बाहर की प्रतिकूलता का जहाँ पार नहीं, परन्तु अन्दर की ज्ञानपरिणति उससे पार है, उस परिणति में आनन्द का पार नहीं। वह सम्यग्दृष्टि दुःख को भोगता है—इतना ही जो देखता है और उसी समय उसमें दुःख के अभोक्तापनेरूप जो ज्ञानभाव है, उसे जो नहीं देखता, वह जीव सम्यग्दृष्टि के आत्मा को नहीं पहिचानता।

सिंह और सियार शरीर को खा जाते हों, उस समय भी मुनिराज दुःखी नहीं हैं। उन्हें दुःख का वेदन नहीं है, उन्हें तो ज्ञानभाव का ही वेदन है। ज्ञानभाव में दुःख का प्रवेश ही कहाँ है? जहाँ दुःख कभी प्रवेश नहीं कर सकता, ऐसे ज्ञानभाव में ज्ञानी का वास है। हर्ष-शोक की किंचित् वृत्ति आवे तो उस समय भी उसके अभोक्तृत्वपने का ज्ञानभाव उन्हें वर्तता है। सिंह शरीर को फाड़ खाये, इससे मुनि को दुःखी मानता है तो वह मुनि की देहातीत दशा को पहिचानता नहीं। स्वयं को देहाध्यास है, इसलिए सामनेवाले को भी देह से पार जो ज्ञानदशा है, उसे वह नहीं देख सकता। अहा! मुनि का ज्ञानभाव तो निजानन्दरस के अनुभव में मग्न है। उस ज्ञानभाव को तू पहिचानता नहीं तो तू वास्तव में मुनि के आत्मा को पहिचानता नहीं। भाई! तुझमें अभोक्तृत्वपने का भाव प्रगट नहीं हुआ, इसलिए सामनेवाले के अभोक्तृत्वपने के भाव को तू नहीं देखता। आत्मा निजस्वभावगुण को भोगनेवाला है, उसके बदले परभाव का वेदन, वह आत्मा का स्वरूप नहीं; धर्मी आत्मा उसका ज्ञाता रहता है, वह परभाव के वेदन को ज्ञान में मिलाता नहीं, परन्तु उसे भिन्न रखकर स्वयं ज्ञानमय भावरूप से रहता है। परभावों से भिन्न ऐसे ज्ञानमय आत्मा को जो जाने, अनुभव करे, उसने आत्मा को जाना, (ऐसा) कहा जाता है।

पौष शुक्ल पूर्णिमा (वीर संवत् २४९१)

आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न ज्ञानस्वभावी वस्तु है; जगत में वह महान आश्चर्यकारी और महिमावन्त वस्तु है। ऐसी अपनी महिमा और आश्चर्य भूलकर पर की महिमा और पर का आश्चर्य करता है, वह अज्ञानी का मोह है। भाई! जब प्रतिकूलता का घेरा आयेगा, तब तू कहाँ नजर करेगा? उससे भिन्न तेरे चैतन्यवैभव की तो तुझे खबर नहीं, इसलिए तू तो प्रतिकूलता में घिर जायेगा। संयोग से पार तेरे स्वभाव में बेहद शान्ति भरी है, उसमें नजर करने से तुझे शान्ति का वेदन होगा। संयोग के वेदनवाला आत्मा नहीं; संयोग आत्मा को शरणरूप नहीं। इस जगत में मुझे दूसरे किसी का शरण नहीं, पुण्य की भी मुझे शरण नहीं। मुझे शरण तो मेरे आत्मा की अनन्त शक्तियाँ हैं—इस प्रकार निजशक्ति में नजर करने से शान्ति का वेदन हो और विकार का वेदन टले। ऐसी आत्मशक्ति प्रगट करनेवाले और दिखलानेवाले पंच परमेष्ठी भगवन्त व्यवहार से शरण हैं और उन्होंने दिखलाया हुआ आत्मस्वभाव, वह परमार्थ से शरण है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई शरण नहीं है।

अचिन्त्य विस्मयकारी अद्‌भुत अलौकिक महिमावन्त आत्मस्वभाव,—जिसमें नजर करने से आत्मा निहाल हो और दुनिया की आशा मिट जाये, वह आत्मा को विश्राम का स्थान है; उसमें नजर करने से दूसरा विश्राम शोधना मिट जाता है और भव की थकान उतर जाती है। परवस्तु से दुःख नहीं, चैतन्यवस्तु में भी दुःख नहीं; लोग कहते हैं 'सिर पर आकाश फट पड़ा है'—परन्तु उसका दुःख नहीं। भाई! उस समय तेरे आत्मा का कुतूहल करके, उसे जानने की तीव्र जिज्ञासा करके, उसका परम प्रेम करके अन्दर के स्वभाव में उतर... तो तुझे दुःख नहीं परन्तु आनन्द का वेदन होगा। अरे! तुझे जगत के पदार्थों का कुतूहल होता है और तेरे अद्‌भुत स्वभाव को देखने का कुतूल क्यों नहीं होता? एक बार कुतूहल करके अन्दर डुबकी लगा। कोई अचिन्त्य निधान तुझे तुझमें दिखाई देंगे। यह देह तो धूल का ढ़ेर है, भले इसके ऊपर हीरा-माणेक लगाये हों, परन्तु उसमें तुझे क्या है? तेरे सुख का अंश भी उसमें आनेवाला नहीं है। अनन्त गुणरत्नों से मढ़ा हुआ तेरा चैतन्यस्वभाव, वह अनन्त सुख से भरपूर है, उसका वेदन ही परम सुखरूप है।

प्रभु! तेरे स्वभाव में ऐसा सत्व भरा है कि जिसे भोगने से पर को भोगने की इच्छा ही न हो और अपने से ही अपने को आनन्द का वेदन हो, तृप्ति हो। अहा! आत्मा के माहात्म्य का पार नहीं। वर्णन में तो ४७ शक्तियाँ आयीं, परन्तु अन्दर तो अनन्त शक्तियाँ हैं—जिनकी गिनती का पार नहीं। जैसे आकाश की विशालता का कोई माप नहीं, वह अनन्त—अमर्यादित है; उस अनन्त आकाश को भी अपने में पूरा जान ले, ऐसी जिसकी एक पर्याय की सामर्थ्य और इतनी ही नहीं परन्तु इससे भी अनन्तगुना जानने की जिसकी पूर्ण पर्याय की सामर्थ्य, ऐसी अनन्त पर्यायों के सामर्थ्यवाला एक गुण, और ऐसे अनन्त गुणों के एकरसरूप यह चैतन्यरत्नाकर,—उसकी अपूर्व महिमा एक बार भी जगाये तो जीव अवश्य मोक्ष प्राप्त करे।

अरे जीव! देख तो सही, तेरे आत्मा की महिमा कितनी महान है! दूसरे के द्वारा तू तेरी महत्ता मान-मानकर फूलता है परन्तु तेरे अपने में तेरी स्वाधीन महिमा कितनी बड़ी है, उसे तो देख! तेरे एक गुण की पर्याय के अनन्तवें भाग का अनन्त माहात्म्य है। आत्मा का एक ज्ञानगुण, उसकी एक सर्वज्ञपर्याय, और उस सर्वज्ञता के अनन्तवें भाग का १२ अंग का श्रुतज्ञान, उसकी भी अपार महिमा, तो ज्ञानादि अनन्त स्वभावों से भरपूर पूर्ण आत्मा के सामर्थ्य की महिमा की क्या बात! जो अनन्त गुणरत्नों का सागर है, जिसमें पर का और विकार का भोक्तृत्व नहीं, जिसमें बहिरभावों का स्पर्श नहीं,—ऐसे आत्मा को जो अनुभव करे, उसे परभावों का मैल स्पर्श नहीं करता। वह आत्मा निजानन्द का भोक्ता है और परभावों का भोक्ता नहीं।—ऐसी दोनों बातें इकट्ठी समझ लेना। आत्मा को राग के भोक्तापने के द्वारा पहिचानना, वह तो उसका अपमान करने जैसा है। राजा को कचरे के मालिकरूप से नहीं पहिचाना जाता। राजा तो रत्नजड़ित राजसिंहासन का स्वामी होता है, उसी प्रकार इस चैतन्य राजा को परभावरूपी मलिन कचरे के स्वामीरूप से (भोगनेवाले के रूप से) पहिचानना, वह राजा को कलंक है। चैतन्य राजा तो परभाव के भोक्तृत्वरहित अनन्त गुणरूपी रत्नमणि के सिंहासन का स्वामी है, जिसका भान होने से जन्म-मरण का अन्त होकर परमात्मदशा प्रगट होती है।

'भक्तामर स्तोत्र' में भगवान ऋषभदेव परमात्मा की स्तुति करते हुए स्तुतिकार मानतुंगस्वामी कहते हैं कि हे जिनेन्द्र! पहले अज्ञानदशा में अनेक कुदेवों को देखा,

परन्तु आपके जैसे वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को देखने के पश्चात् अब दूसरे किसी के प्रति हमारा चित्त नहीं लगता; उसी प्रकार साधकधर्मात्मा कहता है कि हे नाथ! संयोग और राग को हमने देख लिया, अज्ञानरूप से राग का स्वाद भी लिया, परन्तु अब आपने बताये हुए हमारे इस परम चिदानन्दस्वभाव को देखा, अचिन्त्य शक्तिवाले इस चैतन्यदेव को देखने के पश्चात् अब इस चैतन्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं किसी परभाव में हमारा मन नहीं लगता। ऐसे स्वभाव की दृष्टि, वह सम्यग्दर्शन है, और वह सम्यग्दर्शन केवलज्ञान को निमन्त्रित करता है—बुलाता है; अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ केवलज्ञान होकर ही रहेगा। सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ ऐसी सामर्थ्य का भान हुआ कि मैं तो ज्ञान हूँ और मेरे ज्ञान में विकार का भोक्तृत्व नहीं है।

तीर्थंकरप्रकृति के फल को आत्मा भोगता है?—तो कहते हैं कि नहीं; आत्मा अपने केवलज्ञान के साथ के अनन्त आनन्द को भोगता है, परन्तु तीर्थंकरकर्म की प्रकृति को और समवसरणादि वैभव को वह नहीं भोगता। इस प्रकार आठ कर्म की १४८ प्रकृति के किसी फल का भोक्तृत्व भगवान आत्मा के ज्ञानभाव में नहीं है। ऐसा अभोक्तृत्व नीचे से ही (चौथे गुणस्थान से ही) शुरु हो जाता है। तीर्थंकरप्रकृति को, कि जिस रागभाव से वह प्रकृति बँधी है, उस रागभाव को भी भोगने का भाव सम्यग्दृष्टि को नहीं है। चिदानन्दस्वभाव में राग का और राग के फल का अभाव है। धर्मी उसे निजभाव में नहीं मिलाता। राग को और उसके फल को भोगने की जिसे भावना है, उसे अभोक्तास्वभावी ज्ञानानन्द आत्मा की खबर नहीं, उसकी भावना नहीं। अभोक्तास्वभाव को जो जाने, उसकी पर्याय में राग का और उसके फल का भोक्तापना नहीं रहता, इसलिए कर्मफलचेतना से रहित शुद्ध ज्ञानचेतनारूप होकर वह केवलज्ञान प्राप्त करता है।

अभोक्तृत्वशक्ति का वर्णन समाप्त हुआ।

* * *

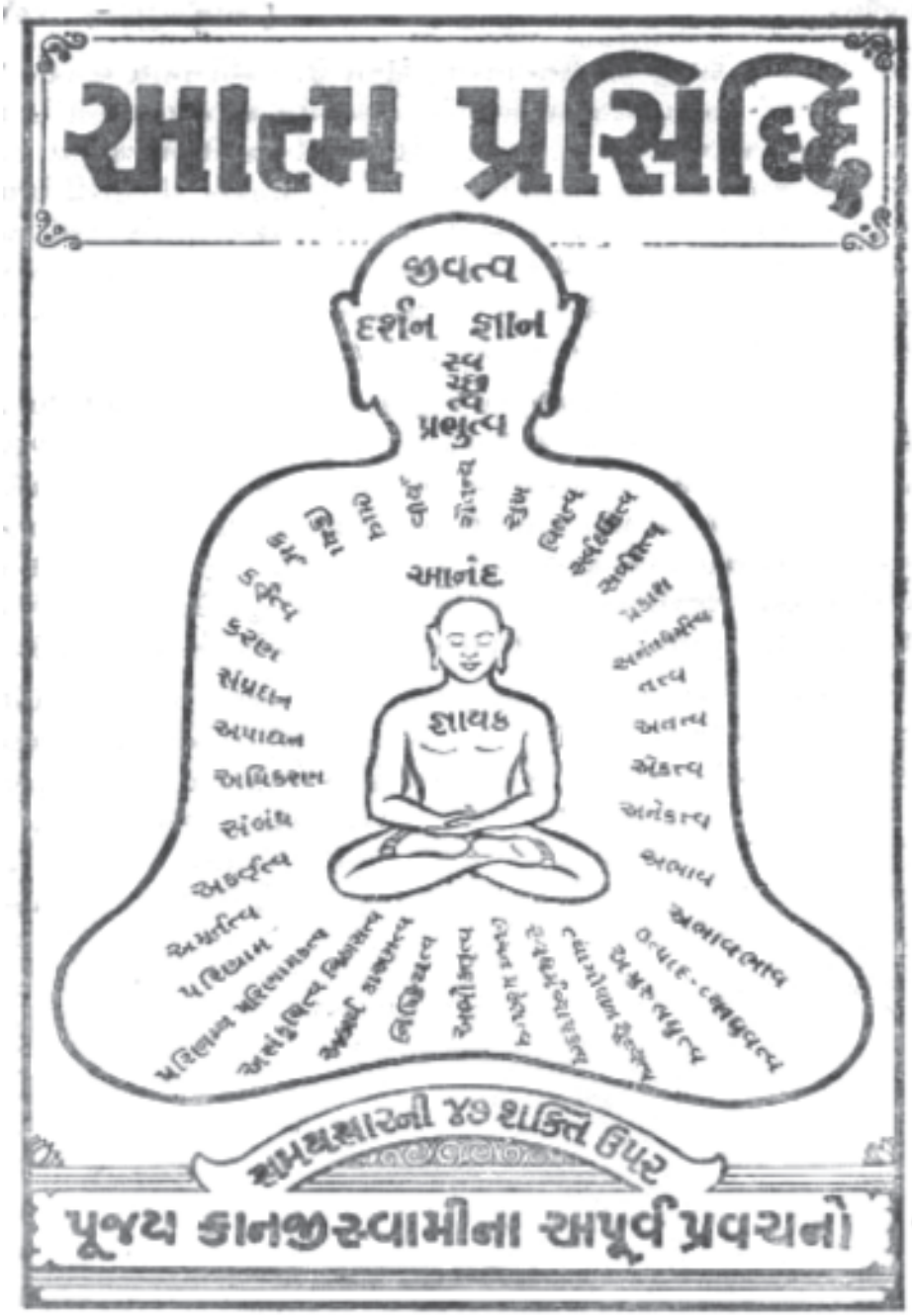
આત્મ પ્રસિદ્ધિ
જીવત્વ
દર્શન જ્ઞાન
પ્રભુત્વ
આનંદ
શ્રાવક
સમયસારની ૪૭ શક્તિ ઉપર
પૂજ્ય કાનજીસ્વામીના અપૂર્વ પ્રવચનો

[२३]

निष्क्रियत्वशक्ति

सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पन्द्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।

समस्त कर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप (अकम्पतास्वरूप) निष्क्रियत्वशक्ति। (जब समस्त कर्मों का अभाव हो जाता है, तब प्रदेशों का कम्पन मिट जाता है, इसलिए निष्क्रियत्व शक्ति भी आत्मा में है।)।२३।

प्रदेशों में कम्पन होने पर भी ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा और अनुभव करके केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता है; इसलिए तू ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसके अनुभव का उद्यम कर। ज्ञानस्वभाव के सन्मुख देखने से तेरी सर्व शक्तियों का शुद्ध परिणमन होगा, इसलिए पर्याय में से प्रदेशों का कम्पन भी छूटकर परम अकम्प ऐसी सिद्धदशा प्रगट होगी।

ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव जैसे परभावों के कर्तृत्व से रहित है, परभावों के भोक्तृत्व से रहित है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों के स्पन्दनरूप क्रिया से भी रहित है। उसका स्वभाव स्थिर-अकम्प-निष्क्रिय है। प्रदेशों का कम्पन, वह कर्म के निमित्त से हुआ उदयभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। समस्त कर्मों का अभाव होने पर चैतन्यबिम्ब स्थिर अक्रिय हुआ, वह आत्मा का स्वभाव है। कर्म का अभाव होने से पहले धर्मी को अपने ऐसे आत्मस्वभाव का अनुभव वर्तता है। धर्मी की स्वानुभूति में कर्म की ओर के सभी भावों का अभाव है।

शरीर-मन-वाणी इत्यादि पर की क्रिया का तो आत्मा में तीनों काल अभाव है; वे क्रियायें तो जड़ की हैं, आत्मा की नहीं। आत्मा के अपने असंख्यप्रदेशों के कम्पनरूप जो क्रिया है, वह भी आत्मा के स्वभाव की चीज़ नहीं; आत्मा तो सिद्धसमान स्थिर निष्क्रियस्वभावी है। आत्मा का ऐसा निष्क्रिय स्वभाव अनादि-अनन्त है, वह स्वभाव सिद्धदशा में व्यक्त होता है। धर्मी को अपना ऐसा निष्क्रिय चैतन्यस्वभाव प्रतीति में आया है, परन्तु वह प्रतीति में आने पर तुरन्त पर्याय में से कम्पन छूट नहीं जाता। प्रदेशों का कल्पन नये कर्म के आगमन में निमित्त है, परन्तु उस कम्पनरूप क्रिया का कर्तृत्व धर्मी की दृष्टि में नहीं रहा। धर्मी की दृष्टि में तो कर्म के साथ के निमित्त-सम्बन्ध बिना का चिदानन्दस्वभाव ही वर्तता है।

देखो, आत्मा में असंख्यप्रदेश, उसमें कम्पनरूप क्रिया, और सिद्धदशा में निष्पन्दतारूप अक्रियपना—ऐसा वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। अहा! सर्वज्ञप्रभु का अत्यन्त सूक्ष्म मार्ग, उसने चैतन्य के अद्‌भुत वैभव को प्रसिद्ध किया है। यह तो चैतन्य के दरबार की बात है; चैतन्यप्रभु का दरबार भारी मनोहर है। प्रभु की भक्ति में गाया जाता है कि 'दरबार तुम्हारा मनहर है....' वहाँ तो बाहर के समवसरण की अपार महिमा की बात है,—समवसरण अर्थात् भगवान का धर्मदरबार, वह गणधर-इन्द्र-चक्रवर्ती इत्यादि से अद्‌भुत शोभित होता है; भगवान के समवसरण—दरबार की शोभा और वैभव कोई अचिन्त्य होता है और अन्दर में चैतन्य भगवान के धर्मदरबार की शोभा का तो क्या कहना! उसके अनन्त गुण का वैभव कोई अपार है। उस चैतन्य दरबार में विकल्प का प्रवेश नहीं, विकार का प्रवेश नहीं, राग की

रुचि द्वारा उस दरबार में प्रवेश नहीं किया जाता; स्थिर जिनप्रतिमा मानो कि आत्मा के निष्कम्प चैतन्यस्वभाव को दर्शाती हो! इसलिए श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि 'चैतन्य जिनप्रतिमा हो... चैतन्य जिनप्रतिमा हो।'

असंख्य प्रदेशी अपना चैतन्यदेश, अनन्त गुण से भरपूर, जो किसी से कम्पित नहीं होता, ऐसा निरुपद्रवी स्थिर है, उसमें यह चैतन्यराजा अपनी निर्मल परिणतिसहित विराजता है और निजानन्द को भोगता है। परभाव को करता नहीं, परभाव को भोगता नहीं और स्वप्रदेश में कम्पित नहीं होता—ऐसा अकर्ता अभोक्ता और निष्क्रिय आत्मस्वभाव है, वह ज्ञानलक्षण से लक्षित है।

देखो! यह ज्ञानलक्षण का कार्य! ज्ञानलक्षण से पर से तो आत्मा को पृथक् किया, परभाव का कर्ता-भोक्तापना भी निकाल दिया और प्रदेशों के कम्पनरूप क्रिया भी निकाल दी। ज्ञानमय ज्ञप्तिक्रिया अपने में रखी और उसके द्वारा शुद्धात्मा का अनुभव कराया—ऐसा आत्मवैभव है। आत्मा पर को कम्पित करे या हिलावे, ऐसी तो सामर्थ्य आत्मा में नहीं और पर से उसके आत्मप्रदेश कम्पित हों, ऐसा भी उसका स्वरूप नहीं; अपनी पर्याय में कर्म के निमित्त से जो कम्पन होता है, वह कम्पन भी आत्मा के स्वभाव का कार्य नहीं है। ज्ञान की अनुभूति में कहीं कम्पन साथ में नहीं आता। कम्पन रहित अकम्पस्वभावी आत्मा है और सकल कर्म की निवृत्ति होने पर आत्मा का अकम्पस्वभाव साक्षात् प्रगट होता है, सिद्धालय में वह सादि-अनन्त स्थिर रहता है।

निष्क्रियत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

लोगों को समवसरण के ठाठ की महिमा दिखती है परन्तु यदि अन्दर चैतन्य के सर्वज्ञपद की परम अचिन्त्य महिमा पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। जगत के वैभव को जाननेवाला आत्मा स्वयं अपनी अपार चैतन्यसम्पदावाला है। जाननेवाले का अपार माहात्म्य है। चैतन्यविभूति के समक्ष जगत की विभूति भूतिसमान है।

सन्तों की प्रिय चीज़

जो वन-जंगल में बसते थे और आत्मा के आनन्द का शोधन करके उसके वेदन में जीवन व्यतीत करते थे, ऐसे सन्त-मुनिराज कहते हैं कि अहो! हमको हमारा चैतन्यपद ही परम प्रिय है... चैतन्य का आनन्द अचिन्त्य है... देव भी उसकी बात सुनने स्वर्ग में से मनुष्यलोक में उतरते हैं। हमको जो प्रिय है, ऐसे ज्ञायकभाव के ही गीत इस समयसार में हमने गाये हैं।

भाई! तू भी आत्मा को प्रिय करके, आत्मा का प्रेमी होकर 'जगत इष्ट नहीं आत्म से' ऐसा आत्मजीवन कर तो तेरा अपूर्व कल्याण होगा—यही हमारी प्रिय चीज़ है।

[२४]

नियतप्रदेशत्वशक्ति

आसन्नसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिञ्चिदूनचरमशरीरपरिमाणाव-स्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः।

जो अनादि संसार से लेकर संकोचविस्तार से लक्षित है और जो चरम शरीर के परिमाण से कुछ न्यून परिमाण से अवस्थित होता है, ऐसा लोकाकाश के माप जितना मापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है, ऐसी नियतप्रदेशत्व-शक्ति। (आत्मा के लोक परिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही हैं। वे प्रदेश संसार अवस्था में संकोचविस्तार को प्राप्त होते हैं और मोक्ष-अवस्था में चरम शरीर से कुछ कम परिमाण से स्थित रहते हैं।)।२४।

तेरा वैभव तेरे असंख्यप्रदेश में ही भरा हुआ है, उससे बाहर तेरा कुछ नहीं है। इसलिए अज्ञान टालकर ज्ञान करने के लिये, दुःख टालकर आनन्द करने के लिये और राग टालकर वीतरागता करने के लिये कहीं बाहर न देख; तेरे स्वभाव में ही देख। तेरे आत्मा का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं कि जिसमें ज्ञान-सुख-आनन्द-वीतरागादि स्वभाव भरा न हो! ऐसे तेरे स्वभाव को देखना सीख तो तुझे उस ज्ञान-आनन्द का व्यक्त अनुभव होगा।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र-स्वभाववाला है। वह असंख्यप्रदेशीपना नियत है, उसमें एक प्रदेश कभी घटता नहीं, बढ़ता नहीं। छोटा-बड़ा चाहे जो आकार हो, परन्तु असंख्यप्रदेशीपना तो सदा एकरूप रहता है; इसलिए असंख्यप्रदेशीपना, वह निश्चय से है। संसारदशा में संकोच-विस्ताररूप अनेक आकार होने पर भी प्रदेश तो उतने के उतने ही हैं, वह प्रत्येक प्रदेश भी उतना का उतना ही है। प्रदेश कहीं छोटा-बड़ा नहीं होता तथा उनकी संख्या हीनाधिक नहीं होती। संसार में छोटे-बड़े शरीर अनुसार अनेक आकार धारण किये, और मोक्ष में आकार अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून, उन सब आकारों में आत्मा असंख्यप्रदेशीरूप से ही रहा है। असंख्यप्रदेशी होने पर भी वह खण्ड-खण्डरूप नहीं है, अखण्ड है। असंख्यप्रदेशों का स्वक्षेत्र नियत है, उसके स्थान की रचना कभी बदलती नहीं, भले संकोच-विकास हो परन्तु प्रदेशों का स्व-स्थान बदलता नहीं।

असंख्य स्वप्रदेशीपनेरूप जो आत्मस्वभाव है, उसका नाम 'नियतप्रदेशत्वशक्ति' है। नियत अर्थात् निश्चित, आत्मा के असंख्य प्रदेशों की निश्चित संख्या है और प्रत्येक प्रदेश का निश्चित स्थान है। भले आकारों में फेरफार हो परन्तु आत्मप्रदेशों की संख्या तो नियत ही रहती है। आत्मा के आकार को पहिचानना हो तो अमुक लम्बा-चौड़ा-ऊँचा ऐसी कोई निश्चित आकृति बतायी नहीं जा सकती, परन्तु असंख्यप्रदेशीपना सदा ही एक सरीखा रहता होने से असंख्यप्रदेशी आकारवाला कहा जा सकता है। संसारदशा में या सिद्धदशा में, प्रत्येक समय आकार तो है, कहीं आकार रहित तो नहीं है, परन्तु लम्बा-चौड़ा कैसा आकार है, उसका कोई निश्चित नियम नहीं है। आत्मा का निजक्षेत्र असंख्यप्रदेशी है, वह नियत है। वह क्षेत्र अनादि संसार से लेकर संकोच-विस्तार से लक्षित है और मोक्षदशा में वह चरमशरीर के माप से किंचित् न्यून माप जितना अवस्थित रहता है, परन्तु उन दोनों समय लोकाकाश के माप जितने असंख्य आत्म-अवयव तो नियमरूप हैं; ऐसा असंख्यआत्मअवयवपना, वह नियतप्रदेशत्वशक्ति का लक्षण है।

देखो! आत्मा के अवयव। आत्मा को असंख्य अवयव अर्थात् अंश-प्रदेश हैं।

शरीर में हाथ-पैर-आँख इत्यादि अवयव हैं, वे तो संयोगी वस्तु है, इसलिए भिन्न भी पड़ जाते हैं, परन्तु आत्मा में असंख्यप्रदेशोंरूप असंख्य अवयव हैं, उसमें से एक भी अंश कभी पृथक् नहीं पड़ता। ऐसे असंख्यप्रदेशी चेतनकाया वह आत्मा की सच्ची काया है।—'जीवास्तिकाय' का ऐसा स्वरूप है। जड़ शरीर-काया वह कहीं आत्मा की नहीं है, उसमें आत्मा का अस्तित्व नहीं है। चींटी के समय चींटी के आकार, हाथी के समय हाथी के आकार, मनुष्य के समय मनुष्य के आकार—ऐसे भिन्न-भिन्न आकार के समय भी आत्मा अपने असंख्यप्रदेशरूप ही रहा है। शरीर में से अँगुल इत्यादि कटने से कहीं उतने भाग के आत्मप्रदेश कट नहीं जाते, परन्तु वे प्रदेश संकुचित होकर असंख्य प्रदेशों के साथ ही रहते हैं। एक-एक जीव को ऐसे लोक के प्रदेशों जितने असंख्य प्रदेश हैं। केवली भगवान को जब लोकपूरण समुद्घात होता है, तब लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में सर्वत्र उस जीव का एक-एक प्रदेश व्याप्त होता है। एक जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश—इन चारों के असंख्यप्रदेश समान हैं।

तुम्हारा देश कौन सा?—तो धर्मी कहता है कि मैं चैतन्यमय असंख्यप्रदेशी स्व-देश में हम रहनेवाले हैं। अनन्तानन्त गुणवैभव से भरपूर हमारे चैतन्य के असंख्यप्रदेश, वही हमारा स्व-देश है, उसमें हमारा स्व-राज्य है; बाहर के देश में हम नहीं रहते और हमारे स्व-देश में पर-देश की सत्ता नहीं। हमारा ऐसा स्वाधीन स्वदेश, वह सुख-समृद्धि से भरपूर है। अहा! आत्मा के असंख्यप्रदेशीपने का यह स्वरूप सर्वज्ञ के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जान सकता और सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र यह बात होती नहीं। भगवान की वाणी में स्व-पर की वार्ता आयी और ज्ञान ने स्व-पर को जाना। उसमें भगवान ने आत्मशक्ति का वैभव कैसा जाना और कैसा कहा, उसका यह वर्णन है। चैतन्य की यह मीठी-मधुर बात है—कि जिसके स्वाद के समक्ष जगत के किसी स्वाद की कीमत नहीं। चैतन्य के परम स्वाद के समक्ष जगत के सभी विषय नीरस और फीके लगते हैं; चैतन्य का रस चखने से उन सबका प्रेम उड़ जाता है।

लोक के एक प्रदेश में अभी सामान्यरूप से एक जीव के असंख्यप्रदेश (सर्व प्रदेशों के असंख्यातवें भाग के असंख्यप्रदेश) हैं। लोक के प्रदेश जितने ही जीव के

प्रदेश हैं, और अभी जीव ने लोक का असंख्यातवाँ भाग रोका है, इसलिए एक-एक लोकप्रदेश में असंख्य जीवप्रदेश रहे हैं। यदि जीव अर्धलोक को अवगाहे तो एक-एक लोकप्रदेश में जीव के दो-दो प्रदेश रहें; और जब पूरे लोक को अवगाहकर (केवलीसमुद्घात के समय) रहे, तब लोक के एक-एक प्रदेश में जीव का एक-एक प्रदेश रहता है।

यह एक जीव की बात की। अब जगत में जीव तो अनन्तानन्त हैं। इसलिए लोक के एक प्रदेश में भिन्न-भिन्न अनन्त जीवों के प्रत्येक के असंख्य-असंख्य प्रदेश हैं, इस प्रकार कुल अनन्त जीवप्रदेश रहे हुए हैं और इसलिए असंख्यप्रदेशी लोक में अनन्त जीव समाहित हो जाते हैं।

एक जीव चाहे जितना संकुचित होकर रहे, तो भी उसके सर्वप्रदेश एक आकाशप्रदेश में नहीं रहते, (वह) असंख्यप्रदेश तो रोकता ही है। असंख्य के भी असंख्य प्रकार हैं। जीव की जो छोटी में छोटी अवगाहना है, वह लोकाकाश का असंख्यातवाँ भाग होने पर भी उसमें असंख्यप्रदेश हैं। असंख्य से कम प्रदेशों में समा जाये—इतना अधिक संकोच जीव में कभी नहीं होता; और लोकाकाश से अधिक विस्तार भी कभी नहीं होता।

हे जीव! असंख्यप्रदेशी तेरा ज्ञान, उसमें सर्वत्र परमात्मपना भरा है। तेरा आत्मक्षेत्र तो केवलज्ञान और सिद्धपद के पाक (फसल) पकने का खेत है। उस चैतन्य खेत में विकार का पाक नहीं पकता। अरे! शिवपद के खेत में तू विकार की बुवाई करे, वह कहीं शोभा देता है? परमात्मपद के वैभव से भरपूर असंख्यप्रदेशी आत्मा जिसके अनुभव में आवे, उसे केवलज्ञानरूपी और मोक्षरूपी फल पके बिना रहते नहीं।

असंख्य आत्मप्रदेश में व्याप्त जो ज्ञानभाव, उसमें आनन्द, प्रभुता इत्यादि को अभेदरूप से समाहित किया और परभावों का कर्तापना उसमें से निकाल दिया, परभावों का भोक्तापना भी निकाल दिया। प्रदेशों का कम्पन भी निकाल दिया, असंख्यप्रदेशी आत्मा निष्कम्प-निष्क्रियस्वभावी है। कर्म के निमित्त से उसका कम्पन होता है और उस कम्पन के निमित्त से नये कर्मपरमाणु आते हैं—ये दोनों आत्मा के स्वभाव की चीज़

नहीं है। आत्मा में रहा हुआ सम्यक्त्व फौजदार परभाव को निजस्वरूप में आने नहीं देता; पूर्ण परमात्मपद के अतिरिक्त दूसरे भावों को चैतन्य दरबार में प्रवेश नहीं होने देता। जैसे चक्रवर्ती के राजदरबार में तो बड़े राजा-महाराजा होते हैं, वहाँ कहीं मलिन भिखारी प्रवेश नहीं करते, उसी प्रकार जगत में सबसे महान ऐसा इस चैतन्यचक्रवर्ती का दरबार, उसमें मलिनता का और पामरता का प्रवेश नहीं होता, उस राजदरबार में तो केवलज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व, अतीन्द्रिय आनन्द, प्रभुता, सिद्धपद—ऐसे अपार वैभवसहित अनन्त राज-राजेश्वर (गुण) विराज रहे हैं। सम्यक्त्वरूपी फौजदार ऐसा है कि चैतन्यदरबार में मलिनता के अंश को भी आने नहीं देता, शुद्धभाव को ही अन्दर आने देता है। परभाव उसके ऊपर तैरते हैं अर्थात् कि अनुभव के बाहर ही रहते हैं, अन्दर प्रवेश नहीं करते। जगत का कोई कोलाहल चैतन्यदरबार में (स्वानुभव में) अन्दर नहीं आता, चैतन्यदरबार में तो परम शान्ति ही है। अहा! ऐसा दरबार तेरे अन्दर ही भरा हुआ है, एक बार हे जीव! तेरे चैतन्यदरबार में प्रवेश तो कर... अन्दर नजर तो कर... वह अपार वैभव देखते ही तुझे कोई परम आनन्द होगा।

जैसे शरीर में शरीर की जाति के अवयव (आँख-कान इत्यादि) होते हैं, उसी प्रकार आत्मा में आत्मजाति के अवयव हैं; जो ज्ञानादि अनन्त गुण-पर्यायें हैं, वे आत्मा के अवयव हैं, असंख्य प्रदेश, वे भी आत्मा के अवयव हैं। अवयव अर्थात् अंश। अनन्त गुण और असंख्य प्रदेशों से सम्पन्न ऐसे इस चैतन्यक्षेत्र में परम आनन्द का पाक पकता है। चैतन्यधाम में जितना एकाग्र हो, उतने ज्ञान-आनन्द के पाक तत्काल पकेंगे। सिद्धपद होने पर आत्मप्रदेश सर्वथा अकम्प-निष्क्रिय हो जाते हैं और वहाँ पहले समय में असंख्य प्रदेश का जैसा आकार हो, वैसा ही आकार सदा काल रहता है।

चैतन्यगुणों की अपार महिमा है, उसे लक्ष्य में ले, तब तो सम्यग्दर्शन होता है और दूसरी सबकी महिमा उड़ जाती है। परन्तु जीव निजमहिमा को भूलकर पर की महिमा में ही अटका है। अमुक देश में तीन-तीन लोगों के बीच एक-एक मोटरगाड़ी, अमुक देश का रॉकेट चन्द्रलोक तक पहुँचा,—ऐसे उसके वैभव की महिमा करता है, परन्तु यहाँ सर्वज्ञदेव के शासन में एक-एक आत्मा के पास अनन्त गुण की परिणतिरूपी

अनन्त मोटरें दौड़ती हैं और भेदविज्ञान का निरालम्बी विमान ठेठ मोक्ष तक उड़ता है;—ऐसा वैभव तेरे आत्मा में है, उसकी महिमा कर न! तू साधारण तत्त्व नहीं, तू तो जगत में सबसे महान—महिमावन्त तत्त्व है। चक्रवर्ती की रानी भिखारिन नहीं होती, वह तो हजार देव जिसकी सेवा करें, ऐसी पुण्यवन्ती होती है। उसी प्रकार चैतन्यचक्रवर्ती की परिणति महा आनन्दमय होती है, वह विकारी-पामर नहीं होती, वह तो शुद्ध आनन्द के वैभवसहित प्रतापवन्ती होती है। ऐसे वैभवसम्पन्न आत्मस्वभाव की प्रतीति करने से आनन्दपरिणति प्रगट होती है और निजगुण के वैभव से आत्मा शोभित होता है। अल्प काल में मोक्ष प्राप्त कर वह अपने असंख्य प्रदेशों में अत्यन्त स्थिररूप से सदाकाल रहता है, पश्चात् उसके आकार में भी संकोच-विस्तार नहीं होता। असंख्य प्रदेशी चैतन्यबिम्ब निजानन्द में लवलीन सदाकाल सिद्धालय में विराजता है।

नियतप्रदेशत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

हे चैतन्यराजा! शास्त्र और सन्त तुझे तेरे स्वभाव का महल बताते हैं, तेरे स्वभावमहल में भरे हुए निधान बतलाकर तुझे स्व में लक्ष्य कराते हैं, और पर की महिमा छुड़ाते हैं। पर का माहात्म्य छोड़कर स्वमहिमा में लीन होना, वही वीतरागी शास्त्रों का तात्पर्य है।

भेदज्ञान के बल से निजमहिमा में लीन होते हैं, वे ही शुद्धात्मत्व को प्राप्त करके कर्मों से मुक्त होते हैं। अहा! चैतन्यमहल में जाकर 'आत्मवैभव' को लक्ष्य में ले तो उसमें लीनता हुए बिना रहे नहीं, और पर की महिमा आवे नहीं।

[२५]

स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति

सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः।

सर्व शरीरों में एकस्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति। (शरीर के धर्मरूप न होकर अपने अपने धर्मों में व्यापनेरूप शक्ति सो स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।)।२५।

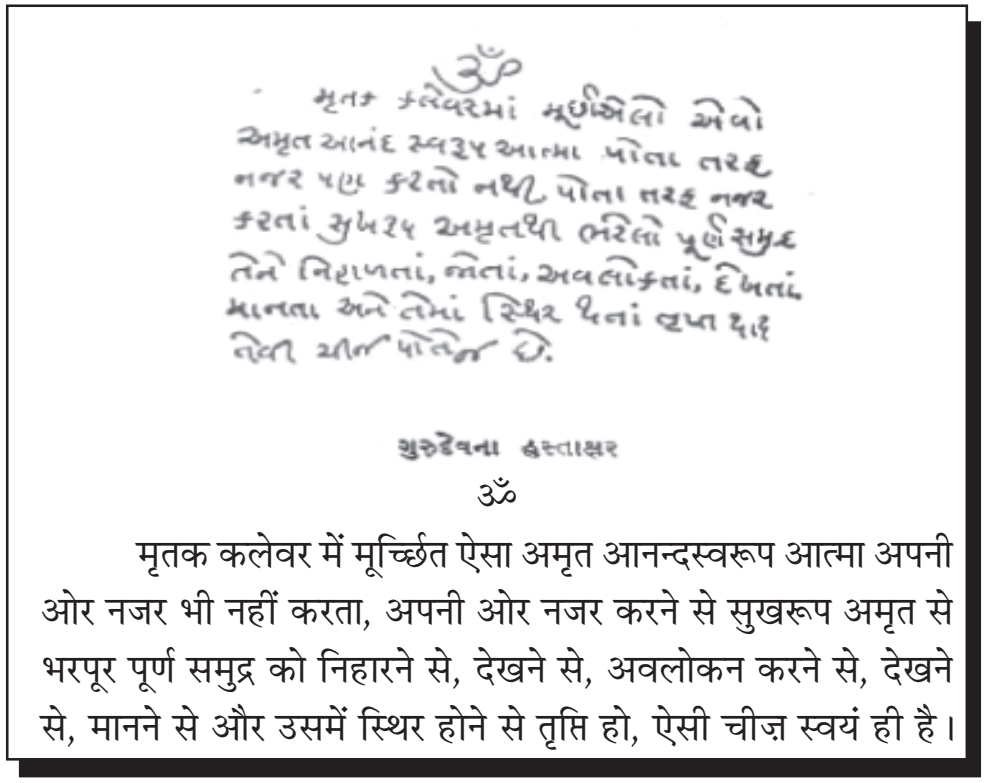

मृतक कलेवर में मूर्च्छित ऐसा अमृत आनन्दस्वरूप आत्मा अपनी ओर नजर भी नहीं करता, अपनी ओर नजर करने से सुखरूप अमृत से भरपूर पूर्ण समुद्र को निहारने से, देखने से, अवलोकन करने से, देखने से, मानने से और उसमें स्थिर होने से तृप्ति हो, ऐसी चीज़ स्वयं ही है।

इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं,—वे संख्या से अनन्त हैं, काल से अनन्त हैं और भावरूप सामर्थ्य से भी अनन्त हैं और तो भी 'ज्ञानमात्र भाव' के अनुभव में वे समाहित हो जाती हैं, उसका यह वर्णन है। उसमें २४ शक्तियों का वर्णन हुआ; अब पच्चीसवीं 'स्वधर्मव्यापकत्व' नामक शक्ति है। आत्मा सदा अपने अनन्त गुण-पर्यायोंरूप स्वधर्म में तन्मयरूप से रहा है, वह शरीर में तो कभी तन्मय हुआ नहीं। भिन्न-भिन्न अनन्त शरीरों में रहने पर भी उस शरीर के जड़धर्मरूप आत्मा कभी हुआ नहीं, परन्तु अपने चेतनधर्मरूप से ही सदा रहा है। सर्व शरीरों में एक आत्मस्वरूप से ही अपने धर्म में रहा है अर्थात् कि शरीर में कभी व्याप्त नहीं हुआ है, आत्म-व्यापकरूप से ही आत्मा त्रिकाल रहा है। आत्मा शरीर के संयोग में रहने पर भी कभी शरीररूप नहीं हुआ। अपने निर्मल गुण की पर्याय में व्यापकर रहे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। आत्मा एक भव में से दूसरे भव में जाये, वहाँ अपने ज्ञानधर्म को साथ में ले जाता है परन्तु कहीं शरीर को साथ में नहीं ले जाता, क्योंकि शरीर में वह रहा नहीं है। आत्मा वास्तव में शरीर में रहा कब कहलाये ?—कि यदि उसमें तन्मय हो गया हो तो। परन्तु आत्मा को शरीर के साथ तन्मयता कभी नहीं है। क्योंकि —

जड़ भावे जड़ परिणमे, चेतन चेतनभाव;
कोई किसी को पलटे नहीं, छोड़कर आप स्वभाव।

जिसका जो धर्म हो, उससे वह कभी पृथक् नहीं पड़ता। आत्मा, शरीर को अपना व्याप्य (आवास) बनावे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। शरीर से भिन्न रहकर, अपने निर्मल ज्ञानानन्दस्वरूप में व्यापकर उसे ही आत्मा अपना आवास बनाता है। वही आत्मा का निजपद है। राजा का सिंहासन लोहे का नहीं होता, उसे तो स्वर्ण का हीराजड़ित सिंहासन होता है; उसी प्रकार चैतन्य राजा का सिंहासन असंख्यप्रदेशी शुद्ध धातु का बना हुआ है, राग का और जड़ का सिंहासन उसे नहीं होता। शरीर और परभाव तो अनेक प्रकार के बदले, परन्तु आत्मा एकस्वरूपरूप से ही सदा स्वधर्म में रहा है, शरीर और रागादि परभाव कभी एकस्वरूप नहीं रहते, वे वास्तव में आत्मा का स्वधर्म नहीं है। आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि गुणों और उनकी निर्मलपर्यायें, ऐसे जो स्वधर्म, उसमें पसरकर सदा रहा है—ऐसी उसकी स्वधर्मव्यापकता है।

'आत्मा ज्ञानमात्र है' ऐसा अनुभव करने पर ऐसा स्वरूप भी उसमें आ ही जाता है। ज्ञानमात्र वस्तु राग में और जड़ में व्याप्त नहीं होती है। ऐसी स्व-वस्तु में लक्ष्य को ले जाये तो लक्ष्य में आवे कि अहा! ऐसी मेरी वस्तु है और ऐसे मेरे स्वधर्म हैं। अपनी वस्तु की ओर लक्ष्य किये बिना अपने धर्मों की पहिचान नहीं होती। अभी भी आत्मा, शरीर में व्याप्त नहीं हुआ है, अपने अनन्त धर्मों में ही व्याप्त है।

अभी तक आत्मा अपने एकस्वरूप में ही रहा है। जैसे एक ही दीपक अलग-अलग बहुत कमरों में घूमे, तथापि दीपक अपने प्रकाशस्वरूप से ही रहा है, कमरेरूप नहीं हुआ है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्यप्रकाशी दीपक अनेक शरीरोंरूपी कमरों में घूमा, तथापि वह तो अपने चैतन्यप्रकाश में ही व्यापकर रहा है, शरीररूप हुआ नहीं। जैसे दीपक अन्धकार में व्याप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह चैतन्यदीपक परभावरूपी अन्धकार में तन्मय नहीं होता। पर्याय में राग हो, उसमें तन्मयता अज्ञान से मानी है, परन्तु वस्तु के स्वरूप में कोई गुण ऐसा नहीं कि राग में तन्मय होकर रहे। भाई! ऐसा तेरा आत्मस्वरूप है, उसे स्वधर्म के अतिरिक्त जगत में कोई शरण हो, ऐसा नहीं है।

अरे! चौरासी लाख जीवयोनियों के अवतार में अज्ञानजनित दुःख के डण्डे खा-खाकर जीव बेभान हो गया है; जिसे अपने स्वरूप की सुध-बुध नहीं, उसे वह कहीं आत्मा कहलाये! आत्मा तो अपने ज्ञानधर्म में होगा या दूसरे के धर्म में? आत्मा अपने अनन्त गुणधाम में विराजता है; वह जागकर अपने निजस्वरूप को सम्हाले तो वास्तविक आत्मा कहलाये। सिर के ऊपर लोहे के घन की चोट पड़े, वह जैसे सहन नहीं होती, तो इस देहबुद्धि से तेरे आत्मा के गुण के सिर पर मिथ्यात्वरूपी महा घन की भयंकर चोटें पड़ती हैं, वे कैसे सहन होती हैं? अरे! मिथ्यात्व का दुःख, घन की चोट से भी बड़ा है। भाई! उससे छूटने के लिये तू तेरे स्वधर्म को सम्हाल। तेरे आत्मद्रव्य में ऐसा कोई स्वभाव नहीं कि राग को रचे और राग में रहे। अग्नि के ढ़ेर के बीच पड़ा हो, शरीर धकधक करके जलता हो अथवा बाघ-सिंह द्वारा खाया जाता हो, उस समय भी जागृत रहकर निजस्वभावधर्म में व्याप्त होने का आत्मा का स्वभाव है, राग में और देह में मूर्च्छित हो जाये, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। अरे जीव! तेरी अपरिमित सामर्थ्य है। चाहे जिस संयोग के बीच भी अपने अनन्त गुण के निर्मल कार्य को करके उस स्वधर्म में स्वयं रहे, ऐसा आत्मा है।

शरीर में आत्मा रहता ही नहीं, फिर उससे आत्मा को सुख-दुःख होना कहाँ रहा? अनन्त काल में अनन्त शरीर आये, अनन्त प्रतिकूलतायें आयीं, तथापि उन सबके बीच से आर-पार निकलकर आत्मा अपने अनन्त स्वधर्मोंसहित ऐसा का ऐसा एकरूप रहा है। नरक की घोरातिघोर प्रतिकूलताओं में भी आत्मा का एक भी प्रदेश और एक भी गुण कम नहीं हो गया। ऐसे आत्मस्वभाव को जहाँ लक्ष्य में लिया, वहाँ वह स्वयं अपनी निर्मलपर्याय में व्यापता-फैलता हुआ प्रसिद्ध हुआ... अनुभव में आया। अब खबर पड़ी कि अरे! मैंने मुझे राग में और देह में रहा हुआ अभी तक भ्रम से माना था; परन्तु मैं तो मेरे अनन्त गुण में ही रहा हूँ। सर्व शरीरों में और शरीर की किसी भी अवस्था के समय मेरा आत्मा उस अचेतन से भिन्न ही रहा है। भाषा, वह देह का धर्म है; वह आत्मा का धर्म नहीं। जड़-चेतन की भिन्नता का भान न होने से अज्ञानी को देह का धर्म मानो आत्मा में घुस गया हो—ऐसी एकत्वबुद्धि है, परन्तु स्वलक्षण द्वारा दोनों को भिन्न पहिचानने पर वह अज्ञानभाव दूर हो जाता है। देह की अवस्था को आत्मा करे, और देह की अनुकूल अवस्था हो तो आत्मा को धर्म में सुविधा पड़े—ऐसा माननेवाले ने भी आत्मा को देह में ही व्यापक माना है।

अरे भाई! तेरा आत्मा संयोग के घेरे में घिरा हुआ नहीं, आत्मा तो अपने अनन्त गुण के वैभव में व्याप्त है। स्वधर्म में व्यापक आत्मा जिसने लक्ष्य में लिया, उसे संयोग का कोई घेरा है ही नहीं। जहाँ देह के ऊपर दृष्टि ही नहीं, वहाँ उसकी चाहे जो अवस्था हो, परन्तु उस समय आत्मा के लक्ष्य से समाधान की सामर्थ्य है, क्योंकि वह अपने को स्वधर्म में ही व्यापक अनुभव करता है, संयोग से पृथक् ही अनुभव करता है। आत्मा के ऊपर जिसका लक्ष्य नहीं, वह संयोग में और राग में घिर जाता है। बाहर में आकाश फटे, ऐसी प्रतिकूलता आवे तो भी धर्मी तो अन्तर में निजगुण-पर्याय में आनन्द से व्यापकर रहता है। जिन संयोगों में मैं हूँ ही नहीं, वे संयोग ऐसे हो या वैसे हो—उससे मुझे क्या? सर्वज्ञदेव ने देखा हुआ ज्ञानस्वरूप आत्मा राग में रहनेवाला नहीं, संयोग में रहनेवाला नहीं; वह तो अपने ज्ञानमय स्वभाव-भाव में ही सदा एकस्वरूप रहा हुआ है। तेरा व्याप्य-व्यापकपना अनन्त धर्मों में है, तेरा व्याप्य-व्यापकपना विकार में नहीं, पर में नहीं। तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों एक जाति के (शुद्ध) होकर व्याप्य-व्यापकरूप

से एकरूप होकर रहे हैं, वह तेरा स्वरूप है। ज्ञान का व्यापकपना ज्ञानभाव में होता है, ज्ञान का व्यापकपना राग में नहीं होता। ऐसे आत्मा को ज्ञान में ज्ञेय बनावे, अर्थात् कि स्वानुभव में ले तो आत्मज्ञान हुआ कहलाये। बड़े हाथी को चींटी जितनी सामर्थ्यवाला ही जाने तो उसने हाथी को जाना है—ऐसा नहीं कहलाता; उसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा बड़े हाथी जैसा महिमावाला, उसे राग जितने अल्प सामर्थ्यवाला माने तो उसने आत्मा को जानना नहीं कहलाता।

स्वधर्म में व्यापक आत्मा की प्रतीति किस प्रकार हो?—कि रागादि अशुद्धता में व्यापकर उसकी प्रतीति नहीं होती, परन्तु अन्तर्मुख परिणति द्वारा स्वधर्म में प्रवेश करके अर्थात् कि निर्मलपर्यायरूप से परिणमकर ही स्वधर्मव्यापक आत्मा की प्रतीति होती है। ऐसी प्रतीति आनन्द के अनुभव को साथ ही लेती आती है।—इस प्रकार निर्मलपर्याय को साथ में मिलाकर इन शक्तियों का वर्णन है, यह बात बहुत बार स्पष्ट की गयी है। निर्मलपर्यायरूप से परिणमित हुए बिना शक्ति की प्रतीति की किसने?—प्रतीति करने का कार्य तो निर्मलपर्याय में ही होता है; इसलिए निर्मलपर्याय साथ मिलाकर प्रतीति करे, तब ही आत्मा की सच्ची प्रतीति होती है। पर्याय में जरा भी शुद्धता प्रगट हुए बिना अकेली शुद्ध शक्ति की प्रतीति होना माने तो उसे सच्ची प्रतीति नहीं हुई, परन्तु एकान्त की भ्रमणा हो गयी है।

कोई कहे कि आत्मा स्वधर्म में सदा रहा हुआ ही है, तो फिर उसे धर्म करने का क्यों कहते हो?

तो उसका उत्तर :— अज्ञानी को निजधर्म का भान नहीं है, उसे निजधर्म की पहिचान कराकर उसका अनुभव कराने के लिये समझाते हैं कि हे भाई! तेरे आत्मा को परधर्म से भिन्न स्वधर्म में ही रहा हुआ तू जान, जिससे तुझे सम्यग्दर्शनादि धर्म हों। जैसे आत्मा सदा ही ज्ञानस्वरूपी होने पर भी ज्ञान को सेवन करने का उपदेश दिया है, क्योंकि अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर पर्याय में उसका सेवन जीव ने कभी नहीं किया।—यह बात गाथा १८ की टीका में सरस समझायी है। इस प्रकार स्वानुभूति से निर्मलरूप से परिणमित आत्मा की यह बात है।

जैसा गुणधर्म है, वैसा ही पर्याय में प्रगट हो, अर्थात् कि जैसे गुण में रागादि

विकार नहीं है, उसी प्रकार उस गुण में तन्मय होकर पर्याय भी वैसी रागादि रहित हो, वह स्वधर्म है और उसमें आत्मा व्याप्त है।

✦ शरीरादि जड़ के धर्मरूप आत्मा कभी नहीं होता।

✦ रागादि परभावोंरूप भी आत्मा का स्वभाव नहीं होता।

✦ ज्ञानादि अनन्त स्वधर्मरूप आत्मा सदा ही रहता है।

—ऐसा स्वधर्म-व्यापकपना आत्मा में है और उसके लक्ष्य से पर्याय में वैसी निर्मलतारूप धर्म प्रगट होता है, वह मोक्ष का कारण है।

किसी समय शरीर की नस टूटे और रक्त की धारा बहती जाये, परन्तु उससे आत्मा का स्वधर्म कहीं घात नहीं होता, आत्मा का एक भी धर्म कहीं आत्मा में से बाहर नहीं निकल जाता, क्योंकि आत्मा का एक भी धर्म कहीं शरीर के आश्रय से रहा हुआ नहीं है। भगवान आत्मा अपने स्वधर्म के भण्डार से सदा भरपूर ऐसा है कि अपने वैभव के लिये उसे पर के सामने देखना नहीं पड़ता, किसी के समक्ष दीनता नहीं करनी पड़ती। स्वाश्रय से अपने में से ही अपने धर्मवैभव को प्रगट करे—ऐसा स्वभाव है। भगवान आत्मा विस्तरित होकर अपने निर्मल गुण-पर्याय में व्याप्त होता है, परन्तु पर में कहीं व्याप्त नहीं होता और पर में से अपने धर्म को नहीं लेता।

भाई! तू सदा तेरे गुणधर्मों में ही रहा हुआ है, कभी तेरे धर्मों से बाहर तू रहा नहीं। तेरा चैतन्यधर्म राग से भिन्नरूप से रहा है, पर से भिन्नरूप से रहा है और अपने अनन्त स्वधर्मों में सदा एकरूप रहा है।

जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण, केवली बोले ऐम;
प्रगट अनुभव आत्म का निर्मल करो सप्रेम रे...
...चैतन्य प्रभु! प्रभुता तुम्हारी चैतन्यधाम में।

चैतन्यभाव में अनन्त स्वधर्म समाहित हैं, उसे अनुभव में लो।

स्वधर्म-व्यापकत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

[२६]

साधारण-असाधारण-साधारणासाधरणधर्मत्वशक्ति

स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणा-साधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः।

स्व-पर के समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकार के भावों की धारणस्वरूप साधारण-असाधारण-साधारणासाधारण-धर्मत्वशक्ति।२६।

अरे! चौरासी लाख जीव योनि के अवतार में अज्ञानजनित दु:ख के डण्डे खा-खाकर जीव बेभान हो गया है। जिसे अपने स्वरूप की सुध-बुध नहीं, उसे वह कहीं आत्मा कहलाये? जो जागकर अपने निजस्वरूप को सम्हाले तो वास्तविक आत्मा कहलाये। सिर के ऊपर घन की चोट जैसे सहन नहीं होती, तो इस देहबुद्धि से तेरे आत्मा के ऊपर मिथ्यात्वरूपी महा घन की भयंकर चोट पड़ती है—वह तुझसे कैसे सहन होती है!! उससे छूटने के लिये तू तेरे स्वधर्म को सम्हाल।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में धर्म अनन्त हैं, परन्तु उनका विभाजन करने पर उसके तीन प्रकार होते हैं—

१. कितने ही 'साधारण' अर्थात् कि स्व-पर सबमें रहे हुए हों, ऐसे धर्म हैं, — जैसे कि अस्तित्व।

२. कितने ही 'असाधारण' अर्थात् कि जो जीव में ही हो और दूसरे किसी में न हो, ऐसे धर्म हैं, जैसे कि ज्ञान, आनन्द इत्यादि।

३. कितने ही 'समान-असमानरूप' धर्म हैं, अर्थात् कि अमुक पदार्थों की अपेक्षा से समान, और अमुक पदार्थों की अपेक्षा से असमान—ऐसे धर्मों को साधारण-असाधारण धर्म कहते हैं। जैसे कि अरूपीपना। आत्मा में अरूपीपना है, वह आकाश इत्यादि की अपेक्षा से साधारण है और पुद्गल की अपेक्षा से असाधारण है।

— ऐसे तीन प्रकार के धर्म आत्मा में एक साथ रहे हुए हैं। यद्यपि ऐसे धर्म छहों द्रव्यों में है, परन्तु यहाँ तो आत्मा की शक्ति के वैभव की बात है। जैसे मूर्तपना, वह पुद्गल का असाधारणस्वभाव है, सर्वव्यापकता, वह आकाश का असाधारणस्वभाव है; उसी प्रकार ज्ञान, वह आत्मा का असाधारणस्वभाव है। 'ज्ञान' वह आत्मा का असाधारण धर्म (अर्थात् खास-विशेष गुण) होने पर भी, उस ज्ञान के साथ दूसरे साधारण धर्म (अर्थात् कि सामान्य गुण) भी रहे हुए हैं और कितने ही जिसमें दोनों प्रकार लागू पड़ें, ऐसे धर्म भी हैं। इस प्रकार त्रिविध धर्मों को आत्मा एक साथ धारण करता है।

✦ आत्मा सत् है—ऐसे अकेले अस्तित्व द्वारा आत्मा का पर से भिन्न स्वरूप ख्याल में नहीं आता, क्योंकि जैसे आत्मा सत् है, वैसे अजीव पदार्थ भी सत् हैं। इसलिए अकेले अस्तित्व द्वारा स्व-पर की भिन्नता समझ में नहीं आती।

✦ आत्मा अरूपी है—ऐसे मात्र अरूपीपने द्वारा भी आत्मा का पर से भिन्न स्वरूप ख्याल में नहीं आता; यद्यपि 'अरूपी' कहने से पुद्गल से आत्मा पृथक् पड़ता है, परन्तु 'अरूपी' तो आकाश इत्यादि भी हैं, उनसे पृथक् नहीं पड़ता। इसलिए अरूपीपने द्वारा भी आत्मा का पर से भिन्न स्वरूप समझ में नहीं आता।

✦ आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, वह ज्ञान-आनन्द इत्यादि आत्मा के विशेष

धर्म होने से, उनके द्वारा समस्त परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का वास्तविक स्वरूप लक्ष्य में आ जाता है।

जैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा सत् है, वैसे ही ज्ञानरहित सभी पदार्थ भी सत् हैं; 'सत्' अपेक्षा से चेतन और जड़ दोनों में समानता है। चेतनवस्तु ही सत् हो और जड़वस्तु सत् न हो—ऐसा नहीं है। अनन्त पदार्थ जगत में स्वतन्त्र सत् हैं। सबका सत्पना अपने-अपने में परिपूर्ण है।

ज्ञान, आनन्द इत्यादि विशेष गुण प्रत्येक आत्मा में है, इस आत्मा में भी है और दूसरे आत्माओं में भी है; प्रत्येक आत्मा में ज्ञान-आनन्द होने पर भी सबके गुण अपने-अपने में हैं; एक भी आत्मा का ज्ञान दूसरे आत्मा में नहीं है, एक आत्मा का सुख दूसरे आत्मा में नहीं है; इसलिए स्वसन्मुख होने से अपने ज्ञान द्वारा अपने ही ज्ञान-आनन्द का स्वानुभव होता है, दूसरे सभी जीवों से पृथक् अपना आत्मा अपने संवेदन में आता है। भाई! भिन्न लक्षण द्वारा तेरा आत्मा तुझे किस प्रकार अनुभव में आवे—यह सन्तों ने बतलाया है। तेरा 'ज्ञानलक्षण' ऐसा है कि जो समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्नरूप से और अपने अनन्त धर्मों में एकरूप से आत्मा का अनुभव कराता है।—ऐसे अनुभव में प्रसिद्ध हुए आत्मा में ज्ञानलक्षण के साथ दूसरे अनन्त धर्म कैसे-कैसे हैं, उसका यह वर्णन चलता है।

आत्मा में एक शक्ति ऐसी है कि त्रिविध धर्मों को एक साथ अपने में धारण करती है, उसका वर्णन इस २६वीं शक्ति में किया।

साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है; आत्मा का अस्तित्व, अपने चैतन्य भावप्राण से ही है। ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा?

इस प्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित निःशङ्क तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत, मरण से भयभीत है परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[२७]

अनन्तधर्मत्वशक्ति

विलक्षणानन्तस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनन्तधर्मत्वशक्तिः।

विलक्षण (–परस्पर भिन्न लक्षणयुक्त) अनन्त स्वभावों से भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है, ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति।२७।

मुनियों को वन में अकेले-अकेले कैसे सुहाता होगा?—तो कहते हैं कि अहो! वे अकेले नहीं, अन्तर में उन्हें अनन्त गुणों का साथ है। बाहर का संग छोड़कर अन्तर में आत्मा के अनन्त गुणों के साथ गोष्ठी की है, उसमें अपूर्व आनन्द है, तो कैसे नहीं सुहाये? आनन्द में किसे नहीं सुहायेगा? आत्मा के अनन्त गुणों के साथ गोष्ठी करने से उसमें अनन्त आनन्द है।

यह ज्ञानस्वभावी आत्मा के वैभव का वर्णन चलता है। आत्मा में कितने धर्म हैं ?—तो कहते हैं कि अनन्त धर्म हैं। वे अनन्त धर्म कैसे हैं ? कि भिन्न-भिन्न लक्षणवाले हैं अर्थात् कि विलक्षण हैं। अनन्त धर्म भिन्न-भिन्न लक्षणवाले होने पर भी वे सभी धर्म आत्मा के एकभाव में समाहित हो जाते हैं; आत्मा अपने एकभावरूप रहकर एक साथ अनन्त स्वभावों को धारण करता है, ऐसी उसकी अनन्तधर्मत्वशक्ति है।

अहा! आत्मस्वभाव के अनन्त सामर्थ्य की क्या बात! जो संख्या से गिने नहीं जा सकते, वाणी से कहे नहीं जा सकते और विकल्प से प्राप्त नहीं होते, ऐसा अनन्तशक्ति सम्पन्न आत्मा धर्मी के स्वानुभव में समाहित होता है, स्वानुभूति में सभी आत्मशक्तियाँ एक साथ उल्लसित होती हैं, एक भी शक्ति बाकी नहीं रहती। अनन्त शक्तियाँ भिन्न-भिन्न लक्षणवाली होने पर भी आत्मा उससे खण्ड-खण्ड नहीं हो जाता, परन्तु सभी शक्तियों को एकभावरूप रखे, ऐसी शक्ति आत्मा में है। आत्मा के अनुभवरस में अनन्त गुणों का रस समाहित होता है। इसलिए अनुभव सर्व का सार है, अनन्त शक्ति का निचोड़ स्वानुभव में समाहित होता है।

अनन्त स्वभावों से भावित आत्मा 'एक' है। अनन्त गुणों का लक्षण भिन्न-भिन्न है—जैसे कि ज्ञान का लक्षण जानना; आनन्द का लक्षण आह्लाद देना; ऐसे गुणों में लक्षणभेद होने पर भी, ज्ञान का आत्मा अलग और आनन्द का आत्मा अलग, ऐसा वस्तुभेद नहीं है। आत्मा तो अनन्त गुण के पिण्डस्वरूप एकभाव है। अनन्त गुण बताकर भी अभेदरूप से 'एकभाव' में समाहित कर दिये। एक-एक करके अनन्त धर्म छद्मस्थ के ख्याल में नहीं आते, परन्तु अनन्त धर्मों से अभेद ऐसे 'एक' 'पूर्ण' 'अखण्ड' शुद्ध आत्मा का अनुभव होने पर उसमें अनन्त धर्मों का स्वाद आ जाता है। ऐसा आत्मा धर्मी ने अपने स्वानुभव में प्रसिद्ध किया है।

अहा! अनन्त शक्तिवाले आत्मा को जो लक्ष्य में ले, उसे विकार में प्रेम कैसे रहे ? जिसे मोक्ष की लगन है, जिसे आत्मा के वैभव की लगन है, जिसे अनुभव की धगश है—ऐसे मोक्षार्थी जीव को आचार्य भगवान ने परम करुणा से आत्मवैभव दिखलाया है। स्वानुभूति द्वारा ऐसा आत्मवैभव प्राप्त होता है।

'ज्ञान' द्वारा लक्षित आत्मा में भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनन्त धर्म हैं, परन्तु उसमें एक भी धर्म ऐसा नहीं कि जिसका लक्षण 'राग' हो। अनन्त धर्मों में कहीं रागादि विकार नहीं आता, किसी धर्म में राग का कर्तृत्व नहीं आता। हाँ, राग को न करे—ऐसा अकर्तृत्व धर्म में आता है। राग करने का जो भाव है, वह तो भव करने का भाव है, वह तो 'अनात्मभाव' है, उसमें आत्मशक्ति नहीं आती। यहाँ तो आत्मशक्ति के भाव की बात है।

आत्मा के स्वभाव में अद्भुतता है, अनन्त धर्म की विचित्रता जिसमें भरी हुई होने पर भी वह अपने एकपने में रहा है। ज्ञान और आनन्द, अस्तित्व और नास्तित्व, नित्यता और अनित्यता—ऐसे भिन्न-भिन्न अनन्त धर्म आत्मा में एकसाथ रहे हुए हैं, तथापि वे सभी धर्म एकता के भाव से आत्मा के एकत्व में समाहित हो जाते हैं। ऐसा आत्मा का अनन्तधर्मत्व है।

आत्मा के अनन्तधर्मों में प्रत्येक का स्वरूप भिन्न-भिन्न है; यदि लक्षणभेद से प्रत्येक धर्म में भिन्नता न हो तो अनन्त धर्म ही सिद्ध नहीं होते। किन्हीं भी दो गुणों का लक्षण सर्वथा समान नहीं है, क्षेत्र सबका समान है परन्तु भाव में भिन्नता है और तो भी भिन्न-भिन्न भाववाले अनन्तधर्मों को स्वयं धार रखता है, उन्हें बैर बिखराव होने न दे, ऐसी आत्मा की शक्ति है; अनन्तधर्म के भावों को एक आत्मभाव में समाहित कर देने की सामर्थ्य है। जैसे औषधि की एक गोली में कितनी ही औषधियों का रस समाहित है, उसी प्रकार आत्मा की स्वानुभूति—कि जो भवरोग मिटाने की अमोघ औषध है—उसमें अनन्त गुण का स्वाद समाहित है। इस प्रकार स्वानुभूति द्वारा अनन्तधर्मस्वरूप आत्मा अनुभव में आता है और अनन्त गुण निर्मलपर्यायरूप से खिल जाते हैं।

अनन्तधर्मत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

.....आश्चर्य है!

भाई! सम्यग्दृष्टि के अन्त:स्तल की थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीव को चक्रवर्ती का राज्य हो, युद्ध में खड़े हों, परन्तु आत्मा के आनन्द से राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रह में भेदबुद्धि हो गयी है, भले ही उसके विषय सामग्री हो, उसका भोग भी करते हों। सम्यग्दृष्टि को पुण्य विशेष होता है, पुण्य के ढेर होते हैं, स्त्री-पुत्रादि में, शरीर-वैभव में पुण्य के ढेर दिखायी देते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि को उनमें एकत्वबुद्धि छूट गयी है; चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्द का सागर उछल रहा है, आनन्द का ज्वार आता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को भोग-सामग्री में किञ्चित् आसक्ति दिखती है - होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजङ्ग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[२८]

विरुद्धधर्मत्वशक्ति

तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः।

तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है, ऐसी विरुद्धधर्मत्व-शक्ति।२८।

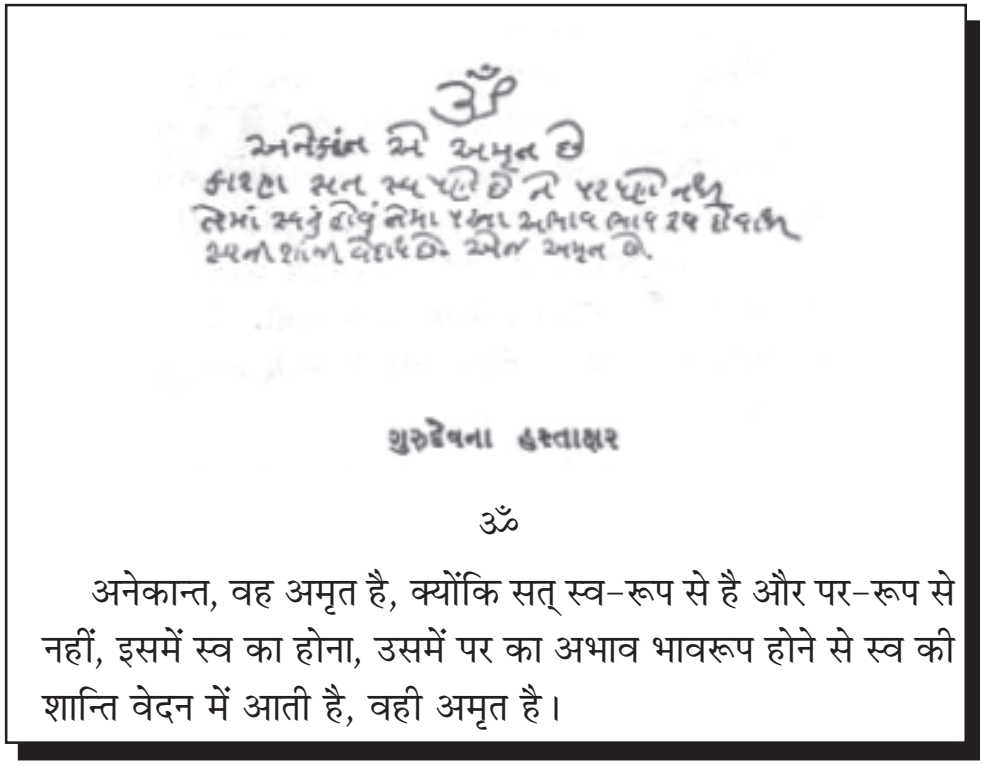

ॐ

अनेकान्त, वह अमृत है, क्योंकि सत् स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं, इसमें स्व का होना, उसमें पर का अभाव भावरूप होने से स्व की शान्ति वेदन में आती है, वही अमृत है।

अनन्तधर्मस्वरूप अनेकान्तमय आत्मा को ज्ञानलक्षण से लक्षित करने से अर्थात् कि स्वानुभव में लेने से निर्मलपर्यायसहित अनन्तधर्मवाला आत्मा उस अनुभव में प्रसिद्ध होता है, उसका यह वर्णन है। स्वलक्षण द्वारा जो प्रसिद्ध हुआ है, ऐसे आत्मा के धर्मों का यह वर्णन है। जो अनादि से मात्र विकार में वर्तता है, उसकी यह बात नहीं है, परन्तु स्वसन्मुख प्रयत्न से जिसने ज्ञानलक्षण द्वारा स्वलक्ष्य को पकड़ा है, उसे उस स्वलक्ष्यभूत आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमती है, उसकी यह बात है। यद्यपि ये शक्तियाँ तो समस्त आत्माओं में है, परन्तु यहाँ उसका भान करके निर्मलरूप से जो परिणमित हुआ, उसकी बात है और उसे ही वास्तविक आत्मा कहते हैं। जिसे राग और विकल्प के ऊपर ही लक्ष्य है, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते, क्योंकि उसे पर्याय में आत्मा जैसा है, वैसा प्रसिद्ध नहीं हुआ। यहाँ तो, स्वसन्मुख होने पर राग से पृथक् पड़ा हुआ जो ज्ञानमय भाव प्रगट हुआ, वह ज्ञानमय भाव कैसे धर्मोंवाले आत्मा को अनुभव करता है, उसकी बात है।

'ज्ञान' वह आत्मा का मुख्य स्वभाव है। वह ज्ञान अन्तर्मुख होकर पूरे अनन्त धर्मवाले आत्मा को अपने लक्ष्यरूप से प्रसिद्ध करता है।—वह वास्तविक आत्मा है। इसके अतिरिक्त जहाँ वास्तविक आत्मा नहीं, वहाँ आत्मापना मान लिया, वह तो अज्ञान है। ज्ञानलक्षण द्वारा लक्ष्यरूप से जो ज्ञात हुआ, उसमें अकेला ज्ञान नहीं परन्तु ज्ञान के साथ दूसरे अनन्त धर्म हैं। उसमें एक धर्म ऐसा है कि जिसके कारण अस्ति-नास्ति आदि विरुद्ध धर्म भी आत्मा में एक साथ रहते हैं। आत्मा की ऐसी 'विरुद्धधर्मत्वशक्ति' है कि तद्रूपपना और अतद्रूपपना—ऐसे दोनों धर्म आत्मा में एक साथ वर्तते हैं। यद्यपि स्याद्वाद-विवक्षा से देखने पर वास्तव में दोनों धर्मों में विरोध मिट जाता है, दोनों अविरोधरूप से अनेकान्त में समाहित होते हैं। तद्रूपता स्वरूप के साथ है और अतद्रूपता पररूप के साथ है—इस प्रकार उनमें विरोध नहीं रहता। एक ज्ञानमात्रभाव अपने आत्मा के साथ तद्रूप है और दूसरे सबके साथ अतद्रूप है—ऐसे अनेकान्तसहित है।

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा से बँधा हुआ है, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ही उसकी मर्यादा है; अपनी उस मर्यादा से बाहर वह परिणमता नहीं। स्व-पर की भिन्न मर्यादा जानकर, अपने स्वभावसन्मुख होने पर आत्मा निर्मलरूप

से परिणमता है। पर के साथ 'अतद्रूपपनेरूप' जो स्वधर्म है, उस स्वधर्म के साथ आत्मा तद्रूप है, परन्तु वह 'अतद्रूप' धर्म आत्मा को पर के साथ तद्रूप नहीं होने देता, आत्मा को पर से भिन्न ही रखता है।

इस प्रकार तद्रूपता और अतद्रूपता इत्यादि विरुद्ध धर्मों को आत्मा में धारण करता है। यद्यपि ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति तो छहों द्रव्यों में है, सभी द्रव्यों को अपने स्वभाव के साथ तद्रूपता और पर के साथ अतद्रूपता है, परन्तु यहाँ छह द्रव्यों में मुख्य ऐसा ज्ञानमूर्ति आत्मा, उसके ज्ञानभाव में एकसाथ तद्रूपताधर्म और अतद्रूपताधर्म दोनों किस प्रकार से है, यह समझाया है। यदि ऐसी दोनों शक्ति एक साथ न हो और मात्र तद्रूपता ही हो तो जड़ के साथ भी आत्मा तद्रूप हो जाये अर्थात् जड़ हो जाये। अथवा यदि मात्र अतद्रूपपना हो तो आत्मा अपने ज्ञान-आनन्द के साथ भी अतद्रूप अर्थात् कि पृथक् सिद्ध हो—परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा में तद्रूपता और अतद्रूपता दोनों धर्म एक साथ हैं। तद्रूपता और अतद्रूपता इन दोनों का स्वरूप अब समझायेंगे। आत्मा में विरुद्ध धर्म हैं, परन्तु वे सर्वथा विरुद्ध नहीं। जैसे कि आत्मा अरूपी है और रूपी भी है, अथवा आत्मा चेतन है और जड़ भी है—ऐसा सर्वथा विरुद्धधर्मपना आत्मा में नहीं है। तथा रागादि भाव आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध हैं, वे विरुद्ध भाव कहीं इस 'विरुद्धधर्मों' में नहीं आते। परन्तु अस्तित्व-नास्तित्व इत्यादि कथंचित् विरुद्ध धर्म कि जो ज्ञानमात्र आत्मा का वस्तुत्व सिद्ध करते हैं—ऐसे धर्म आत्मा में हैं। उसमें तत्पना—अतत्पना इत्यादि धर्मों का स्वरूप अब बतलाते हैं।

विरुद्धधर्मत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

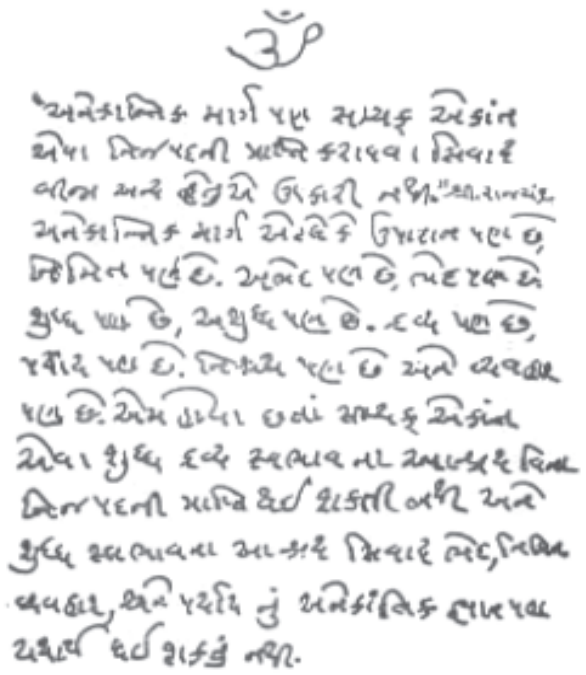

गुरुदेवना हस्ताक्षर

ॐ

'अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से उपकारी नहीं है'। श्री राजचन्द्र

अनेकान्तिक मार्ग अर्थात् कि उपादान भी है, निमित्त भी है; अभेद भी है, भेद भी है; शुद्ध भी है, अशुद्ध भी है; द्रव्य भी है, पर्याय भी है; निश्चय भी है और व्यवहार भी है। ऐसा होने पर भी सम्यक् एकान्त ऐसे शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय बिना निजपद की प्राप्ति नहीं हो सकती और शुद्ध स्वभाव के आश्रय के अतिरिक्त भेद, निमित्त, व्यवहार और पर्याय का अनेकान्तिक ज्ञान भी यथार्थ नहीं हो सकता।

[२९] [३०]

तत्त्वशक्ति अतत्त्वशक्ति

तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः।

तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप होनेरूप अथवा तत्स्वरूप परिणमनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन चेतनरूप से रहता है–परिणमित होता है।)।२९।

अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः।

अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप नहीं होनेरूप अथवा तत्स्वरूप नहीं परिणमनेरूप अतत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन जड़रूप नहीं होता।)।३०।

(नोट :- यह दोनों शक्तियाँ परस्पर सम्बन्धवाली होने से युगलरूप से ली है।)

'अनेकान्त' ही धर्म का प्राण है, वह वस्तुस्वभाव को प्रसिद्ध करता है। जैसे प्राण के बिना जीवन नहीं होता, उसी प्रकार अनेकान्तस्वरूप को समझे बिना धर्म नहीं होता, इसलिए अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। अनेकान्त से ही वीतरागी जिनशासन अनादि से जयवन्त वर्तता है। अमृतमय ऐसा मोक्षपद, वह अनेकान्त द्वारा ही प्राप्त होता है; इसलिए अनेकान्त अमृत है।

अपने ज्ञानादि अनन्त स्वभावों के साथ आत्मा को तद्रूपता है और पर के साथ अतद्रूपता है। इस प्रकार तद्रूपता और अतद्रूपता ऐसी दोनों शक्तियाँ अर्थात् कि तत्पना और अतत्पना, ये दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ रही हुई है। एक वस्तु में वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करनेवाली अस्ति-नास्ति, तत्-अतत् आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है।—इसमें आचार्यदेव ने अलौकिक व्याख्या करके अनेकान्त का स्वरूप समझाया है। 'परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ'—परन्तु वे कैसी ?—कि वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करनेवाली; वस्तुस्वरूप में हों, वैसे धर्मों को जानना, वह अनेकान्त का ज्ञान है। जैसे कि आत्मा अपना कर्ता और पर का अकर्ता; अथवा अपने में द्रव्य-अपेक्षा से अकर्ता और पर्याय-अपेक्षा से कर्ता,—इसमें परस्पर विरुद्धधर्म द्वारा वस्तु की सिद्धि हुई; परन्तु आत्मा अपना कर्ता और आत्मा पर का भी कर्ता—ऐसा मानना, उसमें वस्तुस्वरूप सिद्ध नहीं होता, इसलिए वह अनेकान्त नहीं परन्तु एकान्त है, मिथ्यात्व है। इसी प्रकार, 'वीतरागता धर्म है और राग भी धर्म है'—ऐसा कहने में धर्म का यथार्थरूप सिद्ध नहीं होता, परन्तु 'वीतरागता धर्म है और राग धर्म नहीं है'—ऐसा कहने से धर्म का वास्तविक स्वरूप सिद्ध होता है, और यही अनेकान्त है। इस प्रकार अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वभाव को पहिचानने से पर से भिन्न ऐसे निजपद की प्राप्ति होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है।

१. आत्मा एक द्रव्य,

२. असंख्यप्रदेशरूप उसका क्षेत्र,

३. निर्मल पर्यायरूप स्वकाल,

४. अनन्त गुणरूप स्व-भाव,

— ऐसे निर्मल स्वचतुष्टय में आत्मा तद्रूप है; उसमें कहीं विकार नहीं लेना। इस प्रकार आत्मा को निजस्वरूप में तद्रूपपने रखता है।

—ऐसी 'तत्त्व' शक्ति है; और पर के साथ तद्रूपता नहीं होने देती, ऐसी 'अतत्त्व' शक्ति है। ज्ञानभाव में ये सभी शक्तियाँ वर्तती हैं। 'ज्ञानभाव' अपने आनन्दादि अनन्त स्वधर्मों के साथ तद्रूप होकर परिणमता है और विकार के साथ तद्रूप हुए बिना

(अर्थात् पृथक् रहकर परिणमता है। ऐसा अनेकान्तपना ज्ञान को स्वयमेव प्रकाशित करता है।)

निर्मल स्वचतुष्टय में आत्मा को तद्रूपता है, और पर के साथ अतद्रूपता है; अब जिसके साथ अतद्रूपता हो, अर्थात् कि भिन्नता हो, उसके साथ उसे कारण-कार्यपना कैसे होगा?—होगा ही नहीं। राग को और ज्ञान को भी तद्रूपता नहीं है, एकता नहीं है। एकता नहीं अर्थात् कारण-कार्यपना नहीं है। चैतन्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सदा चैतन्यरूप रहते हैं, जड़रूप कभी नहीं होते। और वास्तव में शुद्ध आत्मा रागादि परभावों के साथ भी तन्मय नहीं होता, निर्मलपर्याय में ही तन्मय होकर वर्तता है। ऐसे अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा को रागादि के साथ कर्ता-कर्मपना और कार्य-कारणपना या कारण-कार्यपना नहीं है। निजस्वभाव के अवलम्बन से हुआ जो निर्मल कार्य है, उसके साथ तद्रूपता है, उसके साथ कर्ता-कर्मपना है और उसके साथ कारण-कार्यपना है। ज्ञानभाव का जो परिणमन है, उसके साथ राग का तद्रूपता नहीं है। रागादि बाह्यभाव हैं, वे सभी निजस्वभाव के भावरूप से नहीं अनुभव में आते परन्तु अस्वभावपने अनुभव में आते हैं। आत्मा को अपने अनन्त गुण और उनकी निर्मल पर्यायों के साथ तद्रूपता अपने स्वभाव से ही है।

मुमुक्षु : पर्याय के साथ आत्मा को तद्रूपता होती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; निर्मलपर्याय के साथ उस-उस काल में आत्मा को तद्रूपता है। यदि पर्याय के साथ उस काल में तद्रूपता न हो, तब तो वह पर्याय आत्मा से अत्यन्त पृथक् सिद्ध हो और आत्मा पर्यायरहित हो जाये। पर्यायरहित कोई वस्तु होती नहीं। कुन्दकुन्दप्रभु ने प्रवचनसार में कहा है कि द्रव्य जिस काल में जिस भावरूप से परिणमा है, उस भाव में उस काल में तन्मय है। यहाँ शुद्ध परिणमन की बात है; इसलिए शुद्धपर्याय के साथ आत्मा को तन्मयता है। विकार के काल में उस विकार के साथ स्वभाव को तद्रूपता नहीं है। अपने अनन्त गुणों के साथ तद्रूप ऐसे आत्मस्वभाव के ऊपर लक्ष्य जाने से राग एक ओर रह गया—वह लक्ष्य में नहीं आया, परन्तु अतद्रूपपने स्वभाव से बाहर रह गया। अभूतार्थ हो गया, शुद्धात्मा के द्रव्य-गुण और

पर्याय में वह नहीं आया; अर्थात् कि वह स्वभाव के ऊपर का ऊपर तैरता है, बाहर रहता है, अन्दर में प्रवेश नहीं करता। ऐसी निर्मल अनुभूति हुई, उसका नाम धर्म; उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा अनन्त गुण की निर्मलता समाहित हो जाती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनरूप मोक्षमार्ग कहा, वहाँ उसके साथ तद्रूपपने आत्मा के अनन्त गुणों का निर्मल परिणमन वर्तता है। स्वभाव में तद्रूपता और परभाव में अतद्रूपता, वह निजशक्ति का अविरुद्ध परिणमन है, परन्तु रागादि में तद्रूपता मानना और ज्ञानभाव में तद्रूपता न करना—वह निजशक्ति का विरुद्ध परिणमन है। निजशक्ति का स्वरूप जाने, उसे उसका अविरुद्ध सम्यक् परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

जड़ के साथ कहीं तेरे आत्मा को तद्रूपता नहीं है इसलिए उसमें से कहीं से तेरा ज्ञान और सुख आवे, ऐसा नहीं है। ज्ञान-सुख इत्यादि तेरे आत्मा के ही तद्रूप-स्वभाव हैं, इसलिए स्वभाव में से ही ज्ञान और सुख का वेदन आता है।

शरीर, वाणी, मन के साथ तो आत्मा को सदा ही अतद्रूपता है अर्थात् कि भिन्नता है। स्वभाव सन्मुख जाकर देखने से रागादिक अशुद्धभावों के साथ भी अतद्रूपता है अर्थात् जो पर्याय शुद्ध स्वभाव सन्मुख ढलकर उसमें तद्रूप परिणमित हुई, उसे रागादि के साथ अतद्रूपता हो गयी। ज्ञान और राग एक ही क्षेत्र में और एक ही समय में वर्तते हैं, तथापि ज्ञान को राग के साथ अतद्रूपता है और ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि निजभावों के साथ तद्रूपता है। ऐसा भेदज्ञान होकर स्वसन्मुखता होना वह अनेकान्त का फल है। तत्पना और अतत्पना, उसे 'विरुद्धधर्म' कहा परन्तु स्याद्वाद-विवक्षा से समझने पर वह विरोध मिट जाता है और 'अनेकान्त' में ये दोनों धर्म अविरोधरूप से एक साथ समाहित हो जाते हैं।

ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के स्वभाव का अस्तित्व कितना बड़ा है और कैसा आनन्दकारी है! यह स्वानुभवी सन्तों ने दिखलाया है। अपना धर्म तो अपने अस्तित्व में ही होगा न? अपना जैसा और जितना अस्तित्व है, उसे पहिचाने तो धर्म प्रगट हो। ज्ञान का ज्ञानरूप से परिणमन हो, उसमें ज्ञान का तद्रूपपना है और उसमें अज्ञानादि का तद्रूपपना नहीं है, अर्थात् कि उस ज्ञान का अज्ञानादिरूप परिणमन नहीं है। जिसे

जिसके साथ तत्पना (एकपना) हो, वह उस जाति का ही होता है, विरुद्ध जाति का नहीं होता। एक चेतन और दूसरा अचेतन ऐसी दो विरुद्ध वस्तुओं को एकता नहीं हो सकती तथा एक शुद्धता और दूसरी अशुद्धता—ऐसे दो विरुद्धभावों को एकता नहीं हो सकती। ज्ञान को अपने ज्ञानपरिणमन के साथ तद्रूपता है, अज्ञान के साथ अतद्रूपता है; चारित्र को अपने वीतरागी परिणमन के साथ तद्रूपता है, रागादि के साथ उसे अतद्रूपता है। आनन्द को अपने आनन्दरूप भाव के साथ तत्पना है, आकुलता के साथ अतत्पना है। इस प्रकार आत्मा के अपने अनन्त गुण के स्वभाव के साथ तद्रूपता है और विभावों के साथ अतद्रूपता है। ऐसा अनेकान्तपना चैतन्यपरिणमन में शोभित होता है।

रागादि में तन्मयता मानकर जो अकेला अशुद्धपरिणमन है, वह तो 'एकान्त' है। राग द्वारा चैतन्य भगवान की शोभा और महत्ता मानना, वह तो उसके ऊपर कलंक ओढ़ाकर उसका अनादर करने जैसा है। प्रभु! तू रागवाला नहीं, राग द्वारा तेरी शोभा नहीं, राग में तेरी तन्मयता नहीं। तेरी शोभा तेरे अनन्त गुणों के निर्मल परिणमन से ही है, उसमें ही तेरी सच्ची तन्मयता है। उस-उस समय के अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के साथ आत्मा को तद्रूपता है। उसमें स्वकालरूप पर्याय समय-समय में पलटती है; इस समय की पर्याय दूसरे समय नहीं रहती, दूसरे समय में दूसरी होती है, इसलिए स्वकाल पलटा करता है; उस-उस समय के स्वकाल को आत्मा के साथ तद्रूपता है, परन्तु किसी निमित्त के साथ और परभाव के साथ उसे तद्रूपता नहीं है। चारित्र परिणति में साधक को एक ही समय में किंचित् शुद्धता के साथ धर्मी को तद्रूपता है और अशुद्धता के साथ तद्रूपता नहीं। रागादि व्यवहार में अतद्रूपता है अर्थात् कि वे हेय हैं और शुद्ध निश्चय तन्मयरूप से उपादेय है।

वाह! ज्ञानलक्षणी आत्मा कभी रागादि में एकरूप—तन्मय हुआ नहीं; जहाँ ऐसे अन्तरस्वभाव में झुककर उसमें तद्रूप हुआ, वहाँ अतद्रूप ऐसा राग बाहर रह गया और परवस्तु अपने में कभी प्रविष्ट हुई ही नहीं। कोई आठ वर्ष के वैरागी धर्मात्मा मुनि होकर जहाँ निजस्वभाव में लीन हों और केवलज्ञान प्रगट करे, वहाँ छोटा सा कमण्डल और छोटी सी पिच्छी, यह दोनों रह गये एक ओर; उनका विकल्प—कि पहले से ही

जिसके साथ अतन्मयता जानी थी—वह टूट गया और केवलज्ञान—अनन्त आनन्द इत्यादि के साथ तद्रूपरूप से आत्मा परिणमित हो गया। विकल्प और वाणी, पिच्छी और कमण्डल में कहीं आत्मा की तन्मयता धर्मी को स्वप्न में भी भासित नहीं होती और अपने अनन्त स्वाभाविक गुणों में जो तन्मयता जानी है, वह कभी छूटती नहीं। इस प्रकार सम्यक्रूप से तद्रूप और अतद्रूप भावोंरूप परिणमता हुआ वह धर्मात्मा मोक्षरूप निजवैभव को साधता है।

स्व के साथ अर्थात् ज्ञान के साथ तद्रूपभवन है, वह आत्मा का तत्पना है, और पर से भिन्न परिणमन है, इसलिए अतत्पना है।—ऐसी दोनों शक्तियोंसहित ज्ञानमात्र भाव है। वह ज्ञानभाव राग में भी अतन्मयरूप से वर्तता है। राग में ज्ञान की एकता नहीं, वहाँ पर के साथ एकता कैसी? ऐसा परभावों से पृथक् रहता ज्ञान सदा जागृत है, साध्यरूप है। ऐसे ज्ञान द्वारा साध्य आत्मा को जो साधे, उसे देहादि में प्रतिकूलता होने पर भी असाध नहीं होता। साध्य जिसके ध्येय में वर्तता है, वह ज्ञान स्वध्येय को भूलता नहीं और परभाव में मूर्च्छित नहीं होता, वह सदा जागृत है।—ऐसे ज्ञान में मरण नहीं। जगत को मरण का भय है, देह में जिसे एकताबुद्धि है, उसे ही भय है कि 'मेरी मृत्यु हो जायेगी'—परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है, देह छूटने के प्रसंग में भी उसे आनन्द की लहर है। क्योंकि देह को तो पहले से ही भिन्न जाना है। मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञान को मरण नहीं, फिर मृत्यु का भय कैसा? अरे! दुनिया जिस मरण से डरती है, वह मरण ही आत्मा में नहीं। आत्मा देह के साथ कभी तद्रूप हुआ ही नहीं, फिर देह के वियोग में उसका मरण कैसा? आत्मा तो अपने चैतन्यलक्षण के साथ सदा तद्रूप है। जो ऐसे चैतन्यध्येय से जीवन जी रहा है, उसे रोग क्या? उसे असाध्यपना कैसा? और उसे मरण कैसा? वह तो अपने निजगुण में और आनन्दपर्याय में तल्लीन होकर चैतन्य में झूलता-झूलता सदाकाल जीता है—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। आनन्द से भरपूर ऐसे अपने निर्मल द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में व्याप्त हुआ, उसे दुःख कैसा? भाई! तेरे ऐसे आत्मा को ध्येय करके तू रहे... उसमें तुझे परम शान्ति का अनुभव होगा।

चैतन्यमूर्ति आत्मा शरीरादि परद्रव्यों के साथ एकमेक कभी हुआ नहीं। आत्मा अपने चेतनपने से कभी छूटता नहीं और पररूप कभी होता नहीं। स्वयं जिसमें तद्रूप

है, ऐसे निजस्वभाव में लक्ष्य करके निर्मलरूप से परिणमना, वह जीव का स्वभाव है। जिसमें स्वयं तद्रूप नहीं—जिससे भिन्न है, ऐसे पर में लक्ष्य करके परिणमने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। भाई! तुझे जगत के अनन्त पदार्थों के साथ अतत्पना है और तेरे अनन्त गुणों के साथ तत्पना है। अपने अनन्त गुणों के साथ की एकता को कभी छोड़ता नहीं और पर के साथ एकता कभी करता नहीं—ऐसा आत्मवैभव है। स्व में एकत्वरूप और पर से विभक्तरूप ऐसा एकत्व-विभक्त आत्मा आचार्य भगवान ने अपने निजवैभव से दिखलाया है। उसके उत्कृष्ट नमूनारूप से यहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन है। ४७ शक्तियों के वर्णन में अनन्त शक्तियों का सार समाहित हो जाता है; एक-एक शक्ति के साथ अनन्त शक्तियाँ साथ ही हैं, इसलिए आत्मा की एक भी शक्ति को यथार्थ पहिचानने से अनन्त शक्तिवाला पूरा आत्मा ही पहचानने में आ जाता है। ज्ञान-लक्षण से अन्तर्मुख होकर जहाँ आत्मा को अनुभव में लिया, वहाँ अनन्त शक्तियों का रस उस अनुभूति में समाहित हो गया। उसका यह वर्णन है।

✦ आत्मस्वभाव में अनन्त गुण त्रिकाल व्यापक है।

✦ देहादि परद्रव्य आत्मा में कभी व्याप्त नहीं, सदा पृथक् ही है।

✦ पर्याय में जो क्षणिक रागादि हैं, वे आत्मस्वभाव में त्रिकाल व्यापक नहीं, तथा शुद्धस्वभाव के साथ एक समय भी तद्रूप नहीं।

✦ निर्मलपर्याय, वह एक समयमात्र ही व्यापक होने पर भी शुद्धस्वभाव में तद्रूप होकर उसके आनन्द को वेदती है।

जिस पर्याय ने अनन्त शक्तिवाले आत्मस्वभाव को ज्ञानलक्षण द्वारा अनुभव में लिया, वह पर्याय अनन्त आत्मशक्ति में तन्मय होकर परिणमित हुई, और उसे विकार के साथ अथवा पर के साथ तन्मयता नहीं रही।—ऐसा उसका सहज परिणमन है।

यदि आत्मा में 'तत्त्व' शक्ति न हो तो निजगुण में तद्रूप होकर अपनी शान्ति को कभी वेदन नहीं कर सकता। और यदि 'अतत्त्व' शक्ति न हो तो पर से भिन्न रहकर निजशान्ति को वेदन नहीं कर सकता; पर में तद्रूप रहे तो उससे छूटकर स्वाश्रयभावरूप मोक्ष का और सम्यग्दर्शनादि का अवसर ही कैसे आवे? धर्मी जानता है कि मेरे आत्मा

को स्व में तद्रूपतारूप तत्पना है और पर से भिन्नतारूप अतत्पना है। इसलिए वह पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय में लीन होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधता है। इस प्रकार साध्य की सिद्धि है, दूसरे प्रकार से साध्य सधता नहीं।

अपने अन्तरस्वभाव में लक्ष्य करने से विकाररूप परिणमन नहीं होता, इसलिए आत्मा को विकार के साथ तद्रूपता नहीं है। इस प्रकार अन्तर्मुख होकर राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव को लक्ष्यगत करे, तब ही शास्त्र के अर्थों का फल हाथ में आता है। क्योंकि 'लक्ष्य होने को उसका, कहे शास्त्र सुखदायी।'

भाई! अन्तर में तेरे निश्चयस्वभाव के निकट जाकर देख तो उसमें रागादि अशुद्धभाव अविद्यमान है, वे अशुद्धभाव तेरे स्वभावरूप से अनुभव में नहीं आते, क्योंकि उन भावों को ज्ञानभाव के साथ एकता नहीं है। ज्ञान तो अपने निजस्वभावरूप अनुभव में आता है, परन्तु रागादिभाव तो परभाव है, इसलिए भूतार्थदृष्टि द्वारा उनसे रहित शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। वज्र जैसा आत्मा का जो भूतार्थस्वभाव, उसमें विकार का प्रवेश नहीं हो सकता। यदि भूतार्थस्वभाव में भी विकारभाव प्रवेश करके तद्रूप हो जाये तो विकार रहित शुद्ध आत्मा कभी प्रतीति में और अनुभव में नहीं आ सकता, इसलिए आत्मा शुद्ध होकर मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु शुद्धस्वभाव की अनुभूति कर-करके अनन्त जीव विकाररहित शुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार विकार के साथ शुद्धात्मा को तद्रूपता नहीं, परन्तु अतद्रूपता है।

अरे! चैतन्यतत्त्व को राग के साथ भी तत्पना नहीं, वहाँ शरीर-मन-वाणी का और बाहर के कार्य का कर्तृत्व मानकर उसमें तू तेरी तद्रूपता माने—यह तो कैसी मिथ्याबुद्धि है! तुझे तो तेरे अनन्त धर्मों के साथ तद्रूपता है—ऐसा जानकर तू स्व में तन्मय होकर परिणमित हो। सन्त यह तेरे चैतन्यगुण की वीतरागी-वीणा बजाते हैं। अहा! स्वभाव की मधुर वाणी के नाद से कौन नहीं डोल उठेगा!

आत्मा के द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों ज्ञानमय है, उन्हें राग के साथ एकत्व नहीं है, —'परन्तु पर्याय में राग तो है न?'—है, परन्तु वह ज्ञान के साथ तद्रूपपने नहीं, किन्तु अतद्रूपपने है; अर्थात् कि ज्ञानभाव से वह बाहर ही रहता है। आत्मा 'ज्ञायकभाव'

है, वह ज्ञायकभाव मिटकर कभी जड़रूप नहीं होता, तथा शुभाशुभभावोंरूप से वह परिणमित नहीं होता। ऐसा ज्ञायकभाव और उसे उपासित करनेवाली पर्याय, उसमें कभी विकार है ही नहीं, उसमें विकार का अभाव है और अनन्त गुणों की शुद्धता का सद्भाव है। इस प्रकार आत्मा को अनन्त गुण के साथ एकतारूप और विकारभावों से भिन्नतारूप से ज्ञानलक्षण प्रसिद्ध करता है। ज्ञानलक्षण आत्मा को रागरूप प्रसिद्ध नहीं करता परन्तु राग से भिन्नरूप से और अपने निर्मल गुण-पर्यायों से अभिन्नरूप से प्रसिद्ध करता है; इस प्रकार एकत्व-विभक्त आत्मा का अनुभव कराता है।

२९वीं तत्त्वशक्ति और ३०वीं अतत्त्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

卐

मोक्ष का पंथी हुआ...

जिसने सर्वज्ञशक्तिवाले आत्मा को जाना, उसने उसके साधक और साध्य दोनों अपने में जाने हैं, इसलिए दूसरे किसी बाह्य साधन की बुद्धि उसे नहीं रही; वह राग को भी साधन नहीं मानता। रागादि भाव वे वास्तव में आत्मा नहीं, वे तो अभूतार्थ आत्मा हैं; जबकि स्वभाव का निर्णय करके साधकभाव में चढ़ा, तब निर्मलपर्यायरूप से परिणमित वह आत्मा 'भूतार्थ आत्मा' हुआ, वह सच्चा आत्मा हुआ, वह धर्मात्मा हुआ... और वह मोक्ष का पंथी हुआ... उसके अनन्त गुणों का संघ निर्मलपर्यायसहित मोक्षधाम की यात्रा करने चला।

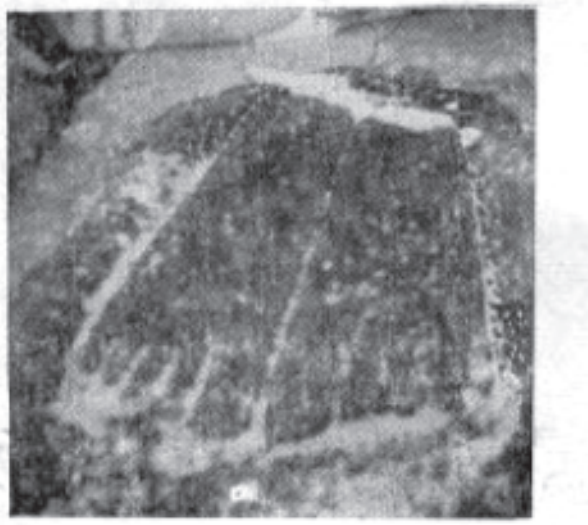

उस पवित्र आत्मा के चरणकमल —कि जिन्होंने जगत को आत्मवैभव दिखलाया।

(पौन्नूर हिल में स्थित भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पवित्र चरणकमल।)

[३१] [३२]

एकत्वशक्ति अनेकत्वशक्ति

अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः।

अनेक पर्यायों में व्यापक ऐसी एकद्रव्यमयतारूप एकत्वशक्ति।३१।

एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः।

एक द्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें उसमयपनेरूप अनेकत्वशक्ति।३२।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को द्रव्य अपेक्षा से एकपना और गुण-पर्यायों की अपेक्षा से अनेकपना—ये दोनों अपने में ही समाहित होते हैं, उसे पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आत्मा का जो यह एकत्व तथा अनेकत्व, उसकी पहिचान भी स्वसन्मुखता से ही होती है; परसन्मुखता से उसकी पहिचान नहीं होती। एकता और अनेकता ये दोनों अपना स्वभाव है, निजशक्ति है, 'ज्ञान' स्वयं ऐसे धर्मोंसहित वर्त रहा है।

ज्ञानस्वभाव में दृष्टि करने से अनन्त धर्म का समूह लक्षित होता है, वह पूरा ही एक आत्मा है। असंख्यप्रदेशी आत्मा में गुण-पर्यायें अनन्त होने पर भी द्रव्यरूप से आत्मा एक है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को एकरूप—अभेद रखे, ऐसी आत्मा की एकत्वशक्ति है। अनन्त गुण-पर्यायें होने से आत्मा कहीं अनन्त खण्डरूप नहीं हो गया है। अनन्त गुण-पर्यायों में व्यापकर भी अपनी अखण्ड एकता को बनाये रखा है। अनन्त में व्यापने पर भी द्रव्यरूप से एक रहा है, और एक होने पर भी अनन्त गुण-पर्यायों में व्यापकर रहा है। पर के साथ और विकार के साथ एकत्व करे, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं, उससे तो भिन्नता ही रखता है; अपने अनन्त निर्मल गुण-पर्यायों के साथ आत्मा को एकता है। रागरहित आत्मा प्राप्त होता है, परन्तु गुण-पर्यायरहित आत्मा प्राप्त नहीं होता, क्योंकि एक होने पर भी अपने गुण-पर्यायों से व्याप्त है—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही है। आत्मा में से गुण-पर्यायों की अनेकता को कोई निकाल देना चाहे तो वह निकल नहीं सकती, क्योंकि अनेकता तो आत्मा का स्वभावभूत धर्म है। उस धर्म को निकाल देने से आत्मा का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। एकपना और अनेकपना—ऐसे दोनों स्वभाववाला ज्ञानमय आत्मा लक्ष्य में आने पर स्वाश्रय से अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायोंरूप अनेक भावों में एकपने व्यापकर आत्मा परिणमता है। अज्ञान से राग में और देह में व्यापकता मानी थी, परन्तु ज्ञानभाव से आत्मा अपने शुद्ध गुण-पर्यायों में ही व्यापक अनुभव में आता है।

हे जीव! तू परचीज़ में नहीं है। जिसमें तू है, वह चीज़ तुझसे भिन्न नहीं होती। तेरे अनन्त गुणों में और उनकी निर्मल पर्यायों में तू है। तेरा अस्तित्व तुझमें देख, पर में न देख। तुझे एकपना देखना हो तो तुझमें है और अनेकपना देखना हो तो भी तुझमें है। अनेकपना, वह कहीं दोष नहीं, वह तो स्वभाव ही है। जैसे आत्मा एक वस्तु होने पर भी उसके प्रदेश असंख्य हैं, उसी प्रकार आत्मा एक द्रव्य होने पर भी उसमें गुण अनन्त हैं। ऐसा आत्मा होने पर भी वह गुणभेद से खण्डित नहीं होता, स्वानुभूति में सब एकरस होकर एकरूप अनुभव में आता है।

जीव के अनन्त गुण सदा इतने होने पर भी उसकी पर्याय में संसारदशा में हीनाधिकता होती है; इसी प्रकार उसके असंख्यप्रदेश सदा उतने के उतने होने पर भी

संसारदशा के समय उसमें संकोच-विस्तार होता है। किसी समय वह अंगुल के असंख्यवें भाग की छोटी अवगाहनारूप से होता है और किसी समय हजार योजन की बड़ी अवगाहनारूप से अथवा लोकव्यापकरूप से होता है; परन्तु केवलज्ञान उत्पन्न होने के काल में अथवा मोक्ष प्राप्त करने के काल में तो जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना नहीं होती, मध्यम अवगाहना होती है। परन्तु उस छोटी और बड़ी प्रत्येक अवगाहना के समय उसके असंख्यप्रदेश तो उतने के उतने ही हैं।

अनेक में एकपना है, और एक में अनेकपना है;—ऐसे दोनों भाव आत्मा में एकसाथ रहे हुए हैं। एकपना कैसा?—कि अनेक गुण-पर्यायों में जो व्याप्त है, ऐसा; और अनेकपना कैसा?—कि एक द्रव्य द्वारा जो व्याप्य है ऐसा। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के अविनाभावी हैं। अनेकता में एकता को तथा एकता में अनेकता को 'अनेकान्त' प्रकाशित करता है।

एक द्रव्य व्यापक है और अनेक गुण-पर्याय उसका व्याप्य है। यह व्यापक-व्याप्य की एकता है। भिन्न पदार्थों में व्याप्य-व्यापकता नहीं होती। आत्मा के स्वभाव में द्रव्य अपेक्षा से एकपना और पर्याय अपेक्षा से अनेकपना, उसमें कहीं विकार नहीं आया; एकपने को और अनेकपने को विकार के साथ व्याप्य-व्यापकता नहीं है। रागादिक तो कृत्रिम-औपाधिक-विकार भाव है, वे स्वाभाविक भाव नहीं है, जबकि यह एकपना और अनेकपना तो आत्मा के स्वाभाविक भाव हैं।

अज्ञानी—एकान्तवादियों को आश्चर्य लगता है कि एक वस्तु में फिर अनेकपना कैसा?—परन्तु भाई! अनेकता के बिना एकपना हो नहीं सकता। यदि एक आत्मा में अनेकता न हो तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द इत्यादि अनन्त धर्म किस प्रकार सिद्ध होंगे? और अनेक धर्म होने पर भी उन सबको धारण करनेवाली वस्तु तो एक है। यदि एकपना न हो तो अभेद अनुभूति नहीं हो सकती। ऐसे आत्मा को ज्ञानलक्षण द्वारा लक्ष्यगत करे, तब धर्म होता है। अनुभव करने के लिये आत्मा के ऐसे स्वभाव की अपार महिमा आनी चाहिए; सभी पहलुओं से उसके स्वरूप का निर्णय होना चाहिए, उसका तीव्र प्रेम जागृत होना चाहिए।

जिसे जो इष्ट हो—प्रिय हो, उसके प्रति वह प्रेम करता है। इसी प्रकार जिसे धर्म

प्रिय है, जिसे सम्यग्दर्शनादि गुण प्रिय हैं, उसे उन गुणवाले सम्यग्दृष्टि—धर्मात्मा के प्रति परम प्रेम और बहुमान आता है। जिसे आत्मा के अनन्त गुण-वैभव का प्रेम है, वह दूसरे धर्मात्माओं में भी वैसा गुणवैभव प्रगट देखकर प्रमोदित होता है। अहा! जिसे अनन्त गुणरूप आत्मवैभव की महिमा आती है, उसे उससे विरुद्ध भाव की महिमा छूट जाती है। जिसे संयोग का, पुण्य के ठाठ का और अज्ञानी के शुभराग का माहात्म्य है, उसने आत्मा के वीतरागीधर्म का माहात्म्य नहीं जाना है। भाई! तेरा आत्मा अनन्त गुण से भरपूर, शान्ति से भरपूर, प्रभुता से पूरा, उसकी महिमा अपने स्वगुण के वैभव से है, दूसरे के द्वारा उसकी महिमा नहीं है। इसी प्रकार दूसरे आत्मायें (पंच परमेष्ठी इत्यादि) की महिमा भी उनके अपने निजवैभव से ही है। प्रत्येक जीव अपने-अपने आत्मवैभव से ही शोभते हैं। अरे! बाहर की चमक में तुझे महिमा लगती है और तुझमें रहे हुए अनन्त गुणों की महिमा तुझे भासित नहीं होती, तो तुझे आत्मा की वास्तविक प्रीति नहीं है, वास्तविक जिज्ञासा नहीं है।

चैतन्य के साधक मुनिराज निजानन्द की मस्ती में झूमते हुए विचरते हों, चक्रवर्ती जैसे राजा-महाराज भक्ति से आकर उनकी सेवा करें, वहाँ उसके कारण अपनी महत्ता मुनि जरा भी नहीं मानते। अरे! हमारे चैतन्य की अनन्त गुण-सम्पत्ति के समक्ष इन्द्र और चक्रवर्ती की सम्पत्ति की क्या कीमत है! बाहर की यह सम्पत्ति, वह तो गुण की विकृति के एक विकल्प का (शुभराग का) फल है; निर्विकार अनन्त गुण की अचिन्त्य महिमा तो अन्दर में समाहित होती है, उसका फल बाहर में नहीं आता; उस अपार अतीन्द्रिय आनन्दवैभव से परिपूर्ण हमारा आत्मा है, उसके अनुभव से ही हमारी महत्ता है।—इस प्रकार धर्मी को अपने निजवैभव की महिमा भासित हुई है।

भाई! बाहर के वैभव की महत्ता में—उसके प्रेम में तेरे निजवैभव को तू लुटा रहा है। अरे! वीतरागी अनन्त सुख के भण्डार तुझमें भरे हैं, उसका तुझे माहात्म्य क्यों नहीं आता? और बाहर में राग का और विषयों का माहात्म्य क्यों आता है? अरे! चैतन्य की महत्ता के समक्ष पुण्य का माहात्म्य क्या? राग का और संयोग का माहात्म्य क्या? महिमावाला तेरा परमतत्त्व, जिसकी अगाध महिमा सन्तों ने प्रसिद्ध की है, उसे लक्ष्य में लेकर, उसकी अपार महिमा लाकर, उसे अनुभव में ले।

जिसने चैतन्य के आनन्द का स्वाद चखा है, उसकी महिमा जगत में दूसरा कोई ले जाये, ऐसा नहीं होता। चैतन्य का स्वाद चखा, उसे दूसरे का प्रेम नहीं आता; इन्द्र के वैभव और चक्रवर्ती के सिंहासन उसकी रुचि को आकर्षित नहीं कर सकते। अहा! मेरे चैतन्य की महत्ता से विशेष महत्तावाला जगत में है ही कौन? अज्ञानी को पुण्य की-राग की और वैभव की सामर्थ्य भासित होती है, परन्तु अन्दर में वीतरागी गुणों की (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की) अचिन्त्य सामर्थ्य की उसे खबर नहीं। वीतरागी चारित्रवन्त मुनिवरों के पास पुण्य की महान लब्धियाँ तो दासी की भाँति सेवा करने आती हैं, परन्तु चैतन्यलब्धि के अनुभव में लवलीन मुनिवर पुण्य की उस लब्धि के सन्मुख देखते नहीं। अपने अनन्त गुण के शृंगार से आत्मा शोभित होता है। आत्मा कहीं संयोग से और राग से शोभित नहीं होता; अनन्त आत्मशक्तियाँ और उसका निर्मल अनुभव, वही आत्मा का सच्चा आभूषण है। चैतन्य समृद्धि से अधिक मूल्यवान समृद्धि जगत में कोई है ही कहाँ? सर्वज्ञपद की शोभा कहीं समवसरण की विभूति के कारण नहीं है, परन्तु चैतन्यमूर्ति सर्वज्ञ भगवान के कारण समवसरण की शोभा है। लोगों को समवसरण के ठाठ की महिमा दिखती है, परन्तु यदि अन्दर चैतन्य के सर्वज्ञपद की परम अचिन्त्य महिमा को पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हुए बिना रहे नहीं। जगत के वैभव को जाननेवाला आत्मा स्वयं अपनी अपार चैतन्यसम्पदावाला है; जाननेवाले का माहात्म्य अपार है। उसकी विभूति का यह वर्णन है। इस चैतन्यविभूति के समक्ष जगत की विभूति तो भूति समान है, राख समान है।

अमुक देश के राजा को प्रतिदिन की करोड़ों स्वर्ण मोहर की आमदनी है—ऐसी बात सुने, वहाँ तो साधारण लोगों को उस वैभव की महत्ता लग जाती है। परन्तु भाई! यहाँ सन्त तुझे तेरे चैतन्य का वैभव सुनाते हैं। चैतन्य की सम्पदा ऐसी अपार है कि जिसके अनुभव से क्षण में सम्यग्दर्शन और मोक्ष प्राप्त हो। अरे! उसकी महिमा का एक क्षण विचार करने से भी ऐसा पुण्य बँधता है कि जिसके फल में प्रतिदिन करोड़ों-अरबों की आमदनीवाला राजा हो अथवा स्वर्ग का देव हो।—यह तो जिसके विकल्प का फल! और अन्दर चैतन्यशक्ति के अनुभव का फल तो आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द देता है, वह फल अन्दर समाहित होता है। अहो! आत्मा के ज्ञान की और आनन्द की एक-

एक समय की पर्याय के महत्त्व के समक्ष पूरे लोक का वैभव भी नि:सार है। चैतन्यवैभव की प्रीति के समक्ष जगत के किसी भी वैभव की अभिलाषा धर्मी के ज्ञान में नहीं है। भले इन्द्रपद के वैभव बीच में हों, परन्तु जैसे समवसरण के वैभव के बीच विराजमान वीतराग परमात्मा को उस समवसरण का राग नहीं है, उसी प्रकार धर्मात्मा को चैतन्यवैभव के प्रेम के अतिरिक्त बाह्यवैभव का प्रेम नहीं है, रुचि नहीं है, उसके द्वारा अपनी महत्ता भासित नहीं होती। जैसे कोई मात्र समवसरण की बाह्य विभूति द्वारा ही अरिहन्त परमात्मा की महत्ता समझे तो उसने भगवान अरिहन्तदेव के गुणों की वास्तविक महत्ता नहीं जानी है, उसने अरिहन्त को पहिचाना नहीं; तथा कोई इन्द्रादि पद की विभूति द्वारा धर्मात्मा की महिमा माने तो उसने धर्मात्मा को जैसा है, वैसा जाना नहीं, धर्मात्मा के सम्यक्त्वादि गुणवैभव को वह नहीं पहिचानता, इसलिए उसे धर्मी की सच्ची पहिचान नहीं है। अहा! धर्मी के आत्मा की सच्ची पहिचान भी अपूर्व भेदज्ञान कराती है।

बापू! जहाँ शुभविकल्प भी हमारा नहीं, वहाँ यह इन्द्रपद इत्यादि बाहर के ठाठ हमारे कैसे हों? तू मात्र विकल्प को और बाह्यवैभव को ही देखता हो तो तूने धर्मी के धर्म को नहीं देखा,—तुझे धर्मी का दर्शन करना नहीं आया, तूने तो राग का और वैभव का दर्शन किया है। धर्मी किस भाव में खड़े हैं?—उनकी दृष्टि कहाँ है? उनका स्वभाव कैसा है? उनकी वीतरागता कैसी है?—इसकी तुझे खबर नहीं। बाह्यदृष्टि द्वारा वह दिखाई दे, ऐसा नहीं है। धर्मी की प्रीति का विषय तो अनन्त चैतन्यवैभव से भरपूर आत्मा ही है, उसमें ही उनकी दृष्टि है, उनके स्वानुभव में उसका ही स्वीकार है। इन्द्रपद और शुभराग, वह उनकी प्रीति का और उनके स्वानुभव का विषय नहीं है। छोटे में छोटा सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा हो, उसकी भी ऐसी ही अन्तरदशा होती है। ऐसी अन्तरदशा को पहिचाने, तब धर्मात्मा को पहिचाना कहलाता है और तब अपने में भी भेदज्ञान होता है।

अरे! आत्मा की शोभा तो अपने गुण से होगी या पर के (गुण) से? निजगुण की सम्पदा से शोभित आत्मा के वैभव का यह वर्णन है। ज्ञान की अन्तर्मुख अवस्था द्वारा 'यह ज्ञायक मैं' ऐसा लक्ष्य में लेकर अनुभव करने से अनन्त धर्मसहित आत्मा अनुभव

में आता है। अनन्त गुण होने पर भी स्वानुभव में गुणभेद पर दृष्टि नहीं रहती, सभी गुण अभेदरूप से द्रव्य के अनुभव में समाहित हो जाते हैं। ऐसे स्वभाव के स्वसंवेदन में अनन्त गुणों की निर्मलता और आनन्द होता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र आत्मा के अनुभव में 'एकपना' तथा 'अनेकपना' ऐसे दोनों धर्म इकट्ठे ही परिणम रहे हैं। अनेक भेद के विकल्प में अटकना आकुलता है, परन्तु वस्तुस्वभाव में अनेक गुणों का होना, वह कहीं आकुलता का कारण नहीं है। अनन्त गुणसहित सत् आत्मा अनुभव में आने पर भेद का विकल्प टूटकर अनन्त गुण के रसरूप आनन्द का वेदन होता है, अनन्त गुण की निर्मलतासहित पूरा आत्मा प्रसिद्ध होता है।

एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

* * *

....तो पुण्य का मोह उड़ जाये।

अरे! चैतन्य के वैभव की पवित्रता के समक्ष इन्द्रपद के पुण्य की भी कुछ महत्ता नहीं है.... पुण्य, वह तो वीतरागस्वभाव से विरुद्धभाव है, वह कहीं चैतन्य का वैभव नहीं है; तो चैतन्य का जो वैभव नहीं, उसकी महत्ता धर्मी को कैसे आवे? जिसने चैतन्य के वीतरागी वैभव को जाना नहीं, उसे ही राग की और पुण्य की महिमा लगती है, यदि चैतन्य के वीतरागीवैभव को जाने तो पुण्य का मोह उड़ जाये।

तेरे चैतन्यतत्त्व को अन्तर में देख

अरे! ऐसा महिमावन्त आत्मतत्त्व, उसे साधने की जीवों को निवृत्ति क्यों नहीं मिलती? दूसरी प्रयोजनहीन उपाधि में लगा रहता है परन्तु भाई! तेरे आत्मा की अद्‌भुतता तो देख! अहो, चैतन्य का कोई अद्‌भुत आनन्दकारी स्वभाव है; जगत की जिसमें उपाधि नहीं और अपने निजानन्द में केलि करता हुआ जो परिणम रहा है, ऐसे तेरे चैतन्यतत्त्व को अन्तर में देख।

धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ – ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है – यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग-द्वेष का अभाव करता जाता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[३३] [३४]

भावशक्ति अभावशक्ति

भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः।

विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो, उसरूप भावशक्ति।३३।

शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः।

शून्य (-अविद्यमान) अवस्थायुक्ततारूप अभावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो, उसरूप अभावशक्ति।)।३४।

जड़-चेतन का विभाजन कराकर चैतन्य में अन्तर्मुखता द्वारा अज्ञान का और राग-द्वेष का नाश करके आत्मा को मुक्ति प्राप्त कराये, आनन्द प्राप्त कराये, ऐसी जो वीतरागविज्ञानरूप आत्मविद्या, वही मोक्ष के कारणरूप सच्ची विद्या है। वीतरागी सन्तों ने ऐसी आत्मविद्या जगत को दी है। स्वानुभव के प्रयोग द्वारा सिद्ध हो सके, ऐसी यह विद्या है।

आत्मवस्तु अनादि-अनन्त है, वह उत्पन्न नहीं होती, नाश नहीं पाती, सदा अपने अनन्त गुणसहित विराजमान है। ऐसा आत्मा अनादि से अपने निजवैभव को भूलकर बाह्य संयोग में और विकार में अपना अस्तित्व मान रहा है, यह भ्रान्ति और दुःख है। यदि ज्ञानलक्षण द्वारा अन्तर में देखे तो पर से भिन्न अपना शुद्धस्वरूप अनुभव में आवे और भ्रान्ति टले। इसलिए दुःख टलकर परमसुख प्रगट हो। जैसे समुद्र के खोजक गोताखोर गहरे समुद्र में डुबकी लगाकर रत्नों का खजाना शोधता है, उसी प्रकार इस चैतन्य-समुद्र में अनन्त गुणरूपी अनन्त रत्न हैं, ज्ञान-दर्शन-आनन्द इत्यादि अनन्त शक्तियोंरूपी अचिन्त्य रत्न उसमें भरे हैं; इस निधान को भूलकर अज्ञानी जीव बाहर भटकते हैं। परन्तु आत्मा के शोधक जीव गोताखोर होकर अन्दर चैतन्य समुद्र में गहरे उतरते हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त रत्नों को स्वानुभव में प्राप्त करते हैं, उन रत्नों का अर्थात् कि चैतन्यधर्मों का यह वर्णन है।

आत्मा में ऐसी भावशक्ति है कि जब देखो, तब उसमें कोई अवस्था विद्यमान होती ही है, अवस्था बिना का वह कभी होता ही नहीं। और उसमें ऐसी अभावशक्ति है कि वर्तमान के अतिरिक्त दूसरी अवस्थाएँ उसमें अविद्यमान होती है। इस प्रकार आत्मा में भावशक्ति और अभावशक्ति है। 'अभावशक्ति' भी है तो भावरूप, कहीं अभावरूप नहीं है।

कोई वस्तु अपने स्वभावरहित खाली नहीं होती। आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, उसे अपने ज्ञानादि स्वभाव हैं। जैसे शक्कर का स्वभाव मीठा, अफीम का स्वभाव कड़वा, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्दरूप है। ज्ञान अवस्थारूप से उसका भाव है, ज्ञान अवस्था उसमें विद्यमान है और रागादि का उसमें अभाव है। देह तथा रागादि ज्ञान में ज्ञात होते हैं परन्तु वे ज्ञान में अभावरूप हैं। जैसे मयूर दर्पण में ज्ञात होता है, परन्तु वह कहीं दर्पण में आ नहीं गया है; उसी प्रकार ज्ञान के अस्तित्व में कहीं विकार और जड़ आ नहीं जाते। आत्मा में ज्ञानअवस्था विद्यमान है और रागादि अविद्यमान है; अथवा भूत-भविष्य की अवस्थायें भी अभी अविद्यमान है। जड़ का तो आत्मा में अत्यन्त अभाव है और भूत-भविष्य की अपनी अवस्थाओं का भी प्राक्अभाव तथा

प्रध्वंसअभाव है। वर्तमान वर्तती अवस्था भावरूप है। उसमें भी वर्तमान राग वर्तमान ज्ञान में तो अभावरूप ही है।

आत्मा के प्रत्येक गुण में उसकी अवस्थारूप भाव वर्तता ही है, उसके अपने स्वभाव से ही ऐसा भाव वर्तता है, वह कहीं दूसरे के कारण से नहीं है। यहाँ निर्मल अवस्था के भाव की बात है, इसलिए ज्ञान में ज्ञान की अवस्थारूप भाव है। आनन्द में आनन्द की अवस्थारूप भाव है, इस प्रकार प्रत्येक गुण में अपनी-अपनी निर्मल अवस्थारूप भाव विद्यमान है। आनन्द में दु:ख का भाव नहीं आता, ज्ञान में अज्ञान का भाव नहीं आता, श्रद्धा में मिथ्यात्व का भाव नहीं आता। आत्मगुण का वास्तविक कार्य उस गुण की जाति का होता है, उससे विरुद्ध नहीं होता। स्वगुण को भूलकर दु:ख के वेदन में अनादिकाल गया, वह वास्तव में गुण का भाव नहीं है। स्वाश्रय से निर्मल परिणमन प्रगट हो, वह आत्मा का सच्चा भवन है। 'अनन्त गुणधाम आत्मा मैं'—ऐसा आत्मलक्ष्य करने से जो निर्मलदशा वर्तती है, वह आत्मा की विद्यमान भावरूप अवस्था है; इसके अतिरिक्त की दूसरी अवस्थायें अविद्यमान हैं—अभावरूप है। निर्मल आत्मा में विकार की शून्यता है, पाँचों शरीरों की शून्यता है। अहा! ऐसे आत्मा को जानना, वह ब्रह्मविद्या है; इस आत्मविद्या का विचार जीव ने कभी नहीं किया। अपने स्वानुभव के प्रयोग द्वारा सिद्ध हो सके, ऐसी यह ब्रह्मविद्या है। आज का अणुविज्ञान, वह तो सब जड़ का जानपना है, वास्तव में तो यह ब्रह्मविज्ञान है; अकषायी स्वानुभव द्वारा ही यह आत्मविद्या प्राप्त होती है। इस आत्मविद्या द्वारा ही जगत का कल्याण है। जीव ने आत्मविद्या का वास्तविक अभ्यास कभी किया नहीं है।

द्रव्य-गुण और वर्तमान निर्मल अवस्थारूप से आत्मा का विद्यमानपना है। अपना ऐसा विद्यमानपना जिसे भासित हो, उसे पर का रंग नहीं होता, राग का रंग भी उड़ जाता है। भाई! चैतन्य का रंग लगे, तब यह बात समझ में आये ऐसी है; दूसरे भावों का रंग अन्दर चिपटा हो (—परभाव का प्रेम हो) तो चैतन्य का रंग कहाँ से लगे? पर का रंग छोड़कर, उसे अपने में अभावरूप जानकर, चैतन्य का ऐसा रंग लगा कि पर्याय में निर्मलता का रंग खिले। निर्मलपर्यायरूप से विद्यमानता, वही आत्मा का सच्चा भाव है।

निजभाव में परिणमता आत्मा स्वयं निर्मल अवस्था की विद्यमानतावाला है ही, फिर दूसरे के सामने देखने का कहाँ रहता है? वर्तमान में भूत-भविष्य की अवस्था अविद्यमान है तथा परभाव भी वर्तमान निर्मल अवस्था में अभावरूप है। अहा! अपनी चैतन्यखान में भरे हुए रत्न खजाने को भूलकर जीव ने अपने को दीन और विकारी माना है, इसलिए भिखारी जैसा होकर भवचक्र में भ्रमण किया है। दूसरों से निजगुण लेने की जो आशा है, वही भिखारीपना है। भाई! तू तो अनन्त गुणभण्डार से भरपूर चैतन्य राजा, तुझे दूसरे किसी से क्या माँगना हो? तुझमें कहाँ एक भी गुण कम है कि दूसरे से तुझे माँगना पड़े? स्वसन्मुख होकर निर्मल अवस्था की विद्यमानतारूप से ज्ञान का भवन हो—ऐसी शक्ति तुझमें ही है। तेरा साधन तेरी शक्ति में ही भरा है, तू अन्यत्र कहाँ शोधता है? अन्तर्मुख होकर तुझमें ही शोध।

पर का आत्मा में अभाव है; विकार का निर्मलभाव में अभाव है; भूत-भविष्य की पर्यायें अभी अविद्यमान हैं, इसलिए उन किसी के कारण से वर्तमान अवस्था नहीं होती। वर्तमान अवस्था स्वयं विद्यमान स्वभाववाली है, उसका विद्यमानपना किसी दूसरे के कारण से नहीं है, चैतन्य के लक्ष्य में दक्ष होने से आत्मा अपनी निर्मल अवस्थारूप से वर्तता है। अपने में निर्मल अवस्था की विद्यमानता कौन स्वीकार सकता है? कि शुद्ध आत्मा पर जिसकी दृष्टि हो वह; अपने में निर्मल अवस्था की विद्यमानता देखनेवाला जीव कर्म का और विकार का अपने में अभाव देखता है। जिसे कर्म का जोर लगता है और शुद्ध आत्मा का जोर भासित नहीं होता, उसने वास्तव में अपने में कर्म का अभाव देखा नहीं और निर्मल अवस्था का विद्यमानपना भी उसे नहीं है; 'भावशक्ति तथा अभावशक्ति' वाले आत्मा को उसने पहिचाना नहीं। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को जो पहिचाने, उसे पर्याय में निर्मलता की विद्यमानता होती है, और उसमें विकार का तथा कर्म का अभाव भासित होता है।

वर्तमान-विद्यमान अवस्था में पूर्व—पश्चात् की अवस्था का भी अभाव है। यदि ऐसा न हो और भूत-भविष्य की पर्यायें भी अभी विद्यमान हों तो वर्तमान ज्ञानपर्याय में भूतकाल की अज्ञानदशा भी वर्ता करे... तथा वर्तमान साधकपर्याय में भविष्य की

केवलज्ञानदशा भी अभी ही हो जाये।—इसलिए साधकदशा इत्यादि की सिद्धि ही न हो सके। (न्यायशास्त्रों में यह बात प्राक्-अभाव और प्रध्वंस-अभावरूप से वर्णन की है।)

देखो! यह वस्तुस्वरूप की उत्कृष्ट बात है। जैसे सच्चे जवाहरात की दुकान चलानेवाला उस प्रकार की जवाहरात को परखने की बुद्धिवाला होता है और रत्नों को तौलने का उसका कांटा भी सूक्ष्म होता है। उसी प्रकार इस चैतन्यरत्न को परखने के लिये ऊँची बुद्धि अर्थात् अन्तर्मुखबुद्धि चाहिए। और उसका निर्णय करने के न्याय भी सूक्ष्म होते हैं। मात्र विकल्पों से उसका पार नहीं पाया जाता, आत्मा अलौकिक चैतन्य-हीरा है, वही सच्चा सारभूत है। जड़ हीरा-माणेक को जिन्दगी तक ममता करके सम्हाला हो और मरण के समय उससे कहे कि रे हीरा! मैंने तुझे जिन्दगी तक सम्हाला, तुझे प्राप्त करने और सम्हालने में मैंने मेरी अमूल्य जिन्दगी गँवायी, इसलिए अब मरण के समय तू मुझे शरण देना।—तो क्या वह हीरा उसे जवाब दे, ऐसा है? उसे शरणरूप हो, ऐसा है? नहीं; क्योंकि वह तो जड़ है। परन्तु इस चैतन्य हीरा को पूछे और इसका शरण ले तो यह अमृत जैसी शान्ति और आनन्द दे, ऐसा है। चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य से अपने में से जो शान्ति आयी, वैसी शान्ति जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है; वह शान्ति अपने भवनरूप भाव में से ही आयी है। अनन्त गुणामृत का सिन्धु भगवान आत्मा में तल्लीन होने से आकुलता मिटकर परम शान्ति और आनन्द की उत्पत्ति होती है। आनन्दस्वभाव के लक्ष्य से आनन्द की ही उत्पत्ति होती है और दुःख का उसमें अभाव है।

श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र और आनन्द की पर्याय अर्थात् कि निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होने का कारण?—कि आत्मा स्वयं अपनी भवनरूप भावशक्ति द्वारा उस-उस वर्तमानभावरूप से वर्तता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय का विद्यमानपना आत्मा की भावशक्ति से है, आत्मा की भावशक्ति बिना वह अवस्था विद्यमान नहीं रहती। और यदि आत्मा में 'अभाव' शक्ति न हो तो भूत-भविष्य की पर्यायें अभावरूप न रहे, अर्थात् तीनों काल की पर्यायें एकसाथ वर्तने लगे। परन्तु अभावशक्ति ऐसी है कि वर्तमान

निर्मलपर्याय में दूसरी पर्यायों को और दूसरे भावों को अविद्यमान रखती है। भविष्य की केवलज्ञानादि जो पर्याय है, वह भविष्य में उस काल में प्रगट होगी, परन्तु वर्तमान पर्याय में वह अभावरूप है।

अनन्त शक्तिसम्पन्न निजात्मा में दृष्टि करने से आत्मा स्वयं मोक्षमार्ग के भावरूप से परिणम जाता है। भावशक्ति को भूलकर पर के द्वारा अपना भवन मानना, वह मिथ्यात्व था; मेरी पर्याय की विद्यमानता मेरी शक्ति से ही है—ऐसा भान होने पर स्वाश्रय से निर्मल भावरूप भवन होता है। अपना आत्मा क्या? अपनी शक्तियाँ कैसी? और उनका परिणमन कैसा?—इसका ज्ञान करके स्वलक्ष्य में आया, वहाँ स्वसन्मुखता द्वारा धर्म की शुरुआत हुई। इस प्रकार स्वसन्मुखता से विद्यमान वर्तती धर्मपर्याय में राग का और देहादि का तो अभाव वर्तता है, तो वह राग और देह धर्म का साधन कैसे हो? धर्म का साधन तो विद्यमान पर्याय में वर्तने की जिसकी सामर्थ्य है—ऐसा आत्मा ही होता है।

'पहला सुख निरोगी काया...' यह तो सब देहबुद्धिवाले जीवों की कल्पना है। भाई! शरीर ही तू नहीं, तू तो चैतन्यजाति है; तेरी चैतन्यजाति को जानना और विकार रहित रखना, वही वास्तविक सुख है। तेरा चैतन्यतत्त्व ऐसा है कि जिसे जानने से ही महा आनन्द होता है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र तो सुख का छांटा भी नहीं है। आत्मा में स्वयं में सुख है तो अन्यत्र शोधने की आवश्यकता नहीं; और यदि अपने में सुख न हो तो दूसरे से आ नहीं सकता। जो कोई अनन्त जीव आनन्द को प्राप्त हुए, वे अपने स्वरूप में ही शोधकर आनन्द को प्राप्त हुए हैं, दूसरे प्रकार से नहीं।

बड़े पुरुषों का आश्रय करने से उनकी अमीदृष्टि से निहाल हुआ जाता है, उसी प्रकार जगत में बड़ा ऐसा यह चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसका आश्रय कर तो तू निहाल हो जायेगा, तेरी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का अमृत झरेगा। अहा! आचार्यदेव ने अन्दर में चैतन्य के निधान घोल-घोलकर उसका सार इस समयसार में उतारा है। तेरा आत्मा अपने अनन्त गुण के परिणमन में अपनी भवनशक्ति से परिणम रहा है।—ऐसी शक्तिवाले तेरे आत्मा को देख तो सम्यग्दर्शनादिरूप भवन-परिणमन हो। स्वयं अन्तर में लीन

होकर अपने स्वभाव का वेदन करने से आत्मा रत्नत्रयरूप परिणम जाता है। निजस्वभाव में आया, वहाँ भावशक्ति का सम्यक् भवन हुआ। चैतन्य की महा खान में गहरा उतरकर जितना खोदे, उतने आत्मनिधान निकलते हैं, वे निधान कभी समाप्त नहीं होते।

विद्यमान अवस्था तो अज्ञानी को भी होती है, परन्तु उसे निजस्वभाव का भान नहीं है, इसलिए उसकी विद्यमान अवस्था अज्ञानरूप है; ज्ञानी को भान द्वारा ज्ञानमय अवस्था विद्यमान वर्तती है। अहा! अकेले ज्ञान की मूर्ति, आनन्द की मूर्ति ऐसे आत्मा को जहाँ लक्ष्य में लिया, वहाँ वह निर्मलभावरूप से प्रगट हुए बिना नहीं रहता। आत्मा को जो लक्ष्य में ले, उसे निर्मल अवस्था विद्यमान होती ही है, कालभेद और क्षेत्रभेद बिना अनन्त शक्तियाँ आत्मा में विद्यमान है और ज्ञानभाव के साथ उनका निर्मल परिणमन वर्त रहा है। ऐसे स्वरूप से विद्यमान आत्मा को लक्ष्य में लिये बिना सच्ची विद्या प्रगट नहीं होती और सच्ची विद्या के बिना मुक्ति नहीं होती। '**सा विद्या या विमुक्तये**'—परन्तु वह कौन सी विद्या? विद्यालय में और कॉलेज में लौकिक पढ़ाई पढ़ाते हैं, वह नहीं। जड़-चेतन का विभाजन कराकर चैतन्य में अन्तर्मुखता द्वारा अज्ञान का और राग-द्वेष का नाश करके आत्मा को मुक्ति प्राप्त कराये—ऐसी जो वीतरागविज्ञानरूप विद्या है, वही मोक्ष के कारणरूप सच्ची विद्या है। वीतरागी सन्तों ने ऐसी आत्मविद्या जगत को उपदेशित की है।

जिसे आत्मा जानना हो, सम्यग्दर्शन चाहिए हो, शान्ति चाहिए हो, उसे कैसा आत्मा जानने से सम्यग्दर्शन होगा और शान्ति होगी, उसकी यह बात है। आत्मा एक वस्तु है, उसमें अनन्त गुण हैं और उन गुणों की निर्मल अवस्थासहित वर्ते, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायरूप आत्मा को अनुभवे तो आत्मा को जाना कहलाये। ज्ञानपर्याय को अन्तर में झुकान से ऐसा आत्मा लक्ष्यगत होता है और अनुभव में आता है। उस अनुभूति की विद्यमान पर्याय में देह-मन-वाणी का, राग का और भूत-भविष्य की पर्याय का अभाव है। ऐसा भाव-अभावरूप वस्तुस्वरूप है।

आत्मा देह-मन-वाणी-कर्म इत्यादि अजीव से तो अभी भी भिन्न है; अन्दर जो पुण्य-पाप, राग-द्वेषरूप विकल्प उठते हैं, वे भी वास्तविक आत्मा नहीं, क्योंकि आत्मा

के लक्षण से वे विकल्प पृथक् हैं। उनके बिना का आत्मा अनन्त शक्ति के वैभववाला है और वह 'ज्ञानभाव' द्वारा पहिचानता जाता है। जो ज्ञान प्रगट है, उस ज्ञान द्वारा लक्ष्य करने से जो आत्मा समझ में आया अर्थात् कि स्वानुभूतिरूप हुआ, वह वास्तविक आत्मा है। उस आत्मा में परभाव का अभाव है। विकार का अभाव, पर का अभाव और भूत-भविष्य की पर्याय का अभाव, वह सब अभावशक्ति के परिणमन में आ जाता है।

धर्मी का आत्मा अपने 'ज्ञानभवन' में वर्तता है। ज्ञानभवन में विकार के भवन का अभाव है। विकार के अभवनरूप अर्थात् कि विकाररूप न परिणमनेरूप शक्ति आत्मा में त्रिकाल है, स्वलक्ष्य से उसका परिणमन पर्याय में प्रगट होता है। अरे जीव! चार गति में भ्रमते हुए तूने तेरा स्वरूप जाना नहीं, परन्तु अब उसे जानने का यह अवसर है। हे प्रियवर! इस अवसर को तू चूकना मत। इस जम्बूद्वीप में ही विदेहक्षेत्र में सीमन्धरनाथ परमात्मा अभी समवसरण में विराज रहे हैं और हजारों केवली भगवन्त तथा लाखों मुनिवर वहाँ विचरते हैं। वे परमात्मा शुद्धात्मतत्त्व का जो उपदेश देते हैं, वह कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने विदेह में जाकर साक्षात् सुना, भगवान से सुना हुआ और स्वानुभव से स्वयं अन्तर में अनुभव किया हुआ 'आत्मवैभव' उन्होंने इस समयसार में दिखलाया है। *दक्षिण में मद्रास से ८० किलोमीटर दूर पौन्नूर में वे आत्मध्यान करते थे... हम दो बार (विक्रम संवत् २०१५ तथा संवत् २०२० में) उसकी यात्रा कर आये हैं। कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार की रचना करके इस काल के जीवों पर तीर्थंकर जैसा उपकार किया है और टीका द्वारा उसके भाव खोलकर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने गणधर जैसा कार्य किया है। इन ४७ शक्तियों में स्वभाव के अलौकिक भाव उन्होंने भर दिये हैं; हजारों शास्त्रों का निचोड़ इसमें समाहित हो जाता है।

पाँच शरीर और आठ कर्मों से तो आत्मा शून्य है—खाली है, आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में उनका सदा अभाव है, आत्मा उनरूप कभी होता नहीं। कर्म के सम्बन्धवाले जो विकारभाव, उनका भी आत्मा की निर्मलदशा में अभाव है। विकाररूप

---

* **तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण** (दर्शाऊँ एक विभक्त को आत्मातणे निजवैभव से।)

हो, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहा जाता। विकार और उसके निमित्तरूप कर्म, उसरूप न होने का आत्मा का स्वभाव है। वास्तविक आत्मा उसे कहा जाता है कि जिसे जानने से आनन्द का अनुभव हो और जिसे अनुभव करने से विकार का अभाव हो। नरक में असंख्य जीव सम्यग्दृष्टि हैं, स्वर्ग में असंख्य जीव सम्यग्दृष्टि हैं, तिर्यंच में ढाई द्वीप के बाहर असंख्य जीव सम्यग्दृष्टि हैं और मनुष्यों में अरबों जीव सम्यग्दृष्टि हैं,—ये सभी सम्यग्दृष्टि जीव अपने इस आत्मा को जानते हैं और अनुभव करते हैं। चार गति के अभावरूप आत्मस्वभाव है। मेरी आत्मशक्ति में चार गति, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच शरीर इत्यादि का अभाव है, कर्म का अभाव है, समस्त विकार का अभाव है; इन सबसे शून्यरूप और निर्मल ज्ञान-आनन्द से भरपूररूप मेरे आत्मा की विद्यमानता है—ऐसा धर्मी जानता है।

अरे भाई! तू दुनिया की खबर लेने बैठा, परन्तु तुझे तेरी अपनी तो खबर नहीं! तेरे आत्मा का उद्धार कैसे हो—उसकी तो तुझे खबर नहीं। अपार वैभव से भरपूर तेरे आत्मा की सम्हाल कर। कैसे स्वरूप से उसकी विद्यमानता है और किसका उसमें अभाव है—यह पहिचान। निर्मल ज्ञानादिभावों में तेरी विद्यमानता है, परन्तु शरीर-कर्म-विकार में तेरी अविद्यमानता है, उस-स्वरूप तेरा परिणमन नहीं है; उसके अभाववाला और निर्मलता के भाववाला तू है। भविष्य की पर्यायरूप से होने की सामर्थ्य आत्मा में है, परन्तु अभी आत्मा में उस पर्याय का परिणमन नहीं, इसलिए वह पर्याय विद्यमान नहीं है। वर्तमान में तो वह अभावरूप है।

आत्मा में भरे हुए चैतन्यवैभव को सम्यग्दृष्टि जानता है। अपने निजवैभव के अजानरूप से अज्ञानी को पुण्य-पाप का कर्तृत्व है, परन्तु वस्तुस्वरूप में वह अज्ञान और कर्तृत्व नहीं है। यदि हो तो कभी छूटे नहीं। जो अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप से देखता है, वह पुण्य-पाप के कर्तृत्व को अपने में नहीं देखता, परन्तु वह तो अपनी पर्याय में पुण्य-पाप के अभाव को देखता है; तो जिसका अपने में अभाव, उसका कर्तृत्व कैसे होगा? सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय के उदयभाव का ज्ञाता रहता है, अपने ज्ञानभाव में उस उदय की नास्ति जानता है। 'ज्ञानमात्रभाव' कहने से उसमें निर्मलपर्याय का भवन और परभाव का अभवन, ऐसा भाव-अभावपना इकट्ठा ही है। निर्मलता में

मलिनता का अभाव अर्थात् कि परमार्थस्वभाव में व्यवहार का अभाव है। इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को व्यवहार में से विमुक्त कहा है, क्योंकि जितने रागादि पराश्रित व्यवहारभाव हैं, उनमें से उसे एकत्वबुद्धि छूट गयी है। व्यवहारभाव हैं सही, परन्तु उन समस्त व्यवहारभावों से वह भिन्न परिणमता है, पृथक् रहता है, मुक्त रहता है; वह व्यवहार में लीनरूप—तन्मयरूप परिणमता नहीं, परन्तु अपने शुद्धभाव में उसकी नास्ति जानता है। उसके अभावरूप निजभाव का परिणमन है।

अहो! धर्मात्मा की दृष्टि ने शुद्धात्मा को ही स्वीकार किया है, उसमें परभाव के अंश का भी स्वीकार नहीं है। स्वभाव का जो भवन, उसमें परभाव का अभवन; धर्मी का परिणमन अनन्त गुण के निर्मल भावों से भरपूर है और विकार से खाली है। अरागीरूप से परिणमता ऐसा ज्ञानमय आत्मा, वह धर्मी का आत्मा है। राग का परिणमन होने पर भी धर्मात्मा उसे अपने ज्ञानभाव से बाहर जानता है; ज्ञान की और राग की भिन्नता जानता है। 'ज्ञानमात्रभाव जितना ही मैं हूँ'—ऐसे ज्ञानभाव में अचलितदृष्टि स्थापित की है।

भगवान! यह तेरे स्वभाव की बात है। सर्वज्ञपरमात्मा तुझे 'भगवान' कहकर बुलाते हैं। अनन्त गुण की महिमा से भरपूर भगवान आत्मा अपनी पारमेश्वरी शक्ति से पूरा है। उस शक्ति में विकार का अभाव है, और उस शक्ति के सन्मुख होकर परिणमने से पर्याय में विकार के अभावरूप परिणमन हो जाता है। आत्मद्रव्य और उसकी शक्तियाँ परमपारिणामिकभावरूप है; उसके अवलम्बन से उपशमादि भाव प्रगट होते हैं और उदयभाव उससे बाहर रहता है। उदयभाव, वह स्वालम्बी परिणाम नहीं है। निजशक्ति के अवलम्बन से तो निर्मलभाव ही प्रगट होते हैं। मलिनता होती है तो अपनी पर्याय में और अपने अपराध से, परन्तु वह स्वभाव-आश्रित हुआ कार्य नहीं है, इसलिए स्वभावदृष्टि में उसे आत्मा का कार्य नहीं कहते। अन्तर्मुख ज्ञानलक्षण द्वारा लक्ष्यरूप हुआ आत्मा, उसमें तो अनन्त गुण का निर्मल परिणमन ही उल्लसित होता है, उसमें विकार उल्लसित नहीं होता। धर्मी जीव पर की पूँजी समान उन परभावों को अपने स्वभाव में खतौनी नहीं करता। स्व-पर की सच्ची खतौनी (विभाजन) करना आवे तो भेदज्ञान होता है। स्वभाव के वैभव में विकार को नहीं खताया जाता। विकार उधार पासा की रकम है,

उसे स्वभाव के जमा पासा में नहीं लिया जाता।

देव जिसकी सेवा करे, ऐसे १४ महान रत्न, नौ निधान और ९६००० रानियाँ इत्यादि वैभव के बीच भी चक्रवर्ती—सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा अनन्त चैतन्यवैभव मेरे पास है, बाहर का यह वैभव मेरा नहीं। मेरे निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय के वैभव में इस चक्रवर्ती के वैभव का तो अभाव है और उस ओर की रागवृत्ति का भी मेरे चैतन्यवैभव में अभाव है। पर्याय में विद्यमान, तथापि शुद्ध स्वभाव की अधिकता के बल से भूतार्थदृष्टि में उसका अविद्यमानपना कर दिया है। यह स्वभावदृष्टि की अलौकिक बात समझे, उसका कल्याण हो जाये। '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**' इसमें यही बात समझायी है। भूतार्थदृष्टि में व्यवहार अभूतार्थ हो जाता है, क्योंकि भूतार्थदृष्टि शुद्धस्वभाव को देखती है और उस शुद्धस्वभाव में अशुद्धता नहीं है।

धर्मात्मा की अन्तर की अलौकिक परिणति बाह्यदृष्टि द्वारा दिखायी नहीं देती; बाहर की स्थूलदृष्टि से तो अनुकूलता-प्रतिकूलता के संयोग और रागादि भाव ही दिखाई देते हैं, परन्तु अन्तर की वीतरागी दृष्टि में अतीन्द्रिय सुखरस की जो गटागटी सम्यग्दृष्टि को हो रही है, वह तो अन्तर की सूक्ष्मदृष्टि द्वारा ही पहिचानी जाती है। धर्मात्मा ने अन्तर में वीतरागी शान्तरस का जो स्वाद चखा है, उस शान्ति के समक्ष राग तो सुलगती अग्नि जैसा है। शीतल पानी में पोषित मछली पानी के बाहर किनारे रेत में आवे तो भी तड़पती है तो धगधगते ताप में तो उसे कैसा लगे? उसी प्रकार चैतन्य के शान्त—शीतलरस से भरपूर सरोवर में जिसकी रुचि पोषित (पुष्ट हुई) है, ऐसे धर्मात्मा को शुभराग में भी आकुलता लगती है तो फिर विषय-कषायों के अशुभ की तो क्या बात! अरे! यह राग हमारे चैतन्य की जाति नहीं। स्वभावदृष्टि के निर्मल परिणमन में धर्मी जीव उस राग को अभावरूप रखता है। वह अपनी चैतन्यप्रभुता में राग की मलिनता को नहीं मिलाता। वह जानता है कि मेरी प्रभुता में आनन्द है, दुःख नहीं; मेरी प्रभुता में शुद्धता है, राग नहीं। अहो! मेरी प्रभुता तो परमात्मपद के निधान से भरपूर है और परभावों से शून्य है।—ऐसा धर्मी का अन्तरपरिणमन महा आनन्दरूप है।

'आत्मा विद्यमान अवस्थावाला है'—परन्तु वह विद्यमानरूप अवस्था कैसी?—

कि निर्मल; और उस निर्मल अवस्था में रागादि का अभाव; जिस विकारभाव से १४८ कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं, उसका धर्मी अपने में अभाव जानता है। यद्यपि तीर्थंकरप्रकृति इत्यादि सातिशय प्रकृति सम्यग्दृष्टि को ही बँधती है, तथापि धर्मी अपने निर्मलभाव में उसका अभाव जानता है। अरे! मेरे भवन में तो मेरा चैतन्यभाव होगा या कर्म होंगे? चेतन के भवन में अचेतनभाव का अभाव है। ज्ञान से पूरा, श्रद्धा से पूरा, आनन्द से पूरा। राग के अभावरूप से पूरा अर्थात् कि राग के एक भी अंश को अपने में न मिलावे, ऐसा आत्मा है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो तो ऐसे आत्मा का स्वीकार करना, यह उसकी रीति है। अहो! जैन परमेश्वर अरिहन्तदेव ने प्रगट की हुई और उपदेशित आत्मा की ऐसी अद्भुत परमेश्वरता को, हे जीव! तू आदरपूर्वक जान। ऐसा तेरा आत्मा है, उसे अपने में देखने से तू निहाल हो जायेगा, तुझमें प्रभुता प्रगट होगी। सर्वज्ञ की वाणी में जो कुछ आया है, उसमें तेरी प्रभुता का ही विस्तार है। प्रभुता के विस्तार में तो प्रभुता ही होती है, उसमें बीच में विकार नहीं होता। जैसे स्वर्ण का चाहे जितना विस्तार करो, उसमें सोना ही आता है, परन्तु लोहा नहीं आता; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव की शक्ति का विस्तार करने से, अनुभव करने से उसमें निर्मल चैतन्यभाव ही आते हैं, राग और जड़ नहीं आते।

भाई! यह चैतन्यराजा जैसा महिमावन्त है, उसे लक्षगत करके आदरपूर्वक स्वानुभव में लेगा तो वह प्रसन्न होकर तुझे आनन्द के निधान देगा। जिस प्रकार बड़े राजा को उसके पूरे विशेषणों से आदरसहित बुलावे तो वह प्रसन्न होकर जवाब देता है, परन्तु उसे भिखारी कहकर बुलावे या उसके विशेषणों से कम विशेषणों द्वारा बुलावे— तो उसमें उसका अनादर गिना जाता है और वह जवाब नहीं देता। एक साधारण राजा को रीझने में भी ऐसा बनता है तो जगत में सबसे बड़ा अनन्त वैभववाला यह चैतन्य महाराजा, उसे रागवाला और पामर कहकर बुलाने से (लक्ष्य में लेने से) वह कैसे प्रसन्न होगा? चैतन्यराजा को रागवाला कहना, वह तो उसका अनादर करने जैसा है। उसे तो उसके ज्ञान-आनन्द इत्यादि अनन्तगुणरूप विशेषणों से लक्ष्य में लेकर आदर करने से वह प्रसन्नतासहित अर्थात् कि अतीन्द्रिय आनन्दसहित अनुभव में आता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप महारत्न देता है।

ऐसा आत्मा स्वानुभव में आया, वह विद्यमान ऐसी निर्मल पर्यायसहित वर्तता है और परभावों से रहित वर्तता है तथा भूत-भविष्य की पर्याय भी अभी अविद्यमानरूप है। इस प्रकार आत्मा में भावपना और अभावपना दोनों धर्म वर्तते हैं, उसका वर्णन किया।

भावशक्ति तथा अभावशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

जैसा परमात्मा, वैसा आत्मा

भाई, प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है? इसे तूने नहीं जाना है। तू अपनी प्रभुता के भान बिना, बाहर में जिस-तिस के गीत गाया करता है, उसमें तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं है। तूने पर के गीत तो गाये, परन्तु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के सामने कहता है कि 'हे नाथ! हे भगवान!! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो।' वहाँ सामने से वैसी ही प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ! हे भगवान!! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो...' तात्पर्य यह है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है; उसे तू पहचान।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

✦ समयसार के ऊपर १४वीं बार के प्रवचन हैं... जिनके मंगल प्रारम्भ के समय रुपये १४,००० जयपुर के सेठ श्री पूरणचन्द्रजी गोदीका ने भक्तिपूर्वक शास्त्र प्रभावना में अर्पण किये थे।

✦ समयसार के ऊपर यह १४वीं बार के प्रवचन हैं, तदुपरान्त दो बार ४७ शक्तियों पर अधिक प्रवचन हुए, इसलिए इन शक्तियों पर यह १६वीं बार के प्रवचन हैं।

✦ माघ कृष्ण ९, दिनांक २५-१-६५ : इस वर्ष में जिनेन्द्र प्रतिष्ठा के निमित्त गुरुदेव को भोपाल पधारने का निश्चित होने से, दिल्ली से ४७ मुमुक्षु गुरुदेव को दिल्ली पधारने की प्रार्थना करने के लिय तथा ४७ शक्तियों के प्रवचन सुनने के लिये सोनगढ़ आये थे।

[३५] [३६]

भाव-अभावशक्ति अभाव-भावशक्ति

भवत्पर्याय-व्ययरूपा भावाभावशक्तिः।
भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्याय के व्ययरूप भावाभावशक्ति।३५।

भवत्पर्याय-व्ययरूपा भावाभावशक्तिः।
नहीं भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्याय के उदयरूप अभावभावशक्ति।३६।

स्वानुभवरूप आत्मविद्या द्वारा निजवैभव जिसने जाना, उसे पर का रंग नहीं होता, राग का रंग भी उड़ जाता है। भाई! चैतन्य का रंग लगे, तब यह बात समझ में आये ऐसी है; दूसरे भावों का रंग अन्दर चिपटा हो तो चैतन्य का रंग कहाँ से लगे? पर का रंग छोड़कर, चैतन्य का ऐसा रंग लगा कि पर्याय में निर्मलता का रंग खिले। अपने स्वानुभव में आत्मविद्या प्राप्त करने से ही जीव का कल्याण है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में ऐसा स्वभाव है कि विद्यमान अवस्थारूप भाव का दूसरे समय में व्यय अर्थात् कि अभाव होता है, तथा पहले जिसका अभाव था, ऐसी पर्याय का उदय होता है अर्थात् कि वह भावरूप होती है। इस प्रकार 'भाव का अभाव' और 'अभाव का भाव' प्रत्येक समय में हुआ ही करता है। पहले न हो, ऐसी पर्याय की दूसरे समय में जो उत्पत्ति हुई, वह निमित्त के कारण नहीं हुई, परन्तु अभाव का भाव हो, ऐसा वस्तु का स्वभाव ही है। विद्यमान पर्याय सदा ही विद्यमान ही रहा करे—ऐसा नहीं है। विद्यमान पर्याय दूसरे समय में व्यय होती है और उसी क्षण आगामी जो अविद्यमान थी, ऐसी पर्याय उत्पन्न होती है। इस प्रकार पर्याय में व्यय और उत्पत्ति हुआ करती है। यहाँ भाव-अभाव में और अभाव-भाव में निर्मल पर्यायों की ही बात है, क्योंकि विकार का तो ज्ञानमात्रभाव में अभाव ही है, उसका कहीं 'भाव' नहीं होता। सम्यग्दर्शन के साथ जो निर्मल पर्याय है, उसके उत्पाद-व्यय की यह बात है। ज्ञानभाव के उत्पाद-व्यय ज्ञान द्वारा ही भावित हैं अर्थात् कि वे ज्ञानमय ही हैं, वे विकारमय नहीं हैं।

स्वभावसन्मुख परिणति होने से ज्ञान के साथ अनन्तगुण की निर्मलपर्याय का जो 'भाव' हुआ, वह एक समय रहकर दूसरे समय में व्यय पाता है अर्थात् कि उस 'भाव का अभाव' होता है; और दूसरी निर्मल पर्याय—कि जो अगले समय में अभावरूप थी, उसका उदय होता है अर्थातृ कि 'अभाव का भाव' होता है।—ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में हैं।

विद्यमान पर्याय का अभाव होने से आत्मा पर्याय बिना का हो जायेगा?

— तो कहते हैं कि नहीं; उस समय ही दूसरी नयी पर्याय का 'भाव' होगा। एक 'भाव' का जिस समय अभाव होता है, उसी समय में दूसरे 'अभाव' का भाव होता है, अर्थात् कि आत्मा में व्यय और उत्पाद दोनों एक साथ होते हैं।

भाव-अभाव, वह विद्यमान पर्याय का व्यय सूचित करता है।

अभाव-भाव, वह अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति सूचित करता है।

अज्ञानी को भी ऐसे भाव-अभाव और अभाव-भाव होते तो अवश्य हैं, परन्तु उसे अज्ञान के कारण वे विकारी होते हैं। धर्मी को ज्ञानमय परिणमन के कारण भाव और

अभाव (उत्पाद-व्यय) दोनों निर्मल ज्ञानमय होते हैं। सिद्धदशा में भी ये दोनों धर्म वर्तते हैं। इसलिए भाव का अभाव और अभाव का भाव उन्हें भी हुआ करता है। साधक को निर्मल ज्ञान ऐसे भाव से परिणम रहा है; साथ में राग है, उसका ज्ञान है, परन्तु ज्ञान में राग का प्रवेश नहीं है। वह राग, या राग को जाननेवाली ज्ञानपर्याय—इन दो में से कोई दूसरे समय में नहीं रहती, तथापि उस काल में ज्ञान तो आत्मा में तन्मय है और राग पृथक् है।—ऐसे भेदज्ञानरूप साधक का परिणमन है। अहा! शुद्ध आत्मा की अनुभूति, कि जिसके बल से केवलज्ञान होता है, ऐसी यह बात है।

सम्यग्दर्शन पूर्ण शुद्धात्मा पर दृष्टि करता है; वहाँ निर्मलपर्याय के व्यय और उत्पाद हुए करते होने पर भी, धर्मी की दृष्टि शुद्ध आत्मा के ऊपर ही होने से उसके उत्पाद-व्यय शुद्ध ही हुआ करते हैं। वे उत्पाद-व्यय अपने स्वभाव से ही हैं, पर के कारण से नहीं। यहाँ इस उत्पाद-व्यय में निर्मल पर्याय ही लेनी है क्योंकि सम्यग्दृष्टि के अनुभव में जो आत्मा आया, उसका यह वर्णन है। पर्याय में व्यवहार से रागादि होने पर भी सम्यग्दृष्टि की अनुभूति में उसका अभाव है। कोई जीव सातवें नरक में सम्यग्दर्शन पाया हो (—ऐसे असंख्यात जीव हैं) उसकी भी ऐसी ही दशा होती है, और असंख्य वर्ष तक (पहले और अन्तिम अन्तर्मुहूर्त छोड़कर ३३ सागरोपम तक) भी बहुत जीव उस सम्यग्दर्शन को टिकाये रखते हैं। सातवें नरक के असाता के दुःख की क्या बात! परन्तु वहाँ किसी जीव को ऐसा होता है कि अरे, ऐसा दुःख! ऐसी तीव्र वेदना! आत्मा के आनन्दस्वभाव की बात पूर्व में सन्तों ने सुनायी थी, परन्तु उस समय मैंने उसकी दरकार नहीं की... पाप करने से विमुख होकर देखा नहीं... उस समय दरकार की होती तो ऐसी वेदना नहीं आती।—इस प्रकार वेदना के निमित्त से आत्मस्वभाव के सन्मुख होने से वह जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर जाता है। और उसे चैतन्य का ऐसा वेदन होता है कि मैं नारकी नहीं, मैं वैक्रियिकशरीर नहीं, शोक और दुःख, वह मैं नहीं; मैं तो चैतन्यभावमय, मेरे अनन्त गुण के धाम में हूँ। सातवें नरक की असाता के बीच भी चैतन्य का ऐसा वेदन करनेवाले असंख्यात जीव अभी भी हैं। सातवें नरक के जीव वहाँ से मिथ्यादृष्टिरूप से ही निकलते हैं और पशुगति में ही अवतरित होते हैं, दूसरी किसी गति में नहीं जाते; सातवें नरक में कोई जीव सम्यग्दर्शनसहित जाता भी नहीं और

निकलता भी नहीं, परन्तु वहाँ जाने के पश्चात् कोई जीव नया सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर सकता है। सम्यग्दर्शनसहित कोई भी जीव पहले नरक से नीचे उपजता नहीं, और सम्यग्दर्शनसहित छठवें नरक तक से निकल सकता है।—इस प्रकार की जीव के परिणामों की मर्यादा है।

कितने ही जीव कहते हैं कि हम सम्यग्दर्शन के लिये पुरुषार्थ तो करते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं होता।—नहीं, उसकी बात झूठी है। उसने सम्यग्दर्शन का सच्चा पुरुषार्थ किया ही नहीं। सम्यग्दर्शन के लिये जैसा पुरुषार्थ है, वैसा पुरुषार्थ करे और सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा नहीं होता। जैसा पुरुषार्थ करे, वैसा कार्य होता ही है। परन्तु पुरुषार्थ तो करे राग का और माने ऐसा कि मैं सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करता हूँ,—तो वह तो उसकी भूल है। सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ राग से भिन्न कैसा होता है, इसकी उसे खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन के विषयरूप शुद्ध आत्मा को यथार्थरूप से ज्ञान में लक्षगत करके उसका पुरुषार्थ करने से सम्यग्दर्शन अवश्य होता है।

यहाँ सम्यग्दर्शन होने पर जो निर्मल भाव प्रगट हुए, उसका वर्णन चलता है। सर्वज्ञ भगवान ने जाना हुआ, कहा हुआ और सन्तों ने अनुभव किया हुआ ऐसा जो आत्मवैभव, उसकी यह बात है। हे जीव! तेरे आत्मा में भी ऐसा वैभव है, उसे तू लक्ष्य में ले तो तेरी पर्याय में वह प्रगट होगा। श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द इत्यादि में जो निर्मलभाव प्रगट हुए, उसमें रागादि का अभाव है, उस अभाव का कहीं भाव नहीं होता, उसका तो अभाव ही रहता है। परन्तु दूसरे समय की जो निर्मलपर्याय वर्तमान में अविद्यमान अर्थात् कि अभावरूप थी, उसका दूसरे समय में 'भाव' होता है अर्थात् कि वह उत्पन्न होती है और उसकी उत्पत्ति के काल में पूर्व पर्याय का व्यय होता है। इस प्रकार अभाव का भाव और भाव का अभाव—ऐसा निर्मलभावों का परिणमन चला ही करता है। यदि ऐसा न हो तो समय-समय में नयी पर्याय होगी नहीं, और वर्तमान पर्याय कभी टलेगी नहीं, अर्थात् साधकदशा में से सिद्धदशा होने का बन नहीं सकेगा। एक जीव साधक है, उसकी साधकपर्याय है, वह भावरूप है, और भविष्य की सिद्धपर्याय अभी अभावरूप है; अब वह जीव सिद्ध हुआ, तब साधकपर्यायरूप जो भाव था, उसका अभाव हुआ और सिद्धपर्याय का अभाव था, वह भाव हुआ। इस प्रकार 'भाव का अभाव' और

'अभाव का भाव' सभी पदार्थों में समय-समय में हो ही रहा है।

भाई! यह तेरे अपने स्वभाव की बात है; तेरे आत्मा में हमेशा जो बन रहा है, वह तुझे बतलाते हैं। सर्वज्ञ पिता ने अपने को अपना आत्मवैभव बतलाया है। जैसे पिता अपने प्रिय पुत्र को समस्त उत्तराधिकार बतलाते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ-तीर्थंकरदेव अपने धर्मपिता है; गौतमगणधर को महापुराण में जिनसेनस्वामी ने 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है, सम्यग्दृष्टि को भी जिनेश्वर का नन्दन कहा है, इस प्रकार से भगवान सर्वज्ञदेव धर्मपिता हैं, उन्होंने चैतन्य के अचिन्त्य वैभव का उत्तराधिकार बतलाया है। अरे जीव! भगवान तुझे अपार चैतन्यवैभव देते हैं, उसे प्राप्त करके उल्लास ला... उल्लास से तेरे आत्मवैभव को अनुभव में ले।

अरे! चैतन्य के वैभव की पवित्रता के समक्ष इन्द्रपद के पुण्य की भी कुछ महत्ता नहीं... पुण्य, वह तो वीतरागस्वभाव से विरुद्ध भाव है, वह कहीं चैतन्य का वैभव नहीं तो धर्मी को उसकी महत्ता कैसे होगी? जिसने चैतन्य के वीतरागी वैभव को जाना नहीं, उसे ही राग की और पुण्य की महिमा लगती है। यदि चैतन्य के वीतरागी वैभव को जाने तो उस पुण्य का मोह उड़ जाता है। अरे! चैतन्य-अमृत का पर्वत आत्मा, उसके सामने इस अचेतन के ढ़ेर की क्या कीमत? सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को उससे भिन्नरूप से अनुभव करता है; वह संयोग में स्वप्न में भी सुख नहीं मानता। बाहर में तो कहीं आत्मा का सुख है ही नहीं, बाहर के पदार्थों को तो आत्मा स्पर्शता भी नहीं, उनसे पृथक् ही रहता है; अन्दर के विकल्प में भी सुख नहीं; सुख तो आत्मा के सहज स्वभाव में है, उस स्वभाव को ही ज्ञानी स्पर्श करता है, उसे ही तन्मयरूप से अनुभव करता है; इस प्रकार अपने आत्मा को स्व में एकत्वरूप और पर से विभक्त किया है। ऐसा एकत्व-विभक्त आत्मा ही शोभता है, उसे ही 'शुद्ध' कहते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि—'**तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण**' मेरे समस्त आत्मवैभव से मैं वह एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा दिखलाता हूँ, उसे तुम तुम्हारे स्वानुभव से प्रमाण करना।

अहा! आत्मा की महिमा अपार है। राग से भिन्नता बतलाकर वीतरागी सन्तों ने बारम्बार उसके गीत गाये हैं। तेरे अनन्त स्वभाव का तू स्वामी है,—उसे जान और राग

का स्वामित्व छोड़, पर का स्वामित्व छोड़। अपना जो स्व-भाव है, वही अपना 'स्व' है, उसका ही आत्मा स्वामी है। ज्ञानमय निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय वह आत्मा का स्व है और धर्मी उसका स्वामी है। इसके अतिरिक्त दूसरे का स्वामित्व धर्मी के ज्ञान में से—श्रद्धा में से उड़ गया है। जिसका स्वामित्व है, उस भावरूप से ही उसके उत्पाद-व्यय (अभाव-भाव और भाव-अभाव) होते हैं। चेतन के उत्पाद-व्यय कहीं अचेतनरूप नहीं होते, चेतन के उत्पाद-व्यय चेतनरूप ही होते हैं।—ऐसा वस्तुस्वभाव है। तथा ज्ञान के उत्पाद-व्यय ज्ञानरूप ही होते हैं, रागरूप नहीं होते। अहा! ऐसे तेरे ज्ञानवैभव की एकबार उत्साह से हाँ तो पाड़। 'हाँ' पड़ने से तेरा परिणमन वैसा हो जायेगा। तेरे आत्मा की शक्ति अपार है—उसकी हाँ पाड़कर तू परमात्मा बन जा।

वाह! अन्दर से श्रद्धा की रणकार करता आत्मा जाग जाये—ऐसा यह वीरमार्ग है। जैसे रण में चढ़े हुए राजपूत की वीरता छिपती नहीं, उसी प्रकार चैतन्य की साधना के पंथ में चढ़े हुए और वीरप्रभु के मार्ग में उन्मुख धर्मात्मा की वीरता गुप्त नहीं रहती, उसका वैराग्य, उसकी श्रद्धा का जोर, उसका स्वभाव का प्रेम, उसका आत्मा का उत्साह—यह सब मुमुक्षु से छिपा नहीं रहता। ज्ञानी की दशा वास्तव में अद्‌भुत होती है।

ज्ञान के उत्पाद-व्यय ज्ञानमय है, ज्ञान का परिणमन ज्ञानमय है। जैसे समुद्र में एक तरंग का व्यय और दूसरी तरंग की उत्पत्ति होती है, परन्तु वह समुद्र में ही होती है, बाहर नहीं; उसी प्रकार व्यय और उत्पाद दोनों भाव वस्तु में ही समाहित होते हैं। वस्तु के उत्पाद-व्यय वस्तु से बाहर नहीं होते। वर्तमान भाव का दूसरे समय में अभाव (व्यय) और वर्तमान जिसका अभाव था, उसका दूसरे समय में भाव (उत्पाद)—ऐसा परिणमन सिद्धदशा में भी हुआ करता है। भाई! आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा समझकर श्रद्धा करना, उसका रस करना, उसमें ही सुख है, बाकी तो संसार के बाह्यभावों में दुःख... दुःख और दुःख ही है। अहा! जिस आत्मस्वभाव की प्रेम से बात करने पर भी आनन्द आवे, उसके साक्षात् अनुभव के आनन्द की क्या बात!

कोई कहे कि आत्मा समझने के लिये हमको निवृत्ति नहीं मिलती। तो उससे

कहते हैं कि भाई! तेरी बात झूठी है। तुझे आत्मा की वास्तविक रुचि नहीं, इसलिए तू बहाना करता है। तुझे विकथा का तो समय मिलता है, नींद का और खाने का समय तो मिलता है! और आत्मा के विचार के लिये समय नहीं मिलता? आत्मा की वास्तविक खटक हो तो उसके लिये दूसरे का रस छोड़कर समय निकाले बिना रहे ही नहीं। भाई! ऐसा अवसर बारम्बार नहीं मिलता। इसलिए आत्मा में 'मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ'—ऐसी श्रद्धा के संस्कार डाल। जिसने सच्ची श्रद्धा की, उसने आत्मा में मोक्ष का मंगल स्तम्भ रोपा। सम्यग्दर्शन किया, वह अल्प काल में मोक्षपुरी का नाथ होगा।

कहावत है कि 'दृष्टि से दौलत प्रगटे।'—कौन सी दृष्टि? शुद्ध आत्मा को देखनेवाली दृष्टि, उसके द्वारा केवलज्ञानादि अनन्त गुण की दौलत प्रगट होती है। अरे! रुचि के अभाव में अपने को अपना स्वभाव ही कठिन लगता है और बाह्य विषयों की रुचि है, इसलिए वे सरल लगते हैं।—यह तो जीव की रुचि का ही दोष है। रुचि करे तो आत्मा की समझण सुगम है। इस काल में स्वरूप का अनुभव कठिन है—ऐसा कहकर जो उसकी रुचि छोड़ देता है, वह बहिरात्मा है। जिसे जिसकी रुचि-आवश्यकता लगे, उसकी प्राप्ति में उसका प्रयत्न होता ही है। जिसे आत्मा की वास्तव में रुचि हो, उसका प्रयत्न आत्मा की ओर उन्मुख होता ही है। बाकी रुचि करे नहीं, ज्ञान करे नहीं और राग को धर्म का नाम दे देवे, इससे वह राग कहीं धर्म नहीं हो जायेगा। कड़वे चिरायते को कोई शक्कर का नाम देकर खाये तो भी वह कड़वा ही लगता है, कहीं मीठा नहीं लगता; इसी प्रकार कोई राग को धर्म माने तो भी उस राग का फल तो संसार ही आता है, उससे कहीं मोक्ष नहीं होता। जैसा पुरुषार्थ करे, वैसा कार्य प्रगट होता है। स्वभाव का पुरुषार्थ करने से सम्यग्दर्शनादि स्वभाव कार्य प्रगट होते हैं और राग का पुरुषार्थ करने से पुण्य-पाप होते हैं परन्तु धर्म नहीं होता। पुरुषार्थ करे राग का और फल चाहे धर्म का—वह कहाँ से मिले? आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा दृष्टि में लेकर उसके सन्मुख परिणमे, उस जीव को अल्प काल में मोक्ष प्राप्ति होगी... होगी और होगी।

सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी झेलकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उसका रहस्य इन परमागमों में उतारा है। 'जिनदेव ऐसा कहते हैं'—इस प्रकार भगवान की साक्षी देकर उन्होंने

आत्मस्वभाव को प्रसिद्ध किया है और उनके पश्चात् एक हजार वर्ष में अमृतचन्द्राचार्य हुए, उन्होंने भी 'जिनका भवसमुद्र का किनारा निकट है—ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव'—ऐसा कहकर उनके हृदय का रहस्य टीका में खोला है। अहा! उन वीतरागी दिगम्बर सन्तों का मुमुक्षु जीवों के ऊपर महा उपकार है।

आत्मा की प्रगट ज्ञानपर्याय—कि जो राग से भिन्न है, उस ज्ञानलक्षण द्वारा पूरे आत्मा को लक्ष्यरूप करने से, अनन्त गुण जिसमें भरे हुए हैं, ऐसा आत्मा अपनी निर्मल -अवस्थारूप से अपने स्वभाव से परिणमता है; वहाँ स्वलक्ष्य से ही निर्मल उत्पाद-व्यय होता है, उसकी यह बात है। अज्ञानी को रागादि के साथ एकत्वबुद्धि से जो अज्ञानमय उत्पाद-व्यय होते हैं, वे वास्तव में ज्ञानमात्र भाव का परिणमन नहीं है। इसलिए उसकी बात यहाँ नहीं है। साधक को श्रुतज्ञान विद्यमान है, श्रुतपर्याय में केवलज्ञानपर्याय का अभाव है; उसे विद्यमान ऐसी श्रुतपर्याय का बाद में अभाव होगा, और अविद्यमान ऐसी केवल(ज्ञान) पर्याय का भाव होगा। तत्पश्चात् भी एक केवलज्ञानपर्याय का व्यय, और उसी समय दूसरे केवलज्ञानपर्याय का उत्पाद,—ऐसा परिणमन सदा काल वर्तता रहता है।

ज्ञान और राग दोनों का एक काल हो तो भी ज्ञान में राग का अभाव ही है। ज्ञानी को उस काल में ज्ञान के साथ तन्मयता है और राग से भिन्नता है। अज्ञानी को भी यद्यपि राग का दूसरे समय में अभाव तो होता ही है, परन्तु उसमें एकत्वबुद्धिपूर्वक अभाव होता है, इसलिए फिर से वैसे रागादि भावों की ही उत्पत्ति होती है, राग से भिन्न ऐसा निर्मलज्ञानपरिणमन उसे नहीं होता। उसे ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा की खबर नहीं, इसलिए ज्ञानभावरूप परिणमन नहीं होता। ज्ञानी ने ज्ञानलक्षण से आत्मा को लक्षित किया है, वहाँ विकल्प ज्ञान से भिन्न रह गये, लक्ष्यरूप आत्मा में वे नहीं आये। पश्चात् जो राग रहा, वह ज्ञान से भिन्नरूप से रहा है, एकरूप नहीं। इसलिए ज्ञानी के भाव-अभाव (उत्पाद-व्यय) तो ज्ञानमय ही है।

विकल्प लक्षण और आत्मा लक्ष्य—ऐसा नहीं है; यदि ऐसा हो, तब तो सिद्ध और अरिहन्त अनात्मा सिद्ध हों, क्योंकि उन्हें विकल्प नहीं है। परन्तु जैसे परद्रव्य अस्तिरूप से आत्मा से पृथक् रहते हैं, उसी प्रकार विकल्प भी ज्ञान से पृथक्रूप से

रहता है। उसे जानता हुआ ज्ञान उससे भिन्न और आत्मा के साथ तन्मय वर्तता है। ऐसा ज्ञान, वही आत्मा का लक्षण है। ऐसा ज्ञानलक्षण अरिहन्तों में और सिद्धों में भी वर्तता है।

चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव में आठ कर्म का और रागादि परभावों का सदा ही अभाव है और उस स्वसन्मुख हुई परिणति में भी कर्मों का और रागादि का अभाव है। अब जो रागरहित निर्मलपर्याय है, उसका भी दूसरे समय में अभाव होता है, तथापि उस समय ही अनन्त गुणों की प्रभुतासहित दूसरी निर्मलपर्यायरूप से आत्मा उदय पाता है। इसलिए एक भाव का अभाव होने से पूरे आत्मा का अभाव नहीं हो जाता परन्तु उदय प्राप्त दूसरे भावरूप आत्मा टिका रहता है। उसके परिणमन में भाव का अभाव, और अभाव का भाव, ऐसा परिवर्तन हुआ करता है। वह परिवर्तन राग से पृथक् ही रहता है और ज्ञान-आनन्द के साथ एकरूप रहता है।

आत्मा सर्वगुण सम्पन्न भगवान है। उसकी निर्मलपर्याय हुई, वह भी एक की एक पर्याय कायम नहीं रहती, परन्तु दूसरे समय में उसका व्यय हो जाता है और दूसरी निर्मलपर्याय उत्पन्न होती है—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को अपने अनन्त गुण-पर्यायों के साथ एकता है और पर से पृथक्ता है। यदि ज्ञान की उत्पत्ति पर के कारण से होना माने तो उसने ज्ञान को आत्मा के साथ तन्मय नहीं माना, परन्तु आत्मा से पृथक् माना और पर के साथ एकमेक माना। इसी प्रकार शुभराग से ज्ञान और धर्म होना माने तो उसने राग को ज्ञान से पृथक् नहीं माना, परन्तु ज्ञान के साथ एकमेक माना। भाई! तेरे ज्ञान को तेरे आत्मा के साथ एकता है और पर से भिन्नता है, राग से भी भिन्नता है; ऐसी भिन्नता जानकर आत्मा में तन्मयरूप से ज्ञान की उत्पत्ति होना, वह धर्म है, वह मोक्षमार्ग है, वह सच्चा आत्मा है।

सच्चे आत्मा का अनुभव करे, उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। परन्तु 'अनात्म' भावों को आत्मा मान ले तो उसे सच्चे आत्मा का अनुभव नहीं होता, अर्थात् कि सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा में एक ऐसा स्वभाव है कि पर्याय के अभाव और भाव हुआ करते हैं। उसमें यहाँ इतनी विशेषता है कि साधक को ज्ञानमय निर्मल भाव ही होते हैं; दूसरे

भाव हों, उन्हें अपने 'आत्मभाव' रूप से साधक स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार ज्ञानभाव में रागादि का तो अभाव ही है; और ज्ञानमय पर्याय नयी-नयी अपूर्व प्रगट हुआ करती है। अपनी आगामी केवलज्ञानादि पर्यायोंरूप से अपनी सामर्थ्य से ही आत्मा परिणमता है। निजशक्ति थी, वह व्यक्त होकर परिणमित हुई है।

अनन्त गुण की अचिन्त्य सामर्थ्यवाले आत्मस्वरूप का भान होने पर अमुक निर्मलपर्याय हुई, और पूर्ण भविष्य में होगी, उस भाविपर्याय का अभी अभाव है (प्रध्वंसअभाव है), परन्तु उस अभाव को भावरूप करे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है; इसलिए वह पर्याय प्रगट करने के लिये किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं है। अहा! कैसा स्वाधीन स्वभाव है!

भाई! तेरा आत्मा कैसे गुण का धारक है, उसकी तुझे खबर नहीं, तुझे तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय के वैभव की खबर नहीं। तेरे निजवैभव के भान बिना तू किसमें धर्म करेगा? तेरा आत्मस्वभाव ऐसा है कि उसके सन्मुख देखने से उसमें से केवलज्ञानादि पर्यायों का उदय होगा। अनन्त भविष्य की निर्मलपर्यायें होने की सामर्थ्य तेरे गुण में अभी भरी हुई है। नहीं वर्तती ऐसी पर्यायों का दूसरे क्षण में उत्पाद तेरे स्वभाव से होता है। तेरा ऐसा परिणमन है कि अभावरूप हो, वैसी नयी-नयी पर्यायें समय-समय में हुआ ही करे। उन पर्यायों को प्रगट करने के लिये कोई दूसरे बाहर के साधन की आवश्यकता पड़े, ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्याय टलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय होगी; सभी गुणों में ऐसा स्वरूप है कि वर्तमान पर्याय टलकर अभावरूप पर्यायें भावरूप हुआ करें; नयी पर्याय न हो, ऐसा कभी भी नहीं होता।

ऐसे अद्भुतस्वभाववाला आत्मा, भव के अभावस्वभाववाला और अपने में से ही नयी-नयी निर्मलपर्यायों को वर्तमान में लाया करे, ऐसा है; उसकी अपार महिमा है। उसमें पराधीनता नहीं, वह स्वाधीन महा वैभववाला है। ऐसे स्वभाव की प्रतीति धर्मी को वर्तती है, इसलिए क्षण-क्षण में केवलज्ञान के सन्मुख ही उसका भवन (-परिणमन) हो रहा है। अल्प काल में केवलज्ञान होगा—उसमें धर्मी को शंका नहीं है। 'अभी तुम्हारे में केवलज्ञान का अभाव है न?'—तो कहते हैं कि उस अभाव का भाव करूँ,

ऐसी मुझमें सामर्थ्य है। मेरी शक्ति में केवलज्ञान अभी पड़ा है, उसकी श्रद्धा के बल से मैं अल्पकाल में केवलज्ञान व्यक्त करूँगा। मेरे उस कार्य के कारणरूप से मेरा स्वभाव विद्यमान है। अन्तर में धर्मी को ध्येयरूप ऐसा स्वभाव है। केवलज्ञान होने के पश्चात् भी आत्मा में भाव-अभाव तथा अभाव-भाव तो हुआ ही करते हैं,—परन्तु वे केवलज्ञानरूप ही होते हैं।

आत्मा के अनन्त गुणों में आत्मा का लोक है। अनन्त गुणों से भरपूर अपने चैतन्यलोक को धर्मी अवलोकता है और उसकी रक्षा करता है। अपनी प्राप्त अनन्त गुणसम्पत्ति की रक्षा करे और नहीं प्राप्त, ऐसी केवलज्ञानादि सम्पदा को प्रगट करके प्राप्त करावे—ऐसा चैतन्यनाथ आत्मा स्वयं है, वह जोग-क्षेम का करनेवाला है। आत्मा की 'अभाव-भाव' शक्ति ऐसी है कि नहीं प्राप्त पर्याय को प्राप्त करावे।

प्रश्न : 'प्राप्त की प्राप्ति है' ऐसा कहा जाता है न?

उत्तर : शक्तिरूप से था, वह पर्याय में प्रगट हुआ, इस अपेक्षा से प्राप्त की प्राप्ति कही है; और वह पर्याय पहले नहीं थी और प्रगट हुई, इस अपेक्षा से उसे 'अभाव का भाव' कहा है। प्रवचनसार में सत्उत्पाद और असत्उत्पाद का वर्णन है, उसमें भी यह बात है।

भगवान आत्मा अनन्त चैतन्यवैभव से भरपूर है, उसके स्वलक्ष्य से जो निर्मलता का उत्पाद हो, वह उसकी सच्ची परिणति है; परलक्ष्य से रागादि का उत्पाद हो, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, वह वैभव नहीं है; वह तो विभाव है। अहा! आत्मा के अपार स्वभाव की महिमा लक्ष्य में ले तो परिणति स्व-सन्मुख हुए बिना रहे नहीं। गणधरदेव भी तीर्थंकर प्रभु की वाणी में आत्मस्वभाव की बात सुनते हैं और सुनते-सुनते अन्दर चैतन्य में उपयोग झुकने से विकल्प टूटकर निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में एकतान हो जाते हैं, क्षण-क्षण में अपूर्व निर्मलपर्यायें उन्हें खिलती जाती हैं, इस प्रकार 'अभाव-भाव' हुआ करता है।

कहीं 'भाव-अभाव' का अर्थ राग-द्वेष भी होता है। यहाँ ऐसा अर्थ नहीं है। यहाँ तो अभाव अर्थात् अविद्यमानता और 'भाव' अर्थात् विद्यमानता। पर्याय पहले

अविद्यमान थी, वह प्रगट होकर विद्यमान हुई, उसे 'अभाव-भाव' हुआ कहा जाता है। वह पर्याय फिर व्यय प्राप्त करे, तब उसे 'भाव-अभाव' हुआ कहलाता है। ऐसा परिणमनचक्र आत्मा में चला ही करता है। किसी दूसरे के कारण से पर्याय के भाव-अभाव नहीं होते। धर्मी को स्वरूपलक्ष्य से निर्मलता के ही भाव और अभाव हुआ करते हैं; इसलिए वर्तमान पर्याय टलकर दूसरी पर्याय विकारी होगी—ऐसा उसे नहीं है; वर्तमान पर्याय के पश्चात् दूसरी पर्याय भी निर्मल ही होगी, क्योंकि स्वभाव के लक्ष्य से ही पर्याय का उत्पाद होता है, इसलिए वह पर्याय भी स्वभाव जैसी निर्मल होती है। विकार, वह आत्मा के गुण का कार्य नहीं; इसलिए गुण के आश्रय से जो उत्पाद हुआ, उसमें विकार का भाव नहीं होता। जैसे गुण में विकार का अभाव है, उसी प्रकार उसकी पर्याय में भी विकार का अभाव ही रहेगा। स्वभाव के लक्ष्य से नयी-नयी शुद्ध पर्याय प्रगट हुआ ही करती है। सिद्ध भगवान कहीं एक की एक पर्याय को सदा अनुभव नहीं करते, उन्हें भी नयी-नयी अपूर्व पर्यायें प्रगट होकर उसका अनुभव होता है।

नयी-नयी पर्यायरूप से होने की सामर्थ्य वस्तु के स्वभाव में ही है; उस स्वभाव से ही प्रत्येक समय में नयी-नयी पर्याय हुआ करती है। इसलिए अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करने के लिये कहीं पर के सन्मुख देखना नहीं रहा; स्वद्रव्य के स्वभाव के सन्मुख ही देखना रहा। स्वाश्रय से श्रद्धा इत्यादि की निर्मलपर्याय प्रगट होती है, वह अखण्ड चैतन्य द्रव्य को प्रसिद्ध करती हुई (अनुभव में लेती हुई) प्रगट होती है। इन्द्रियों में और विकल्पों में यह सामर्थ्य नहीं है कि भगवान चैतन्य को प्रसिद्ध करे। वाह! दिव्यध्वनि द्वारा भगवान ने चैतन्य खजाना खोलने की विधि बतायी है, सन्तों ने उसे स्वानुभव द्वारा प्रसिद्ध किया है और हे जीव! तू भी अन्तर में स्वानुभूति करके तेरा चैतन्यखजाना खोल।

मेरे निर्मलपर्याय की उत्पत्ति किन्हीं निमित्तों में से, शरीर में से, राग में से या पूर्व पर्याय में से नहीं होती, परन्तु मेरे स्वभाव में ही 'अभाव का भाव हो ऐसी' अर्थात् कि जो पर्याय न हो, वह दूसरे समय में प्रगट हो, ऐसी सामर्थ्य है; इसलिए मुझमें नयी-नयी पर्यायों की उत्पत्ति मेरे स्वभाव से ही हुआ करती है।—ऐसा निर्णय करनेवाला अपनी निर्मलपर्याय के लिये कहाँ देखेगा? वह कहीं निमित्तों में, शरीर में, राग में और पूर्व

पर्याय में नहीं देखेगा, उसमें नहीं शोधेगा, परन्तु अनन्त गुण के पिण्डरूप निजस्वभाव के सन्मुख देखेगा, इसलिए स्वभाव के आश्रय से उसके निर्मलपर्यायोंरूपी परिणमन हुआ करेगा। इस प्रकार स्वभाव-सन्मुख होने से आत्मा का प्रयोजन सिद्ध होता है।

अज्ञानी अपने स्वभाव को देखता नहीं; और जो अपने स्वभाव में नहीं, जिसमें अपनी निर्मलता नहीं, ऐसे रागादि परभावों में तथा शरीरादि परद्रव्यों में ही दृष्टि रखता है, इसलिए उसे निर्मलपर्याय नहीं होती। भाई! रागादि में तेरी निर्मलता नहीं, तो उसके सन्मुख देखने से निर्मलता कहाँ से आयेगी? तेरे स्वभाव में निर्मलता की शक्ति भरी है, उसके सन्मुख देख तो उसमें से निर्मलपर्यायें परिणमित होंगी। अहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव विदेहक्षेत्र में जाकर सीमन्धर परमात्मा के पास से अनन्त शक्ति के निधान भर लाये हैं, और वे निधान इस भरतक्षेत्र के जीवों को दिये हैं। अहा! ऐसे तेरे अपूर्व निधान, उन्हें तू देख तो सही! उन्हें देखते ही तेरे आत्मा में वर्तमान अभावरूप ऐसे सम्यक्त्व से लेकर सिद्धपद तक के शुद्धभाव प्रगट भावरूप हो जायेंगे। लो रे लो! सन्त तुमको निजपद के निधान देते हैं।

आत्मा में अनन्त शक्ति है और उसके अनन्त जीव स्वानुभूति द्वारा उस शक्ति को खोलकर परमात्मा हुए हैं; यह आत्मा भी परमात्मा हो सके, ऐसी इसमें शक्ति है, उसका यह वर्णन है। आत्मा में ऐसा अखूट वैभव है कि जिसकी उपासना करने से पर्याय में अपूर्णता न रहे और पूर्ण मोक्षपर्याय प्रगट हो। जैसे स्वर्ण की खान में से सोना निकले, वैसे चैतन्यशक्ति की खान खोदे—उसमें खोजे तो केवलज्ञानादि निधान प्राप्त होते हैं। परन्तु पर में खोजने से वे प्राप्त नहीं होते। स्व में एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वही मोक्षमार्ग है और वही मुमुक्षु को सेवनयोग्य है। कलश २३६ में कहा है कि—अपनी सर्वशक्ति को आत्मा में समेटकर पूर्ण आत्मा को आत्मा में धारण करना अर्थात् कि उपयोग को निजशक्ति में लीन करना—उसमें ही सर्व उपादेय का ग्रहण हो जाता है और छोड़नेयोग्य सब छूट जाता है।

भाई! सच्ची मौज तो इस चैतन्य में है; चैतन्यबाग में स्वानुभूति की क्रीड़ा, वह परम आनन्दरूप है। बाहर में बाग-बगीचा में मौज करके आनन्द लेना चाहता है, परन्तु

वहाँ आत्मा का आनन्द नहीं है। आनन्द के निधान तुझमें भरे हैं, उसमें उपयोग द्वारा केलि कर तो परम आनन्द अनुभव में आयेगा। मोक्षमार्गी धर्मात्मा ऐसी केलि करते-करते सिद्धपद को साधते हैं।

यह आत्मा की शक्ति की अर्थात् कि निजवैभव की सूक्ष्म बात है; ध्यान रखकर अभ्यास करे तो समझ में आये ऐसी है। आत्मा अनन्त चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण है, उसका सामर्थ्य अनन्त, काल भी अनन्त, संख्या भी अनन्त; क्षेत्र अनन्त नहीं, क्षेत्र असंख्यप्रदेशी है। एक-एक जीव ऐसे अपार वैभव से सम्पन्न है। आत्मा के ऐसे वैभव को साध-साधकर अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं। सिद्ध से अनन्तगुने संसारी जीव हैं, उस प्रत्येक जीव में भी सिद्ध जितना परिपूर्ण आत्मवैभव शक्तिरूप से भरा है, उसका जो भान करे, उसे सिद्धपद प्रगट होता है। निजात्म-वैभव को जाने बिना धर्म और मुक्ति नहीं होती।

ज्ञान की पर्याय द्वारा ऐसे आत्मा को लक्ष्य में लेने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वही साध्य की सिद्धि का उपाय है; दूसरे प्रकार से साध्य की सिद्धि नहीं होती। सम्यग्दर्शन द्वारा आत्मा को ध्येयरूप करने से निर्मलपर्याय प्रगट होती है। दूसरे समय में वह पर्याय अभावरूप होगी और पहले जो अभावरूप थी, ऐसी दूसरी नयी पर्याय भावरूप होगी।—इस प्रकार भाव में और अभाव में दोनों में निर्मलपर्याय आती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के विषयरूप आत्मा की यह बात है। इसलिए उसमें विकार नहीं आता। ज्ञानमात्र आत्मा में भविष्य की जो निर्मलपर्याय वर्तमान नहीं वर्तती (-प्रध्वंस-अभावरूप है), उस पर्याय को दूसरे समय में (अर्थात् कि भविष्य के उसके योग्य समय में) 'भावरूप'—उत्पादरूप करे, ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है। कोई दूसरा आत्मा की वह पर्याय प्रगट करा देगा—ऐसा नहीं है। परन्तु आत्मा की निजशक्ति से ही नयी-नयी पर्याय उदय पाती है, इसलिए अपनी पर्याय प्रगट करने के लिये अन्यत्र कहीं देखना नहीं रहा, अपने में ही देखना रहा।

जड़ से तो आत्मा भिन्न ही है; उदयभाव को भी आत्मा के वैभव में नहीं गिनते। आत्मा का अनन्त गुणरूप जो निजवैभव है, वह पारिणामिकभावरूप है और उसकी निर्मलपर्यायें उपशमादि भावरूप होती हैं। ऐसे शुद्धभावसहित आत्मा, वह आत्मा है।

जो व्यवहार-सम्बन्धी विकल्प हैं, वह आत्मा नहीं। आत्मा की शक्ति का वह कार्य नहीं। विकल्प का तो निर्मलपर्याय में अभी भी अभाव है और जो निर्मलपर्याय अभी भावरूप विद्यमान वर्तती है, उस भाव का अभाव दूसरे समय में होता है, दूसरे समय में दूसरा नया भाव प्रगट होता है।—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। भविष्य की जिस क्षायिकपर्याय का वर्तमान क्षायोपशमिकपर्याय के समय अभाव है, उस अभाव का भाव कोई निमित्त के कारण और राग के कारण नहीं होता, परन्तु आत्मा की अपनी अभाव-भावशक्ति से ही वह क्षायिकभाव इत्यादि पर्यायें भावरूप होंगी। आत्मा की ऐसी शक्ति की प्रतीति करनेवाले को अल्प काल में केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट हुए बिना नहीं रहते। शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा तो अभी ही श्रद्धा में आ गया है, उस श्रद्धा के बल से समय-समय में केवलज्ञान-सन्मुख परिणमन हो रहा है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों को गिन-गिनकर शोधने जाये तो कभी पूरा नहीं होता और पूरा आत्मा अनुभव में नहीं आता। अन्तर्मुख होकर अभेद आत्मा का अनुभव करने से उस अनुभव में सभी शक्तियाँ एक साथ समाहित हो जाती हैं। उस अनुभव में कोई भेद का, राग का और पर का आश्रय नहीं है। अज्ञानी, राग को साधन मानकर उस राग में अटक जाता है, बहुत तो गुण-गुणीभेद के विकल्प में अटक जाता है। परन्तु वास्तविक साधन चैतन्यलक्षण है, उस लक्षण द्वारा आत्मा अनुभव में आता है। ऐसे लक्षण से आत्मा को पहिचाननेवाला जीव रागादि का स्वामी नहीं होता, वह तो चैतन्यमय निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय का ही स्वामी होता है और इस प्रकार स्वभाव के स्वामित्व में उस धर्मात्मा को निर्मलपर्यायें ही परिणमती हैं। उसे भाव-अभाव में और अभाव-भाव में निर्मलता ही है।

इस प्रकार भाव-अभावशक्ति तथा अभाव-भावशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

चैतन्य के वैभव के समक्ष चक्रवर्ती का वैभव झुक रहा है।

[३७]

भाव-भावशक्ति

भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः।

भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्याय के भवनरूप भाव-भावशक्ति।३७।

जैसे पिता, प्रिय पुत्र को समस्त उत्तराधिकार देता है; उसी प्रकार सर्वज्ञ पिता ने अपने को अपना आत्मवैभव बतलाया है। भगवान सर्वज्ञदेव धर्मपिता हैं। उन्होंने चैतन्य के अचिन्त्य वैभव का उत्तराधिकार बतलाया है। अरे जीव! भगवान तुझे अपार चैतन्यवैभव देते हैं, उसे प्राप्त करके उल्लास ला... उल्लास से तेरे आत्मवैभव को अनुभव में ले।

आत्मा अनन्त गुणों से भावस्वरूप-विद्यमान वस्तु है, उसका निर्मलपर्यायरूप परिणमन होता है।—ऐसा उसका भाव है। जैसी वस्तु है, वैसा ही उसका परिणमन वर्तता है, ज्ञानभाव का परिणमन सदा ज्ञानभावरूप रहेगा, ज्ञानभाव का परिणमन कभी जड़ नहीं होगा; चेतन सदा चेतनरूप रहेगा, चेतन कभी अचेतन नहीं होगा; आनन्द सदा आनन्दरूप रहेगा, आनन्द में बीच में दुःख नहीं आयेगा। इस प्रकार आत्मा के स्वभाव का जैसा भाव है, वैसा ही भाव सदा रहेगा।—ऐसी भाव-भावशक्ति आत्मा में है। जैसा त्रिकाल, वैसा उसका वर्तमान; जैसा गुण, वैसी उसकी पर्याय; जैसा स्वभाव, वैसा उसका भवन—ऐसी आत्मशक्ति को भाव-भावशक्ति कहते हैं। इसमें द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों निर्मलभावरूप आते हैं; विकार वह वास्तव में स्वभाव का भाव नहीं है, इसलिए वह इसमें नहीं आता। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध है, उसके आश्रय से उसका जो सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव प्रगट हुआ, वह सदा ऐसा निर्मल ही रहेगा, उसका अभाव होकर बीच में विभाव आवे—ऐसा नहीं होता। त्रिकाल भाव है, वैसा वर्तमान भाव वर्ता करेगा—ऐसे त्रिकाल और वर्तमान दोनों की एक जाति रहेगी, ऐसा भाव-भावशक्ति का कार्य है।

जिस जाति का ध्रुव हो, उस जाति के ही उत्पाद-व्यय होते हैं। जैसे त्रिकाली ध्रुव चेतनरूप है तो उत्पाद-व्यय भी चेतनरूप ही है, चेतन के उत्पाद-व्यय जड़रूप नहीं होते। उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्य शुद्ध है तो उसकी दृष्टि से होते उत्पाद-व्यय भी शुद्ध ही होते हैं, शुद्ध द्रव्य के आश्रय से अशुद्धता का उत्पाद नहीं होता। 'भाव का भवन' अर्थात् जैसी शक्ति है, वैसा ही उसका भाव प्रगट होता है, विपरीत नहीं प्रगट होता, वह भाव-भावशक्ति का कार्य है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल ऐसे के ऐसे हैं और उसके आश्रय से जो ज्ञानादिरूप भाव प्रगट हुआ, वह भी सदा ऐसा ही भावरूप रहा करेगा; ज्ञानभाव में बीच में अज्ञानभाव नहीं आता। ज्ञान का परिणमन अज्ञानरूप कभी नहीं होता; इसी प्रकार आनन्द में, श्रद्धा में बीच में विपरीत परिणमन नहीं होता। विपरीत भाव को शक्ति का परिणमन नहीं कहा जाता। श्रद्धा का परिणमन मिथ्यात्वरूप हो और ज्ञान का परिणमन अज्ञानरूप हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए वे विभाव वास्तव में 'भाव का भवन' नहीं है; निजवैभव में उसका समावेश नहीं होता।

आत्मा के परम शुद्धभाव को प्रतीति में ले और उस परम भाव में अशुद्धभावरूप भवन हो, ऐसा नहीं होता।

प्रश्न : परम भाव की प्रतीति होने पर भी ज्ञानी को भी राग तो होता है ?

उत्तर : ज्ञानी का जो ज्ञानभावमय परिणमन है, उससे राग परिणमन पृथक् ही वर्तता है; इसलिए वास्तव में ज्ञानमय परिणमते 'ज्ञानी' में राग का परिणमन हुआ ही नहीं, राग का परिणमन उससे भिन्न ही रहा है। ज्ञानी उस राग के ज्ञाताभाव से परिणमता है, राग के कर्ताभाव से नहीं परिणमता। राग है, वह कहीं ज्ञानी का लक्षण नहीं है; उस समय राग से पृथक् वर्तता जो ज्ञान है, वही ज्ञानी का लक्षण है। ऐसे लक्षण से पहिचाने तो ही ज्ञानी को पहिचाना कहलाये। राग के काल में भी ज्ञानी ने ज्ञानस्वभाव में ही अचलित दृष्टि स्थापित की है, उस दृष्टि में भाव का परिणमन भावरूप ही रहता है अर्थात् कि गुण की पर्याय गुण जैसी निर्मल ही हुआ करती है; ज्ञानभाव, ज्ञानभावरूप से ही परिणमता है।

अहा! यह तो आत्मा के स्वरूप की बात है। आत्मसागर अनन्त निर्मल तरंगों द्वारा स्वयं अपने में उछल रहा है। यह आत्मा परमात्मा का कुटुम्बी है, सिद्ध के और तीर्थंकरों के कुल का है। सन्त कहते हैं कि भाई! तू हमारे परिवार का है। तुझे तेरी सम्पत्ति बतलाते हैं। हमारे में जैसा आत्मवैभव प्रगट हुआ, वैसा तुझमें है, वह तुझे दिखलाते हैं।

आत्मा की भाव-भावशक्ति ऐसी है कि द्रव्य-गुण में जैसा भाव है, वैसा भाव पर्याय में भी वर्ते। जैसे द्रव्य-गुण अप्रतिहत है, उसमें अशुद्धता आती नहीं, उसी प्रकार उसके आश्रय से वर्तती निर्मलपर्याय भी अप्रतिहत है; शुद्धस्वभाव में दृष्टि स्थापित करे, वह अप्रतिहतरूप से केवलज्ञान ले, बीच में भंग पड़े नहीं। सम्यग्दर्शन में शुद्ध आत्मा प्रतीति में आया, उस शुद्ध आत्मा की दृष्टिवाले जीव को निर्मलभवनरूप भाव ही हुआ करते हैं, शक्ति में शुद्धता है, वह पर्याय में आया करती है; जैसे द्रव्य-गुण का अभाव नहीं, उसी प्रकार उसकी निर्मलपर्याय का भी अब कभी अभाव नहीं,—ऐसा भाव-भावपना आत्मा का स्वभाव है। जहाँ शुद्धस्वभाव को दृष्टि में लिया है, वहाँ पर्याय में शुद्ध परिणमन हुआ करता है। ज्ञान सदा ज्ञानरूप से; प्रतीति सदा निर्मल प्रतीतिरूप से;

आनन्द सदा आनन्दरूप से—इस प्रकार चैतन्यसम्पदा के सर्व गुण अपने स्वरूपरूप भावरूप रहकर पर्याय में भी वैसे भावरूप से परिणमा करते हैं। आनन्द के भाव में रहकर आनन्द हो, दुःख न हो; ज्ञान के भाव में ज्ञान हो, अज्ञान न हो; श्रद्धा का भाव सम्यक्त्वरूप हो, मिथ्यात्वरूप न हो;—इस प्रकार जैसा गुण, वैसी निर्मलपर्याय हो, उसे गुण का भाव कहा जाता है; ऐसा भावभावपना, वह आत्मा का स्वभाव है और ऐसे अनन्त स्वभाव का पिण्ड आत्मा अनेकान्तस्वरूप है।

'भाव-भाव' में बीच में रागादि अन्य भाव नहीं आते, उसमें तो निर्मल भाव ही आते हैं। गुण, गुणरूप से कायम रहकर उसकी निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उसे भाव-भाव कहा जाता है। ज्ञान का ज्ञानपना रहकर उसका परिणमन हुआ, वह 'भाव का भवन' है। मति-श्रुत में से केवलज्ञान हुआ, वहाँ ज्ञान, ज्ञानरूप से ही रहा है; अल्प आनन्द में से पूर्ण आनन्द हुआ, वहाँ आनन्दस्वभाव आनन्दरूप ही रहा है; क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व में से क्षायिकसम्यक्त्व हुआ, वहाँ श्रद्धा श्रद्धारूप से ही रही है। इस प्रकार सर्व गुणों में भावरूप से टिककर भवन होता है। 'भाव' का भवन (—परिणमन) न हो, ऐसा नहीं होता, तथा 'भाव' पलटकर दूसरा ही भाव (अभाव) हो जाये, ऐसा भी नहीं होता।—चेतनभाव पलटकर जड़ हो जाये, ऐसा नहीं होता। चेतन सदा चेतनभावरूप रहकर चेतनभावरूप ही परिणमा करे, ऐसा स्वभाव है।

शुरु के मंगलाचरण में ही कहा था कि '**चित्स्वभावाय भावाय**'—समयसार को नमस्कार करता हूँ कि जो चित्स्वभाव है और 'भावरूप' वस्तु है। वह गुणसत्तारूप से कायम टिककर पर्यायसत्तारूप से परिणमा करती है। अपने अनन्त भावों को साथ में रखकर आत्मा परिणम रहा है। आठ वर्ष का छोटा बालक (देह से छोटा, आत्मा तो बड़ा महान), वह केवलज्ञान प्राप्त करे, वहाँ ऐसी अनन्त शक्तियाँ उसे प्रत्यक्षरूप हो जाता है और केवलज्ञान से पहले चतुर्थ गुणस्थान से ही स्वानुभूति में ऐसी सर्वशक्तिसहित आत्मा अनुभव में और प्रतीति में आ जाता है। उस शुद्धात्मा की वह श्रद्धा अपने अप्रतिहतभाव से केवलज्ञान लेगी... उससे पहले प्रतीति में आया हुआ सम्पूर्ण आत्मवैभव पर्याय में प्रगट हो जायेगा। प्रगटा हुआ आत्मवैभव सहज वाणी द्वारा भगवान ने जगत को दिखलाया है।

भगवान सर्वज्ञदेव को जैसा आत्मा प्रगट हुआ, जैसा वाणी में कहा, वैसा ही अपने में स्वानुभव से जब जाने, तब आत्मा को जाना और माना कहलाये, और तब सर्वज्ञदेव की वास्तविक पहिचान हुई कहलाये। जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा, वैसा आत्मा स्वानुभव में लिये बिना धर्म नहीं होता। शुद्ध आत्मा के अनुभव बिना भले शुभभाव करे परन्तु उस शुभभाव द्वारा भव का अभाव नहीं होता। शुभभाव कहीं आत्मा के स्वभाव का वास्तविक भवन नहीं है। स्वभावदृष्टि से देखो तो ज्ञायक-आत्मा शुभाशुभरूप परिणमता ही नहीं, इसलिए वास्तव में वह शुद्धात्मा का भाव नहीं है। शुद्धात्मा का भाव तो शुद्धात्मा की जाति का होता है, विरुद्ध नहीं होता। ज्ञान का कार्य राग नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को शुद्ध द्रव्यस्वभाव लक्ष्य में होने से वह अपने एक भी गुण में विकारकार्य को स्वीकार नहीं करता, अर्थात् कि व्यवहार के रागभावों में उत्साह नहीं करता, उसमें तन्मय नहीं होता। जिसमें तन्मयता न हो, उसमें उत्साह नहीं करता, उसमें तन्मय नहीं होता। जिसमें तन्मयता न हो, उसमें उत्साह नहीं होता। धर्मी को अपने निजस्वभाव में ही तन्मयता है और उसमें ही उत्साह है। परभावों के प्रति उसका उत्साह उड़ गया है।

अरे जीव! तेरे स्वभाव का उत्साह तो कर। जिस स्वभाव की बात सुनने परमभक्तिपूर्वक १०० इन्द्र जिनेन्द्रदेव की धर्मसभा में आते हैं; आत्मा के अद्भुत चैतन्यवैभव के पास इन्द्रों को स्वर्गादि का वैभव भी तुच्छ लगता है। आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि उसके लक्ष्य से निर्मल भाव ही हुआ करते हैं। किसी प्रतिकूलता के घेरा से आत्मा की निर्मलपर्याय घिर जाये, वह चेतन मिटकर जड़ हो जाये या ज्ञान मिटकर अज्ञान हो जाये,—ऐसा नहीं होता। साधक अपने शुद्ध द्रव्य के लक्ष्य को चूकता नहीं, इसलिए उसे शुद्धपर्याय ही हुआ करती है। ऐसी साधकदशा प्राप्त जीव तिर्यंचगति में भी असंख्यात हैं; ढाई द्वीप के अन्दर तो संख्यात ही सम्यग्दृष्टि हैं, परन्तु ढाई द्वीप से बाहर असंख्य तिर्यंच सम्यग्दृष्टि हैं। यद्यपि उसमें सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि असंख्यगुणे हैं, असंख्य पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के बीच एक सम्यग्दृष्टि, तथापि ऐसे सम्यग्दृष्टि असंख्यात हैं; उसी प्रकार देव में और नारकी में भी असंख्यात सम्यग्दृष्टि जीव हैं। वे सभी जीव अपने आत्मा को ऐसा ही निर्मलभावस्वरूप जानते हैं, नारकी का आत्मा ऐसा नहीं जानता कि मैं देव हूँ, वह शुद्ध दृष्टि से ऐसा अनुभव करता है कि शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ, चैतन्य से बाह्य कोई भाव मैं नहीं।

भाई! शुद्ध चैतन्यरूप से तू तेरे आत्मा को देख, तो तेरी पर्याय में भी शुद्धता का भाव रहेगा और उसमें राग का अभाव रहेगा। गुणरूप जो भाव है, उसका भाव ही रहेगा अर्थात् पर्याय में उसका निर्मल परिणमन हुआ ही करेगा, निर्मल परिणमन का कभी अभाव नहीं होगा। सादि-अनन्त काल निर्मल भाव हुआ ही करे, ऐसी अचिन्त्य सामर्थ्य आत्मशक्ति में भरी है। द्रव्य-गुण और उसमें तन्मय हुई पर्याय—इन तीनों में कहीं राग का 'भाव' नहीं, परन्तु अभाव है। जो राग होता है, वह तेरे द्रव्य-गुण की सीमा से बाहर है; स्वभाव की सीमा को उल्लंघकर वह अन्तर में प्रवेश नहीं कर सकता; इसलिए कहा है कि परभाव ऊपर-ऊपर तैरते हैं, परन्तु अन्तरस्वरूप में प्रविष्ट नहीं होते। जबकि निर्मलपर्याय तो अन्तरस्वरूप में प्रविष्ट होकर अभेद परिणम जाती है, वह पृथक् नहीं रहती और उस निर्मलपर्याय में भी राग का प्रवेश नहीं; राग उससे बाहर ही रहता है। अहा! धर्मी की परिणति में स्पष्ट भेदज्ञान हो गया है, स्वभाव और परभाव अत्यन्त भिन्न ही वर्तते हैं। जैसे चेतन और जड़ भिन्न हैं, वैसे स्वभाव और परभाव भिन्न है।

'भाव-भाव' में शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ जाते हैं, परन्तु परभाव का अंश भी नहीं आता। तेरे द्रव्य-गुण को पर के साथ तो सम्बन्ध नहीं, विकार के साथ भी सम्बन्ध नहीं; अपनी निर्मलपर्यायरूप 'भाव' के साथ ही उसे सम्बन्ध है, उसमें ही तद्रूपता है। अहा! ऐसे तेरे स्वभाव को जान, तो तेरी शुद्धता का महा आनन्द तुझे अनुभव में आयेगा.... और केवलज्ञान होगा।

भाव-भावशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

'सर्वज्ञता' कहने से अज्ञानी को बाहर के बहुत से ज्ञेयों के समक्ष लक्ष्य जाता है, परन्तु जिसमें से सर्वज्ञता खिली, ऐसी ज्ञानशक्ति के सन्मुख उसका लक्ष्य नहीं जाता। ज्ञानशक्ति के सन्मुख लक्ष्य जाये तो ही सर्वज्ञता की सच्ची प्रतीति होती है।

[३८]

अभाव-अभावशक्ति

अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः।

नहीं भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्याय के अभवनरूप अभावाभाव शक्ति।३८।

वाह! अन्दर से श्रद्धा की रणकार करता आत्मा जाग जाये, ऐसा यह वीरमार्ग है। जैसे रण में चढ़े हुए राजपूत की वीरता छिपती नहीं, उसी प्रकार चैतन्य की साधना के पंथ में चढ़े हुए और वीरप्रभु के मार्ग में उन्मुख धर्मात्मा की वीरता गुप्त नहीं रहती; उसका वैराग्य, उसकी श्रद्धा का जोर, उसका स्वभाव का प्रेम, उसका आत्मा का उत्साह—यह सब मुमुक्षु से गुप्त नहीं रहता। ज्ञानी की दशा वास्तव में अद्भुत होती है।

इस देह से भिन्न आत्मा के स्वभाव में अनन्त शक्तियाँ हैं, उन सभी शक्तियों में ज्ञानभाव व्याप्त है, इसलिए आत्मा ज्ञानमात्र है। ज्ञान से व्याप्त जितने भाव हैं, उतना आत्मा है; ज्ञान से खाली और राग से व्याप्त ऐसे जो कोई भाव हैं, वे आत्मा नहीं। ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान होने से आत्मा के परिणमन में जो निर्मल भाव उल्लसित होते हैं, उसका यह वर्णन है। धर्मी ने ज्ञानलक्षण द्वारा अपने अन्तर में जो चिन्मात्र आत्मा अनुभव में लिया है, उसमें ऐसा 'अभाव-अभावपना' है कि कर्म इत्यादि का उसमें वर्तमान भी अभाव है, वह सदाकाल अभाव ही रहेगा। आत्मा के स्वभाव में जो अभावरूप है, वह सदाकाल अभावरूप ही रहेगा, उसका कभी भाव नहीं होगा। 'अभाव का भाव' होगा, ऐसा पहले कहा था, वह अपनी भविष्य की निर्मलपर्याय की बात थी; और यहाँ आत्मशक्ति में जिसका त्रिकाल अभाव है, वे शरीरादि सदा अभावरूप ही रहेंगे। कभी भावरूप नहीं होंगे—ऐसे अत्यन्त अभाव की बात है। आत्मा को अनात्मा के साथ किसी काल में एकता नहीं होती। सदा भिन्न ही है। इस प्रकार पर से अत्यन्त भिन्न आत्मा धर्मी के अनुभव में आया है।

ज्ञान आत्मा के सर्व भावों में व्यापक है, इसलिए ज्ञान का अभाव हो तो आत्मा का अभाव हो जाये।—परन्तु ऐसा कभी होता नहीं। और राग को वास्तव में आत्मा के साथ व्याप्य-व्यापकता नहीं है, इसलिए राग का अभाव होने से आत्मा का अभाव नहीं हो जाता। राग के अभाव में भी आत्मा निजस्वभाव से टिक रहा है। इस प्रकार ज्ञानमात्र आत्मा में रागादि का अभाव है और सदा अभाव ही रहेगा। ज्ञानपर्याय भी राग के अभावरूप परिणम गयी है। राग, वह ज्ञान की परिणति नहीं। शुद्ध द्रव्य जिसकी प्रतीति में आया, उसे रागरहित का कार्य प्रगट हुआ। शक्ति को प्रतीति में लेने से उसका कार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता। शक्ति तो शक्तिरूप से है ही, परन्तु अन्तर्मुख होकर उसकी श्रद्धा किये बिना वह प्रगट नहीं होती, अर्थात् कि निर्मलरूप से परिणमती नहीं। निजशक्ति की श्रद्धा जिसे हुई है, उस आत्मा का कैसा परिणमन होता है, उसकी यह बात है।

आत्मा में शरीरादि परवस्तु का वर्तमान में अभाव है और तीनों काल भी अभाव

है, रागादिभावों का त्रिकाल स्वभाव में तो अभाव था ही, और उस स्वभावसन्मुख की वर्तमान निर्मलपर्याय में भी उसका अभाव हुआ, भविष्य में भी वह अभावरूप ही रहेगा। इस प्रकार निजभाव में जिसका अभाव है, उसे अभावरूप ही रखे, ऐसी आत्मशक्ति है। आत्मा की कोई शक्ति ऐसी नहीं कि विकार को सम्हाले, अथवा आत्मा की शक्ति में से कभी विकार का भवन हो, ऐसा बनता नहीं। इसलिए आत्मा की शक्ति तीनों काल विकार के और कर्म के अभावरूप है तथा उसके लक्ष्य से पर्याय में भी वैसा परिणमन होता है। अहो! अपने ऐसे स्वरूप की लगन करनेयोग्य है। जीव ने अनन्त काल से बाहर की लगन की है, परन्तु स्वयं अपनी लगन नहीं की। आत्मा की लगन करे तो उसकी पर्याय में निर्मलता प्रगट हो। अन्तर्मुख होने से भान होता है कि मुझमें ऐसा एक स्वभाव है कि अपने स्वरूप के द्रव्य-गुण और पर्याय में कर्म का वर्तमान में तथा तीनों काल में अभाव ही रखे। आत्मा में जिसका अभाव है, उसका सदा अभाव ही रहेगा —

जड़भावे जड़ परिणमे, चेतन चेतन भाव;
कोई किसी को पलटे नहीं, छोड़कर आप स्वभाव।
जड़ वह जड़ तीन काल में, चेतन चेतन त्यों;
प्रगट अनुभवरूप है, संशय इसमें क्यों?

(श्रीमद् राजचन्द्र)

आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में कर्म के और शरीर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अभाव है।—कब? अभी, और तीनों काल अभाव है। 'कर्म का अभाव' कहने पर कर्म के सम्बन्धवाले परभावों का अभाव भी आ ही गया। इसलिए ऐसे स्वभाव की दृष्टि में कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी छूट गया। स्वभावसन्मुख की जो निर्मलपर्याय हुई, उसे कर्म के साथ निमित्तसम्बन्ध भी नहीं रहा।

देखो, यह आत्मा का वैभव! अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मवैभव को जड़कर्मों के साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। चैतन्य के द्रव्य-गुण-पर्याय में पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का अभाव-अभाव है, अत्यन्त अभाव है, वर्तमान अभाव है और त्रिकाल अभाव

है। आत्मा को आत्मारूप से माना कब कहलाये ? कि पर के अभावरूप और अपने अनन्त स्वभावों से भरपूर भावरूप ऐसे आत्मा को जब ज्ञान से लक्षगत करे, तब आत्मा को जाना और माना कहलाये। इस प्रकार आत्मा को जाने, तब अपूर्व आनन्द का अनुभव भी होता है।

आत्मा के आनन्द में दु:ख का अभाव है; त्रिकाली आनन्दशक्ति में तो दु:ख का अभाव है और उसकी उपासना करनेवाली वर्तमान पर्याय में भी दु:ख का अभाव है, विकार का अभाव है, कर्म के और शरीर के सम्बन्ध का उसमें अभाव है। उस अभाव को आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में अभावरूप ही रखे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा देखा है और धर्मी को अनुभव में ऐसा ही स्वरूप आता है। शरीर-कर्म और विकार के सम्बन्ध जितना मैं—ऐसा पहिचाने और उससे पार ज्ञानस्वरूप है, उसे न पहिचाने, तब तक उस आत्मा को निजवैभव की खबर नहीं है। धर्मी जीव अर्थात् शुद्ध आत्मा को साररूप से स्वीकार करनेवाला ज्ञानी जीव, आत्मा के सत्य-स्वरूप को स्वीकार करनेवाला सुदृष्टि जीव ऐसा जानता है कि मेरे ज्ञानस्वभाव में कर्म इत्यादि का अभाव है और सदा अभाव रहेगा। मेरे ज्ञानभाव में कर्म का भाव कभी नहीं होगा, ज्ञान कभी कर्मरूप नहीं होगा। इसी प्रकार पर्याय में रागांश है, वह मैं नहीं, उसके अभावरूप जो निर्मलपर्याय हुई, वह तथा शुद्ध द्रव्य-गुण, वह मैं हूँ। ऐसे मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में रागादि का अभाव है और अभाव ही रहेगा।—ऐसे परभाव से अत्यन्त भिन्नता करके अपने आत्मा का शुद्ध भाग धर्मी ने पृथक् कर लिया है। स्वरूप से ही ज्ञान और राग को भिन्नता है, इसलिए उनका भेदज्ञान करना सुगम है, उन्हें भिन्न अनुभव किया जा सकता है।

पुण्य-पाप के राग-द्वेष के भाववाला नहीं परन्तु उसके अभाववाला और अनन्त गुण की निर्मलता के भाववाला मेरा आत्मा है—ऐसा अनुभूति में धर्मी जीव अनुभव करता है। अभाव-अभावशक्ति का कार्य ऐसा है कि त्रिकाल में और वर्तमान में, दोनों में परभावों की नास्ति रखता है। कर्म को बाँधनेवाला आत्मा—ऐसा नहीं, शरीर के सम्बन्धवाला आत्मा—ऐसा नहीं, रागरूप आत्मा—ऐसा भी नहीं, परन्तु इन सबकी जिसमें नास्ति है, ऐसे ज्ञानमय शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय, वह मैं हूँ—ऐसी अनुभूति, वह

सम्यग्दर्शन की अनुभूति है। ऐसी अनुभूति जहाँ न हो, वहाँ सम्यग्दर्शन भी नहीं होता।

कोई कहे कि राग से और कर्म से भिन्न आत्मा हमको दिखाई नहीं देता!—तो उसे कहते हैं कि भाई! भेदज्ञानी को तो अन्दर चैतन्य के अनुभव में राग से और कर्म से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा स्पष्ट अनुभव में आता है और तुझे भिन्न नहीं दिखाई देता तो तेरा अनुभव झूठा है। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप के अनुभव द्वारा चौथे गुणस्थान से ही आत्मा में रागरहित ज्ञान अनुभव में आता है। अनन्त जीव ऐसा अनुभव कर-करके सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। ज्ञान और राग के बीच भिन्नता होने से उन्हें भिन्नरूप से अनुभव किया जा सकता है; ऐसा अनुभव सुगम है, अभी हो सकता है।

धर्मी जीव ज्ञानलक्षण द्वारा अपने शुद्ध आत्मा को लक्षित करके ऐसा जानता है कि मेरे इस आत्मा में ज्ञानमय अनन्त भावों के अतिरिक्त ज्ञान से विरुद्ध सर्व भावों का अभाव ही था और अभाव ही है। पहले ऐसा आत्मा मेरे लक्ष्य में नहीं था और भ्रम से मैंने मुझे रागादिरूप और कर्मरूप माना था। लक्ष्मी-शरीर-कर्म और रागादि का मुझमें अभाव होने पर भी भूल से मेरे ज्ञानस्वभाव में मैंने उनका सद्भाव माना था, तथापि ज्ञान को और उन्हें एकमेकपना हो नहीं गया था, परन्तु पृथक्पना था, इसलिए स्वलक्ष्य के बल से वे पृथक्रूप से अनुभव में आये। आत्मा का सच्चा वैभव कैसा है, उसकी अब खबर पड़ी। अहो! ऐसा अद्भुत निजवैभव! उसके भान बिना अनन्त काल मैंने खोया। निजवैभव का भान होने पर यथार्थ वस्तुस्थिति की मर्यादा सम्यग्दृष्टि ने ऐसी जानी कि चैतन्यसीमा में परभाव का प्रवेश किंचित् भी नहीं है; चैतन्यद्रव्य में, गुण में और निर्मल-पर्याय में कहीं परभाव नहीं है, परन्तु परभाव के अभावरूप मेरा स्वभाव है। ऐसा स्वभाव वर्तमान जाना और सदाकाल ऐसा ही स्वभाव रहेगा। जैसा वर्तमान, वैसा त्रिकाल! वर्तमान में शुद्धता के वेदन बिना त्रिकाली शुद्ध स्वभाव श्रद्धा में नहीं आ सकता। वर्तमानसहित त्रिकाल शुद्ध आत्मा की प्रतीति बिना शुद्धात्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं होती और शुद्धात्मा की श्रद्धा बिना सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं होता, अर्थात् कि मोक्ष का मार्ग हाथ नहीं आता। वर्तमान में ही जो आत्मा को कर्मवाला अशुद्ध ही अनुभव करता है, वह त्रिकाल शुद्ध आत्मस्वभाव को कर्मरहित कैसे देखेगा? देखनेवाली तो

वर्तमान पर्याय है और वह पर्याय तो अकेली अशुद्धता के अनुभव में ही रुकी हुई है, इसलिए शुद्ध आत्मा को—सच्चे आत्मा को वह प्रतीति में नहीं ले सकती। यहाँ तो कहते हैं कि भाई! ज्ञानलक्षण को लम्बाकर तू देख तो अभी ही तेरा आत्मा कर्म और विकार के अभावरूप तुझे दिखाई देगा, क्योंकि कर्म में और विकार में ज्ञानलक्षण नहीं रहता। ज्ञानलक्षण तो शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय में ही रहता है।

स्वसन्मुख हुए धर्मी की यह बात है। मेरी ज्ञानपर्याय में कर्म की ओर के झुकाव का अभाव है, अभी और तीनों काल, मैं कर्म इत्यादि पररूप से अप्रवर्तमान हूँ; रागादिरूप मैं होता नहीं, परन्तु उनके अभावरूप मैं परिणमता हूँ; मैं राग को ज्ञानपर्याय से भिन्नरूप जानता हूँ, एकरूप नहीं; मेरे ज्ञान का भवन राग के अभावरूप है—ऐसा धर्मी का अनुभव है। जो जीव ज्ञान को और रागादि को एकरूप अनुभव करता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। राग के अभावरूप जो आत्मस्वभाव है, उसकी उसे खबर नहीं।

अपने शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय में अशुद्धता का और कर्म का अभाव है, अपने उस शुद्धस्वरूप को तो धर्मी निश्चय स्वज्ञेयरूप से जानता है और जो रागादि हैं, उन्हें व्यवहार स्वज्ञेयरूप से जानता है। इस प्रकार साधक को प्रमाणज्ञान है। शुद्धता में अशुद्धता का अभाव है, इसलिए निश्चय का आदर और व्यवहार का निषेध, ऐसा प्रमाणज्ञान में आ जाता है। अकेली अशुद्धता को जाने और शुद्धस्वभाव को न जाने तो प्रमाणज्ञान नहीं होता। अशुद्धता होने पर भी उससे पार होकर शुद्धस्वभाव को अनुभूति में लेना, वह अनुभूति परम आनन्दकारी है, उस अनुभूति में चैतन्यस्वाद से भरपूर अमृत के महा पकवान हैं। ऐसे स्वभाव को लक्षगत करने से भी अनोखा आनन्द होता है और क्रम-क्रम से अपूर्व कल्याण होता है। मेरा आत्मा कर्म को बाँधनेवाला तो नहीं और कर्म बाँधने में निमित्त हो, ऐसे रागादि भाव भी मैं नहीं—ऐसा निर्णय करने से आत्मा छुटकारे के पंथ में आता है।

आत्मा ऐसा है कि जिसमें अपार चैतन्यनिधान भरे हैं। विदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा के पास जाकर चैतन्य का जो माल लाये, जो वैभव लाये, वह वैभव कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस समयसार द्वारा भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को दिया है। अपने

स्वानुभव में तो आत्मवैभव था ही, तदुपरान्त सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनकर, श्रुतकेवलियों का सीधा परिचय करके तथा शुद्धात्मानुभवी गुरुओं की परम्परा से प्राप्त हुए, इस प्रकार से समस्त आत्मवैभव कुन्दकुन्दाचार्यदेव को प्रगट हुआ था, उस समस्त वैभव के बल से उन्होंने इस समयसार में एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा दिखलाया है, और उनका हृदय जाननेवाले अमृतचन्द्राचार्यदेव ने 'आत्मख्याति' टीका द्वारा उसे प्रसिद्ध किया है। अहो! चैतन्य का सहज अद्‌भुत वैभव है। भाई! ऐसा वैभव तुझमें भरा है, उसे तू जान।

वर्तमान में चौथे गुणस्थान में वर्तते धर्मी जीव भी अपने आत्मा को ऐसा स्वीकार करते हैं कि मेरा आत्मा मेरी अभाव-अभावशक्ति के बल से कर्म के अभावरूप ही सदा परिणम रहा है। जीव का जीवन कर्म के अभावरूप है और चैतन्य से भरपूर है। उससे विरुद्ध मानने से जीव के जीवन का व्यपरोप होता है अर्थात् भावहिंसारूप जीवहिंसा होती है। जिसने जीव की शुद्ध चैतन्यसत्ता का स्वीकार नहीं किया और दूसरे के द्वारा उसका जीवन (उसका टिकना) माना, उसने जीव के स्वाधीन जीवन को घात कर डाला, स्वयं ही अपना भावमरण किया। यहाँ अनन्त शक्तिवाला स्वाधीन जीवन बतलाकर 'अनेकान्त' द्वारा आचार्यदेव सच्चा जीवन प्रदान करते हैं। 'भावमरण' टालने के लिये करुणा करके अनन्त आत्मशक्तिरूपी संजीवनी सन्तों ने दी है, जिसके द्वारा अविनाशी सिद्धपद प्राप्त होता है,—यह जीव का सच्चा जीवन है।

भगवान आत्मा का स्वभाव जैसा है, वैसा दृष्टि में और अनुभूति में लेने से उसका सच्चा जीवन प्रगट होता है। धर्मी जानता है कि मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में जड़ के सम्बन्ध का अभाव है, विकारकार्य का भी उसमें अभाव है; मेरी कोई शक्ति ऐसी नहीं कि जो परिणमकर विकाररूप कार्य की कर्ता हो। मिथ्यादृष्टि अपने को विकार और कर्मसहित ही पहिचानकर उतना ही अपना अस्तित्व मानता है, इसलिए द्रव्य-गुणरूप शक्ति को भी वह अशुद्ध ही अनुभव करता है, इसलिए शक्ति का शुद्ध कार्य उसे कहाँ से प्रगट हो? सम्यग्दृष्टि तो कर्म से और राग से पार अनन्तशक्तिसम्पन्न निजात्मा को शुद्ध अनुभव करता है, इसलिए पर्याय में भी उसे निजशक्ति का शुद्ध कार्य प्रगट होता है। शुद्धकार्यरूप परिणमती शक्ति में रागादि का और कर्म का अभाव ही है और अभाव ही

रहेगा। ऐसा जीवन वह सच्चा जीवन है, वह सुखी जीवन है। सिद्ध भगवन्त सुखी जीवन जी रहे हैं; उसमें साधक सन्त भी सुखी जीवन जी रहे हैं। अभाव-अभावशक्ति पर का अपने में अत्यन्त अभाव रखकर आत्मा को सुखी जीवन जिलाती है। इस प्रकार आत्मा की प्रत्येक शक्ति स्वकार्य द्वारा आत्मा को सुखी जीवन जिलाती है।

जड़ का संयोग, राग और ज्ञान की कमजोरी, वह मैं नहीं, वह मेरा जीवन नहीं, परन्तु उन सबको जाननेवाला तथा अखण्ड आत्मस्वभाव को जाननेवाला, ऐसी पूर्ण सामर्थ्यवाला मैं हूँ और ऐसी पूर्णता के पूर में मेरा वास्तविक जीवन है। सोते-जागते, उठते-बैठते सर्व प्रसंगों में धर्मी अपने जीवन को याद करता है, वह अन्तर की दृष्टि में से कभी भी च्युत नहीं होता। साधक को अखण्ड आत्मा को जाननेवाली जो क्षायोपशमिक ज्ञान अवस्था है, उतनी पर्याय जितना ही वह अपने को अनुभव नहीं करता, परन्तु पर्याय को अन्तर में लीन करके सर्वज्ञस्वभाव के पूर्ण वैभव से भरपूर अपने को अनुभव करता है। उस अनुभव में उदयभाव का अभाव है। निर्मलभावरूप से परिणमते आत्मा में उदयभाव का अभाव है।

अरे! ऐसा मेरा चैतन्यतत्त्व, अपार महिमावन्त, उसे मैंने पूर्व में कभी नहीं पहिचाना। अब जहाँ ज्ञानी-सन्तों ने मेरा आत्मवैभव दिखलाया और उसमें अन्तर्मुख होकर मैंने मेरे आत्मवैभव को देखा, वहाँ महा आनन्दसहित, कर्म के और परभाव के अभावरूप परिणमन प्रगट हुआ। भ्रम से देहवाला माना था, परन्तु देहादि के अभावरूप ही मैं सदा हूँ। पहले भी उन देहादि के अभावरूप ही था, अभी भी उनके अभावरूप ही रहा हूँ और भविष्य में भी उनके अभावरूप ही रहूँगा, तीनों काल, उनसे पृथक्-पृथक् और पृथक् ही हूँ। मेरा टिकना, मेरा निभना, मेरा जीवन, मेरा परिणमना, मेरे स्वभाव से ही है, उसमें पर का तो अभाव ही है।—इस प्रकार ज्ञानपर्याय को अन्तर में झुकाने से अपना आत्मा धर्मी को लक्षित हुआ। इसलिए उस पर्याय में भी पर के और परभाव के अभावरूप परिणमन प्रगट हुआ।

कोई कहे — रागादि व्यवहार कहाँ गया?

तो कहते हैं कि वह व्यवहार गया अभाव में; शुद्ध परिणति में राग कैसा? रागादि

व्यवहार के अभावरूप शुद्ध स्वभाव को जाने बिना आत्मा को वास्तव में जानना नहीं कहलाता। अरे जीव! तेरी परम सामर्थ्य को तू प्रतीति में न ले और अकेले व्यवहार में—तुच्छ राग में रुककर रहे, तो क्या इतना ही तेरा आत्मा है? भाई! तेरा आत्मा तो अनन्त गुण की साहेबी से भरपूर है,—जिसमें अशुद्धता नहीं, ऐसे आत्मा में अन्तर्मुख हो तो तुझे तेरे वैभव की पहिचान हो। वह पहिचान परम आनन्दरूप है। राग और देहादि में आत्मबुद्धिपूर्वक वर्तन, वह अज्ञानी का व्यवहार है, वह वास्तविक आत्मव्यवहार नहीं; धर्मी का आत्मव्यवहार तो शुद्ध चेतना के विलासरूप है—ऐसा प्रवचनसार में कहा है।

निरालम्बी गगन में तीर्थंकर भगवान की वाणी खिरी, उसने सर्व तत्त्वों में साररूप ऐसा निरालम्बी चैतन्यतत्त्व बतलाया; सुपात्र जीवों ने उस सारभूत तत्त्व को जानकर अनुभव में लिया। ऐसे सारभूत तत्त्व को अनुभव करनेवाले जीव विरले ही होते हैं, बाकी जगत का बहुभाग तो असार ऐसे रागादिभावों में ही भरमा हो गया है। इस शास्त्र का नाम ही समयसार है, सर्व वस्तुओं में साररूप उत्तम ऐसा शुद्ध आत्मा, वह समयसार है, उसका स्वरूप यह समयसारशास्त्र दिखलाता है। आचार्य भगवान ने अन्तिम गाथा में कहा है कि —

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ अरु तत्त्व से
ठहरे अरथ में जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे॥ (४१५)

अपने पूर्ण सामर्थ्य द्वारा शुद्धता को रचे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे पूर्णस्वभाववाला आत्मा ही उत्तम शरण है। विकारभाव, वह शरणरूप और साररूप नहीं है। दुःख का अभाव करके सुख प्रदान करने का जिसमें सामर्थ्य है, ऐसा स्वभावशक्ति का पिण्ड शुद्ध आत्मा ही शरणरूप और साररूप है। ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर उसे जानने से आत्मा स्वयं आनन्दरूप परिणमता है—स्वयमेव सुखरूप होता है और दुःख के अभावरूप परिणमता है।—ऐसे निजभाव से परिणमता आत्मा, वही शरण है, वही विश्राम है।

जिसमें दुःख का और आकुलता का अनुभव हो, वैसे परभाव आत्मा को शरणरूप कैसे हों? जो जीव मात्र दुःख को ही वेदता है और आत्मिकसुख को अनुभव

नहीं करता, उसे वास्तव में आत्मा का अनुभव नहीं है, वह अनात्मभाव को ही अनुभव करता है। आत्मा तो परम आनन्दस्वभावी है, उसमें दु:ख का अभाव है, दु:खपरिणमन को धर्मी अपने में अभावरूप जानता है। इस प्रकार परभाव को अपने में अभावरूप रखकर निजभावरूप परिणमता आत्मा कैसा है, वह यहाँ बतलाया है। दयादि रागभाव और हिंसादि द्वेषभाव, ऐसे राग-द्वेष रहित, आनन्दमय ज्ञाता-दृष्टा परिणामी आत्मा, वह वास्तविक आत्मा है। मात्र ज्ञानभाव से भरपूर आत्मा को जानने से आनन्दमय अमृतरस की धारा बहती है। रागादि के कर्तापने आत्मा को जाने, उसमें तो राग का—आकुलता का वेदन होता है, उसमें आनन्द की धारा नहीं बहती, क्योंकि वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। आत्मा के सच्चे स्वरूप को जाने और आनन्दरस की धारा न बहे—ऐसा नहीं होता। अन्दर में आनन्द का समुद्र भरा है, इसलिए उसमें उपयोग जोड़ते ही आनन्द की धारा अनुभव में उल्लसित होती है। वस्तुस्वरूप ऐसा है कि उसके ज्ञान में कभी उकताहट नहीं आती परन्तु आनन्द आता है।

भाई! तेरी ऐसी वस्तु है, उसे एक बार तेरे लक्ष्य में तो ले; उसे लक्ष्य में लेते ही, कभी नहीं हुआ ऐसा आनन्द तुझे होगा। सम्यग्दर्शनसहित नरक के संयोग के बीच रहे हुए श्रेणिक राजा भी ऐसे आत्मा को आनन्दभावसहित अनुभव करते हैं, वहाँ नरक के बीच भी दु:ख को और प्रतिकूल संयोग को अपने में अभावरूप रखकर, आनन्द में ही तन्मयरूप से परिणम रहे हैं। उनका तो दृष्टान्त दिया, बाकी यहाँ भी ऐसे आत्मा का आनन्दसहित अनुभव करनेवाले अनेक जीव हैं और ऐसा अनुभव हो सकता है।

राग का कार्य दु:ख है, उसका शुद्ध आत्मा में अभाव है। आत्मा आनन्दस्वभावी है, वह स्वभाव दु:ख का कारण नहीं होता, क्योंकि उसमें दु:ख है ही नहीं। सम्यग्दृष्टि ऐसे आत्मा को अनुभव करते होने से उन्हें आनन्द का वेदन है और दु:ख का अभाव है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन-आनन्द-प्रभुता इत्यादि सर्व गुणों में विभाव का अभावपना है; इसलिए शुभराग कारण और ज्ञानादि की निर्मलदशा उसका कार्य—ऐसा कारण-कार्यपना भी नहीं है। जब तक राग के साथ कारण-कार्यपने की बुद्धि है, तब तक रागरहित शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता। स्वभाव की शक्ति में ही साध्य-साधकपना है, बाहर में नहीं। रागरूप व्यवहार के अभावरूप शुद्ध परिणति परिणमती है। जो जीव विकार को

(शुभराग को) अपनी शुद्धता का साधन मानता है, वह उससे अपनी भिन्नता कैसे जाने? उसने तो राग को और आत्मा के स्वभाव को एक ही माना है। उसे उनका भेदज्ञान नहीं है; इसलिए उसे रागरहित शुद्धता की प्राप्ति नहीं होती। राग को कारण बनाये बिना, अपने स्वभाव को ही अपना कारण बनाकर और राग को अभावरूप रखकर सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमे, ऐसा आत्मा का कार्य है। आत्मा के अनन्त गुण की अद्‌भुत लीला है,—जिसमें पर के साथ किंचित् भी कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा की लीला में आत्मा का मजा है, उसमें देख। बाकी परभाव में तो आकुलता की भट्टी है।

राग को और ज्ञान को कारण-कार्यपना नहीं है, ज्ञान में राग का अभाव है। राग के अभावरूप ही ज्ञान परिणमता है और सदाकाल उसके अभावरूप ही परिणमेगा। बस, ऐसा भेदज्ञान जिसने किया, उसे अपनी मुक्ति का निर्णय हो गया, अपना शुद्ध मुक्त स्वभाव जहाँ अपने अनुभव में आ गया, वहाँ दूसरे को पूछने नहीं जाना पड़ता; अपने अनुभव के जोर से ही अपनी मुक्ति का नि:सन्देह निर्णय हो जाता है। जहाँ आत्मा स्वयं राग के अभावरूप परिणमने लगा, वहाँ मोक्ष की शंका कैसे रहे? स्वसन्मुख होने पर अपने स्वभाव से निर्णय हो गया कि नि:शंकरूप से मेरा आत्मा राग के अभावरूप ही परिणमा करेगा। भविष्य में कर्म का उदय आकर ज्ञान को मलिन कर डाले, अथवा राग के साथ एकत्व हो जाये—ऐसा होनेवाला नहीं है। मोह का अभाव हुआ और राग के साथ एकता टूटी, वह अब फिर से संधनेवाली नहीं है। अभी से ही साधक का ज्ञान राग से पृथक्‌रूप से परिणम रहा है, वह ठेठ मुक्ति तक पृथक् ही परिणमेगा और मुक्ति सादि-अनन्त रहेगी, उसमें बीच में विकार और कर्म नहीं आयेंगे।

साधकदशा में ज्ञान और राग दोनों विद्यमान होने पर भी वे दोनों भिन्नरूप से वर्तते हैं, एकरूप नहीं। शुद्धदृष्टि में विकार का अभाव परिणमता है, इसलिए उसमें व्यवहार का अभूतार्थपना है; भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से शुद्धता ही परिणम रही है। अनादि-अनन्त मेरा ऐसा स्वभाव था, परन्तु दृष्टि में आया नहीं था; अब दृष्टि में आने पर सादि-अनन्त निर्मल परिणमन होने लगा और रागादि का परिणमन अभावरूप हुआ। रागादि

विकल्प के अप्रवर्तनरूप आत्मस्वभाव है। विकल्प में वर्तन करे, वह वास्तव में आत्मस्वरूप नहीं है। सच्चे आत्मस्वरूप की यह कथा है, इसलिए सत्यकथा है। ऐसे सत्य के आधार से मुमुक्षु का जहाज भवसमुद्र को तिर जाता है।

अभी तो जो ऐसा मानता है कि मेरा आत्मा बोले, आत्मा वाणी को करे, शरीर द्वारा धर्म होता है, उसे तो शरीर और वाणी के अभावरूप आत्मा की खबर नहीं, तो राग के अभावरूप स्वभाव की खबर तो कहाँ से होगी? जहाँ जड़ से भिन्नता भी नहीं जानता, वहाँ राग से भिन्नता कहाँ से जाने? यहाँ ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा बतलाया, ऐसे आत्मा को जाने तो जड़ में से और राग में से आत्मबुद्धि छूट जाये। जो आत्मा का स्वभाव नहीं, उसमें आत्मबुद्धि करना, वह मूढ़ता है। चक्रवर्ती राजा को भिखारी कहना, वह जैसे राजा का अविनय है, उसी प्रकार अनन्त शक्ति के पिण्डरूप चैतन्य चक्रवर्ती आत्मा को राग जितना तुच्छ मानना, वह उसका अनादर है। चैतन्य राजा को जड़ शरीर के कार्यवाला मानना, वह चेतन का अनादर है। नारकी का वैक्रियिकशरीर, प्रतिकूल संयोग और खेद का दुःख—वे कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा को स्पर्शते नहीं और ज्ञानस्वरूप आत्मा उन किसी को स्पर्शता नहीं; दोनों भाव भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा अपनी अनन्त शक्ति के निर्मल भावों को स्पर्श करता है। चेतन के पिटारे में शुद्धता भरी है, दुःख और विकार नहीं भरे हैं। अहा! अनन्त गुणवैभव से भरपूर आत्मपिटारा खोलकर सन्त बतलाते हैं कि भाई! तेरे पास जैसा वैभव है, वैसा जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है; जगत की समस्त लक्ष्मी द्वारा भी जिसका मूल्यांकन नहीं हो सकता, ऐसी आत्मलक्ष्मी तुझमें है।

ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा जगत में जहाँ रहा हो, वहाँ रागादि के अभावस्वभाव से ही रहा है। आत्मा के ऐसे स्वभाव की सन्मुखता से राग के अभावरूप ज्ञान का जो परिणमन हुआ, वह सदाकाल वैसा ही रहेगा। रागादि का गुणशक्ति में तो अभाव था ही, और उसका भान होने पर पर्याय में भी सादि-अनन्त अभाव हुआ। स्वभाव से पूर्ण भरपूर और विभावों से सदा खाली (अभावरूप) ऐसा चैतन्यरत्न, उसकी अपार महिमा है। अनन्त गुणरत्नों से भरपूर चैतन्यरत्नाकर आत्मा है, उसमें उदयभावरूप मलिनता नहीं है, उदयभाव के अभावरूप प्रशान्त चैतन्यरस से उल्लसित आत्मा है। तत्त्वार्थसूत्र

में उदयभाव को जीव का स्वतत्त्व कहा है, वह तो जीव की पर्यायों का ज्ञान कराने के लिये कहा है। यहाँ जीव के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान कराना है, शुद्ध स्वरूप में उदयभाव नहीं आते; इसलिए यहाँ शुद्ध जीव में उदयभाव का अभाव कहा है और ऐसे शुद्ध जीव स्वरूप का अनुभव करने से पर्याय में भी उदयभाव की उत्पत्ति नहीं होती, उसका अभाव हो जाता है। इस प्रकार स्वसन्मुख झुकी हुई परिणति में उदयभाव का अभाव है; स्वसन्मुख परिणति ने जितना आत्मा अनुभव किया, उतना ही शुद्ध आत्मा है, उसे ही यहाँ आत्मा कहा है।

निश्चय दृष्टि द्वारा ऐसे आत्मा को अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शन हुआ; सम्यग्दर्शन होने से धर्मी को भव का नाश हुआ और अकेला स्वभावभाव से परिणमता आत्मा रहा। वह स्वभावरूप से परिणमते-परिणमते केवलज्ञानरूप हो जायेगा। उस परिणमन में राग का अभाव हुआ और अभाव ही रहेगा।

अभाव-अभावशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

अरे! ऐसा महिमावन्त आत्मतत्त्व, उसे साधने की जीवों को निवृत्ति क्यों नहीं मिलती? दूसरे प्रयोजनहीन उपाधि में लगा रहता है, परन्तु भाई! तेरे आत्मा की अद्भुतता तो देख! अहो! चैतन्य का कोई अद्भुत आनन्दकारी स्वभाव है; जगत की जिसमें उपाधि नहीं और अपने निजानन्द में केलि करता हुआ जो परिणम रहा है, ऐसे तेरे चैतन्यतत्त्व को अन्तर में देख।

'दशाऊँ एक विभक्त को आत्मा तणे निज विभव से'

—ऐसा कहकर समयसार में जिन्होंने शुद्ध आत्मा दिखलाया है, अद्भुत आत्मवैभव दिखलाया है, ऐसे मंगलरूप महात्मा कुन्दकुन्दाचार्यदेव का भरतक्षेत्र के जीवों पर महान उपकार है... उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार हो।

[३९]

भावशक्ति

कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः।

(कर्ता, कर्म आदि) कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (–होनेमात्रमयी) भाव शक्ति।३९।

अहो! आत्मशक्ति की महिमा की क्या बात! स्वयं केवलज्ञानादिरूप होने की उसकी सामर्थ्य है। भाई! लक्ष्य बाँध तेरे स्वभाव में, तो उसके लक्ष्य से सुलक्षणी पर्याय प्रगट हो जायेगी। बाकी सब विकल्प का कारण है। स्वभाव में लक्ष्य को जोड़ तो फिर तुझे केवलज्ञान के लिये या सम्यग्दर्शन के लिये दूसरा कोई कारण शोधने नहीं जाना पड़ेगा।

देखो! आत्मा का सूक्ष्म ज्ञानस्वभाव बतलाते हुए उसके अनुभव में से कारणभेद का विकल्प भी निकाल देते हैं। आत्मा का जो ज्ञानभावमय परिणमन है, उसमें भेदरूप कारक अनुसार क्रिया का अभाव है। कर्ता-कर्म-साधन इत्यादि भेद के विकल्प की क्रिया द्वारा ज्ञान का परिणमन नहीं होता। ज्ञान के परिणमन में विकल्प की क्रिया का अभाव है। ज्ञान की अनुभूति कारकभेद के विकल्प बिना की है। इसके पश्चात् ४०वीं शक्ति में कारकों अनुसार क्रिया होने की बात करेंगे। उसमें स्वभाव के अभेद कारकों की बात है और यहाँ भेदरूप कारकों के निषेध की बात है। अन्त में छहों कारक ज्ञान के परिणमन में अभेदरूप से समाहित करके आचार्यदेव शक्तियों का वर्णन समेट देंगे।

समयसार अर्थात् आत्मा सम्यक् प्रकार से ज्ञानरूप परिणमन करता है, जानना और परिणमना यह दोनों क्रिया ज्ञान में एकसाथ है, उसमें राग का अभाव है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनन्त शक्तियों का यह वर्णन है, ज्ञानभाव द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा को लक्ष्य में लेने से ज्ञान के साथ अनन्त गुणों का जो निर्मल परिणमन हुआ, वह आत्मा है और उसमें रागादि का अभाव है, कारकभेद के अवलम्बन का भी उसमें अभाव है। अनन्त गुणधाम आत्मा है, वह अपने ज्ञानलक्षण से लक्षित है, राग से और भेद के विकल्प से वह लक्षित नहीं। कारकभेद की क्रिया बिना ही भवना अर्थात् कि ज्ञानरूप परिणमना, ऐसी आत्मा की 'भावशक्ति' है।

प्रश्न : पहले ३३वीं शक्ति में भी 'भावशक्ति' कही थी और यहाँ ३९वीं शक्ति में भी 'भावशक्ति' कही, तो उन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर : वहाँ ३३वीं शक्ति में भी 'भाव' कहकर वर्तमान अवस्था की विद्यमानता बतलायी है, आत्मा विद्यमान अवस्थावाला ही होता है, ऐसा वहाँ बताया है और यहाँ 'भाव' कहकर भवन अर्थात् कि परिणमन बतलाना है। कारक के भेदरूप क्रिया बिना ही आत्मा स्वयमेव ज्ञानरूप परिणमता है; ऐसे ज्ञानभवनरूप भावशक्ति है। इन्द्रियादि कारकों को अनुसरकर आत्मा ज्ञानरूप परिणमता है, ऐसा नहीं, अन्दर कर्ता-कर्म इत्यादि कारकभेद की क्रियारूप जो विकल्प, उसे अवलम्बकर भी आत्मा ज्ञानरूप से परिणमता है, ऐसा नहीं है; ज्ञानरूप से परिणमने का अपना स्वभाव ही है। उस

परिणमन में छहों कारक अभेद समाहित हो जाते हैं। ज्ञान की अनुभूति भेदरूप कारकों से पार उतरी हुई है।

अहो! एक-एक शक्ति में तो कितने गम्भीर भाव भरे हैं! जैसे '**जगत्**' ऐसा शब्द कहने से उसमें वाच्यरूप से जगत के सभी भाव आ जाते हैं, उसी प्रकार 'भावशक्ति' में आत्मा के बहुत भाव भरे हुए हैं। मैं कर्ता, ज्ञान मेरा कार्य—ऐसा कर्ता-कर्म इत्यादि छह कारकभेद के विकल्प से पार परिणमे, वैसी भावशक्तिवाला आत्मा है। पर के कारक तो आत्मा में कभी नहीं; अपने में अपने छह कारक सम्बन्धी भेद का जो विकल्प उठता है, उससे भी पार ज्ञान की अनुभूति है। अज्ञानभाव में रागादि का कर्तृत्व है, परन्तु वह कर्ता रहने का स्वभाव नहीं; कर्तापने से रहित परिणमे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। तदुपरान्त यहाँ तो कहते हैं कि अपने में छह कारक के जो भेद हैं, उन्हें अनुसरकर जो क्रिया होती है अर्थात् कि विकल्प उठते हैं, उससे भी निष्क्रान्त ज्ञानभाव है। अर्थात् उस विकल्प द्वारा ज्ञानभाव की रचना नहीं होती, ज्ञान का परिणमन उस विकल्प से पार है। इस प्रकार कारकभेदों की क्रिया से रहित भगवान आत्मा है; भेदकारकों की क्रियारूप से वह परिणमता नहीं। ज्ञानभाव में अभेदकारकों की क्रिया समाहित हो जाती है, यह बात अब बाद की (४०वीं) क्रियाशक्ति में बतलायेंगे। 'भावशक्ति' भेदकारकों का निषेध करती है और 'क्रियाशक्ति' अपने में अभेदकारकों की क्रिया बतलाती है। आचार्यदेव ने आत्मस्वरूप का कोई अद्‌भुत रीति से वर्णन किया है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में भेद के विकल्प का कर्तृत्व नहीं है, भेद के विकल्परूप जो विकार, उसके कारकरूप से होती क्रिया को ही अज्ञानी अपना स्वरूप मानता है। जिसमें भेद का अवलम्बन नहीं, ऐसे निर्विकार ज्ञानपरिणमन को अज्ञानी जानता नहीं। भगवान आत्मा स्वद्रव्य की प्रीति से निर्मल ज्ञानभाव से परिणमता है; उसमें अपने अभेद छह कारक आ जाते होने पर भी कारकभेद की क्रिया उसमें नहीं, विकल्प नहीं। सर्व प्रकार के विकल्पों की क्रिया से पार हुआ विज्ञानघनरूप से वह शोभता है। कारक के भेद को अनुसरता न होने पर भी निर्मलभावरूप से परिणमा करता है। भेदरूप व्यवहार को नहीं अनुसरने से कहीं ज्ञान का परिणमन रुक नहीं जाता, उस व्यवहार के अवलम्बन बिना ही ज्ञान स्वयं निर्मलज्ञानभाव से (अर्थात् कि रत्नत्रयरूप से) परिणम रहा है।

इसलिए व्यवहारनय के अवलम्बन का निषेध किया है और निश्चय के आश्रय से ही मोक्षमार्ग दर्शाया है। शुद्धस्वरूप से आत्मा को लक्ष्य में लेने से वह स्वयं सर्व प्रकार की विकारक्रियाओं से रहित होकर, अन्य कारकों की अपेक्षा बिना ही अपने शुद्धभावरूप परिणमता है। ऐसी भावशक्तिवाला आत्मा है।

आत्मा के स्वरूप में एकाग्र होने से कारकभेद की क्रिया बिना ही असंख्यप्रदेश में सर्वज्ञता परिणम गयी और तीर्थंकर के सर्वांग से वाणी सहज खिरी, उस वाणी का कर्ता आत्मा नहीं; उस वाणी में स्व-पर को जानने की सामर्थ्य नहीं परन्तु स्व-पर की वार्ता कहने की सामर्थ्य है। जाननेवाले में कहने की सामर्थ्य नहीं (अर्थात् ज्ञान में वाणी नहीं), और कहनेवाले में जानने की सामर्थ्य नहीं (अर्थात् वाणी में ज्ञान नहीं)। उस वाणी में ऐसा आया कि हे आत्मा! तू अनन्त गुण का भण्डार है; तेरे आत्मा में ऐसी भावशक्ति है कि भेदरूप विकारी कारक बिना ही वह निर्मलरूप से परिणमे। निर्मलपरिणमन में भेदरूप कारकों का अवलम्बन नहीं है। भेदरूप कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया का निर्मल ज्ञानपरिणमन में अभाव है।

आत्मा स्वयं ही छह कारकरूप होकर ज्ञान और सुखरूप परिणमता है, वहाँ बाह्य कारकों की तो उसे अपेक्षा नहीं और अन्दर में मैं कर्ता, मैं ही कर्म, मैं ही साधन, ऐसे कारकभेद के विकल्प भी कहीं ज्ञान और सुखरूप परिणमने का कारण नहीं है। वे विकल्प हैं, इसलिए यहाँ निर्मल भाव का भवन होता है, ऐसा नहीं है। उन विकल्पों से निरपेक्षरूप से आत्मा स्वयं ज्ञानरूप और सुखरूप होता है; वही सच्चा जीवन है। जिसे सच्चा आनन्दमय जीवन जीना हो, उसे अन्तर्मुख होकर आत्मा में परिणमना है। भाई! बाहरी होकर बाहर में तेरे कारण को शोध मत। राग द्वारा भी चैतन्यराजा प्रसन्न हो, ऐसा नहीं है, चैतन्यराजा तो उसमें एकाग्रता द्वारा ही प्रसन्न हो, ऐसा है; इसलिए अन्तर्मुख हो.... अन्तर्मुख अर्थात् कि स्वसन्मुख होना, वही भगवान का मार्ग है। दूसरे किन्हीं साधनों की अपेक्षा बिना आप स्वयं केवलज्ञानादिरूप परिणमता है, इसलिए उसे स्वयंभू कहा है।

अज्ञानी कहता है कि शुभराग मेरा साधन और कारक होगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि राग के कारक बिना ही परिणमने का आत्मा का स्वभाव है। ज्ञानपरिणमन में राग की क्रिया कैसी? यद्यपि यहाँ तो शुद्धभाव की ही बात है; परन्तु अशुद्धता में भी अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। '**स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकांतरमपेक्षते...**' पंचास्तिकाय की ६२ गाथा में तथा ६६ गाथा में कहा हुआ यह सिद्धान्त शुद्धता में और अशुद्धता में तथा चेतन में और जड़ में, समस्त पदार्थों में लागू पड़ता है। पदार्थ स्वयमेव स्वयं अपने छह कारकरूप होकर परिणमते हैं, वे दूसरे भिन्न कारकों की अपेक्षा नहीं रखते। यहाँ तो तदुपरान्त अपनी शुद्ध अनुभूति की बात है—कि जिसमें अपने छह कारकों के भेद का भी विकल्प नहीं। यहाँ भेदकारकों को अनुसरनेवाली क्रिया का निषेध किया; और बाद में अपने अभेदकारकों को अनुसरनेरूप क्रिया (४०वीं शक्ति में) बतायेंगे।

आत्मा की पर्याय में शुद्धता हो या अशुद्धता, परन्तु वह कारक होकर पर की क्रिया करे, ऐसा नहीं होता। आत्मा राग करके भी पर का कुछ कार्य कर दे अथवा द्वेष करके पर का कुछ बिगाड़ दे—ऐसा नहीं होता।—इस प्रकार पर से तो भिन्नता ही है।

अब अन्दर आत्मा के किसी गुण में ऐसा स्वभाव नहीं कि राग-द्वेष को उत्पन्न करे। तो राग-द्वेष कैसे होते हैं?—राग-द्वेष वे तो अज्ञानमय भाव हैं, वे कहीं ज्ञानमय भाव नहीं है, वह ज्ञान का कार्य नहीं, वह ज्ञान का कारण भी नहीं।—इस प्रकार ज्ञान को राग से भी भिन्नता है।

अकेले भिन्न ज्ञान के वेदन में 'यह कर्ता और यह कर्म' ऐसे कारकभेद की क्रिया का उत्थान नहीं रहता, वह क्रिया वहाँ विराम पा जाती है; और निर्मल भावरूप से ज्ञान का भवन हुआ करता है।—यह भावशक्ति का कार्य है।

अहो! ऐसे भेदज्ञान में कितना समाधान! कितनी शान्ति!

- ✦ परचीज़ इस आत्मा का कोई भाव उपजाती नहीं।
- ✦ पुण्य-पाप के भाव में पर की क्रिया करने की सामर्थ्य नहीं।
- ✦ उस पुण्य-पाप के भाव में ऐसी भी सामर्थ्य नहीं कि आत्मा की शुद्धता का साधन हो।

✦ आत्मगुण में ऐसा स्वभाव नहीं कि शुभाशुभभावों को उत्पन्न करे।

✦ आत्मगुण में ऐसा स्वभाव है कि शुभाशुभरहित अपने शुद्धभावरूप से परिणमे।

—ऐसे स्वभाववाला भगवान आत्मा है। अपने को ऐसे स्वभाव से देखना, वह सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ भगवान ने सभी आत्माओं को ऐसे स्वभाव से देखा है। ऐसे आत्मा के अन्तरलक्ष्य में दक्ष हुए बिना भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होता।

केवलज्ञान और सम्यग्दर्शनादि के छहों कारकरूप से आत्मा स्वयं हो जाता है, परन्तु इसके लिये छह कारक के विकल्प नहीं करने पड़ते। मैं कर्ता होऊँ, मैं साधन होऊँ—ऐसे-ऐसे भेद के विकल्प बिना ही अन्तर में एकाग्रता द्वारा आत्मा शुद्धतारूप परिणम जाता है। ऐसी परिणमनशक्ति का नाम भावशक्ति है।

✦ पर्याय में पर को करने की सामर्थ्य नहीं।

✦ गुण में विकार करने की सामर्थ्य नहीं।

✦ स्वभाव में शुद्धता करने की सामर्थ्य है।

—ऐसे तीनों प्रकार जाने तो पर से और विकार से विमुख होकर आत्मा अपने स्वभावसन्मुख हो, इसलिए शुद्धभावरूप भवन हो।—इसका नाम धर्म और यही मोक्षमार्ग है।

भाई! आत्मा कैसा है और कैसे अनुभव में आता है, उसकी यह बात है। कुन्दकुन्दस्वामी और अमृतचन्द्रस्वामी जैसे धर्मधुरन्धर दिगम्बर सन्त जब हाथ में कमण्डल और मोरपिच्छी लेकर इस भरतभूमि में विचरते होंगे, और ऐसा 'आत्मवैभव' जगत के जीवों को दिखलाते होंगे,—अहा! वे दृश्य कैसे होंगे! वे वीतरागमार्गी सन्त मानो सिद्धपद को साथ लेकर घूमते थे... उनकी परिणति अन्तर्मुख होकर क्षण-क्षण में सिद्धपद को भेंटती थी। ऐसे मुनियों ने इस पंचम काल में तीर्थंकरदेव का शासन टिकाया है और वीतरागी अमृत प्रवाहित किया है। अहा! मुनिदशा की क्या बात! आत्मा का अचिन्त्यवैभव उन्होंने खोला है; वे केवलज्ञान के एकदम नजदीक वर्त रहे हैं।

अहो चैतन्यवस्तु! इस वस्तु की कीमत पैसे से नहीं आंकी जा सकती। अनुपम

अतीन्द्रिय वस्तु, उसका मूल्य दूसरे किससे आँका जा सकता है? वाणी और विकल्प भी जिसका मूल्य नहीं आँक सके, ऐसा अद्‌भुत आत्मवैभव, उसका मूल्य स्वानुभव द्वारा ही आँका जाता है। चक्रवर्ती के राज भी इस चैतन्यवैभव के समक्ष सारहीन लगते हैं। जगत के वैभव की अपेक्षा चैतन्यवैभव महादुर्लभ है। ३२००० मुकुटबंधी राजा जिसकी सेवा करें, जिसे चौदह रत्न और नौ निधान होते हैं, जिसके वैभव का विस्तार सुनने से साधारण व्यक्ति तो चकित हो जाये—ऐसी चक्रवर्तीपद की ऋद्धि, वह तो शुभभाव का फल है। और जिससे उत्कृष्ट पुण्य बँधे, ऐसा शुभराग, उस शुभ से भी पार चैतन्यवैभव है; ऐसे चैतन्यचक्रवर्ती के अनन्त निधान की क्या बात! उसकी अनन्त शक्ति के वैभव की क्या बात! चौथे गुणस्थान में 'घर में' रहे हुए समकिती जीव अपने आत्मा को ऐसे वैभव सम्पन्न जानते हैं और विकाररहित परिणाम में परिणमते हैं।

'उसे विकार तो है न?'—है, परन्तु वह चैतन्यवैभव से बाहर है, इसलिए वास्तव में सम्यग्दृष्टि का वह विकार नहीं है। सम्यग्दृष्टि का तो शुद्ध आत्मा ही है। जिसमें आत्मबुद्धि हो, वह अपना कहलाये, परन्तु जिसे अपने स्वभाव से भिन्न जाने, वह अपना कैसे कहलाये?—इसलिए विकार सम्यग्दृष्टि का नहीं, सम्यग्दृष्टि का तो शुद्ध आत्मा ही है। वह उसका 'स्व' है।

भगवान! तुझे बाहर का वैभव और पुण्य दिखता है, परन्तु तेरे निजगुण का वैभव तुझे नहीं दिखता। सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान को उत्पन्न करने की सामर्थ्य तुझमें है। पुण्य का और उसके कारणरूप शुभराग का तो तेरे निर्मल परिणमन में अभाव है। यह निर्मल भाव सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने के लिये कोई क्रिया है? तो कहते हैं कि हाँ, उसमें क्रिया है तो सही, परन्तु कारकभेदों को अनुसरनेरूप विकल्प की क्रिया उसमें नहीं है; तो कौन सी क्रिया है? यह आगे की ४०वीं क्रियाशक्ति में बतायेंगे।

यहाँ शुद्ध शक्तियों का वर्णन है, ज्ञानमात्रभाव में जो समाहित होती है, ऐसी शक्तियों का वर्णन है, इसलिए उसमें अशुद्धता नहीं आती। बाकी तो अशुद्धता के समय भी अपने ही अशुद्ध षट्कारकों द्वारा आत्मा अशुद्धरूप होता है, पर के कारण से नहीं होता। पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहते हैं कि **'यथैवाशुद्धषट्कारकीरूपेण परिणममानः सन् अशुद्धमात्मानं करोति तथैव शुद्धात्मतत्त्व सम्यक् श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण**

अभेदषट्कारकीस्वभावेन परिणममानः शुद्धमात्मानं करोतीति।' जैसे अशुद्ध छह कारकोंरूप से परिणमता हुआ अशुद्ध आत्मा को करता है, उसी प्रकार शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुभवरूप से अभेद छह कारकरूप स्वभाव से परिणमता हुआ आत्मा शुद्धात्मा को करता है।—इस प्रकार अशुद्धता में तथा शुद्धता में अन्य कारकों से तो निरपेक्षता है और यहाँ तो शुद्धदृष्टि से ज्ञानभवन में अशुद्ध कारकों का अभाव ही है; शुद्ध कारकों में भी भेद डालकर विकल्प की क्रिया में अटके, ऐसा ज्ञान के परिणमन में नहीं है।

प्रवचनसार, गाथा १६ में, स्वयमेव छह कारकरूप होकर सर्वज्ञ हुए आत्मा को 'स्वयंभू' रूप से वर्णन करते हुए आचार्य भगवान ने अद्भुत बात समझायी है। स्वयं ही शुद्ध उपयोग के प्रभाव से कर्ता-कर्म-उत्कृष्ट साधनरूप करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण ऐसे छह कारकररूप होकर केवलज्ञानरूप परिणमता होने से भगवान आत्मा 'स्वयंभू' है। निश्चय से आत्मा को पर के साथ कारणपने का सम्बन्ध नहीं है; तथापि अपने शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये बाह्य सामग्री शोधने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ परतन्त्र और खेदखिन्न क्यों होते हैं ? अज्ञानी पर से निरपेक्षरूप से ज्ञान और आनन्दरूप परिणमने के अपने स्वभाव को नहीं जानता और बाहर के साधन द्वारा मुझे कुछ शुद्धता मिलेगी—ऐसी पराश्रयबुद्धि से आकुल-व्याकुल हुआ करता है, कहीं उसके परिणाम स्थिर नहीं होते, स्थिर होने का धाम तो आत्माराम है, उसे तो वह जानता नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान की अभेद अनुभूति में कर्ता-कर्म इत्यादि कारकों का भेद नहीं रहता, भेदरूप कारकों की क्रिया वहाँ अस्त हो जाती है।

प्रवचनसार, गाथा १२६ में कहते हैं कि—बन्धमार्ग तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है। जब मैं संसारी था, तब (अज्ञानदशा में) भी मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं था, तब भी मैं अकेला ही कर्ता था। अभी भी (मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में) भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ। इस प्रकार बन्धमार्ग में तथा मोक्षमोक्षमार्ग आत्मा अकेला ही है।—ऐसा भेदज्ञान करनेवाले जीव को शुद्धतारूप परिणमन होता है। पर से भिन्नता जानकर स्व में एकता की, वहाँ शुद्धता प्रगट हुई।

यहाँ आत्मा का ज्ञानस्वभाव बताने के लिये उसमें विकार का अकर्तापना कहा। पर से भिन्नता जानने का फल भी यह है कि स्वसन्मुख होकर विकार का अकर्ता हुआ। इस प्रकार हजारों शास्त्रों का तात्पर्य वह अन्त में एक ही आकर खड़ा रहता है कि स्वभाव में उपयोग को एकाग्र करना। उसमें पर की भिन्नता भी आ गयी और विकार का अकर्तापना भी आ गया।

विकार का साधन आत्मा के स्वभाव में नहीं, तथा विकार का साधन परवस्तु नहीं; उस-उस समय की अवस्था के अशुद्ध कारकों द्वारा विकार होता है। शुद्धता के कारक हों, ऐसी छह कारक शक्तियाँ आत्मा में है, उनका वर्णन अब आयेगा।

जैसे ऊँची कीमत का हीरा कसौटी पर चढ़े, वहाँ उसकी जो रज पड़ती है, वह भी उत्कृष्ट जाति की होती है; उसी प्रकार यहाँ चैतन्य हीरा स्वानुभव की कसौटी पर चढ़ा है, उसके लक्ष्य से उसके प्रेमपूर्वक के श्रवण में, बहुमान में भी उत्कृष्ट पुण्य बँधता है। चैतन्य के बहुमान के भाव में जो पुण्य बँध जाये, वह लोकोत्तर होता है, और उसकी अन्तरंग रुचि से मोक्ष प्राप्त होता है। चैतन्य के विराधक को अमुक हद से उत्कृष्ट पुण्य नहीं बँधता। ऐसा होने पर भी मूल कीमत पुण्य की नहीं है, चैतन्य हीरा की ही कीमत है।

ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि होने पर पर्याय में विकार के अभावरूप परिणमन हुआ, विकार का कर्तृत्व टला, कारक के भेद मिटे। अहा! शास्त्र के पठन में से उसके साररूप ऐसा आत्मा निकाले अर्थात् कि लक्ष्य में ले तो सच्चा समझा। उससे उल्टा निकाले और राग के आश्रय में रुके तो वह शास्त्र को समझा नहीं, उसे शास्त्र का सार निकालना नहीं आया। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि जिसके परिणमन में विकल्प का अभाव है। द्रव्य-गुण में तो विकार नहीं था, उसका भान होने पर पर्याय में भी विकार नहीं रहा। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों विकाररहित हुए। ऐसा आत्मा का स्वभाव है। जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं, प्रकाश के पुंजरूप सूर्य है; उसी प्रकार यह चैतन्यसूर्य अनन्त शक्ति की किरणों से ज्वाल्यमान है, उसमें रागरूप अन्धकार नहीं है।

कर्ता और कर्म एक पदार्थ में ही होते हैं, भिन्न पदार्थ में नहीं। यहाँ ज्ञानलक्षणरूप

आत्मा को और विकार को एकपना नहीं, अभिन्नता नहीं, इसलिए कर्ताकर्मपना भी नहीं। दोनों की जाति ही अलग है, वहाँ एकत्व किस प्रकार हो ? ऐसे आत्मस्वभाव का लक्ष्य हुआ, वहाँ उसमें विकार का कर्तापना और उसमें एकताबुद्धि कैसे रहे ?—रहे ही नहीं। इस प्रकार विकारी क्रियारहित जो निर्मलभावरूप परिणमन हुआ, वह भावशक्ति का कार्य है। भावशक्ति का यह निर्मल परिणमन विकारी कारकों की क्रिया को अनुसरण नहीं करता, अभेदस्वभाव को ही अनुसरकर वह परिणमता है; विकार को अनुसरती क्रिया का उसमें अभाव है। 'स्वयंभू' के वर्णन में यह बात आ गयी है। स्व में उपयोग को एकाग्र करके आत्मा स्वयं-भू (स्वयं ही परिणमकर) केवलज्ञानरूप प्रगट हुआ। राग के और शरीर की क्रिया के साधन से वह प्रगट हुआ, ऐसा नहीं है।

जैसे आँख द्वारा खड्डा नहीं खोदा जाता, उसी प्रकार आत्मा चैतन्यचक्षु है, उसके द्वारा जड़ के काम और विकार के काम नहीं होते। चैतन्यचक्षु में विकार का कर्तृत्व मानना, वह तो आँख से धूल उठाने जैसा है। खड्डा खोदने की क्रिया को आँख जाने सही, परन्तु आँख स्वयं कहीं खड्डा नहीं खोदती, उससे वह भिन्न ही रहती है; उसी प्रकार ज्ञानचक्षु विकार को जाने भले ही, परन्तु वह विकार में तन्मय होकर उसे करने जाये नहीं, उससे भिन्न ही रहे, ऐसा उसका स्वभाव है।

सर्वज्ञदेव ने कहे हुए आत्मा का यह वर्णन है। आत्मा का लक्षण चैतन्य है। चैतन्य की अस्ति में विकल्प की नास्ति है। चौथे गुणस्थान में आत्मा का ऐसा परिणमन धर्मी को प्रगट हुआ है। रागसहित रहना, वह सम्यग्दर्शन नहीं, रागरहित परिणमन, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के साथ उस काल में राग हो भले, परन्तु वह सम्यग्दर्शन से भिन्नरूप से है, एकरूप से नहीं। राग में एकता रखकर सम्यग्दर्शन नहीं होता।

विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकररूप से विराजमान श्री सीमन्धर भगवान, जिनके निकट सौ इन्द्र भक्तिपूर्वक आकर श्रवण करे, उन भगवान के पास जाकर कुन्दकुन्दस्वामी यह अद्भुत आत्मवैभव लाये हैं; स्वयं स्वतः अनुभव करके भरतक्षेत्र के जीवों को यह 'आत्मवैभव' दिया है। जगत के जीवों को अपने आत्मा के वैभव की खबर नहीं। अरे! ऐसा महिमावन्त आत्मतत्त्व, उसे साधने की जीव को निवृत्ति क्यों नहीं मिलती! दूसरे

प्रयोजनरहित उपाधि में लगा रहता है परन्तु भाई! तेरे आत्मा की अद्भुतता तो देख। अहो! चैतन्य का कोई अद्भुत आनन्दकारी स्वभाव है, उसे तो तुझमें देख। उसमें विकार की क्रिया नहीं, जगत की परभाव की कोई उपाधि नहीं। विकार की क्रिया से रहित निजानन्द में केलि करता हुआ तेरा चैतन्यतत्त्व परिणम रहा है, उसे अन्तर में देख।

अन्तर्मुख ज्ञान में आत्मा की प्रसिद्धि है, राग में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं, परकारकों की अपेक्षा रखे बिना और भेद को अवलम्बन किये बिना आत्मा अपने अनन्त गुण की निर्मलपर्याय से परिणमनेवाला है। ऐसे एक निजात्मा को जिसने जाना, उसने दुनिया में जाननेयोग्य सर्व को जान लिया है; उसने सिद्ध को जाना, उसने अरिहन्तों को पहिचाना। उसने नौ तत्त्व का सार जाना, उसने मुनि को पहिचाना। और जिसने ऐसे आत्मा को जाना नहीं, उसका दूसरा सर्व जानपना भी झूठा है, उस जानपने में आत्मकल्याण नहीं है। अनन्त गुण-पर्याय के वैभववाले आत्मा को जिसने जाना, उसने चौदह ब्रह्माण्ड के सार को जान लिया। अहा! आत्मा को जानने में अन्तर्मुख उपयोग का अनन्त पुरुषार्थ है; उसमें तो मोक्षमार्ग आ जाता है। स्व में जो सन्मुख हुआ, उसने पर से सच्ची भिन्नता जानी, इसलिए वास्तविक भेदज्ञान हुआ। ऐसी दशा गृहस्थपने में भी धर्मी को होती है। वह धर्मी निर्मलपर्यायरूप से अपनी भावशक्ति से ही परिणमता है। इस प्रकार भावशक्ति बतलायी। अब क्रियाशक्ति में अभेद कारकों की क्रिया बतलायेंगे।

भावशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

अहा! अनन्त शक्तिवाले आत्मा को लक्ष्य में ले, उसे विकार का प्रेम कैसे रहे? जिसे मोक्ष की लगन है, जिसे आत्मा के वैभव की लगन है, अनुभव की धगश है, ऐसे मोक्षार्थी जीव को आचार्यदेव ने परम करुणा से आत्मवैभव दिखलाया है। स्वानुभूति द्वारा ऐसा आत्मवैभव प्राप्त होता है।

हम हमारे आत्मवैभव को साधने में लवलीन हैं

[४०]

क्रियाशक्ति

कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रिया-शक्तिः।

कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति।४०।

अहा! वे दृश्य कैसे होंगे जब कुन्दकुन्दस्वामी और अमृतचन्द्रस्वामी जैसे धर्मधुरन्धर दिगम्बर सन्त हाथ में कमण्डल और मोरपिच्छी लेकर इस भरतभूमि में विचरते होंगे और ऐसा आत्मवैभव जगत के जीवों को दिखलाते होंगे! वे वीतरागमार्गी सन्त मानो सिद्धपद को साथ लेकर घूमते हों.... उनकी परिणति अन्तर्मुख होकर क्षण-क्षण में सिद्धपद को भेंटती थी।—ऐसे मुनियों ने तीर्थंकरदेव का शासन टिकाया है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में एक ऐसी क्रियाशक्ति है कि अपने निजकारकों को अनुसरकर होनेवाले निर्मल भाव की क्रियारूप से वह परिणमती है। पहले भेदरूप विकारी छह कारकों की क्रिया का निषेध किया और यहाँ निर्मल अभेद कारकों के अनुसार क्रिया की बात है। स्वयं ही छह कारकरूप से परिणमता आत्मा सम्यग्दर्शनादि भावरूप परिणमने की अपनी क्रिया करता है; वह बाहर के किसी कारक की अपेक्षा नहीं रखता तथा भेद को नहीं अवलम्बता; विकल्प को—विकार को वह अपने कारक (साधन) नहीं बनाता। आत्मा की क्रिया आत्मा के ही कारकों को अनुसरती है, दूसरे किसी को अनुसरती नहीं। तथा आत्मा अपने निर्मलभाव की क्रिया द्वारा विकार का कारक नहीं होता। ऐसी क्रियाशक्तिवाला आत्मा ज्ञानमय है।

आत्मा सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान इत्यादि निर्मलपर्यायोंरूप कार्य को अपने साधन से करे, ऐसी आत्मा की सामर्थ्य है। अपने ही कारकों को अनुसरकर निर्मलभावरूप से परिणमने की क्रिया आत्मा करता है।

- ✦ अपनी धर्मपर्याय का आत्मा ही कर्ता;
- ✦ धर्मपर्यायरूप परिणमित आत्मा ही कर्म;
- ✦ धर्मपर्याय होने का उत्कृष्ट साधन आत्मा;
- ✦ धर्मपर्याय लेने के पात्ररूप सम्प्रदान भी आत्मा;
- ✦ धर्मपर्याय में ध्रुव-अपादानरूप भी आत्मा; और
- ✦ धर्मपर्याय का आधार भी आत्मा;
- ✦ उसका स्व-स्वामीपना भी आत्मा के साथ।

—इस प्रकार आत्मा स्वयं अपने ऐसे छह कारकों को अभेदरूप से अनुसरता हुआ परिणमन क्रिया को करता है। उस क्रिया में कोई विकल्प नहीं। निर्मलपर्याय का कर्ता होने के लिये विकल्प करना पड़े, ऐसा नहीं है। जैसे सिद्ध भगवन्त विकल्परहित ही कर्ता होकर अपनी सिद्धत्वपर्याय को किया ही करते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा विकल्प बिना ही अपने निर्मल भावरूप क्रिया का कर्ता होने की, उसका साधन होने

की, छहों काकररूप होने की शक्तिवाला है। विकल्पों में ऐसी शक्ति नहीं कि आत्मा की निर्मलपर्याय के लिये वह कारकरूप हो।

मैं चेतनेवाला, मैं मुझे चेतता हूँ, मैं मेरी चेतना द्वारा चेतता हूँ—ऐसे स्वसंवेदन में अभेदरूप से छहों कारक समाहित हो जाते हैं; मैं भी, चेतनेवाला, मैं मुझे चेतता हूँ, मैं मेरी चेतना द्वारा चेतता हूँ—ऐसे कारकभेद के विकल्प स्व-संवेदन में नहीं होते। निर्विकार क्रिया में छहों कारकोंरूप आत्मा परिणमता है, परन्तु कारक के विकल्परूप से वह आत्मा परिणमता नहीं। ऐसे आत्मा के स्वसंवेदन में 'भाव' और 'क्रिया' दोनों समाहित होते हैं। विकल्प की क्रिया की अपेक्षा बिना ही उसके भाव का भवन होता है। ऐसा भाव-स्वभाव है, और अपने अभेदरूप छहों कारकों के अनुसार होती निर्मल क्रियारूप से भी वह परिणमता है, ऐसा उसका क्रियास्वभाव है। निर्मल परिणति की क्रिया को करने का आत्मा का स्वभाव है, उसके कारकों को वह अनुसरता है; परन्तु विकार के कारकों की क्रिया को करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसके कारकों को वह अनुसरता नहीं। पररूप नहीं परिणमता, विकाररूप नहीं परिणमता, भेद को अवलम्बनकर नहीं परिणमता, निर्विकारीपर्याय की क्रियारूप अभेद को अवलम्बता हुआ परिणमे, ऐसी दिव्यशक्तिवाला अद्भुत देव आत्मा है। भेदरूप-व्यवहाररूप-विकल्परूप क्रिया को वह अनुसरता ही नहीं, फिर वह उसका साधन कैसे हो? स्वभाव के कारकों द्वारा निश्चयधर्मरूप से परिणमने का आत्मा का स्वभाव है और व्यवहार के विकल्पोंरूप न परिणमने का स्वभाव है। अनेकान्त द्वारा जिनदेव ने ऐसा आत्मा प्रसिद्ध किया है।

अहो! स्वानुभूति में ऐसे आत्मा की प्रसिद्धि होती है, वह महा आनन्ददायक है। सन्तों ने अपने अनुभव में लेकर ऐसा आत्मा प्रसिद्ध किया है और वाणी द्वारा जगत के जीवों के लिये भी उसे प्रसिद्ध किया है। समयसार की इस टीका का नाम '**आत्मख्याति**' है। आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि, आत्मा का अनुभव।—उसकी पद्धति सन्तों ने बतलायी है। इस समयसार में उसका उत्कृष्ट वर्णन है। जैसे चक्रवर्ती के नौ निधान अखूट हैं, वे कभी समाप्त नहीं होते, उसी प्रकार आत्मा में अपार अक्षय चैतन्यनिधान

हैं, अनुभव द्वारा उन्हें खोला ही करो, परन्तु वे कभी समाप्त नहीं होते। जगत को ऐसा आत्मवैभव सर्वज्ञदेव ने खुल्ला करके बतलाया है। अहो! यह तो वीतरागी सन्तों के अन्तर के अनुभव की बात है। इसके भाव समझने के लिये अन्तर में बहुत गहरा मन्थन चाहिए। अन्दर में मन्थन बिना ऐसा आत्मा अनुभव में नहीं आता। आत्मा की समझ के लिये और अनुभव के लिये अन्दर में बहुत उग्र प्रयत्न होता है; जगत से कितनी उदासीनता और चैतन्य की कितनी प्रीति हो! तब आत्मा अनुभव में आता है।

कितने दिन में अनुभव होता है?

जैसी अपनी रुचि की उग्रता। किसी को अन्तर्मुहूर्त में ही अनुभव होता है। परन्तु उसके लिये अवधि नहीं होती कि इतने दिन में अनुभव हो जाये तो ही करना है। रुचिवाली वस्तु के प्रयत्न में मर्यादा नहीं होती, काल की मर्यादा नहीं होती। यद्यपि वास्तविक मुमुक्षु को रुचि की उग्रता तो ऐसी होती है कि आज ही—अभी ही आत्मा में उतरकर उसे अनुभव में लूँ। फिर प्रयत्न होते-होते जरा देरी लगे तो वह थककर प्रयत्न छोड़ नहीं देता, परन्तु अधिक से अधिक उग्र प्रयत्न द्वारा उद्यम करके अन्त में साक्षात् आत्मा का अनुभव करता है। सच्ची रुचि के प्रयत्न द्वारा ऐसा अनुभव अवश्य होता है। वास्तविक आत्मार्थी ऐसा दृढ़ निश्चयवाला होता है कि अन्तर्दृष्टि से आत्मा को देखकर ही रहता है, तब तक बाहर निकलना नहीं, रुचि को अन्यत्र कहीं जाने देना नहीं। एकधारा ऐसा प्रयत्न करनेवाले को आत्मा के आनन्द की प्राप्ति अवश्य होती है। ऐसे अन्तर के उग्र प्रयत्न बिना आत्मा अनुभव में आता नहीं। भाई! विकल्पातीत भगवान आत्मा, आनन्द का नाथ, उसे तूने पूर्व में कभी अनुभव में लिया नहीं, उसे अनुभव में लेने का यह अवसर है। इसलिए हे प्रियवर! अभी तू आलस्य करना नहीं, प्रमादी होना नहीं।

मुझे मेरे आत्मा का धन्धा करना है, बाहर का धन्धा करना नहीं है। बाहर का धन्धा आत्मा में नहीं है। जिसके व्यापार से अर्थात् कि जिसमें उपयोग को जोड़ने से आत्मा को आनन्द का लाभ हो, ऐसा व्यापार मुझे करना है। बाहर में उपयोग भ्रमाते हुए तो अनन्त काल व्यतीत हुआ परन्तु आनन्द नहीं मिला, इसलिए हे जीव! अब तेरे

उपयोग को अन्तर में जोड़। भाई! तेरी चैतन्यवस्तु की अपार महिमा है। अन्तर में नजर करके तेरी चैतन्य चीज़ को देख तो सही! अरे, स्वयं अपने को न देखे, वह कैसी बात! जो चैतन्यवस्तु को नहीं देखता, उसने आत्मा को वास्तव में नहीं माना है।

✦ शरीर इत्यादि अजीव के साथ आत्मा को कर्ताकर्मपना जो मानता है, उसने अजीव के साथ आत्मा की एकता मानी, अर्थात् कि आत्मा को अजीव माना।

✦ रागादि विकार के साथ आत्मा को जो कर्ताकर्मपना मानता है, उसने आत्मा और आस्रव को एक माना, अर्थात् कि आत्मा को अशुद्ध ही माना।

✦ आत्मा में क्रियाशक्ति है, यह सही, परन्तु वह शक्ति ऐसी नहीं कि जड़ की क्रिया को और राग की क्रिया को करे। उस क्रियाशक्ति द्वारा तो आत्मा अपने स्वभावभूत कारकों को अनुसरता हुआ निर्मल भावरूप से परिणमता है। उन निर्मल भावों के साथ आत्मा को एकता है, इसलिए उसमें ही कर्ताकर्मपना है।

इसी प्रकार कर्ता-कर्म की भाँति साधन में भी समझना चाहिए। जिसने जड़ की क्रिया को अपनी पर्याय का साधन माना, उसने आत्मा को जड़ से भिन्न नहीं जाना; जिसने शुभराग की क्रिया को अपनी ज्ञानपर्याय का साधन माना, उसने आत्मा को राग से भिन्न नहीं जाना।

जड़ को और विकारी राग को अपने धर्म का साधन मानने से कितनी गम्भीर बड़ी भूल होती है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं। भाई! जड़ को और विभाव को आत्मा का साधन मानने से तेरी मिथ्या मान्यता में पूरा आत्मा ही जड़रूप और विभावरूप मान लिया जाता है, और अनन्त गुण के निर्मलस्वभाव का नकार हो जाता है,—यह कैसी बड़ी भूल है! यदि चेतनस्वभाव को जड़ से और विभाव से भिन्न जाने तो वह जड़ को और विभाव को अपना साधन माने नहीं, क्योंकि साधन भिन्न नहीं होता। अपना साधन अपने से अभिन्न होता है।

अहो! यह तो अपने आत्मा के लिये अन्दर में शान्ति से समझने की वस्तु है और उसे समझने का फल सादि-अनन्त आनन्द है। उस महा आनन्द की क्या बात! वह आनन्द आत्मा में से प्रगट हुआ, सो प्रगट हुआ; अब सदाकाल आत्मा उस आनन्द में

मग्न रहेगा। दु:ख का अभाव हुआ, वह ऐसा अभाव हुआ कि फिर कभी दु:ख नहीं होगा। जिसको समझने का ऐसा महान फल, उस आत्मस्वभाव की महिमा की क्या बात! ऐसे आत्मा को अनुभव में लेने से सम्यक्त्वादि अमृत प्रगट होता है और अनादि का मिथ्यात्वादि का जहर उतर जाता है।

सुखी होना हो, उसके लिये यह एक ही रास्ता है, बाकी तो सब दु:खी होने के रास्ते हैं। भगवान जिस रास्ते से मोक्ष प्राप्त हुए, वह यह रास्ता है। सन्तों ने अपने अन्तर में देखा हुआ यह मार्ग जगत को उपदेशित किया है कि हे जीवों! नि:शंकरूप से इस मार्ग पर चले आओ। यह भगवान के घर की बात है, भगवान के घर का यह वैभव है, और आत्मा को भगवान बनाने की यह पद्धति है। वाह रे वाह! वीतरागी सन्तों ने अन्दर में अपने काम तो किये और वाणी में भी अलौकिक कथन आ गया है।—जगत के इतने महा भाग्य हैं!

अपने ही छह कारकों से अनन्त गुण के वीतरागभावरूप से परिणमने का आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव का भान होते ही दूसरे सभी कारकों को (–व्यवहार साधनों को) अनुसरने की बुद्धि छूट जाती है। वे कोई बाह्य साधन हों तो उन्हें अनुसरण कर मेरी निर्मलदशा हो, ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं रहती। अपने अभेदकारकों को अनुसरते हुए निर्मलभावरूप क्रिया उसे हुआ करती है।

क्रियाशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

[४१]

कर्मशक्ति

प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः।
प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव उसमयी कर्मशक्ति।४१।

यहाँ आचार्यदेव ने आत्मा का वैभव बतलाकर चैतन्य दरबार खुल्ला किया है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझने से आनन्द की उत्पत्ति होती है। यह तत्त्व बहुत गम्भीर है; अन्दर बहुमान करके समझे, तब इसकी गम्भीरता समझ में आये, ऐसी है। ज्ञानियों के पेट (अर्थात् कि अनुभव) बहुत गहरे हैं, ऊपर-ऊपर से वह हाथ आ जाये, ऐसा नहीं है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा की बहुत-बहुत शक्तियों का वर्णन करते हुए अब अन्तिम छह शक्तियों में छह कारकरूप होने का स्वभाव बतलाते हैं, फिर अपने स्वभाव का ही स्वामित्व बतलाकर आचार्यदेव यह वर्णन पूरा करेंगे। उसमें पहले कर्मशक्ति की बात है। आत्मा में ऐसी शक्ति है कि अपना जो कार्य हुआ, उस-मय स्वयं वर्तता है। कर्म अर्थात् कि ज्ञानभावमय जो कार्य हुआ, वह कर्म आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा उस भावमय है। वह भाव 'सिद्धरूप' है—अर्थात् कि उस समय कर्मरूप से प्राप्त हुआ निश्चित भाव है। उस कर्मरूप हो, ऐसी शक्ति आत्मा में स्वयं में है। दूसरा कोई कर्ता होकर इस आत्मा को कर्म बनावे, ऐसा नहीं है। पर्याय में कर्मरूप (कार्यरूप) जो भाव प्राप्त हुआ है, उसरूप आत्मा स्वयं परिणमा है। अनन्त गुणों में स्वाभाविक कार्य प्रगट हो, उस कार्यरूप आत्मा परिणमे, ऐसी आत्मा की कर्मशक्ति है। जो निर्मल भाव हुआ है, उसे 'सिद्धरूप भाव' कहा जाता है, वह भाव उस समय कर्मरूप से प्राप्त हुआ है, अर्थात् कि आत्मा स्वयं कर्मरूप से परिणमता हुआ उसरूप हुआ है।

कर्म अर्थात् कार्य; निर्मलपर्याय, वह आत्मा का कर्म है। भगवान आत्मा में छह कारक अपने हैं, इसलिए आत्मा की पर्याय अपने से ही सिद्ध है; उस स्वपर्यायरूप कार्य का कर्ता आत्मा है। देखो! यह सच्चा कार्यकर्ता! लोगों में तो 'कार्यकर्ता' के नाम से मात्र बाहर के कार्यों का अभिमान करते हैं, परन्तु कहीं उस कार्य को आत्मा कर नहीं सकता। अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि स्वकार्य को जो करता है, वही सच्चा कार्यकर्ता है और वही सच्चा 'सुधारक' है, क्योंकि अनादि से नहीं प्रगट हुई ऐसी शुद्धपर्याय प्रगट करके अपने आत्मा में उसने अपूर्व सुधार किया है। अपनी पर्याय को सुधारे, वही सच्चा सुधारक है।

यहाँ 'सिद्धरूप हुए भावमय कर्मशक्ति' ऐसा कहकर सिद्ध हुई निर्मलपर्याय को द्रव्य के साथ अभेद कर दिया। जहाँ आत्मा शुद्धस्वभाव से लक्ष्यगत हुआ, वहाँ निर्मल-निर्मल पर्यायें होने लगीं; उसमें निर्दोष श्रद्धा, निर्दोष आनन्द इत्यादि भाव प्रगट हुए। ऐसे शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों मिलकर आत्मा है। क्रम-क्रम से होती निर्मलपर्यायें और अक्रम से एकसाथ वर्तते अनन्त गुण, ऐसे अनन्त निर्मल गुण-पर्यायों का पिण्ड आत्मा है। ऐसे आत्मा में से एक भी निर्मल गुण को और पर्याय को कम माने तो उसने

पूरे आत्मा को माना नहीं, अर्थात् कि आत्मा सच्चे स्वरूप से उसे प्रसिद्ध नहीं हुआ। पर्याय अंश भी पूरे आत्मा को प्रसिद्ध करता है। आत्मा में से उसकी एक भी निर्मलपर्याय को निकाल दे तो पूरा द्रव्य खण्ड-खण्ड हो जायेगा, अभेद आत्मा प्रतीति में नहीं आयेगा। एक पर्याय में पूरा द्रव्य सिद्ध करने की सामर्थ्य है।

यहाँ जो कर्ता-कर्म-साधन इत्यादि वर्णन करते हैं, उसमें शुद्धभाव ही लेना। शुद्धभावरूप से परिणमित आत्मा, वही कर्ता; शुद्धभावरूप से परिणमित आत्मा, वही कर्म; शुद्धस्वभावरूप परिणमित आत्मा, वही उत्कृष्ट साधन,—इस प्रकार आत्मा में अभेदरूप से यह सब समाहित होता है। ज्ञान की एक अन्तर्मुख पर्याय पूरे द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रसिद्ध करती है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में अनन्त केवलज्ञानी की और अनन्त सिद्ध भगवन्तों की प्रतीति आ जाती है, क्योंकि वे सब भी ज्ञानभावरूप ही हैं। अरे! जिसकी एक पर्याय की इतनी सामर्थ्य, ऐसे निजस्वभाव की महत्ता न आवे और पर की महत्ता आवे—वह तो मोह है, अज्ञान है। भाई! तेरी चैतन्यवस्तु अपार महिमावाली है, उसकी महत्ता जानकर उसमें रत हो।

शक्तिवान ऐसा आत्मा, उसकी अनन्त शक्तियों की यह बात चलती है। जिसे जानने से और अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शनादि हों—ऐसे आत्मस्वरूप की यह बात है। आत्मा शरीर से भिन्न, वाणी से भिन्न, मन से भिन्न, जड़कर्म से भिन्न और राग से भी भिन्न ज्ञान-लक्षण से लक्षित, वह अन्तर्मुख उपयोग द्वारा लक्ष्य में आता है। इस प्रकार आत्मा को लक्ष्य में लेकर अनुभव करने से जो निर्मलपर्यायरूप भाव सिद्ध हुआ—प्राप्त हुआ, उस भावरूप आत्मा स्वयं परिणमा होने से आत्मा ही कर्म है। सम्यग्दृष्टि जीव का ऐसा कर्म है। सम्यग्दृष्टि कैसा कार्य करते होंगे?—तो कहते हैं कि निर्मल भावरूप से परिणमने का कार्य सम्यग्दृष्टि करते हैं। ऐसे कार्यरूप होने की शक्ति आत्मा में है; उसे यहाँ 'कर्मशक्ति' कही है।

पर के कर्मरूप आत्मा नहीं होता; राग के कर्मरूप भी आत्मा नहीं होता। पर कर्ता और मेरी पर्याय कर्म; राग, कर्ता और मेरी पर्याय कर्म—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। भाई! कर्मरूप से (कार्यरूप से, निर्मल भावरूप से) होने की शक्ति आत्मा में है,

इसलिए निर्मल भाव को प्राप्त करके (प्रगट करके) वह कर्मरूप स्वयं ही परिणमित हुआ है, किसी दूसरे के कारण से नहीं।

निर्मल अवस्था हुई, वह एक कर्म है; उस अवस्था के साथ आत्मा तन्मय होने से आत्मा ही कर्म है। स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही अपना कर्म। स्वयं अपने को करे ?— कि हाँ, आत्मा में ऐसी शक्ति है कि स्वयं कर्ता होकर निर्मलकार्यरूप से स्वयं अपने को करता है और उसका साधन भी स्वयं ही होता है। आत्मा के अचिन्त्यभावों के सामर्थ्य की जगत को खबर नहीं है। यहाँ आत्मा में ही कर्तापना, कर्मपना इत्यादि बतलाकर आचार्यदेव ने उसका सामर्थ्य प्रसिद्ध किया है। उस सामर्थ्य में विकार नहीं आता। विकार हुआ, उसे आत्मा प्राप्त नहीं करता, उस विकारभावरूप कर्मरूप आत्मा नहीं होता। आत्मा अपने निर्मलभावरूप कर्मरूप ही होता है।

अरे भगवान! तेरी निर्मलपर्यायरूप स्वकार्य के बदले तेरी दृष्टि पर के कार्य में कहाँ गयी ? आत्मा अज्ञानभाव से भी पर का कर्ता नहीं, वह विकार का कर्ता है। और शुद्धदृष्टि से अनुभव करने पर तो विकारी कर्मरूप होने पर भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। जड़कर्म से भिन्नता बतलाने के लिये रागादि को आत्मा का कार्य कहा, परन्तु शुद्ध स्वभाव से देखने पर उन रागादि कर्मरूप आत्मा नहीं होता, शुभाशुभरूप स्वयं नहीं परिणमता; शुद्धपर्यायरूप कर्मरूप हो, ऐसा ही उसका स्वभाव है। जब ऐसे शुद्ध कार्यरूप स्वयं परिणमा, तब ही भगवान आत्मा अनुभव में प्रसिद्ध हुआ और वही सच्चा आत्मा है—इसका नाम आत्मप्रसिद्धि और उसे आत्मा का वैभव प्राप्त हुआ कहा जाता है। पहले था तो सही, परन्तु अब अनुभव में आया।

चैतन्य परमात्मा परमानन्द से पूरा, अनन्त आत्मसम्पदा का धारक, उसका जिसे आदर नहीं, लक्ष्य नहीं, ध्यान नहीं, वह विकारी कार्य को अपने कर्मरूप मानता है, परन्तु उसके विकारी अंश में भी पर का करने की सामर्थ्य नहीं है। रागपरिणमन जितना ही अपने को माननेवाले को स्वभाव-शक्ति की खबर नहीं, स्ववैभव की उसे खबर नहीं। उसने पर्याय के विकारी अंश को ही आत्मा मान लिया है। यहाँ समझाते हैं कि भाई! इतना तू नहीं। विकाररहित निर्मलपरिणामरूप होने की तेरी सामर्थ्य है। तेरी

कर्मशक्ति में जड़ का कर्म नहीं, विकारी कर्म नहीं, निर्मल भावरूपी कर्म उस-रूप आत्मा स्वयं होता है, इसलिए उसे 'स्वयंभू' कहा है। ऐसे निर्मलकर्मरूप से होने की शक्ति पारिणामिकभाव में त्रिकाल है, उसे धरनेवाला आत्मा, उस आत्मस्वभाव के लक्ष्य से प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादि पर्यायें, वे सिद्धरूप भाव हैं। कर्मशक्ति के कारण आत्मा उस सिद्धरूप—विद्यमानरूप भावमय है। लोग कहते हैं कि कर्म की शक्ति है, यहाँ कहते हैं कि भाई! तेरे आत्मा में ज्ञानमय ऐसी कर्मशक्ति है कि जिससे वह निर्मल कार्यरूप होता है, तेरी कर्मशक्ति में जड़कर्म की शक्ति का तो सर्वथा अभाव है। अपनी कर्मशक्ति के बल से आत्मा सम्यग्दर्शनादि भावों को सिद्ध करता है, अर्थात् कि उस-रूप होकर स्वयं परिणमता है। सिद्धरूप भाव अर्थात् कि विद्यमान निर्मल भाव, उस-रूप हुआ आत्मा स्वयं अपना कर्म है। शुद्ध कार्य को ही यहाँ आत्मा का कर्म कहा है; अशुद्धता, वह आत्मा का कर्म नहीं।

भाई! तू ही तेरे स्वकर्मरूप होकर तेरे कार्य को सुधारनेवाला है। तेरी स्वशक्ति ऐसी है कि उसके आश्रय से कार्य सुधरे ही; कार्य अर्थात् पर्याय, वह स्वाश्रय से निर्मल होती ही है। कार्य बिगाड़ने की बात स्वाश्रय में है ही नहीं, क्योंकि विकारी कार्य आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। पर के कार्य को तो बिगाड़ने-सुधारने की बात ही आत्मा में नहीं है। स्वभाव का आश्रय किया, वहाँ आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से निर्मलकार्यरूप परिणमा ही करता है। आत्मा के अनुभव की शान्तिरूप निर्मल कार्य जिसे नहीं, वह बाहर के विकल्प को ही कार्य मानकर, उसमें ही शान्ति मानकर पड़ा है। परन्तु भाई! विकल्प में तेरी शान्ति नहीं; तेरी शान्ति तेरे स्वभाव के वेदन में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं।

धर्मी को अपने स्वानुभव से सम्यग्दर्शनादि कार्य सिद्ध हुआ है; वह जानता है कि हमारा यह कार्य हमारी कर्मत्वशक्ति के बल से ही हुआ है। शुद्ध गुण में शुद्धपर्यायरूप होने की सामर्थ्य है। आत्मपर्याय सुधरने का काम अपनी कर्मशक्ति से होता है। आत्मा स्वयं अनन्त निर्मल शक्तियों से भरपूर पूर्ण कलश है; जैसे स्वर्ण का कलश अमृतरस से भरपूर होता है, उसी प्रकार चैतन्यकलश (—कलशाकार आत्मा) अनन्त गुण के

आनन्दरस से पूर्ण भरपूर है। ऐसी पूर्णता के लक्ष्य से परिणमन करता हुआ आत्मा परमात्मा बनता है।

* * *

आत्मा में कार्यरूप होने के स्वभाव अर्थात् कि 'कर्मशक्ति' है, वह क्या करे? कि अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्यरूप स्वयं हो, आनन्दशक्ति के कार्य द्वारा स्वयं आनन्दरूप हो, ज्ञानशक्ति के कार्य द्वारा स्वयं केवलज्ञानरूप हो। इस प्रकार सर्व गुण निर्मलकार्यसहित वर्ते—ऐसी शक्ति आत्मा में है। आत्मा का कार्य होने के लिये दूसरे की आवश्यकता है?—तो कहते हैं कि नहीं; कार्यरूप स्वयं परिणमे—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही है, वह स्वभाव किसी दूसरे के कारण नहीं है। निर्मलकार्यरूप से होने के लिये आत्मा को दूसरे किसी का अवलम्बन नहीं है, दूसरे कोई बाहर के कारक नहीं; आप स्वयं अपने से ही छह कारकरूप होकर निर्मलभावरूप होता है। ज्ञानगुण द्वारा आत्मा स्वयं स्वयंभूरूप से स्व-पर प्रकाशकरूप परिणमता है; श्रद्धागुण द्वारा आत्मा स्वयं स्वयंभूरूप से निजस्वरूप की श्रद्धारूप परिणमता है; चारित्रगुण द्वारा आत्मा स्वयं अपने में स्थिर होनेरूप परिणमता है; आनन्दगुण द्वारा आत्मा स्वयं अपने निराकुल अतीनिद्रय आनन्दरूप परिणमता है। इस प्रकार अनन्त गुण के स्वकार्यरूप कर्मरूप आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से ही परिणमता है।

परन्तु, मिथ्याश्रद्धा-अज्ञान-राग-द्वेष इत्यादि विकारी कार्यरूप अज्ञानी परिणमता है, उसका क्या?—तो कहते हैं कि ऐसे विकारी कर्मरूप हो, ऐसी कोई शक्ति आत्मस्वभाव में नहीं है, वह तो अद्धर से अर्थात् कि स्वभाव से बाहर उस काल की पराश्रित पर्याय से विकार हुआ है। परन्तु यदि शक्तिसन्मुख हो तो विकाररहित कार्य प्रगट हो। ज्ञानी को भेदज्ञान के पश्चात् जो अल्प रागादि दिखते हैं, वे वास्तव में उनसे भिन्नरूप वर्तते हैं, एकपने नहीं; इसलिए वास्तव में तो वे रागादि भाव ज्ञानी का कर्म नहीं; ज्ञानी का कर्म तो शुद्धपर्यायरूप ही है, उस कार्यमय वे वर्तते हैं, वही ज्ञानी का प्राप्त किया हुआ सिद्धरूप भाव है।

अहा, देखो तो सही! यह तो चैतन्यसमुद्र उल्लसित हो रहा है; अनन्त शक्तिरूपी

रत्नों से भरपूर आनन्द के समुद्र को अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उल्लसित किया है। जैसे चन्द्रमा उगे, वहाँ समुद्र ज्वार से उछलता है; उसी प्रकार चैतन्यचन्द्र ऐसे अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इस आत्मख्याति टीका द्वारा चैतन्य के समुद्र को अनन्त निर्मल शक्तियों से उछाला है—वृद्धिगत किया है—प्रगट परिणमाया है। अहा! ऐसा आनन्द का समुद्र... उसमें हे जीवों! तुम मग्न होओ। जैसे सहज समुद्र रत्नाकर उल्लसित हो और ज्वार द्वारा अन्दर के रत्न उछलकर किनारे आ जायें—उन्हें कौन न ले? उसी प्रकार वीतरागी सन्तों ने इस पंचम काल में चैतन्यरत्नाकर को स्वानुभव द्वारा उल्लसित कर ४७ शक्तिरूपी रत्न बाहर निकालकर बतलाये हैं... उन्हें कौन न ले? ऐसी शक्ति द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाया तो उसे कौन न अनुभव करे! अहो! सन्तों ने महा उपकार किया है। जगत के चैतन्यनिधान जगत को दिखलाये हैं।

भगवान की परिणति में और साधक सन्तों की परिणति में चैतन्य का अद्‌भुत वैभव प्रगट हुआ है; अनन्त शक्ति की निर्मलतारूप अनन्त गुणरत्न उन्हें खिले हैं और उनकी वाणी में भी चैतन्य के वैभव का अद्‌भुत वर्णन आया है। अहो! अद्‌भुत निधिवाला चैतन्यरत्नाकर उल्लसित हो रहा है, उसमें डुबकी लगाकर अर्थात् कि स्वानुभूति करके सम्यग्दृष्टि उन उत्कृष्ट रत्नों को प्राप्त करता है। इस प्रकार निर्मलपर्याय में उल्लसित होकर चैतन्यरत्नाकर की प्रतीति द्वारा परमात्मा हुआ जाता है। अन्त में कलश २७३ में 'अहो! इस आत्मा का सहज अद्‌भुत वैभव!'—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने आत्मा की परम महिमा की है; अद्‌भुत से भी अद्‌भुत ऐसी आत्मा की स्वभावमहिमा विजयवन्त वर्तती है, उसे अनुभव करनेवाले धर्मात्मा विजयवन्त वर्तते हैं।

अनन्त गुणसहित आत्मवस्तु है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध है; और उसमें निर्मलपर्यायरूप कर्म भी आत्मा अपनी शक्ति से ही करता है। अपनी पर्यायरूप जो कर्म है, उसमय आत्मा स्वयं ही होता है, ऐसी उसकी कर्मत्वशक्ति है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भावरूप निर्मल कर्म कहाँ से प्राप्त होंगे?

—देह में से वे प्राप्त नहीं होंगे; राग में से वे प्राप्त नहीं होंगे; आत्मा के स्वभाव में ही ज्ञान के साथ ऐसी कर्मत्वशक्ति है कि उस शक्ति के बल से आत्मा स्वयं ही कर्मरूप

(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) परिणमता है। आत्मा का कर्म कोई दूसरा नहीं, दूसरे के कारण नहीं, आत्मा निर्मलभावरूप से परिणमता हुआ स्वयं ही अपना कर्म है।

आत्मा के स्वभाव के छह कारकों की यह अलौकिक बात है। स्वाधीनकारकों को पहिचानने से पराश्रितबुद्धि छूटकर परिणति अपने स्वभावसन्मुख ढलती है; उसमें आत्मा स्वयं निर्मल कर्मरूप से प्रसिद्ध होता है। व्यवहाररत्नत्रय के जो विकल्प हैं, उसमें आत्मा प्रसिद्ध नहीं होता, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल कार्य देने की सामर्थ्य नहीं है, वह तो राग है। राग में रत्नत्रयधर्म देने की सामर्थ्य कैसे हो? चैतन्यशक्ति में ही ऐसी स्वाधीन सामर्थ्य है कि सम्यग्दर्शनादि धर्मरूप परिणमकर अपना कर्म होता है। कर्ता स्वयं, कर्म स्वयं और साधन भी स्वयं ही।

अभी आत्मा की कर्मत्वशक्ति का वर्णन चलता है। कोई संयोग आत्मा की पर्यायरूप नहीं होते; रागादि विकल्प भी आत्मा की निर्मलपर्यायरूप नहीं होते; निजशक्ति के बल से आत्मा स्वयं निर्मलपर्यायरूप होता है, आत्मा स्वयं अपने में से उस निर्मल कार्य को प्राप्त करता है। भाई! तुझे तेरे सम्यक्त्वादि निर्मल कार्य के लिये कहीं अन्यत्र देखना नहीं रहता, तेरी शक्ति में ही देख।

क्षायिकसम्यक्त्व होते समय केवली और श्रुतकेवली भगवन्तों की समीपता ही होती है, यह नियम है; परन्तु इससे कहीं वह क्षायिकसम्यक्त्व उन सामनेवाले केवली-श्रुतकेवली का कर्म नहीं है, आत्मा ही स्वयं अपने स्वभाव से उसरूप परिणमित हुआ है, इसलिए वह आत्मा का ही कर्म है। कर्म अर्थात् निर्मलपर्यायरूप काम। अपने श्रद्धानस्वभाव के बल से आत्मा स्वयं क्षायिकसम्यक्त्वरूप होता है; स्वद्रव्य के आश्रय से उसकी प्राप्ति होती है; अन्तर में केवल स्वद्रव्य की समीपता है, और बाहर में केवली की समीपता है। सम्यग्दृष्टि ने अपनी दृष्टि में किसी परद्रव्य को समीप नहीं रखा; विकल्प को समीप में नहीं रखा, उन सबको तो दूर रखा है, अर्थात् कि अपने से भिन्न रखा है और अनन्त शक्तिमय निजस्वभाव को ही समीप रखा है, उसमें ही एकता की है, उससे किंचित् भी पृथक्ता नहीं रखी है; इसलिए उनसे दूर नहीं, वे सदा समीप ही वर्तते हैं।

देखो, यह धर्मात्मा की अन्तरदशा! चौथे गुणस्थान से लेकर धर्मी को ऐसी दशा होती है। वस्तु में निर्मलपर्यायरूप कर्म अपनी ही शक्ति से होता है, उसके बदले पर के कारण से होना मानने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। 'अर्थ' अर्थात् वस्तु का द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभाव; उसे स्वाधीन न मानने से पर के कारण से जिसने माना है, उसने अर्थ का (वस्तु का) अस्तित्व पर के कारण माना है, इसलिए उसकी मान्यता में अर्थ का अनर्थ हो गया। शुभराग में से शुद्ध उपयोग की प्राप्ति होना माने तो उसमें भी अनर्थ होता है। ज्ञानमय आत्मा, उसके अनन्त गुण और निर्मलपर्यायें, वे सब 'अर्थ' में समाहित होते हैं, परन्तु उसका अर्थपना यदि पर के कारण और राग के कारण माने तो अर्थ की स्वतन्त्रता पर बलजोरी होती है, शुद्ध अर्थ का अर्थपना नहीं रहता, 'अनर्थ' हो जाता है, अर्थात् कि वैसा माननेवाले जीव की पर्याय में अशुद्धता होती है, अहित होता है, वही अनर्थ है।

जो राग के कारण अपनी शुद्धता होना मानते हैं, वे अपनी स्वतन्त्र चैतन्यबादशाही देकर उसके बदले गुलामी लेते हैं। अरे! अपने स्वतन्त्र स्वभाव की ऐसी बात प्रेम से सुने नहीं, जाने नहीं, वह वस्तु को कब साधे? अपनी स्वाधीनता न सुहावे और पराधीनता की बात सुहावे—वह जीव स्वाश्रयी परिणति कहाँ से करेगा? मेरी दशा के सभी कारक मुझमें ही हैं, बाहर में कुछ मुझे शोधना नहीं है—ऐसी यदि अपनी सम्पूर्णता जाने तो स्वसन्मुख होकर स्वाश्रयी निर्मलदशा प्रगट हो। पर के आश्रय द्वारा और शुभराग द्वारा शुद्ध की प्राप्ति माने तो वह अनर्थ है, मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व, वही बड़ा अनर्थ है, क्योंकि सम्यक्त्व समान तीन लोक में जीव का हितकर नहीं और मिथ्यात्व के समान अहितकर दूसरा कोई नहीं।

यहाँ तो आचार्यदेव ने आत्मा का वैभव बतलाकर चैतन्य का दरबार खुल्ला किया है। चैतन्यदरबार आनन्द से भरपूर है—जिसमें अनन्त शक्तिसहित चैतन्यभगवान शोभित हो रहा है। कल भक्ति में बहिनों ने गाया था कि 'दरबार तुम्हारा मनहर है...' भगवान के समवसरण की शोभा तो अद्भुत होती है और यहाँ इस चैतन्यभगवान का मनोहर दरबार है। उस दरबार में प्रविष्ट होने पर अतीन्द्रिय आनन्द हुए बिना नहीं रहता।

जहाँ बारहवें गुणस्थान की वीतरागता हुई, वहाँ अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होगा

ही होगा.... यह सत्य। परन्तु वह कहाँ से होगा? पूर्वपर्याय में से नहीं होगा परन्तु पूर्ण शक्तिवाला भगवान आत्मा है, वह स्वयं अपनी कर्मशक्ति के बल से केवलज्ञानरूप परिणमेगा। केवलज्ञानरूप जो कर्म, उसरूप होने की आत्मा की शक्ति है, इससे केवलज्ञान होगा। पर्याय अपेक्षा से कहें तो केवलज्ञान, वह कर्म (कार्य) है, अभेद अपेक्षा से केवलज्ञानरूप से परिणमित आत्मा स्वयं अपना कर्म है; और अनुभूति के समय तो ऐसे कर्ता-कर्म इत्यादि के भेद भी नहीं रहते। अनन्त शक्ति का कार्य अभेद अनुभूति में समाहित हो जाता है। इसलिए अपने स्वभावसन्मुख होकर अनुभूति करना ही रहा; ऐसी अनुभूति करना, वही अरहन्तों का फरमान है, वही मोक्ष का मार्ग है। पर में से निर्मलता नहीं आती, इसलिए पर के सन्मुख देखना नहीं रहता। पूर्व की वीतरागपर्याय के कारण से भी वह केवलज्ञानपर्याय हुई—ऐसा नहीं है।

सिद्धरूप भाव अर्थात् कि उस समय में प्राप्त हुई निर्मलपर्याय, वह आत्मा का कर्म है अथवा आत्मा उसमय होने से आत्मा ही कर्म है। आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से उस कर्मरूप हुआ है। भाई! तेरी पर्याय की सिद्धि के लिये तू तेरे स्वभाव के सन्मुख देख। पर्याय के भेद को और गुणभेद को देखने में भी न रुक; अखण्डस्वभावी तेरी चैतन्यवस्तु को देख। अन्तरवस्तु का अवलम्बन कर। पर के सामने और विकार के सामने देखकर जो लाभ मानता है, उसे अपने द्रव्यस्वभावरूप भगवान का माहात्म्य नहीं आया। स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मलपर्याय को द्रवता है, ऐसा आत्मद्रव्य है। द्रव्य के अनन्त गुण अपनी-अपनी निर्मलपर्याय को द्रवने की सामर्थ्यवाले हैं, इसलिए उस पर्यायरूप कर्मरूप आत्मा स्वयं ही परिणमता है। ऐसी कर्मत्वशक्ति (कर्मरूप होने की शक्ति) आत्मा में है। 'ज्ञान' के अनुभव में वह इकट्ठी आ जाती है।

कर्मरूप से अर्थात् कि कहीं जड़कर्मरूप से आत्मा नहीं होता, परन्तु अपने निर्मलभावरूप कर्म की बात है, उस कर्मरूप आत्मा स्वयं परिणमता है। अपने शुद्ध छह कारक अपने में है। शास्त्र के शब्दों से पार, विकल्पों से पार, पूर्व की पर्याय से पार, अपनी वर्तमान स्वानुभूति में ही छहों कारक समाहित हो जाते हैं। यह भगवान तीर्थंकरदेव की बात है। तीर्थंकर भगवान ने साधा हुआ और कहा हुआ वस्तुस्वरूप ऐसा है।—ऐसा

वस्तुस्वरूप जानने से आनन्द की उत्पत्ति होती है। यह तत्त्व बहुत गम्भीर है! अन्दर बहुमान करके समझे, तब इसकी गम्भीरता समझ में आये, ऐसी है। ज्ञानियों के पेट (अर्थात् अनुभव) बहुत गहरे हैं। ऊपर-ऊपर से वह हाथ आ जाये, ऐसा नहीं है।

हे जीव! अनन्त शक्तिसम्पन्न तेरा आत्मा ही तेरा शरण है। पूर्व की पर्याय भी जहाँ शरणरूप नहीं, वहाँ विकार की और जड़ की शरण कैसी? अरिहन्तदेव इत्यादि की शरण व्यवहार से है, परमार्थ से अरिहन्तदेव ने बतलाया हुआ, रागरहित अरिहन्त जैसे आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव, वही अपना शरण है। रागादि भाव तेरा शरण नहीं और तेरा कारण भी नहीं।

प्रश्न : शुभराग शुद्धता का कारण तो है, क्योंकि बीच में शुभ आये बिना अशुभ में से सीधी शुद्धता किसी को नहीं होती।

उत्तर : अशुभ में से सीधा शुद्ध उपयोग नहीं होता, बीच में शुभ आता है—यह बात सत्य है, परन्तु इससे कहीं शुद्धता का कारण वह शुभराग साबित नहीं होता। यदि शुभराग शुद्धता का कारण हो, तब तो सभी जीवों को शुभराग के पश्चात् शुद्धता होनी चाहिए।—परन्तु क्या ऐसा होता है?—नहीं। और जिसे शुद्धता होती है, उसे वह निजशक्ति के साधन द्वारा ही होती है, रागसाधन द्वारा नहीं। इसलिए नियम है कि शुभराग वह वीतरागीशुद्धता का साधन नहीं है। अरे भाई! इतना तो विचार कर कि कार्य से विरुद्ध उसका साधन कैसे होगा? वीतरागता कार्य और उसका साधन राग—ऐसा तो किस प्रकार से बने? अरे! शुभराग द्वारा तो शुद्धता नहीं होती, परन्तु पहले समय की शुद्धता द्वारा भी दूसरे समय की शुद्धता नहीं हुई है। बारहवें गुणस्थान के कारण से तेरहवाँ गुणस्थान (केवलज्ञान) हुआ नहीं, परन्तु केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल में आत्मा स्वयं स्वयंभू उसके छह कारकरूप होकर केवलज्ञानरूप उत्पन्न हुआ है; स्वयं ही उस समय वैसे कर्मरूप परिणमित हुआ है।

भाई! लक्ष्य बाँध तेरे स्वभाव में, तो उसके लक्ष्य से सुलक्षणी पर्याय प्रगट हो जायेगी, बाकी सब तो विकल्प का और आकुलता का कारण है। स्वभाव में लक्ष्य को जोड़, तो फिर तुझे केवलज्ञान के लिये या सम्यग्दर्शन के लिये दूसरा कोई कारण शोधने

नहीं जाना पड़ेगा। 'मैं शुद्धोपयोग करूँ' ऐसे लक्ष्य से शुद्धोपयोग नहीं होता; ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर जहाँ पर्याय उसमें एकाग्र हुई, वहाँ शुद्धोपयोग वर्तता है। चैतन्यवस्तु में से आनन्दमय निर्मलपर्यायों का वहन हुआ करता है,—परन्तु कब ? कि उसमें लक्ष्य करे तब। यदि स्ववस्तु में लक्ष्य न करे तो विकारी पर्याय होती है। ('द्रव्य में तो शुद्धता ही भरी है, इसलिए द्रव्य में से तो शुद्धपर्याय ही आती है, परन्तु प्रगट होने के पश्चात् परलक्ष्य से अशुद्ध होती है'—ऐसा नहीं है; परन्तु पराश्रय से परिणमते आत्मा का उस समय का परिणमन ही ऐसा अशुद्ध हुआ है—अशुद्धता वह तो उस समय की पर्याय का धर्म है, वह नहीं तो द्रव्य-गुण में से आयी और नहीं पर के कारण से हुई; पर्याय की वैसी योग्यता है और पर्याय की योग्यता एक ही समय की होती है; दूसरे समय में वह नहीं रहती।)

अहो! आत्मशक्ति की महिमा की क्या बात! केवलज्ञान और अनन्त आनन्दरूप परिणमने की उसकी सामर्थ्य है। शक्तिरूप से जो प्राप्त है, उसकी पर्याय में प्राप्ति होती है। शक्ति में न हो तो पर्याय में भी आवे नहीं। शक्ति और व्यक्ति एक जाति के होते हैं। ज्ञानशक्ति की व्यक्ति ज्ञानरूप होती है, जड़रूप नहीं होती। जैसे आकाश की अवगाहनशक्ति अमाप है, उसकी विशालता की क्या बात!—उसके क्षेत्र की अनन्तता का माप नहीं। उसी प्रकार आत्मा की चैतन्यशक्ति अमाप है, उसके भावसामर्थ्य की क्या बात! साढ़े तीन हाथ जितना छोटा अरूपी आकार, तथापि उतने में अनन्त आकाश को जान लेने की कोई अचिन्त्य सामर्थ्य ज्ञान में है। अहो! ज्ञान की महिमा अमाप है। कुन्दकुन्दस्वामी जैसे सन्त सर्वज्ञता की महिमा से कहते हैं कि '**अहो हि णाणस्स महाप्पं**' अहो! ज्ञान की महिमा! (देखो, प्रवचनसार गाथा ५१)।

आत्मा के ज्ञाननिधान कोई अचिन्त्य हैं—समस्त जाने, तथापि जिसे विकल्प नहीं, जिसमें आनन्द इत्यादि अनन्त स्वभाव भरे हैं। (गुरुदेव बहुत गम्भीर महिमा से कहते हैं कि) अहा! स्वभाव... स्वभाव! भगवान, अद्भुत तेरा स्वभाव है। जिसमें नजर करने से ऐसे निधान प्रगट होते हैं कि निहाल हो जाया जाता है—ऐसा वैभव तेरे स्वभाव में है। परन्तु तेरे आलस्य से तूने उसे देखा नहीं... और अनन्त काल दुःख में गँवाया,

परन्तु भाई! अब इस तेरे चैतन्यनिधान को देखने का अवसर है; इस अवसर को तू चूकना नहीं.... आलस्य करना नहीं।

इन शक्तियों के शब्द संक्षिप्त हैं, परन्तु उसका वाच्य महान है। जैसे 'आत्मा' शब्द है तो ढाई अक्षर का है, परन्तु उसका वाच्य तो अनन्त शक्ति से भरपूर महान तत्त्व है; अन्तर्मुख ज्ञान की सामर्थ्य से वह वाच्य ज्ञात होता है। वाणी के जड़ शब्दों में कहीं ज्ञान नहीं, ज्ञान तो आत्मा में है; ज्ञान-पर्याय कहीं जड़ में नहीं जाती अथवा जड़ में से नहीं आती। तीर्थंकरप्रभु के केवलज्ञान की पर्याय कहीं दिव्यध्वनि के रजकणों में नहीं आ जाती; और गणधरादि की ज्ञानपर्याय कहीं उस दिव्यध्वनि के रजकणों में से नहीं आती; ज्ञान और वाणी दोनों का अत्यन्त भिन्न स्वतन्त्र परिणमन है। ज्ञानपर्यायरूप जो कार्य है, वह आत्मा का प्राप्य है, आत्मा उस पर्याय को कर्मरूप से प्राप्त करके स्वयं उसरूप परिणमित हुआ है। 'ज्ञान' वह किसका कार्य?—कि आत्मा का कार्य, वह कोई दूसरे का (निमित्त का और राग का) कार्य नहीं है।

देखो, यह आत्मा का कार्य बतलाया जाता है। कर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहाँ आत्मा के ज्ञानभाव के साथ वर्तती कर्मशक्ति की बात है। शरीरादि नोकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म—ये तो दोनों कर्म जड़ हैं, इनमें ज्ञानलक्षण नहीं रहता, इसलिए ये तो आत्मा से भिन्न हैं। और रागादि अशुद्धभावरूप जो कर्म है, उसमें भी ज्ञानलक्षण नहीं रहता, ज्ञान से वे भिन्न हैं, इसलिए वे भी आत्मा से भिन्न हैं। अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द इत्यादि शुद्धभावरूप जो आत्मा का कार्य है, उसे भी कर्म कहा जाता है, और ज्ञानस्वभावी आत्मा का वह वास्तविक कर्म है, उसमें ज्ञानलक्षण रहा हुआ है। ऐसे शुद्धभावरूप कर्म द्वारा आत्मा को पहिचाने तो उसकी सच्ची पहिचान होती है। आत्मा में अनन्त गुण की सामर्थ्य है, उसमें अपने शुद्ध कर्मरूप से स्वयं हो, ऐसी भी एक सामर्थ्य है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक जितनी शुद्धपर्यायें हुईं, वे सब आत्मा की कर्मशक्ति द्वारा हुई है.... उस-उस निर्मल पर्यायरूपी कर्मरूप आत्मा स्वयं परिणमित हुआ है।—ऐसे परिणमन के समय सच्चे देव-गुरु इत्यादि योग्य निमित्तों का सुमेल सहजरूप से होता है।

यह अपने स्वभाव की बात है, इसे समझ में लेने जैसी बात है। लोग कहते हैं

कि समझकर सही (हस्ताक्षर) करना.... अपने स्वभाव की बात समझकर 'सही' कर देना... 'सही' अर्थात् सच्चा, सत्य; स्वभाव को लक्ष्य में लेकर वह 'सही' करना अर्थात् कि ज्ञान में निर्णय करके ज्ञान को सत्य बनाना। 'सही' अर्थात् सत्य का स्वीकार; सम्यग्ज्ञान बिना स्वभाव का स्वीकार नहीं होता और सत्य का लाभ नहीं होता। इसलिए हे भाई! तू धीर होकर समझ... यह तेरे स्वभाव की तेरी बात है, तेरे घर की बात है। शुरु में नवीन लगेगी, परन्तु यह अपूर्व बात समझने से तुझे आनन्द होगा। जैसा आत्मा सन्तों ने अन्तर में साधा, वैसा ही जगत को दिखलाया है। भगवान ने ऐसा देखा है, जिनवाणीरूप शास्त्रों में ऐसा कहा है और स्वानुभव में भी ज्ञानियों ने ऐसा ही वस्तुस्वरूप अनुभव किया है। कोई विपरीत माने तो भी जो सत्य वस्तुस्वरूप है, वह अन्यथा हो, ऐसा नहीं है। जैसे कोई अज्ञानी मूढ़ता से आत्मा को जड़ माने परन्तु इससे कहीं आत्मा चेतन मिटकर जड़ नहीं हो जाता। राग द्वारा कोई सम्यग्दर्शनादि धर्म होना माने परन्तु इससे राग कहीं धर्म नहीं हो जाता। वस्तु स्वयं ही अपने स्वरूप को प्रसिद्ध करती है। अज्ञानी उसे अन्यथा मानता है, इससे कहीं वह अन्यथा नहीं हो जाती।

अहो! मेरे आत्मस्वभाव की शक्ति में से मेरा कार्य आता है—ऐसे स्वभाव की सामर्थ्य के ऊपर सीधी दृष्टि कर। अलौकिक सामर्थ्यवाला आत्मद्रव्य लक्ष्य में आने से पर्याय में भी वैसी सामर्थ्य खिल जायेगी। ज्ञानभाव में अलौकिक शक्तियाँ आचार्यदेव ने सिद्ध की हैं।

विकल्प हो—परन्तु वह ज्ञानस्वभाव से बाहर है, उसमें ऐसी शक्ति नहीं कि आत्मा की निर्मलपर्याय को कर दे। आत्मा में ही ऐसी कर्मशक्ति है कि वह सम्यग्दर्शनादि पर्यायरूप होता है। ज्ञान-आनन्द-वीर्य-प्रभुता इन सब कार्यों को करने की सामर्थ्य विकल्प में नहीं, आत्मा ही अपनी कर्मशक्ति द्वारा उन-उन निर्मल भावों को प्राप्त करता है—कहाँ से?-कि अपने में से ही।—यह बात अपादानशक्ति में बतलायेंगे।

आत्मा की कर्मशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

[४२]

कर्तृशक्ति

भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृत्वशक्तिः।

होनेपनरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति।४२।

अखूट आत्मवैभव सर्वज्ञदेव ने खुल्ला करके जगत को बतलाया है। अहो! यह तो वीतरागी सन्तों के अन्तर के अनुभव की बात है। उनके भाव समझने के लिये अन्तर में बहुत गहरा मन्थन चाहिए। अन्तर में मन्थन बिना ऐसा आत्मा अनुभव में नहीं आता। आत्मा की समझण के लिये और अनुभव के लिये अन्दर में बहुत उग्र प्रयत्न होता है, जगत से कितनी उदासीनता और चैतन्य की कितनी प्रीति हो!—तब आत्मा अनुभव में आता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें होनेपनेरूप ऐसा जो सिद्धरूप भाव, उसके भावकपनेमयी कर्तृशक्ति है। आत्मा कर्ता होकर क्या करे? कि अपने वर्तते निर्मल भाव को करे। ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा को लक्ष्य में लेने से उस-उस काल में जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, वह सिद्धरूप भाव है, उसका भावक आत्मा है। भावक अर्थात् कि भाव को करनेवाला कर्ता। अपना जो निर्मलभाव हुआ, वह कार्य है, उसका कर्ता होकर आत्मा उस भाव को भाता है। अपनी कर्तृत्वशक्ति से आत्मा स्वयं स्वाधीनरूप से अपने भाव को करता है।

अनन्त शक्तिमान आत्मा है, उसकी प्राप्ति के लिये अर्थात् कि उसके अनुभव के लिये उसका सच्चा स्वरूप समझना चाहिए; उसमें उत्साह होना चाहिए। उस चैतन्यस्वभाव की ओर के उत्साह के जोर से परिणाम उसमें एकाग्र होने से विकल्प टूट जाता है और निर्विकल्प अनुभव होता है। जैसे हीरा लेना हो, वह उसकी कीमत समझता है और हीरा की परीक्षा करता है। हीरा के बदले निंबोली अथवा काँच का टुकड़ा नहीं ले लेता; उसी प्रकार जिसे चैतन्यचिन्तामणि प्राप्त करना हो, उसे ज्ञानी के उपदेश अनुसार उसकी कीमत समझना चाहिए, उसकी अनन्त शक्ति की सामर्थ्य की महिमा जाननी चाहिए और अन्तर के वेदन से परीक्षा करके उसका स्वरूप समझना चाहिए। जड़ को और राग को चैतन्यस्वरूप मान ले तो सच्चा आत्मस्वरूप समझ में नहीं आता। कोई निंबोली को नीलमणि मान ले तो? उसी प्रकार राग को ही कोई आत्मा मान ले तो!—तो उस विपरीत मान्यता का सच्चा फल नहीं आता। कोई जहर को शक्कर मानकर खाये तो भी कड़वा ही लगता है। उसी प्रकार कोई विकार को आत्मस्वरूप मानकर वेदन करे तो उससे कहीं आत्मा की शान्ति वेदन में नहीं आती। इसलिए यथार्थ आत्मस्वरूप जैसा है, वैसा बराबर जानना चाहिए। सच्चे ज्ञान का ही सच्चा फल आता है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा कहा, वैसा आत्मा जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यक्चारित्र भी नहीं होता। क्योंकि अपना स्वरूप जाने बिना स्थिर किसमें होगा? और स्वरूप में स्थिर हुए बिना मुक्ति नहीं होगी।

✦ पूर्ण सुख मोक्ष बिना नहीं,

✦ मोक्ष, चारित्र बिना नहीं।

✦ चारित्र, सम्यक्त्व बिना नहीं।

✦ सम्यक्त्व शुद्धात्मा की पहिचान बिना नहीं।

इसलिए मोक्षार्थी को अत्यन्त उद्यमपूर्वक पहले शुद्धात्मा का वास्तविक स्वरूप जानना चाहिए।

यह भगवान आत्मा की भागवत कथा है। चैतन्यस्वरूप आत्मा के निधान बतलानेवाली, भगवान ने कही हुई यह भागवत कथा है। यह समयसार जैनधर्म का महा भागवत है; यही वास्तविक भागवत है, क्योंकि यह भगवान ने कहा हुआ है और यह भगवान का स्वरूप बतलाता है। साधारण लोग तो आत्मा का स्वरूप समझे बिना कहते हैं कि 'जीवो और जीने दो।'—परन्तु अरे भाई! क्या उसमें उसका जीवन नहीं है,—कि तू जिलायेगा तो ही वह जीयेगा? दूसरा, 'उसे जीने दो'—ऐसा माना, इसका आर्थ यह है कि आत्मा में अनादि-अनन्त स्वाधीनरूप से जीने की जो जीवनशक्ति है, उसे वह पहिचानता नहीं। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! प्रत्येक आत्मा में ऐसी जीवत्वशक्ति है कि दूसरे के बिना वह स्वयं अपने ज्ञान-आनन्दादि शुद्धभावप्राणों से जीता है। आत्मा की जीवनशक्ति का यह कार्य है कि ज्ञान-दर्शन-आनन्दमय जीवन प्रगट करके जीवे, ऐसा ज्ञानजीवन जीवो—ऐसा भगवान का उपदेश है और भगवन्त ऐसा जीवन जीते हैं। बाकी आयुकर्म द्वारा शरीर के संयोग से जीना, वह सच्चा जीवन नहीं; और शरीर का वियोग होने से कहीं आत्मा मर नहीं जाता। जड़ संयोग को और विकारी अंश को ही आत्मा का सर्वस्व मानकर, अज्ञानी उससे जीना मानता है और अपने ज्ञानजीवन को भूल जाता है, यह भावमरण है। यह भावमरण टालकर निर्मल चैतन्य उपयोगरूप आत्मजीवन प्रगट करने की आत्मा की सामर्थ्य है; आत्मा अपनी सामर्थ्य से ही कर्ता होकर अपने निर्मलस्वभाव को भाता है। ऐसे स्वरूप से आत्मा को जानना-मानना, वह मोक्षमार्ग है। वह सच्चा आनन्दमय जीवन है।

अनन्त गुणसागर चैतन्यरत्नाकर आत्मा में एक कर्तृत्वरत्न ऐसा है कि जिससे वह अपनी शान्त-अरागी चैतन्यपर्याय को दूसरे किसी की सहायता बिना करता है।

विकल्प के अवलम्बन बिना आत्मा अपनी निर्मलपर्याय के कर्तारूप से परिणमता है। शास्त्र और श्रुत के विकल्प, वे ज्ञानपर्याय के कर्ता नहीं, नौ तत्त्व के विकल्प वे श्रद्धापर्याय के कर्ता नहीं; व्रत के शुभविकल्प, वे चारित्रपर्याय के कर्ता नहीं। अपनी उन निर्मलपर्यायों के कर्तारूप से स्वतन्त्रपने आत्मा स्वयं परिणमता है, इसलिए आत्मा ही निजशक्ति से उसका कर्ता है। उन निर्मल भावों का भावक आत्मा है, दूसरा कोई नहीं। जो भावक है, वही कर्ता है। ऐसा निर्णय करे, उसे पराश्रयभाव टलकर स्वाश्रयभावरूप वीतरागता प्रगट होती है।

अहो! वीतरागमार्ग में वीतरागदेव ने वीतरागस्वरूप चैतन्यतत्त्व बतलाया है, उसके अवलम्बन से वीतरागपर्याय प्रगट होती है, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। उसकी रुचि और समझण भी जो न करे, उसे वीतरागमार्ग कहाँ से हाथ आवे? अनन्त काल से अपनी खोज स्वयं अपने में न करके पर में खोज कर-करके काल गँवाया है। मानो दूसरा मेरा कार्य कर देगा—इस प्रकार पर के सामने देखता रहा। भाई! तेरा स्वकार्य करने की सामर्थ्य तुझमें ही है। दूसरे किसी के कारण बिना तू स्वयं सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की तेरी दशा का कर्ता होकर परिणम—ऐसी स्वाधीन प्रभुता तेरे आत्मा में है। तेरी प्रभुता द्वारा ही तू तेरे कार्य का कर्ता है। ऐसी प्रभुता जाने, वह अपनी पर्याय में दूसरे का कर्तृत्व नहीं मानता और स्वयं दूसरे का कर्ता होना नहीं मानता; निर्मलपर्याय के कर्तृत्वरूप से ही उसका परिणमन होता है।

अहो! चैतन्य का पंथ स्वतन्त्र निराला है। निमित्त हो, व्यवहार के विकल्प हों, परन्तु वे कोई ज्ञानपर्याय के कर्ता नहीं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आनन्द इत्यादि निर्मल भावों का कर्तृत्व धर्मी के आत्मा में है; वस्तुस्वरूप से आत्मा स्वयं उनका कर्ता है। अहो! वीतरागीमोक्षमार्ग में रागरहित चारित्रपर्याय कोई अलौकिक है; कहाँ वह चारित्रपर्याय, और कहाँ विकल्प! देह की नग्नदशा और विकल्प, वे कहीं वीतरागचारित्रदशा के कर्ता नहीं हैं, तथापि वैसी चारित्रदशा के समय बाहर में यदि निमित्त हो तो वैसे ही होते हैं, परन्तु उन निमित्तों का कर्तृत्व धर्मी के आत्मा में नहीं है, धर्मी के आत्मा में तो निर्मलभाव का ही कर्तृत्व है। ज्ञान के परिणमन में जितने भाव समाते हैं, उनका ही

कर्तृत्व धर्मी को है, ज्ञान से बाहर के किसी भाव का कर्तृत्व धर्मी को नहीं है। हे भाई! यदि तू परभावों के कर्तृत्व में अटकेगा तो उनसे रहित निर्मल भाव को कब करेगा? अरे! तू चैतन्य, तेरे चैतन्यकार्य को चूककर पर का और विकार का कर्ता होने कहाँ जाता है? अन्तर्मुख होकर तेरे निर्मल ज्ञानभाव का कर्ता हो न! निर्मल भाव के स्वाधीन कर्तृत्वरूप से तेरा आत्मा शोभता है। तेरे निर्मल भाव का कर्तृत्व दूसरे किसी में नहीं है।

'भगवान!' (कोई दूसरा भगवान नहीं परन्तु इस देह में रहे हुए आत्मा को ही 'भगवान' कहकर सम्बोधन किया गया है, क्योंकि आत्मा स्वयं महिमावन्त वस्तु है और वही सर्वज्ञ वीतराग होकर भगवान होता है। परन्तु स्वयं अपना भगवानपना भूला है, इसलिए उसे आचार्यदेव कहते हैं कि भगवान!) एक बार सत्य का स्वीकार कर। तेरे आत्मा का सत्यस्वभाव जैसा है, वैसा तू जान। आत्मस्वभाव की परम महत्ता है; सन्त-महन्त उसकी ही महत्ता करते हैं। परम सत्य ऐसे आत्मस्वभाव को परम महत्ता आचार्यदेव ने दी है, अर्थात् कि उसका जैसा स्वरूप है, वैसा महान प्रसिद्ध किया है। इसलिए दिव्यशक्तिवाले तेरे आत्मा को तू लक्ष्य में ले। उसके लक्ष्य से ज्ञान-आनन्दादि निर्मलपर्यायरूप कार्य प्रगट होता है, उसका कर्ता आत्मा स्वयं है। दूसरे किसी को व्यवहार से कर्ता कहना, वह मात्र उपचार है, वह सत्य नहीं है।

यह आत्मा पर जीवों के जीवन का कर्ता नहीं है; उनकी दया के परिणाम, वह शुभराग है; वह शुभराग, नहीं तो पर को रचता और नहीं आत्मा की वीतरागपर्याय को रचता। शुद्धपर्याय का रचनेवाला आत्मा का स्वभाव है। शुद्ध आत्मा स्वयं ही अपनी शुद्धपर्याय का रचनेवाला अर्थात् कि कर्ता है, ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है। विभावों की रचना न करे, ऐसी अकर्तृत्वशक्ति (२१वीं) और शुद्धभाव को रचे, ऐसी कर्तृशक्ति, ऐसी दोनों शक्तियों द्वारा शुद्ध ज्ञान का स्वरूप बतलाया है। ज्ञान के निर्मल परिणमन में ये दोनों शक्तियाँ आ जाती हैं।

आत्मा को शान्ति चाहिए है... तो वह शान्ति कौन करेगा? आत्मा स्वयं कर्ता होकर अपनी शान्तिरूप कार्य करेगा; कोई दूसरा कर्ता होकर उसे शान्ति नहीं देगा; उसकी शान्ति का कार्य कोई दूसरा नहीं कर देगा। शान्ति से भरपूर अपने स्वभाव को

ध्येय करने से आत्मा में निजशक्ति के बल से ही शान्तिपर्यायें रचती जाती हैं। स्वयं अपने को ध्येय करने से जैसे निर्मल ज्ञान परिणमता है, वैसे उसका कर्तृत्व भी साथ ही परिणमता है। कार्य हुआ, वह कर्ता बिना नहीं होता और दूसरा उसे करता नहीं, इसलिए स्वयं ही कर्ता होकर उस कार्यरूप हुआ है।

अपनी पर्याय अपने से होती है और पर से नहीं होती—ऐसा अनेकान्त है, परन्तु अपनी पर्याय स्वयं करे और दूसरा भी करे—यह कहीं अनेकान्त नहीं है। एक पर्याय के दो कर्ता नहीं होते। अनेकान्त तो वस्तु के स्वधर्मों को सिद्ध करता है, एक वस्तु में वस्तु के स्वभाव को सिद्ध करनेवाली, परस्पर कथंचित् विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। वस्तु के स्वरूप को सिद्ध न करे और गड़बड़ करे, उसे अनेकान्त की खबर नहीं है।

मुनिदशा में व्रत के विकल्प और वीतरागचारित्र दोनों एकसाथ, तथापि उस काल में मुनि का आत्मा कर्ता होकर अपनी वीतरागचारित्रदशा का कर्ता है और राग का कर्ता नहीं। वे विकल्प, वीतरागचारित्र को नहीं करते; और वीतरागचारित्र, विकल्पों को नहीं करता; एकसाथ होने पर भी दोनों को कर्ता-कर्मपने का सम्बन्ध जरा भी नहीं है; दोनों का कर्तृत्व भिन्न है। दोनों की धारा भिन्न है, दोनों की जाति भिन्न है। इसी प्रकार वीतरागचारित्र की भाँति सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों में और उसके साथ के नौ तत्त्व के विकल्प में भी समझना—वे दोनों साथ में होने पर भी उन्हें कर्ताकर्मपने का जरा भी सम्बन्ध नहीं है, दोनों की धारा अलग है; एक अन्तर्मुखधारा है, दूसरी बहिर्मुखधारा है; वहाँ धर्मी को सम्यग्दर्शनादि निर्मल भाव में कर्तृत्व है, विकल्पों में उसका कर्तृत्व नहीं है।—ऐसे अनन्त गुणों के परिणामों में समझ लेना।

अपने भाव को कर्तृत्वरूप सामर्थ्य आत्मा में है। जो निर्मलभाव होते हैं, वे आत्मा के कर्तृत्वपूर्वक होते हैं, आत्मा के कर्तृत्व बिना कोई भाव नहीं होता और अपने भाव को स्वाधीनरूप से करने का आत्मा में सामर्थ्य होने से उसमें कोई दूसरे का सहारा नहीं है—ऐसा स्वाधीनभाव प्रगटे, वह अहिंसा है, वह मोक्षमार्ग है, वह धर्म है।

शुद्धि की प्राप्ति बाह्य साधन द्वारा अथवा राग द्वारा नहीं होती, आत्मा स्वयं

कर्ताशक्ति द्वारा उसे रचता है। जो शुभराग के कर्तृत्व में अटकता है, उसे शुद्धि की प्राप्ति नहीं होती। शुद्धभाव के कर्ता होने की शक्ति शुभराग में नहीं है। अरे भाई! जिस शुभराग का कर्तृत्व तेरे ज्ञान में नहीं, उस शुभराग द्वारा क्या तू तेरे ज्ञान की शुद्धि करना चाहता है?—कभी नहीं होगी। सम्यग्दर्शन, मुनिदशा, केवलज्ञान, वे सभी दशायें शुद्ध आत्मा को ध्येय बनाकर ही होती हैं, किसी शुभराग को ध्येय बनाकर वह कोई दशा नहीं होती। धर्मी को साधकभूमिका में विकल्प हो भले, राग हो भले, व्यवहार हो भले—परन्तु वह कोई उसका ध्येय नहीं; उसका ध्येय तो अपना शुद्धात्मदेव ही है; अनन्त शक्ति से परिपूर्ण निजात्मा को ध्येय बनाकर, उसके ध्येय से परिणमता वह एक के बाद एक निर्मलपर्याय में आगे बढ़ता जाता है, आप स्वयं परिणमकर उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय का कर्ता होता है। कर्तृशक्ति के साथ अभेद ऐसा आत्मा कर्ता है और अपने से अभिन्न ऐसी निर्मलपर्याय उसका कार्य है। अनन्त गुण का रत्नाकर ऐसा यह चैतन्यप्रभु, उसके ध्यान द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार होता है,—आत्मा स्वयं परमात्म-स्वरूप दिखायी देता है।—अब तुझे प्रभु को बाहर में कहाँ खोजना है?—खोज तेरे आत्मा में!

पूर्व पर्याय को साधक और उत्तर पर्याय को साध्य कहा जाता है, वह व्यवहार से है। वास्तव में आत्मा सीधा उस-उस वर्तमान काल में अपने स्वभाव को साधन बनाकर, स्वयं ही अपनी पर्याय के अभेदकर्तारूप से परिणमता है। पर्याय का कर्ता पर को माने, वह जीव अपने द्रव्य-गुण को जानता नहीं, परसन्मुखता से हटकर स्वसन्मुख होता नहीं, इसलिए उसे निर्मलपर्याय नहीं होती और निर्मलपर्याय के सच्चे साध्य-साधन को भी वह जानता नहीं।

साधक को जो निर्मल कार्य वर्तता है, उसे सिद्धरूप भाव कहा जाता है। उस सिद्धरूप भाव का कर्ता कौन?—कि उसमें तन्मय होकर परिणमे, वह कर्ता। अतन्मय रहे अर्थात् कि पृथक् रहे, उसे कर्ता कहना, वह यथार्थ नहीं है परन्तु उपचार है। धर्मी-कर्ता का इष्ट ऐसा जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य, वह कर्ता का कर्म है और धर्मी उसका कर्ता है। कर्ता-कर्म-साधन सब ज्ञान में ही समाहित होता है। यह बात वीतराग

परमेश्वर अरिहन्तदेव के मार्ग की है। वीतरागी तीर्थंकरों ने देखी हुई, साधी हुई और कही हुई यह बात है।

कर्तृत्वशक्ति आत्मा के सर्व गुणों में व्यापक है, अर्थात् सर्व गुण कर्तारूप से परिणमकर अपनी निर्मलपर्याय को करते हैं। जीवत्वशक्ति कर्ता होकर आत्मा को चैतन्यजीवन देती है। 'जीवन' वह आयु का, इन्द्रियों का और अन्न इत्यादि का कार्य नहीं, परन्तु जीवनशक्ति ने स्वयं कर्ता होकर वह कार्य किया है। निर्मल ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप अपने भावप्राण से जीना, वह जीव का जीवन है। अशुद्ध भावों में जीव का वास्तविक जीवन नहीं है। आत्मा में चेतना है, इसलिए जीवन की ताकत है, वह मुर्दा (अचेत) नहीं कि दूसरा उसे जीवन दे। अपनी स्वाधीन सामर्थ्य से आत्मा स्वयं जीता है, दूसरा कोई उसका जीवनदाता नहीं है। भगवान की और सन्तों की वाणी के निमित्त से अपने को अपने सच्चे जीवत्व का भान हुआ, इस अपेक्षा से उनको 'जीवनदाता' कहा जाता है। भक्ति का ऐसा व्यवहार है।

दु:ख में और प्रतिकूलता के घेरे में घिर गया हो, तब कोई दूसरा उसे आश्वासन दे तो शान्ति मिले न?—तो कहते हैं कि भाई! बाहर से आश्वासन और शान्ति प्राप्त करना चाहे, उसे सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। स्वयं अपने भाव से समाधान करता है। मैं प्रतिकूल संयोग और उलझन जितना नहीं, मैं तो मेरी अनन्त स्वाधीन शक्ति को साथ में रखकर परिणमनेवाला हूँ—स्वाधीनरूप से जीनेवाला हूँ—ऐसा स्वलक्ष्य करे, वहाँ उलझन नहीं रहती और अपूर्व शान्ति अपने में से ही प्रगट होती है।—स्वयं ही उसका कर्ता है।

जिसे इन्द्र भी बालकों की तरह सेवते हैं, ऐसे त्रिलोकपिता सर्वज्ञदेव कहते हैं कि हे भाई! हमारे जैसी ही शक्ति तुझमें है। तेरी आत्मशक्तियाँ शरीर के रोग से घिर नहीं जाती तथा शरीर में निरोगता हो तो उसे ठीक पड़े, ऐसा भी नहीं है। देह से पार अनन्त चैतन्यशक्ति तुझमें है; तू दूसरों से शक्ति प्राप्त करना माने तो तूने तेरी निजशक्ति को प्रतीति में नहीं लिया। पैसा-मकान हो, लड़के अच्छे हों, शरीर अच्छा हो—तो धर्म में ठीक पड़े, नहीं तो ठीक न पड़े—ऐसा जिसने माना, उसने अपनी शक्ति को पराधीन

माना है, अपने जीवन को पराधीन माना है। परन्तु भाई! तेरे धर्म का कर्ता होने की स्वाधीन शक्ति तुझमें ही है। अनन्त स्वाधीनशक्तियों से तू भरपूर है, तेरा जीवन स्वतन्त्र है, तुझे किसी की दासता नहीं है, सम्यग्दर्शन-केवलज्ञान-आनन्द इत्यादि महारत्नों को प्रगट करने की आत्मा में शक्ति है, उसके लिये किसी दूसरे की सहायता लेने जाना पड़े, ऐसा नहीं है। अपने शुभराग की भी कुछ सहायता नहीं, वहाँ बाहर के संयोग की क्या बात! शुभराग के कारण अन्दर कुछ शुद्धता प्रगट करने का अवकाश मिला, ऐसा जो मानता है, उसने वस्तु की स्थिति को नहीं जाना है। एक समय में पूर्ण परमेश्वरी सामर्थ्य का पिण्ड आत्मा, वह स्वयं ही अपनी शुद्धपर्यायों को प्रगट करने में समर्थ है; उसमें विकल्पमात्र का सहारा जरा भी नहीं,—फिर वह अशुभ हो या शुभ।

बाहर की प्रभावना का शुभभाव धर्मी को भी होता है परन्तु बाहर की प्रभावना का वह शुभभाव कहीं अन्दर की शुद्धि का साधन नहीं है—ऐसा धर्मी जानता है। प्र-भावना अर्थात् आत्मस्वभाव की उत्कृष्ट भावना। उसरूप परिणमन होना, वह वास्तविक प्रभावना है। उस भूमिका में साधक को विकल्प और वाणी का योग हो और दूसरे जीव धर्म प्राप्त पावें तो पावें, परन्तु उससे इस आत्मा में उसके कारण से कुछ निर्मलता हुई—ऐसा नहीं है, तथा उसके विकल्प के कारण से सामनेवाला जीव धर्म को प्राप्त हुआ—ऐसा भी नहीं है। स्वयं राग से विभक्त होकर और निजस्वरूप में एकत्व होकर अन्तर में परिणमित हुआ, वहाँ अपने में जितनी ज्ञान-आनन्दमय वीतरागी शुद्धि हुई, उतनी धर्म-प्रभावना हुई।—ऐसी अन्तर प्रभावना के लक्ष्य बिना मात्र बाह्य प्रभावना करने जाये, वह तो शुभराग में अटक जाता है।

शरीर अच्छा हो तो धर्म होता है—ऐसा नहीं है, परन्तु अच्छा (उत्तम) ऐसा आत्मा लक्ष्य में आवे तो धर्म होता है, अर्थात् कि निर्मलपर्याय प्रगट होती है। उस पर्याय का कर्ता आत्मा ही होता है। अपने अनन्त गुण की निर्मलपर्यायों को कर्ता होकर आत्मा स्वयं करता है। जिसने ऐसे आत्मा को जाना, उसने सब जाना; सब शास्त्रों का सार उसने जाना। '**सब आगमभेद सु उर बसे**'—जिसके अन्तर में चैतन्यस्वभाव आया, जिसने लक्ष्य को चैतन्यस्वभाव में एकाग्र किया, उसके अन्तर में सभी आगम का रहस्य आ गया। शुद्धात्मा की अनुभूति, वह सर्व आगम का रहस्य है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव

विदेह में सीमन्धर परमात्मा के पास गये थे, उनकी दिव्यध्वनि सुनी और इस समयसार की रचना की, इसमें यह रहस्य भरा है और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका में उस रहस्य का दोहन किया है।

निर्मल भावरूप कर्म होने की और उसका कर्ता होने की सामर्थ्य आत्मा में है, साधन इत्यादि होने की सामर्थ्य भी आत्मा में है। आत्मा में केवलज्ञानादि के छहों कारकों की स्वाधीनता जानकर जो स्वसन्मुख हुआ, उसने सर्व शास्त्रों का रहस्य जान लिया; उसने कर्ता होकर अपने निर्मलभावरूप स्वकार्य को किया। यह कर्तृत्वशक्ति का वास्तविक फल है।

कर्तृशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

समयसार की टीका का नाम '**आत्मख्याति**' है; आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि, आत्मा का अनुभव।—उसकी पद्धति सन्तों ने बतलायी है। अहो! स्वानुभूति में आत्मा की प्रसिद्धि होती है, वह महा आनन्ददायक है। सन्तों ने अपने अनुभव में लेकर ऐसा आत्मा प्रसिद्ध किया है और वाणी द्वारा जगत के जीवों के लिये भी उसे प्रसिद्ध किया है।

[४३]

करणशक्ति

भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः।

भवते हुए (प्रवर्तमान) भाव के भवन के (होने के) साधकतमपनेमयी (–उत्कृष्ट साधकत्वमयी, उग्र साधनत्वमयी) करणशक्ति।४३।

अरे जीव! तेरे साधन की गहरी खोज तुझमें ही कर; गहरा उतरकर देखने से तेरा साधन तुझे तुझमें ही दिखायी देगा। जो अपने साधन को बाहर में शोधते हैं, वे साधन की गहरी खोज करनेवाले नहीं परन्तु छिछली बुद्धिवाले हैं, अर्थात् कि बाह्य दृष्टिवाले हैं। जो अन्तर में उतरकर शोध करते हैं, उन्हें तो अपने हित का साधन अपने में ही भासित होता है, क्योंकि कर्ता का साधन अपने से भिन्न नहीं होता।

आत्मा को जो ज्ञानमय निर्मल पर्यायें परिणमती हैं, उनका साधन कौन?—तो कहते हैं कि करणशक्तिवाला आत्मा ही उसका उत्कृष्ट साधन है। करणशक्ति द्वारा आत्मा स्वयं उत्कृष्ट साधक होकर, स्वयं ही उत्कृष्ट साधन होकर अपने वर्तमान निर्मल भाव को साधता है। उसके लिये बाहर में दूसरा कोई साधन नहीं है। साधनेवाले का वास्तविक साधन अपने से अभिन्न होता है, पृथक् नहीं होता।

समयसार गाथा २९४ में अभेद साधन की बात सरस समझायी है। यहाँ साधन होने की शक्ति बतलायी है और वहाँ प्रज्ञाछैनीरूपी साधन बतलाया है अर्थात् कि साधनशक्ति का कार्य बतलाया है। चैतन्यस्वभाव को अवलम्बता हुआ उपयोग, वह प्रज्ञा है; चैतन्य को चेतनेवाली-अनुभव करनेवाली प्रज्ञा द्वारा, आत्मा और बन्ध, इन दोनों के निश्चित् लक्षण जानकर इन्हें भिन्न किया,—भेदज्ञान किया। उस अन्तर्मुख उपयोगरूप प्रज्ञा को ही साधन बनाकर उसके द्वारा शुद्धात्मा का ग्रहण होता है। इस प्रकार आत्मा से अभिन्न ऐसी प्रज्ञा ही शुद्धात्मा के अनुभव का साधन है; दूसरा कोई भिन्न साधन नहीं है।

गुण-गुणीभेदरूप जो अन्तर का ऊँचा व्यवहार, उसके द्वारा भी परमार्थ नहीं सधता, तो दूसरे बाह्य राग की क्या बात? गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में प्रश्न रखा है कि अंश-अंशीभेदरूप व्यवहार से क्या साध्य है? उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि उससे कुछ भी साध्य नहीं है। भेद द्वारा अभेद साध्य है, ऐसा नहीं कहा, व्यवहार द्वारा निश्चय साध्य है, ऐसा आचार्यदेव ने नहीं कहा; परन्तु उससे कुछ भी साध्य नहीं, ऐसा कहकर उस व्यवहार को साधन में से निकाल दिया है, तो दूसरे बाह्य साधन की क्या बात? राग को साधन बनाकर आत्मा को अनुभव नहीं किया जा सकता। सीधे-सीधे स्वभाव में उपयोग लगाकर आत्मा अनुभव में आता है; अर्थात् आत्मा स्वयं ही अपने स्वानुभव का साधन होता है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति अन्य साधनों से निरपेक्ष है, केवलज्ञानरूप से परिणमने के अपने स्वभाव द्वारा आत्मा स्वयं ही अपना साधन होता है, इसलिए बाह्य सामग्री शोधने की व्यग्रता न करो, अर्थात् कि अन्तर के स्वभाव का ही अवलम्बन करो।—ऐसा उपदेश प्रवचनसार की १६वीं गाथा में दिया है।

भाई! आत्मा की प्राप्ति तो आत्मा के आधीन होगी या किसी के आधीन होगी? वह तो अन्य साधनों से निरपेक्ष, सम्पूर्ण आत्माधीन है। मेरी पर्याय का साधन मैं ही हूँ, उसमें दूसरे किसी साधन की मुझे आवश्यकता नहीं है—ऐसा निर्णय करके धर्मात्मा बाह्य साधनों का आश्रय नहीं लेता, परन्तु अपने आत्मा का ही आश्रय करके परिणमता है; अर्थात् स्वाश्रय से आत्मा स्वयं ही साधन होकर निर्मलभावरूप से परिणमता है।

मेरा साधन मैं ही हूँ, पर मेरा साधन नहीं—ऐसा निर्णय करने पर, पर से एकत्वबुद्धि छूटकर अर्थात् पर्याय अन्तर्मुख होकर आत्मा में एकाग्र हुई है। प्रवचनसार में आचार्यदेव कहते हैं कि 'जो पुरुष, इस प्रकार से कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है—ऐसा निश्चय करके वास्तव में परद्रव्यरूप से परिणमित नहीं होता, वही पुरुष परद्रव्य के साथ सम्पर्क जिसे रुक गया है और द्रव्य के अन्दर पर्यायें जिसे प्रलीन हुई हैं, ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है।'

देखो! शुद्धोपयोग, वह भी एक कर्म है—कार्य है, और उसका फल केवलज्ञान है; आत्मा ही उसका साधन है। शुद्धोपयोगरूप से परिणमित आत्मा में यह सब समाहित हो जाता है। शुद्धोपयोगरूप निर्मलपर्याय आत्मा के साथ अभेद होने से अभेदरूप से आत्मा ही स्वयं अपना साधन है। अरे जीव! यह सन्त तुझे तेरी साधनसामग्री बतलाते हैं। साधन का कितना अधिक वैभव तुझमें भरा है, वह तुझे बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान उन सबका तुझमें साधन होने पर भी उसे भूलकर तू बाहर में क्यों झपट्टे मार रहा है? अनन्त काल बाहर के साधन सेवन किये परन्तु तेरे हाथ में कुछ नहीं आया, भवभ्रमण का अन्त नहीं आया... इसलिए उससे भिन्न वास्तविक साधन अन्दर में है, उसे शोध।

जो साधन कार्य के साथ अभेद रहनेवाला हो, उसे साधकतम कहा जाता है, अर्थात् कि वही वास्तविक साधन है। राग को ज्ञान के साथ एकता नहीं है, इसलिए राग, वह ज्ञान का साधन नहीं, वह मोक्षमार्ग नहीं। धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा स्वयं ही साधन होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमता है। यद्यपि में कर्ता, मैं साधन—ऐसे भेद को वह अवलम्बता नहीं है, परन्तु अभेद अनुभूति में छहों कारक इकट्ठे समाहित हो जाते हैं। ज्ञान के साथ अभिन्न छहों कारक परिणम रहे हैं।

भाई! तुझे साधक होना हो तो तुझमें रहे हुए ऐसे अभेदसाधन को जान, उसके द्वारा सिद्धपद सधेगा। ऐसे आत्मा के अनुभव के अतिरिक्त दूसरे किसी साधन द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं होती। व्यवहार, वह साधक और निश्चय, वह साध्य—ऐसा कहने में आता है, वह उपचार से है। वर्तमान वर्तती निर्मल पर्याय का उत्कृष्ट साधक होकर आत्मा ही उसे करता है। साधक स्वयं, साधन अपने में और साध्य भी अपने में। ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा में यह सब भरा है।

छठवें गुणस्थान में वर्तती शुद्धि, वह सातवें गुणस्थान की शुद्धि का साधन है—यह भी वास्तव में तो व्यवहार है। परन्तु वहाँ का शुभराग, वह शुद्धि का साधन नहीं—ऐसा बतलाने के लिये अर्थात् कि राग को और शुद्धता को भिन्न-भिन्न बतलाने के लिये ऐसा कहा जाता है कि छठवें (गुणस्थान) की शुद्धता वह सातवें का वास्तव में साधन है।—अर्थात् कि उसके साथ का राग वह वास्तविक साधन नहीं है।

छठवें की शुद्धि सातवें की शुद्धि का साधन—ऐसी पर्यायभेद की बात यहाँ नहीं लेनी है। यहाँ तो उस-उस समय के शुद्धभावरूप अभेदरूप से परिणमता आत्मा ही साधन है, स्वयं ही साधनरूप से परिणमित हुआ है, ऐसा अभेद साधन बतलाया है। करणशक्ति के कारण आत्मा ही अपनी सर्व पर्यायों का साधकतम है, स्वयं ही साधन है। 'साधकतम' कहने से वह एक ही साधन है, और दूसरा साधन नहीं। दूसरा साधन कहना, वह व्यवहार है।

सर्वज्ञदेव ने पूर्ण साधनशक्तिसम्पन्न आत्मा कहा है। भाई! निर्मलपर्याय के किसी साधन की तुझमें कमी नहीं कि तुझे दूसरे से लेने जाना पड़े। अपने पास न हो, वह दूसरे से माँगे, परन्तु यहाँ तो समस्त ही साधन अपने पास है ही। उसका अवलम्बन ले, इतनी ही देर है। इन्द्रियाँ तेरा साधन नहीं, निमित्त साधन नहीं, विकल्प साधन नहीं, भेदरूप व्यवहार साधन नहीं; तथापि उन सबको साधनरूप से वर्णन किया हो तो वह उपचार से ही है, ऐसा जानना और अपना शुद्धात्मा परमार्थ साधन है—वह सत्यार्थ है, ऐसा जानना।

तीर्थंकरप्रभु के पंच कल्याणक इत्यादि विभूति का दर्शन सम्यक्त्व का कारण है—इसका शास्त्र में बहुत वर्णन आता है, परन्तु अन्दर में साधनशक्तिवाले आत्मा को लक्ष्य में रखकर यह सब समझना चाहिए। जिसे अन्दर में निजात्मा का लक्ष्य नहीं, उसे

बाहर के साधन उपचार से भी सम्यक्त्व का साधन नहीं होते। उपचार भी वास्तव में तब लागू पड़ता है कि जब अन्दर में अपने को परमार्थ का लक्ष्य हो। यदि उपचार को ही परमार्थ मान ले और सच्चे परमार्थ को भूल जाये, तो वह यथार्थ वस्तु को कहाँ से साध सकेगा? भाई! यह तो वीतरागी जिनमार्ग है, इसके रहस्य गहरे हैं। अपने स्वभाव के विश्वास बिना जिनमार्ग में एक कदम भी नहीं चला जा सकेगा।

आत्मशक्ति में जो सामर्थ्य भरी है, उसके विश्वास से शुद्धता प्रगट होती है। विश्वास से जहाज तिरे,—किसका विश्वास? कि अपने वैभव का विश्वास। मुझमें करणशक्ति है, इसलिए मैं ही साधन हूँ, दूसरे किसी साधन की मुझे आवश्यकता नहीं—ऐसे निजस्वभाव का विश्वास आने पर वह जीव पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय से शुद्धतारूप परिणमता है और उसका जहाज भवसमुद्र से तिर जाता है। देखो, यह तिरने का उपाय! उस-उस समय के निर्मल भावरूप से परिणमित आत्मा स्वयं साधन है। ज्ञानशक्ति द्वारा आत्मा स्वयं परिणमकर केवलज्ञान का साधन होता है; आनन्दशक्ति द्वारा आत्मा स्वयं साधन होकर अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमता है; श्रद्धाशक्ति द्वारा आत्मा स्वयं साधन होकर क्षायिक सम्यक्त्वरूप परिणमता है। इस प्रकार सर्व गुणों में अपनी-अपनी निर्मल पर्यायों का साधन होने की सामर्थ्य है। समझाने के लिये पृथक्-पृथक् गुणभेद से बात की है, वरना तो करणशक्तिवाले अभेद आत्मा में सभी गुण-पर्यायें समाहित हो जाती हैं। ऐसे अभेद आत्मा को जानना-मानना-अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है।

हे जीव! तेरे आत्मा में कैसी शक्ति है, उसे तू देख, तो स्वकार्य को साधने के लिये तुझे किसी दूसरे की सहायता माँगनी नहीं पड़ेगी। आत्मा की जो करणशक्ति है, वही स्वकार्य को साधनेवाली इष्टदेवी है, दूसरी किसी देवी को धर्मी जीव स्वकार्य का साधन नहीं मानता। करणशक्तिरूपी देवी को उपासकर अर्थात् कि करणशक्तिवाले आत्मा को ध्येयरूप बनाकर धर्मी अपने स्वकार्य को साधता है।

प्रत्येक वस्तु में अपने अनन्त स्वभावोंरूप अनन्त शक्तियाँ हैं। जैसे एक-एक आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, वैसे एक-एक परमाणु में भी अनन्त शक्तियाँ हैं। आत्मा में ज्ञान-सुख इत्यादि है, वे परमाणु में नहीं, परन्तु परमाणु में जड़ता, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श इत्यादि स्वभाव हैं। प्रत्येक पदार्थ की शक्ति ही उसके कार्य की साधक है। उसमें से

यहाँ तो आत्मशक्ति के वैभव की बात है। आत्मा स्वयं साधन होकर भावरूप कार्य को साधता है। साधक और साध्य का साधन दोनों के बीच भेद नहीं है; वास्तव में साधन और साध्य के बीच भी भेद नहीं है। राग साधन और निर्मल पर्याय साध्य—ऐसा तो नहीं और वर्तमान अपूर्ण पर्याय साधन और पूर्ण पर्याय उसका साध्य—ऐसा भी वास्तव में नहीं है। उस-उस पर्याय में अभेद परिणमता आत्मा स्वयं ही उसका साधन है, स्वयं ही साधक है। करणशक्ति द्वारा आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूप से अपना साधन होता है।

देखो, यह बाहुबली भगवान! एक वर्ष तक खड़े-खड़े ध्यान किया। उन्हें उपयोग की जो निर्मलता हुई, उसका साधन कौन? क्या शरीर का मजबूत संहनन था, वह अन्दर के ध्यान का साधन था?—नहीं; शरीर के ऊपर तो लक्ष्य ही नहीं था। शरीर को ध्यान का साधन कहना, वह तो स्थूल उपचार है। अन्दर अपनी करणशक्ति के कारण आत्मा स्वयं ही साधन होकर उपयोग की स्थिरपर्यायरूप से परिणमित हुआ है। शरीर भी उसका साधन नहीं और विकल्प भी उसका साधन नहीं।

शरीर की जो-जो क्रियायें होती हैं, उनका साधन होने की शक्ति उसके रजकणों में ही है, आत्मा उसका साधन नहीं होता। जड़ के छह कारक जड़ में और आत्मा के छह कारक आत्मा में; यह तो आत्मा के वैभव की बात है; उसमें आत्मा की हीनता की बात नहीं होती। जैसे 'भरतेशवैभव' बतलाना हो, उसमें भरत की हीनता की बात कैसे आवे? उसी प्रकार अनन्तगुण सम्पन्न चैतन्य वैभवधारी आत्मा को अपने कार्य के लिये शरीरादि जड़ साधनों की आवश्यकता पड़ती है, ऐसा कहना, वह तो उसकी हीनता करने जैसा है। चैतन्यवैभव में साधक की ऐसी खींच नहीं कि दूसरे साधन की आवश्यकता लेनी पड़ी। वह तो स्वाधीनरूप से अपने ही साधन द्वारा अपना कार्य करनेवाला है। स्वयं ही साधनस्वभाव से परिपूर्ण है।

आत्मवैभव में ४३वीं करणशक्ति का विवेचन पूर्ण हुआ।

* * *

[४४]

सम्प्रदानशक्ति

स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदानशक्तिः।

अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (–उसे प्राप्त करने के योग्यपनामय, उसे लेने के पात्रपनामय) सम्प्रदानशक्ति।४४।

अहा, चैतन्यवस्तु! इस वस्तु की कीमत पैसे से या राग से आँकी नहीं जा सकती। अनुपम अतीन्द्रिय वस्तु, उसका मूल्य दूसरे किससे आँका जा सकता है? वाणी और विकल्प भी जिसका मूल्य न आँक सके, ऐसा अद्‌भुत आत्मवैभव, उसका मूल्य स्वानुभव द्वारा ही आँका जाता है। इस चैतन्यवैभव के समक्ष चक्रवर्ती के राज भी सारहीन लगते हैं।

(संवत् २०२१, पौष कृष्ण १४ : ४७ शक्ति पर प्रवचन ४१वाँ)

ज्ञानमात्र आत्मा अर्थात् कि ज्ञानलक्षण से लक्षित वस्तु, उसमें अनन्त स्वभाव हैं। ऐसे ज्ञानमात्र भाव को अनुभव में लेने से जो निर्मलपर्यायरूप भाव प्रगट हुआ, वह आत्मा ने स्वयं दिया है और आत्मा स्वयं पात्र होकर उसे लेता है। वह भाव किसी दूसरे ने दिया नहीं और आत्मा से बाहर अन्यत्र कहीं गया नहीं। देनेवाला स्वयं और लेनेवाला भी स्वयं, ऐसी अभेद सम्प्रदानशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

पर्याय में शुद्धता नहीं तो कहाँ से लाओगे? तो धर्मी कहता है कि मेरा आत्मा स्वयं ही शुद्धता देनेवाला है और मैं ही वह शुद्धता लेने को पात्र हूँ। आत्मा किसी के लिये शुद्धता प्रगट नहीं करता, परन्तु अपने लिये ही शुद्धता प्रगट करता है, और वह शुद्धता प्रगट करके अपने पास ही रखता है।

अहा! केवलज्ञान और सिद्धपद दिया करे, ऐसा महा दातार यह आत्मा स्वयं ही है; इस शाश्वत् चैतन्यदेव को सेवन करने से सहज केवलज्ञानादि होते हैं। ऐसा महा दातार चैतन्यदेव स्वयं ही है, वहाँ फिर ज्ञानी को दूसरे की वांछा क्यों होगी? इसलिए कहते हैं कि—

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवः चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥१४४॥

धर्मी ऐसा अनुभव करता है कि—अहो! मेरा आत्मा ही स्वयमेव अचिन्त्यशक्तिवाला देव है; मेरा आत्मा ही चैतन्यचिन्तामणि है—कि जिसे ध्याने से केवलज्ञानादि देता है; जिसके सर्व अर्थ सिद्ध हुए हैं, ऐसा स्वयं ही होने से ज्ञानी को दूसरे अन्य परिग्रह का क्या प्रयोजन है? अपने को ही पूर्णस्वरूप से जाननेवाला ज्ञानी अन्य परिग्रह में कहीं मूर्च्छित नहीं होता। मुझमें स्वयं में ही केवलज्ञान देने की सामर्थ्य है, तो फिर मुझे दूसरे किसके सामने देखना है? मेरा आत्मा ही मेरे अनन्त गुणों की निर्मल परिणति के छहों कारकरूप एकसाथ होता है, ऐसी अचिन्त्यशक्ति मुझमें है।

जिसमें एकसाथ ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ व्याप्त हैं, ऐसे आत्मस्वभाव की अनन्त महिमा है। एक भी शक्ति को निकाल दो या पर के कारण से मानो तो स्वाधीन पूर्ण वस्तु

ही सिद्ध नहीं होती। सम्प्रदानशक्ति वह चैतन्यरत्नाकर का एक दैवी रत्न है। वह क्या कार्य करे? कि अपने से जो निर्मलभाव दिया जाता है, उसे स्वयं लेता है, शक्ति के परिणमन को पर्याय में झेलता है, इसलिए देना और लेना दोनों अपने में ही समाहित होते हैं, उसे पर के साथ सम्बन्ध नहीं है।—ऐसा सम्प्रदानशक्ति का कार्य है। धन इत्यादि का दाता आत्मा नहीं और उसे लेनेवाला भी आत्मा नहीं, क्योंकि वे तो आत्मा से भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्मा दाता होकर निर्मलभाव देता है। किसे देता है? कि स्वयं को ही देता है।

अहा! उतना बड़ा दाता तू स्वयं, और तुझे दूसरे से भीख माँगनी पड़े? आश्चर्य! आत्मा में अपार वैभव है; उसे खोलकर स्वयं निर्मल ज्ञान-आनन्द के निधान अपने को दे, ऐसी सम्प्रदानशक्ति आत्मा में है। जैसे देने की शक्ति अपने में है, उसी प्रकार उस भाव को लेने की शक्ति भी अपने में ही है।

आत्मदेव की उपासना (अनुभव) करने से वह प्रसन्न होकर क्या दे? कि निर्मल ज्ञान-आनन्दमय पर्याय दे। जिसके पास जिसके भण्डार भरे हों, वह दे। आत्मदेव प्रसन्न होकर कहीं राग और पुण्य नहीं देता, क्योंकि राग उसके भण्डार में भरा नहीं है। उसके भण्डार में तो ज्ञानादि अनन्त निर्मलगुण भरे हैं, इसलिए वह प्रसन्न होकर ज्ञानादि अनन्त गुणों की निर्मलता ही देता है और उसे ही आत्मा लेता है, ऐसा सम्प्रदानपना आत्मा में है।

अपने ज्ञानलक्षण द्वारा जिस शुद्ध आत्मद्रव्य को ध्येय किया, उस ध्येय में अनन्त धर्म और उसकी निर्मलपर्यायें समाहित होती हैं। ऐसे चैतन्यमात्र स्वभाव में स्थापित अचलित दृष्टि से देखने पर आत्मा के अनन्त धर्म, पर्याय में निर्मल भाव से उल्लसित होते हैं। अचिन्त्यवैभववाले चैतन्यदरबार में अनन्त गुण-पर्यायें शोभित हो रहे हैं। आत्मा की परिणति आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाती; उस परिणति में स्वयं ही आनन्द देनेवाला है और स्वयं ही लेनेवाला है। अहो! यह चैतन्य-परमात्म राजा! इसकी निर्विकल्प परिणति द्वारा आनन्दपुत्र का अवतार होता है। परमात्म राजा स्वयं ही है। ज्ञानदृष्टि से स्वयं अपने को देखने की पद्धति इस समयसार में दिखलायी है। अनन्त गुण से भरपूर

गुणीजन ऐसा आत्मा, उसके ऊपर दृष्टि करते ही वह परमानन्द से भरपूर निर्मलपर्यायों का दान देता है—उसे कौन लेता है ?—कि स्वयं ही उसरूप परिणमकर (सम्प्रदान होकर) अपने में उस आनन्द को झेलता है।—ऐसी सम्प्रदानशक्तिवाला आत्मा है।

सम्प्रदानशक्ति द्वारा आत्मा दान देता है।—किसे दान देता है ? अपने को; किसका दान देता है ? आनन्द का। आत्मा अपने में से विकार नहीं देता, शुभविकल्प और पुण्य नहीं देता, परवस्तु देने-लेने की क्रिया भी उसमें नहीं है, वह तो शुद्ध निर्मल आनन्द-ज्ञानादि पर्याय का दान करता है। स्वयं ही देनेवाला है और स्वयं ही लेता है; देनेवाला और लेनेवाला कोई अलग नहीं है। ऐसे अद्भुत स्वभाववाला आत्मा है। ऐसे भगवान आत्मा का स्वलक्ष्य करने से वह ज्ञान का-दर्शन का-आनन्द का, ऐसे अनन्त गुण का वैभव देता है; ऐसे अनन्त गुणों की निर्मलपर्यायें अनन्त काल तक दिया करे और स्वयं लिया करे—ऐसा अद्भुत आत्मा है। वाह, कितनी स्वाधीनता!

ज्ञानादि अनन्त धर्मसम्पन्न 'धर्मी' ऐसा आत्मा, वह क्या देता है ? उस धर्मी का सेवन करने पर वह धर्म देता है। 'धर्मी का सेवन करने पर' अर्थात् कि उसमें अन्तर्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करने पर वह सम्यग्दर्शनादि आनन्दमय धर्म देता है, स्वयं ही उसरूप परिणमता है, उसमें जो वैभव भरा है, वह देता है। आत्मा में रागादि विकल्प नहीं भरे कि वह विकल्प दे।—विकल्प द्वारा उसका सेवन भी नहीं हो सकता। धर्म, वह वीतरागीपर्याय है। धर्मी—आत्मा वीतरागी वैभव से भरा है, वही वीतरागी वैभवरूप धर्मपर्याय देता है; दूसरा कोई धर्म का दातार नहीं है। भाई! तेरा धर्म दूसरे के पास नहीं कि वह तुझे दे। धर्मपर्याय देने की सामर्थ्य तेरे आत्मा में ही है। किसी दूसरे में, संयोग में, निमित्त में, राग के विकल्पों में और पुण्य में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि वे तुझे तेरी धर्मपर्याय दें। निजस्वरूप को ध्येय करने से आत्मा स्वयं ही अन्दर की शक्ति में से अपने को धर्मपर्याय का दान देता है, इसलिए परमार्थ से आत्मा ही 'धर्मदातार' है; और धर्मरूप परिणमित वीतरागी देव-गुरु ने ऐसा आत्मा बतलाया, इसलिए व्यवहार से वे धर्मदातार हैं।—ऐसे दोनों प्रकार जैसे हैं, वैसे जानना योग्य है।

सम्प्रदानशक्तिवाला आत्मा कहता है कि मैं मेरे भण्डार में से केवलज्ञान और

पूर्ण आनन्द प्रगट करके मेरी पर्याय को '**समर्पयामि!**' आत्मा स्वयं ही अपने को अतीन्द्रिय आनन्द का समर्पण करता है। स्वयं दातार और स्वयं लेनेवाला। अभेद में देनेवाला और लेनेवाला ऐसे दो भेद नहीं हैं। सम्प्रदानशक्ति अखण्ड आत्मा की है, इसलिए अपने में से पूर्ण पर्याय खिली, उसे स्वयं झेलकर अपने में रखता है।

दूसरे को दान देने का शुभभाव, वह तो राग हुआ, उसमें से कहीं अतीन्द्रिय शान्ति नहीं आती, उससे मात्र पुण्य बँधता है।—परन्तु वह कहीं आत्मा का वैभव नहीं है। तेरे स्वभाव के वैभव की महिमा कितनी है—उसे लक्ष्य में तो ले। अरे! प्रेम से उसका श्रवण तो कर। भगवान के ज्ञान में तेरा स्वरूप जैसा देखा है, वैसा तुझे सन्त सुनाते हैं। पहले में पहले श्रेणी का धर्म (चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि) अपने आत्मा को ऐसा ही अनुभव करता है। ऐसे अनुभव में 'अभयपना' है—उसमें किसी प्रकार का भय नहीं; इसलिए जिसने ऐसा अनुभव किया, उसने स्वयं अपने को अभयदान दिया। भवरहित भाव स्वयं अपने को दिया, वहाँ भय टला और भव भी टला। ऐसे अनुभव बिना सच्चा अभयपना प्रगट नहीं होता और भव नहीं टलता।

चैतन्यचमत्कार में यह अद्‌भुतता है कि स्वयं ही अपने में से प्रगट करके सम्यग्दर्शनादि अपने को देता है। ऐसा आत्मा प्रतीति में आवे, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की तो बड़ी महिमा है, उसमें तो पूरा आनन्दमय आत्मा प्रतीति में आ जाता है। सम्यग्दर्शन में आनन्द के अंश का वेदन हुआ, वहाँ भान हुआ कि अहो! ऐसा पूरा आनन्दमय आत्मा मैं हूँ; आनन्द से भरपूर पूरा आत्मदरबार उसने देखा; निजपरमात्मा का अपूर्व साक्षात्कार हुआ, अपना अचिन्त्य आत्मवैभव अपने में ही प्राप्त किया—प्राप्त की प्राप्ति हुई। स्वानुभूति द्वारा स्वयं अपने को आनन्दमय पर्याय दी और स्वयं ने ही ली। ऐसा आनन्द को देने-लेने का अचिन्त्य व्यापार आत्मा करता है।

धर्मी जानता है कि मेरा केवलज्ञान लेने के लिये मुझे किसी दूसरे के पास जाना पड़े, ऐसा नहीं है, मेरी आत्मशक्ति में ही केवलज्ञान देने की सामर्थ्य है।—इस प्रकार प्रतीतिरूप से अपने में केवलज्ञान की सामर्थ्य जानी है। केवलज्ञान देने की सामर्थ्य आत्मा में है, राग में वैसी सामर्थ्य नहीं है कि केवलज्ञान दे। केवलज्ञान देने की

सामर्थ्यवाला आत्मा सम्यग्दृष्टि की प्रतीति में आ गया है, इसलिए अब उस शक्ति के आश्रय से परिणमन करके आत्मा अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करेगा, इसमें उसे शंका नहीं है।

'ननिहाल में मामा के घर में विवाह और माँ परोसनेवाली' फिर क्या कमी रहे?—ऐसी लोगों में कहावत है; उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि अनन्त गुणभण्डार आत्मा स्वयं ही देनेवाला और स्वयं ही लेनेवाला,—फिर लेने में कौन अधूरा रखे? कितना चाहिए उतना पूरा दे, ऐसी आत्मा की सामर्थ्य है। आप स्वयं अपने छह कारकरूप होकर स्वभावरूप परिणमे, इसका नाम धर्म, यही सुख और यही मोक्षमार्ग है।

भाई! तुझे धर्म करना है न! तो धर्म करनेवाला कौन है? और वह कितना बड़ा? उसे पहिचाने बिना तू धर्म कहाँ से करेगा? धर्म करनेवाला ऐसा आत्मा अपनी अनन्त शक्तियों से पूर्ण है, उसका वैभव महान है। उसकी अनन्त गुणसम्पत्ति में जो निर्मल भाव उल्लसित होते हैं, उसे उपेय करने की, अंगीकार करने की सामर्थ्य आत्मा में ही है। यह तो कैसी अद्भुत बात है कि एक समय में एक ही वस्तु दातार और वही लेनेवाली! अद्भुत होने पर भी आनन्दकारी है, अनुभवगम्य है। ज्ञान में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि विकल्प बिना एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्त धर्मोंसहित वर्तता है, भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनन्त धर्मों को कार्य की भिन्नता है, तथापि विरुद्धता नहीं; एक ही वस्तु में अविरुद्धरूप से एकसाथ सब धर्म रहे हुए हैं। चैतन्य खजाने में गुण की—धर्म की कमी नहीं है। अनन्त गुणसम्पन्न भगवान आत्मा स्वयं होने पर भी, अपना भगवानपना भूलकर पर्याय में अज्ञानी को जो दोष है, वह दुःख और संसार है। अज्ञान से पूरे निजवैभव को वह भूल जाता है और बाहर में भीख माँगता हुआ भटकता है। पराश्रय से जो लाभ मानता है, वह बाहर में भले बड़ा गिना जाता हो, परन्तु अन्तर परिणति में तो वह भिखारी है। ज्ञानी निजवैभव को जानता हुआ महा स्वाधीन राजा है, वह बाहर में से कुछ भी लेना नहीं चाहता। अर्थात् वह बाहर में भटकता नहीं, अन्दर अपने में ही एकाग्र होता है।

यहाँ अपने स्वानुभव के निजवैभव से आचार्यदेव जगत के जीवों को उनका

आत्मवैभव बतलाते हैं। भाई! तेरे चैतन्यद्रव्य के निधान को लक्ष्य में लेने से उसमें से अनन्त निधान प्राप्त होंगे; स्वयं ही उनका लेनेवाला और स्वयं ही देनेवाला। देने-लेने में समयभेद नहीं, क्षेत्रभेद नहीं, द्रव्य भिन्न नहीं। ऐसा सम्प्रदानस्वभाव आत्मा में त्रिकाल है। उसका भान करने से परवस्तु को लेने-देने की बुद्धि छूट जाती है और स्वयं अपने में एकाग्र होकर अपनी निर्मलपर्याय को सदाकाल लिया करता है। राग में भी लेने-देने की कर्तृत्वबुद्धि उसे नहीं रहती, राग में से एकत्वबुद्धि छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही एकत्वरूप से परिणमता है; इसलिए स्वसन्मुख परिणमता हुआ वह अपने में ज्ञानभाव ही लेता है और स्वयं अपने को ज्ञानभाव ही देता है।—ऐसा आत्मा सम्प्रदानस्वभाव है।

✦ परवस्तु को मैं दूँ या लूँ—यह बात तो है ही नहीं।

✦ रागादि मैं दूँ या लूँ—यह बात अज्ञान में जाती है।

ज्ञानभाव राग को देता या लेता नहीं; राग का सम्प्रदान हो, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है। जो राग के कर्तृत्व में रुका है, वह शुद्ध सम्प्रदानशक्तिवाले आत्मा को जानता नहीं। बाह्य सामग्री, पुण्य और शुभराग—इन तीनों से भिन्न ज्ञानभावमय आत्मा है। अरे! जीव को स्वयं अपनी खबर नहीं कि मैं कौन हूँ? और मेरा स्वरूप क्या है?—

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये॥

देखो! १६ वर्ष की छोटी उम्र में श्रीमद् राजचन्द्रजी के आत्मा में से यह भणकार उठे हैं।—आत्मा कहाँ छोटा है? आत्मा में विचार के लिये अन्दर शान्त परिणाम चाहिए। भगवान! तेरी चैतन्यशक्ति का अपार माहात्म्य है। अनन्त रहस्य से भरपूर सर्वज्ञ की वाणी भी जिसकी शक्ति का पूरा कथन न कर सकी, उसकी अचिन्त्य महिमा की क्या बात! वाणीगम्य न हो, स्वानुभवगम्य हो—ऐसा आत्मस्वभाव है। वह अपने को केवलज्ञान दे और स्वयं ले—ऐसा उसके स्वभाव का सामर्थ्य है। दूसरे दें और तू ले—ऐसा दीन पराधीन तू नहीं है। वाणी तुझे ज्ञान दे—ऐसा नहीं, विकल्प तुझे ज्ञान दे,

ऐसा भी नहीं, तेरी ज्ञानशक्ति ही तुझे ज्ञान देती है। वाणी में और विकल्प में ज्ञान का सम्प्रदान होने की सामर्थ्य नहीं है, वे तो ज्ञान से भिन्न ही जाति है। ज्ञान का सम्प्रदान होने की सामर्थ्य आत्मा में है। अपनी शक्ति का अपने को विश्वास आना चाहिए।

तुझमें केवलज्ञान लेने की पात्रता है?

— धर्मी कहता है कि हाँ।

तुझे केवलज्ञान कौन देगा?

— मेरा आत्मा ही मुझे केवलज्ञान देगा।

सम्प्रदान शक्ति से आत्मा स्वयं अपने को केवलज्ञान दे और ले, उसमें बीच में दूसरा कोई उसे रोकनेवाला नहीं है। आत्मा में केवलज्ञान होने की सामर्थ्य जगे—तैयारी हो, वहाँ कोई क्षेत्र और काल उसे रोकता नहीं। इसी प्रकार सिद्धपद को साधने की आत्मा में सामर्थ्य है। पात्र—लेनेवाला तैयार हुआ, वहाँ देनेवाला दाता भी उस समय ही तैयार है, उसमें राह देखकर बैठा रहना पड़े, ऐसा नहीं है, अथवा दूसरे के सामने देखना पड़े, ऐसा भी नहीं है।

अरे जीव! तेरा आत्मा जो निर्मलभावरूप से वर्तता है, उस भाव को दूसरा कोई देता नहीं और दूसरा कोई लूट नहीं सकता। किसलिए तू तेरी शक्ति को भूलकर दूसरे से भीख माँगता है? तेरा स्वाधीन स्वभाव है, उसे देख। आत्मा का गुण पर से माँगना, वह तो पामरता और भिखारीपना है। अपने गुण की पर्याय अपने में से ही लेने की आत्मा की सामर्थ्य है। तीर्थंकरों ने अपनी ऐसी सामर्थ्य प्रगट करके केवलज्ञान को साधा है... और जगत को उसका उपदेश दिया है।

श्रावक के धर्म के वर्णन में मुनि को आहारदान देने इत्यादि का वर्णन आता है, उसमें दान, दाता, देयवस्तु और लेनेवाला पात्र—इनकी विशेषता का वर्णन आता है और उसकी विशेषता अनुसार फल की भी विशेषता होती है—ऐसा बतलाया है, यह तो उस प्रकार के विवेक का तथा धर्मी के बहुमान का ज्ञान कराया है; कहीं बाहर की लेने-देने की क्रिया आत्मा करता है, ऐसा वहाँ स्थापित नहीं करना है। उसमें और इस बात में कुछ विरोध नहीं है, क्योंकि यहाँ तो शुद्धात्मा का स्वरूप बतलाना है, इसलिए उसमें

राग की और बाहर की क्रिया की बात नहीं आती। और वहाँ तो श्रावक की भूमिका के शुभ परिणाम कैसे होते हैं, यह बतलाना है, इसलिए निमित्तरूप बाहर की क्रिया कैसी होती है, वह भी बतलाया है। उस समय उस धर्मात्मा श्रावक को भी ऐसे शुद्धात्मा की दृष्टि तो साथ ही है, इसलिए बाहर में मुनिराज को आहारदान इत्यादि देते समय अन्दर में तो स्वयं अपने आत्मा को निर्मल पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का दान दे रहा है और स्वयं ही पात्र होकर उसे लेता है।—आत्मा की ऐसी सम्प्रदानशक्ति को जो समझे, उसे आत्मा में से अपूर्व शान्ति आये बिना नहीं रहती। उस शान्ति का देनेवाला और लेनेवाला आत्मा स्वयं ही है।

सम्प्रदानशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

धन्य! आज का दिन!!

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि को देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले सन्त को शरीर की अनुकूलता रहे — ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें; इसमें मोक्षमार्ग का बहुमान है। अहो! धन्य ये सन्त और धन्य आज का दिन कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज के चरण पड़े..... आज तो मेरे आँगन में साक्षात् मोक्षमार्ग आया....। वाह! धन्य ऐसे मोक्षमार्गी मुनियों को, जिन्हें देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं; उसे धर्म का भी प्रेम नहीं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

समयसार का पहला पाठ

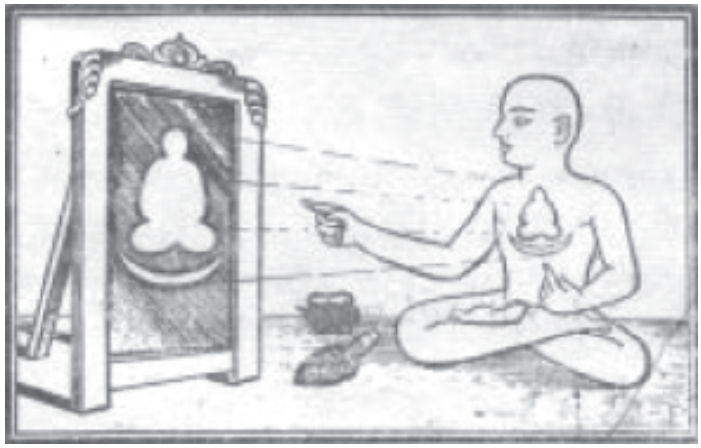

समयसार के पहले ही पाठ में आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! तेरे आत्मा में सिद्धपना स्थापित कर। सिद्ध भगवन्तों को आदर्शरूप रखकर निर्णय कर कि 'जैसे सिद्ध, वैसा मैं'—ऐसे लक्ष्यपूर्वक समयसार सुनने से तुझे तेरा अद्‌भुत आत्मवैभव तुझमें दिखाई देगा।

[४५]

अपादानशक्ति

उत्पादव्ययालिङ्गितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः।

उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का अपाय (हानि, नाश) होने से हानि को प्राप्त न होनेवाले ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति।४५।

अद्‌भुत आत्मवैभव

'अहो! आत्मा का यह सहज अद्‌भुत वैभव!' ऐसा कहकर आचार्यदेव ने कलश २७३ में आत्मा की परम महिमा की है; अद्‌भुत से भी अद्‌भुत ऐसी आत्मा की स्वभाव-महिमा विजयवन्त वर्तती है, उसे अनुभव करनेवाले धर्मात्मा विजयवन्त वर्तते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुवतास्वरूप है; उसमें उत्पाद-व्ययरूप क्षणिकभाव दूसरे समय नाश पाने पर भी ध्रुवस्वभाव के कारण आत्मा नष्ट नहीं हो जाता; अपादानशक्ति के कारण अविनाशीरूप से ध्रुव टिकने का उसका स्वभाव है। आत्मा में जो निर्मल भावों के उत्पाद-व्यय होते हैं, उसका ध्रुव आधार आत्मा है। अपादानशक्ति उस ध्रुवभाव को अवलम्बन करनेवाली है। उत्पाद-व्ययरूप क्षणिकभावों का नाश होने पर भी आत्मा नाश नहीं पा जाता—ऐसा ध्रुवतामय अपादानपना आत्मा में है। यद्यपि दूसरे समय दूसरी पर्यायरूप परिणमता है और तीसरे समय तीसरी पर्यायरूप आत्मा परिणमता है, कहीं पर्याय बिना का आत्मा नहीं हो जाता, परन्तु वे पर्यायें तो एक पलटकर दूसरी हुआ करती है, जबकि ध्रुवस्वभाव से देखने पर आत्मा ऐसा का ऐसा विराजमान रहता है, उसका नाश नहीं होता, ऐसा आत्मा अपनी चैतन्यसीमा में रहा हुआ है; चैतन्यसीमा से वह बाहर नहीं जाता तथा उसकी चैतन्यसीमा में परवस्तु को और परभावों को प्रविष्ट नहीं होने देता।

अपनी पर्यायों के उत्पाद-व्यय में सलंग ध्रुवरूप से आत्मा टिका रहता है, ऐसी उसकी अपादानशक्ति है। जो धारावाही टिका रहे, उसे अपादान कहा जाता है। दिव्यध्वनि व्यय होकर दूसरी पर्याय हुई—उसमें उसके परमाणु ध्रुव-अपादानरूप से टिके हैं, इसलिए उस दिव्यध्वनि का अपादान कोई केवलज्ञानी का आत्मा नहीं, परन्तु उस वाणी के परमाणु ही उसका अपादान है।—इस प्रकार ध्रुव रहनेरूप अपादानशक्ति जड़ में भी है। आत्मा में भी अपनी शक्ति की ध्रुवता रहकर निर्मलपर्याय के उत्पाद-व्यय हुआ करते हैं। शक्ति, वह कारण और निर्मलपर्याय उसका कार्य, इस प्रकार कारण-कार्य एक जाति के हैं, अभिन्न हैं। शुभभाव हो, उसकी मर्यादा कितनी ?—कि पुण्य जितनी। चैतन्यस्वरूप में उसका प्रवेश नहीं; तथा वह कहीं ध्रुव टिकता नहीं। इसलिए निर्मलपर्याय का अपादान वह नहीं है। आत्मा में जो सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का उत्पाद हुआ, उसका दूसरे समय में व्यय हो जाता है, तथापि आत्मा का स्वरूप जरा भी हानि नहीं पाता, घट नहीं जाता और खाली नहीं हो जाता, ध्रुवरूप से टिककर स्वाधीन उपादान से दूसरे समय में दूसरी निर्मल पर्यायरूप स्वयं होता है। इस प्रकार उत्पाद-व्ययरूप भावों की हानि होने

पर भी ध्रुवभाव से आत्मा टिका रहता है, उसका स्वरूप जरा भी हानि नहीं पाता। ऐसे आत्मा को अनुभव में लेना, वह धर्म है।

धर्म का ध्रुव आधार आत्मा है। उसकी पर्याय व्यय होने से कहीं आत्मा सर्वथा पर्यायरहित नहीं हो जाता, दूसरे समय ध्रुव टिकता आत्मा दूसरी पर्यायरूप उपजता है। अनन्त शक्ति का पिण्ड आत्मा, वही धर्म का आधार है। धर्म तो ध्रुव आधार में होगा या बाहर में? ध्रुव आधार तो आत्मा है, उसके आश्रय से धर्म होता है। उस धर्म के लिये अन्दर कीमत चुकानी पड़ती है।—क्या कीमत? पर्याय को अन्तरस्वभाव के सन्मुख करके उसमें अर्पित कर देना; अर्थात् अपने अनन्त गुणसम्पन्न आत्मा की ही महिमा आना और उसके अतिरिक्त पुण्य-पाप और संयोगों की महिमा न आने देना;—इस प्रकार स्वभाव की महिमा लाकर स्वभावसन्मुख होने से सम्यग्दर्शनादि स्वपर्यायें प्रगट होती हैं, वह धर्म है।

आत्मा की महिमा करे नहीं और दूसरे की महिमा छोड़े नहीं, तो उसे सम्यग्दर्शनादि पर्याय प्रगट नहीं होती। अपने तत्त्व की जैसी कीमत है, वैसी ज्ञान में लिये बिना, वह मूल्यवान वस्तु कहाँ से प्राप्त हो? वस्तु को लेने के लिये उसकी पूरी कीमत देनी चाहिए। निंबोली की कीमत में नीलमणि लेना चाहे तो लोगों में वह पागल गिना जाता है, उसी प्रकार विकार द्वारा चैतन्यहीरा लेना चाहे तो अध्यात्ममार्ग में वह मूर्ख है। भाई! हीरा लेने के लिये उसकी कीमत भरनी पड़ती है, उसी प्रकार यह चैतन्यहीरा लेने के लिये (अनुभव करने के लिये) उसे श्रद्धा में-प्रतीति में झेलकर कीमत भरना चाहिए। भगवान आत्मा जगत का सबसे उत्तम चैतन्यरत्न, अनन्त महिमावन्त, उसे अन्तर्मुख उपयोग द्वारा आनन्दसहित प्रतीति में झेलकर कीमत दे, विश्वास करे, ज्ञान करे और उसके लिये सर्वस्व अर्पण कर दे, तब ही वह चैतन्यरत्न प्राप्त होता है। वह रत्न ऐसा सस्ता नहीं कि शुभराग द्वारा प्राप्त हो जाये—होती है तो अपने में से ही उसकी प्राप्ति, परन्तु उसके मार्ग से वह प्राप्त होता है, दूसरे प्रकार से प्राप्त नहीं होता।

केवलज्ञानादि अनन्त रत्न सदाकाल जिसमें से प्रगट हुआ करे, ऐसी ध्रुव रत्नखान आत्मा है। निर्मल पर्याय उपजे और व्यय पावे, इससे आत्मा के स्वरूप में से क्या कुछ

घट गया?—तो कहते हैं कि नहीं; चैतन्यलब्धि ऐसी अखूट है कि उसमें से निधान निकला ही करे, परन्तु वह कभी कम नहीं होती। जिस प्रकार किन्हीं महा मुनिराज को 'अक्षीणमहानस' नाम की ऐसी लब्धि सहज प्रगट हुई होती है कि जिस घर में उन्होंने आहार किया हो, उस घर में चक्रवर्ती का पूरा सैन्य (करोड़ों लोग) जीमे तो भी भोजन कम नहीं पड़ता, तथापि वह ऋद्धि, वह तो पुण्यकृत ऋद्धि है, वह कहीं अन्दर के गुण की ऋद्धि का कार्य नहीं; गुण की ऋद्धि तो अपने अनुभव में समाहित होती है, वह कहीं बाहर में काम नहीं करती। लोगों को बाहर की लब्धि का विश्वास आता है परन्तु अन्दर गुप्त चमत्कार से भरपूर चैतन्यलब्धि में अनन्तगुण के अखूट अक्षय निधान हैं, वे तो ज्ञानी को ही स्वानुभव द्वारा प्रतीति में आते हैं। अपने में से सदाकाल ज्ञान-आनन्दादि की शुद्धपर्याय निकाल-निकाल कर भोगा ही करे, तथापि कभी कम न हो, ऐसी ऋद्धि चैतन्य में भरी है। ध्रुव को ध्येय बनाकर अभेदरूप से पर्याय उसमें लीन हुई, वहाँ सदाकाल केवलज्ञान... केवलज्ञान... केवलज्ञान... हुआ ही करे, अतीन्द्रिय आनन्द... आनन्द... आनन्द... हुआ ही करे, ऐसे निधान की ध्रुवखान आत्मा है।

किसी बाबा ने छोटे पात्र में से एक हजार लोगों को जिमा दिया—ऐसा सुने, वहाँ चमत्कार लगता है और उसे देखने का कौतूहल करता है, परन्तु हे भाई! उसमें तो कुछ सार नहीं। वास्तविक चमत्कारी तो यह आत्मस्वभाव है कि जो अपने में से सादि-अनन्त काल शुद्धता निकाल-निकालकर स्वयं उसे भोगा करे, तथापि कम न हो। अब निर्मलपर्याय नहीं आवे, ऐसा कभी नहीं होता; ऐसे तेरे स्वभाव का आश्चर्य लाकर, महिमा लाकर, उसे देखने का तू कौतूहल कर। बाहर की ऐसी लब्धि (लोगों को जिमा देना इत्यादि) तो थोड़ा सा कोई शुभराग किया हो, उसके फल में भी प्राप्त हो जाता है, वह कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु आत्मा के भण्डार में से सदाकाल निर्मल पर्याय के निधान निकला ही करे—जिसे किसी विकल्प की और पर की अपेक्षा नहीं—ऐसे अपादानस्वभावी आत्मा को अनुभव में लेना, वह बड़ी और अपूर्व बात है, उसके फल में सिद्धदशा प्राप्त होगी। सिद्ध को भी समय-समय में पर्याय व्यय होने पर भी नयी-नयी पर्यायें स्वभाव में से आया ही करती हैं; वह पूर्ण पर्याय प्रगट होने पर भी शक्ति में से

जरा भी घटता नहीं। ऐसा तो एक शक्ति का माहात्म्य! और ऐसी अनन्त शक्तिमय भगवान आत्मा! ऐसा महिमावन्त आत्मा जिसे श्रद्धा में आया, स्वसंवेदन में आया, वह जीव धर्मी है। उसने ध्रुवतारा की भाँति अपने स्वभाव में नजर की है... वह स्वयं ध्रुव टिककर सदाकाल निर्मलपर्याय के उत्पाद-व्ययरूप परिणमा करेगा। ऐसा भगवान का मार्ग है, भगवान होने की यह पद्धति है। ऐसे आत्मा को जो जाने, वह भगवान होता है और भव से उसका उद्धार होता है। ऐसे आत्मा को जाने बिना दूसरे किसी प्रकार से भव का उद्धार नहीं होता और भगवान नहीं हुआ जाता।

आत्मा की अपादानशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

अपने हित को मत भूलना

भाई! संसार तो असार है। संसार की ओर ढलते हुए जितने अशुभ या शुभपरिणाम हैं, वे सब असार हैं। चैतन्यतत्त्व, राग से पार है, उसका बोध करके, उसके वेदन की जो शान्ति है, वह सारभूत है। हे जीव! ज्ञान-वैराग्य की भावना उग्र करके तू ऐसे शान्तरस का पान कर। कदाचित् कोई दुःखद घटना हो गयी हो तो उस समय भी तीव्र वैराग्य द्वारा सारभूत चैतन्य की ऐसी भावना भाना कि जिससे तेरे रत्नत्रय की वृद्धि हो।

प्रतिकूलता आने पर व्याकुल मत होना, परन्तु आराधना में उत्साह प्रगट करके, वैराग्यभावना में दृढ़ रहना; क्रोध की उत्पत्ति मत होने देना, अपूर्व शान्तरस में मग्न रहना... और दीक्षा आदि परमवैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण करके अपनी आत्मा को परम उल्लासपूर्वक रत्नत्रय की आराधना में लगाना। सारभूत चैतन्यभावों को जानकर असाररूप परभावों को छोड़ना। अरे, यह तो आराधना और समाधिमरण का अपूर्व अवसर है... वहाँ अपने हित को मत भूलना।

— **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण

आचार्यदेव कहते हैं कि —

जिनवाणी की उपासना से अबाधयुक्ति के अवलम्बन से, परापर गुरुओं द्वारा प्रसादीरूप से प्रदत्त शुद्धात्मतत्त्व के उपदेश से और आनन्दमय स्वसंवेदन से प्रगट हुए मेरे आत्मा का जो निजवैभव है, उस समस्त आत्मवैभव द्वारा मैं इस समयसार में एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा दिखलाता हूँ।

हे श्रोताओं! तुम भी स्वानुभव-प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षा करके इसे प्रमाण करना।

[४६]

अधिकरणशक्ति

भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः।

भाव्यमान (अर्थात् भावने में आते हुए) भाव के–आधारत्वमयी अधिकरणशक्ति।४६।

उल्लसित 'आनन्द का समुद्र'

अहा! यह तो चैतन्यसमुद्र उल्लसित हो रहा है। जैसे चन्द्र उगे वहाँ समुद्र उल्लसित होता है, उसी प्रकार चैतन्यचन्द्र ऐसे अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इस आत्मख्याति टीका द्वारा चैतन्य के आनन्द के समुद्र को अनन्त निर्मल शक्ति से उछाला है—वृद्धिगत किया है—प्रगट परिणमाया है। अहा! ऐसा आनन्द का समुद्र.... उसमें हे जीवों! मग्न होओ।

[४७ शक्तियों का अन्तिम प्रवचन —४२वाँ :
वीर संवत् २४९१, पौष कृष्ण १ रविवार]

ज्ञानभावमय आत्मा है; वह स्वयं ही अपने ज्ञानादि भावों का आधार है। उस-उस काल में परिणमते निर्मल भाव आत्मा के ही आधार से परिणमते हैं, कोई दूसरा उनका आधार नहीं है। आत्मा ही अपनी अधिकरणशक्ति से अपने भावों का आधार होता है। आत्मा ज्ञान में, श्रद्धा में, आनन्द में—ऐसे सर्व गुणों में अपना-अपना कार्य है, उसी प्रकार आत्मा की अधिकरणशक्ति का कार्य ऐसा है कि जो-जो पर्यायें होती हैं, उनके आधाररूप स्वयं वर्तता है। सीताजी इत्यादि धर्मात्मा अपने ऐसे आत्मा को जानते थे कि वन-जंगल में भी हम निराधार नहीं हैं, हमारा आत्मा ही हमारे सम्यक्त्वादि भावों का आधार है, उसके ही आधार से हमारे सम्यक्त्वादि भाव टिके हैं। राज्य में थे, तब भी हमारा आधार दूसरा कोई नहीं था और अभी जंगल में भी दूसरा कोई हमारा आधार नहीं है। हमारा आधार हमारे में ही है। जैसे कार्य का कर्ता और साधन भिन्न नहीं होते, उसी प्रकार उसका आधार भी भिन्न नहीं होता। असंख्यप्रदेशी आत्मा अनन्त गुणों के निर्मल भावों का आधार है। अनन्त आकाश को जैसे दूसरा आधार नहीं, अपने में ही आधार-आधेयपना है, उसी प्रकार आत्मा की अनन्त शक्ति को और उसके निर्मल भावों को कोई दूसरा आधार नहीं है। आत्मा स्वयं ही आधार है। आधार और आधेय भिन्न नहीं हैं।—ऐसे निर्णय से अन्तर्मुखता होती है और अपने आधार से निर्मल भाव प्रगट होते हैं।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसे अन्तर्मुख ज्ञानपर्याय द्वारा लक्षगत करने से जो अनन्त गुण तथा उनकी निर्मलपर्यायें—ऐसे गुणपर्यायों का समुदाय लक्षित होता है, उतना आत्मा है। ऐसा आत्मा दृष्टि में आवे, वहाँ वह अपने आधार से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावरूप परिणमता है; उसका आधार शरीर नहीं, शुभराग उसका आधार नहीं। शरीर और राग से पार ऐसे आत्मा को प्रतीति में लेने से, विकल्प और वाणी के आधार बिना ही स्वाश्रय से निर्मल परिणमन प्रगट होता है। ऐसे सामर्थ्यवाली अधिकरणशक्ति है। अनन्त शक्ति से भरपूर चैतन्यरत्नाकर की प्रत्येक शक्ति में दिव्यता है। ऐसी दिव्यतावाला आत्मदेव, उसका अनुभव और साक्षात्कार कैसे हो, उसकी यह रीति है। सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यह बात यथार्थ नहीं होती।

अनन्त गुण अपनी अधिकरणशक्ति से ही अपनी-अपनी निर्मल पर्यायों के आधार होते हैं; अभेदरूप से पूरा आत्मा ही आधार है। सम्यग्दर्शनपर्याय का आधार कौन? श्रद्धा-गुणवाले आत्मा में ही ऐसी अधिकरणशक्ति है कि सम्यग्दर्शनपर्याय का आधार हो। मनुष्यदेह और पंचेन्द्रियपना वह सम्यग्दर्शन का आधार नहीं, शुभराग और नौ तत्त्व के विकल्प, वे सम्यग्दर्शन का आधार नहीं, देव-गुरु के आधार से इस आत्मा का सम्यग्दर्शन नहीं; उस पर्याय का आधार आत्मा स्वयं ही है। तत्त्वार्थसूत्र की टीका में त्रसनाली इत्यादि को सम्यग्दर्शन के अधिकरणरूप से वर्णन किया है, वह व्यवहार से आधार है, वास्तव में आत्मा का सम्यग्दर्शनभाव आत्मा के ही आधार से है।

इसी प्रकार ज्ञान का आधार आत्मा है, कोई इन्द्रियाँ इत्यादि पर के आधार से ज्ञानभाव नहीं, ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ज्ञान का आधार है।

'**चारित्तं खलु धम्मो**'—उस चारित्रपर्याय का आधार कौन? किसके आधार से चारित्रपर्याय का घडतर होता है? शरीर के आधार से और व्रत के विकल्पों के आधार से चारित्रपर्याय नहीं होती। चारित्रस्वभाव से भरपूर जो आत्मा, वही अपने चारित्रभाव का आधार है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आधार होनेरूप अधिकरणशक्ति आत्मा में ही है, उसमें किसी दूसरे का आधार या आश्रय नहीं लेना पड़ता।

सम्यग्दर्शनपूर्वक ही अनुभव ज्ञान होता है और तत्पश्चात् ही चारित्रदशा होती है—इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के आधार से ज्ञान-चारित्र हैं, ऐसा कहा जाता है परन्तु वास्तव में उस ज्ञान-चारित्र में आत्मा स्वयं अभेद आधार होकर परिणमित हुआ है। पर्याय का आधार दूसरी पर्याय नहीं है, परन्तु पर्याय का आधार उसके साथ अभेद वर्तता आत्मा है। मेरे ज्ञान में, मेरी श्रद्धा में, मेरे चारित्र में मेरा आत्मा ही आधार है।—ऐसा धर्मी अनुभव करता है।

मम ज्ञान में है आत्मा दर्शन-चारित्र में आत्मा,
है और प्रत्याख्यान, संवर-योग में भी आत्मा॥१००॥

मेरे ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि सर्व निर्मल भावों में अभेदरूप से मेरा आत्मा ही वर्तता है, इसलिए वही आधार है; उस सम्यग्दर्शनादि में राग की एकता नहीं, राग उसका आधार नहीं। परमार्थ आधार जो आत्मा, उसके सन्मुख होने से सम्यग्दर्शनादि

होते हैं। अहा! जंगल में बसनेवाले वीतरागी सन्तों ने अन्तर में आत्मा की शक्तियों का कैसा घोलन किया है! अन्दर स्वानुभवरस में घोंट-घोंटकर उसका सत्त्व निकाला है। अहा! आत्मशक्ति की महिमा कोई अमाप है—जिसका माप विकल्प से और वचन से नहीं हो सकता। आत्मा स्वयं ध्रुवरूप रहकर अपनी निर्मलपर्याय का अधिकरण होता है। धर्म का आधार आत्मा स्वयं है, दूसरा कोई नहीं। आत्मा का धर्म आत्मा के ही आधार से होता है। जड़ के धर्म जड़ के आधार से होते हैं, और आत्मा के धर्म आत्मा के आधार से होते हैं।

एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु के आधार से नहीं होता; तथा उसकी अपनी एक पर्याय के आधार से दूसरी पर्याय नहीं होती। अधिकरणस्वभाववाला आत्मा है, वही अपनी सर्व पर्यायों का आधार होता है। इसलिए धर्मी जीव पर्याय-पर्याय में अखण्ड आत्मा को देखता है, उसे ही अवलम्बता है। इस प्रकार अपने सर्व भाव के अधिकरणरूप से अपने आत्मा को ही जो जानता है, वह संयोगों का आधार लेने कैसे जाये? इसलिए संयोग ठीक हो तो धर्म होगा, ऐसी मिथ्याबुद्धि उसे नहीं रहती। अनुकूल संयोग हो या प्रतिकूल, दोनों समय मेरा धर्म तो मेरे आधार से ही है, इसलिए अपने में देखना रहा, संयोगों पर राग-द्वेष करके अटकना नहीं रहा। ऐसा निर्णय करनेवाला स्वसन्मुख होकर आत्मा का आधार लेता है, और आत्मा के आधार से अभेद परिणमने से अल्पकाल में उसे केवलज्ञान होता है.... अर्थात् उसे चैतन्य के भण्डार खुल जाते हैं। वाह! चैतन्यभण्डार को खोलने की चाबी सन्तों ने इस समयसार द्वारा जगत को दी है।

विकाररहित वीतरागीदशा प्रगट होना, वह धर्म है; उसका आधार आत्मा है। वीतरागदशा का आधार राग कैसे होगा? वर्तमान वर्तते भाव का आधार आत्मस्वभाव है। कैसे भाव? विकारी नहीं, परन्तु निर्मल भाव लेना। क्योंकि अन्तर्मुख होकर जहाँ आत्मा का आधार लिया, वहाँ निर्मल ही भाव होते हैं; आत्मा के आधार से विकारभाव उत्पन्न नहीं होते।

आत्मा के सभी धर्म स्व-आधार से है। ज्ञान को इन्द्रियों का आधार नहीं, ज्ञान को राग का आधार नहीं, ज्ञान को ज्ञानस्वभावी आत्मा का ही आधार है। ज्ञान का आधार जो दूसरे को मानता है, उसने ज्ञान के साथ ही रहे हुए अधिकरणस्वभाव को नहीं जाना, इसलिए अनेकान्तस्वरूप आत्मा को नहीं जाना।

पुण्य-पाप रहित वीतरागी शान्ति का वेदन प्रगट करे, वह सच्चा सन्तोष है; वह सन्तोष आत्मा के आधार से है। दूसरे के आधार से शान्ति लेना चाहे, उसे सच्ची शान्ति कभी नहीं मिलती। भाई! तेरे निजगुण में शान्ति का आधार होने की सामर्थ्य है, दूसरा आधार शोधने जाना पड़े, ऐसा नहीं है। तेरे ज्ञानस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसका आधार ले। तेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में दूसरे जीव और अजीव को अधिकरणरूप से व्यवहार से वर्णन किया है, परमार्थ से तेरा आत्मा स्वयं ही तेरे सर्व गुण-पर्यायों का आधार है। आत्मा की पर्याय आत्मा के अवलम्बन से होती है, उसमें बाहर का अवलम्बन कहीं नहीं है।

आत्मा परम सत्य है, उसे अनुभव करने के लिये पुरुषार्थ की जागृति कैसे करना?—कि आत्मा ही उसका अधिकरण है। इन्द्रियाँ इत्यादि कहीं ज्ञान का वास्तविक अधिकरण नहीं है। इसी प्रकार आनन्द का आधार आत्मा है। बाहर के किसी पदार्थ में ऐसी सामर्थ्य नहीं कि आत्मा के आनन्द का आधार हो। आनन्द के अस्तित्व में विकल्प का अस्तित्व नहीं, ऐसी दोनों की भिन्नता है। आनन्द के आधार दो नहीं हैं।—आत्मा भी आधार और विकल्प भी आधार—ऐसे दो आधार नहीं हैं। निजगुण के आश्रय से आनन्द साधा जा सकता है और पर के आश्रय से आनन्द नहीं साधा जा सकता, ऐसा अनेकान्त है। (इसी प्रकार सब गुणों की निर्मलपर्याय में आत्मा ही आधार है—ऐसा समझ लेना चाहिए।)

अरे जीव! तू निराधार नहीं; तेरा आत्मा महान आधार है। उस बड़े का सहारा लेने से तुझे केवलज्ञान होगा। रागादि तो तुच्छ है, उसका आधार लेने जायेगा तो वे कहीं तुझे आधार नहीं देंगे; क्योंकि राग स्वयं ही आधारहीन निराधार है, तो तुझे कहाँ से आधार देगा?

सम्यग्दर्शन इत्यादि में शुभभाव कहीं आधार है?—तो कहते हैं कि नहीं; स्वाधीन सत्तावाले आत्मा में ही अपनी उस पर्याय का अधिकरण होने की सामर्थ्य है। अज्ञानी बाहर में और राग में आधार शोधता है; भगवान अन्दर का अभेद आधार बतलाते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ को और अज्ञानी को बात-बात में अन्तर है। अज्ञानी कहता है कि इन्द्रियाँ और राग वह ज्ञान का आधार; सर्वज्ञदेव कहते हैं कि तेरा इन्द्रियाँ रहित ज्ञानस्वभाव ही तेरे ज्ञान का आधार है।

हे जीव! तेरी पर्याय का घडतर पर के आधार से नहीं होता। तेरी पर्याय का आधार तेरा आत्मा ही है। और आत्मा ऐसा शुद्ध आधार है कि उसके आधार से शुद्धता का ही घड़तर होता है, शुद्धता का ही आधार वह होता है; उसके आधार से राग नहीं होता, इसलिए राग का अधिकरण वास्तव में आत्मा नहीं है। आत्मा के आधार से ज्ञानादि रचे जाते हैं, परन्तु रागादि रचे नहीं जाते।

आत्मा देह का अधिकरण और देह आत्मा का अधिकरण—ऐसा नहीं है। केवलज्ञान का अधिकरण वज्रशरीर नहीं है। यदि वह शरीर आधार हो, तब तो शरीर बिना केवलज्ञान रह ही नहीं सकता। परन्तु वह शरीर छूटकर केवलज्ञान तो सदा रहा ही करता है, इसलिए शरीर उसका आधार नहीं है। केवलज्ञान का आधार आत्मा ही है। केवलज्ञानादि के आधारभूत ऐसे आत्मा को जाने तो दूसरे के आधार की बुद्धि नहीं रहती; राग के साथ आत्मा के आधार-आधेयपने की बुद्धि भी छूट जाती है। इसलिए अब अपना ही आश्रय करके परिणमने से अल्प काल में मोक्षदशा हो जाती है।

जड़, जड़ के आधार से; आत्मा, आत्मा के आधार से। भाई! तेरे स्वभाव में तेरी निर्मलता का आधार होने की सामर्थ्य है। ऐसे निजात्मा को जानना, मानना, अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है। साधक को वीतरागता के पहले रागभाव होता है, परन्तु उस राग के साथ अपने धर्म का आधार-आधेयपना धर्मी स्वीकार नहीं करता। धर्म का आधार राग नहीं परन्तु अपना ज्ञानस्वभावी आत्मा ही धर्म का आधार है। इसलिए तू तेरे सन्मुख देख। तुझे पर के सामने नहीं देखना पड़ेगा। चैतन्यसत्ता का अवलोकन करने से, उसके आधार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय प्रगट हो जायेगी।—वही आत्मा है। विकार को आत्मा नहीं कहते। ज्ञानी को जिनपूजा-भक्ति-तीर्थयात्रा इत्यादि के भाव आते हैं, उसे वह शुभभाव समझता है, परन्तु उस राग के आधार से धर्म नहीं मानता, तथा उस राग की उत्पत्ति ज्ञान के आधार से होना नहीं मानता।—इस प्रकार दोनों को अत्यन्त भिन्न जानता है। ऐसा भेदज्ञान होने पर उसे शुद्ध आत्मा के आधार से शुद्धभाव ही होते हैं, और अल्प काल में केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मा की अधिकरणशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

* * *

[४७]

सम्बन्धशक्ति

स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्तिः।

स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति। (अपना भाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है-ऐसे सम्बन्धमयी सम्बन्धशक्ति।४७।

जैसे सहज रत्नाकर—समुद्र उल्लसित हो और ज्वार द्वारा अन्दर के रत्न उछलकर किनारे आ जाते हैं—उन्हें कौन न ले? उसी प्रकार वीतरागी सन्तों ने इस पंचम काल में चैतन्यरत्नाकर को स्वानुभव द्वारा उल्लसित कराकर ४७ शक्तियोंरूपी रत्न बाहर निकालकर बतलाये हैं.... तो उन्हें कौन न ले? कौन अपने चैतन्यनिधान को न अनुभव करे? अहा! चैतन्यनिधान बतलाकर सन्तों ने महान उपकार किया है।

ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा में, ज्ञान के साथ रही हुई अनन्त शक्तियों का यह वर्णन है। अनन्त शक्तियाँ तो वाणी में कैसे आवे ? यहाँ कितनी ही शक्तियाँ बतलायी हैं। उसमें जीवत्व से शुरु करके अब ४७वीं शक्ति में अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्वसम्बन्ध बतलाकर आचार्यदेव यह प्रकरण समेटते हैं। ४७ शक्तियों के वर्णन द्वारा तो बहुत-बहुत स्पष्टीकरण करके आत्मस्वभाव की अचिन्त्य अपार महिमा प्रसिद्ध की है और इन ४२ प्रवचनों द्वारा भी उन शक्तियों के भावों का बहुत प्रकार से स्पष्टीकरण हुआ है। कथन के क्रम की अपेक्षा से यह अन्तिम शक्ति है, परन्तु अन्दर अनन्त शक्तियों में कहीं पहली और अन्तिम ऐसा क्रम नहीं है। सभी शक्तियाँ एक साथ ही ज्ञानभाव में परिणम रही है। शक्ति के वर्णन द्वारा ऐसे ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव का अनुभव कराना, यह तात्पर्य है।

इस ४७वीं शक्ति में कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप आत्मा को अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामिपने का सम्बन्ध है, दूसरे किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का 'स्व' क्या ? कि ज्ञानादि अनन्त गुण और उनकी निर्मलपर्यायोंरूप जो स्वभाव, वह आत्मा का 'स्व' है अर्थात् कि वही आत्मा है, और उसका ही आत्मा स्वामी है। यद्यपि आत्मा में यह स्व और यह स्वामी, ऐसे स्व-स्वामी के अंशों के भेद डालना, वह भी व्यवहार है, पर के साथ सम्बन्ध नहीं, ऐसा बताने को अपने में स्व-स्वामी ऐसे अंशों के भेद डालकर समझाया है, परन्तु आत्मा के स्वानुभव में कहीं यह स्व और यह स्वामी, ऐसे भेद का लक्ष्य नहीं रहता।

कर्ता, कर्म, साधन वह सब आत्मा में ही समाहित किया; अब आत्मा को किसके साथ सम्बन्ध है ? तो कहते हैं कि आत्मा को किसी दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं; अपने स्वभाव के साथ ही सम्बन्ध है। अपने अनन्त धर्मचक्र को आत्मा धारण करता है, परन्तु दूसरे पदार्थों के साथ उसे जरा भी सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्धशक्ति पर के साथ का सम्बन्ध तुड़ाकर (पर से विभक्तपना बतलाकर) स्वभाव के साथ एकतारूप अभेद सम्बन्ध कराती है। भगवान आत्मा में ऐसी शक्ति है कि अपने निर्मल गुण-पर्याय का स्वामी हो, उसमें एकत्वरूप से परिणमे; परन्तु शुभाशुभभावों का स्वामी होकर उनमें एकत्वरूप से परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। देहादि पर पदार्थों का स्वामी आत्मा नहीं है। जिस भाव का जो स्वामी हो, उसी प्रकार का वह होता है। जड़ भाव का स्वामी जड़ होता है;

चेतन तो चेतनभाव का स्वामी होता है, चेतन कहीं जड़ का स्वामी नहीं होता। आत्मा को जड़ का स्वामी माने, जड़ की क्रिया आत्मा करता है, ऐसा माने, उसके अभिप्राय में आत्मा और जड़ भिन्न नहीं रहते, परन्तु एक हो जाते हैं। वास्तव में एक नहीं होते, परन्तु उसका अभिप्राय मिथ्या होता है। भाई! तेरे अनन्त गुण-पर्यायें, वही तेरा स्व है। अरे! तेरा अपार चैतन्यवैभव, उसका स्वामित्व भूलकर तू विकार का और जड़ का स्वामी कैसे मानता है? अपने चैतन्यवैभव को भूलकर आत्मा राग का स्वामी होने जाये वह तो, चक्रवर्ती अपनी सम्पदा को भूलकर भीख माँगने निकलता है, उसके जैसा है।

यह हमारा घर, यह हमारी पुस्तक—ऐसा धर्मी को भी भाषा में आता है, परन्तु वह भाषा कहाँ आत्मा की है? उस भाषा के समय ही अन्दर धर्मी के ज्ञान में भिन्नता का भान वर्तता है। अपने ज्ञानभाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ अंशमात्र अपनेरूप धर्मी को भासित नहीं होता। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे विकल्प का भी कर्तृत्व धर्मी को नहीं है, वह तो उपयोग को अन्तर में जोड़कर, विकल्प से भिन्न पड़कर अनुभवशील हुआ है; ऐसा अनुभवशील जीव परम सुखी है। जब जीव ऐसा अनुभव करे, तब ही विकल्प का स्वामित्व उसे छूटता है। ऐसा अनुभव किये बिना विकल्प का स्वामित्व नहीं छूटता।

हमारा स्वामित्व हमारे अस्तित्व में है; जिसमें हम नहीं, उसमें हमारा स्वामित्व नहीं। हमारे द्रव्य-गुण-पर्याय से पूर्ण अखण्ड स्वरूप में हम हैं और वह हमारा स्व-धन है, वह हमारी सम्पत्ति और वही हमारा आत्मवैभव, उसके ही हम स्वामी हैं। इसके अतिरिक्त किसी भी विकल्प का-राग का और पर का स्वामित्व हमारे ज्ञान में नहीं है।—इस प्रकार धर्मी अपने को अनुभव करता है। छह खण्ड के राज के बीच रहे हुए चक्रवर्ती को भी ऐसे ही अनुभव द्वारा अन्दर अपने अनन्त गुण-पर्याय के निर्मल चक्र को परिणमाता है... उसमें वह राज करता है, उसमें ही वह शोभता है। हमारी शोभा हमारे स्वतत्त्व के स्वानुभव में है।—ऐसे अनुभव द्वारा धर्मी अन्दर अपने चैतन्यचक्र का स्वामी हुआ है, वह सच्चा चक्रवर्तीपना है।

ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती धर्मात्मा थे, क्षायिक समकिती थे, अवधिज्ञानी थे, चरमशरीरी थे; वे जब छह खण्ड साधकर वापस अयोध्या के निकट आते हैं और चक्र नगरी में प्रवेश नहीं करता, तब पुरोहित को पूछते हैं कि ऐसा कैसे? पुरोहित

कहता है कि आपके भाई अभी अनमित हैं, उन्होंने आपकी सत्ता स्वीकार नहीं की, इसलिए आपकी दिग्विजय अभी अधूरी है, इसलिए चक्र अयोध्या नगरी में प्रवेश नहीं करता। पश्चात् तो भरतचक्री अपने ९९ भाईयों को पत्र लिखता है; पढ़कर ९८ भाई तो ऋषभदेव प्रभु के चरणसमीप जाकर मुनि हो जाते हैं और उसी भव से केवलज्ञान पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। एक बाहुबली बाकी रहे, उन्होंने न तो दीक्षा ली और न भरत को नमन किया। अन्त में भरत-बाहुबली के बीच युद्ध हुआ। दोनों धर्मात्मा, दोनों चरमशरीरी, दोनों को अन्दर में स्वप्न में भी राज का और राग का स्वामित्व नहीं है; युद्ध के काल में भी दोनों का आत्मा अपने-अपने ज्ञानभाव के स्वामित्वरूप से ही परिणम रहा है। किंचित् राग-द्वेष के भाव होते हैं, उनका ज्ञान वर्तता है, परन्तु उनका स्वामित्व नहीं वर्तता। हम तो हमारे चैतन्यरूप असंख्यप्रदेशी स्व-देश के राजा हैं, अनन्त निर्मल गुण-पर्यायें वे हमारी प्रजा है; हमारे आनन्द में हम तन्मय हैं, संयोग के लक्षणवाले रागादि समस्त भाव हमसे भिन्न हैं —

मेरा सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञानलक्षण जीव है,
बाकी सभी संयोगलक्षण भाव मुझसे बाह्य है।

देखो, यह धर्मात्मा की अनुभूति! धर्मी जीव अपनी अनुभूति में ऐसे निजस्वरूप को संचेतता है—जानता है—अनुभव करता है। अहो, ऐसा उत्तम मेरा स्वतत्त्व! ऐसे आनन्द से उल्लसित मेरा स्वतत्त्व! उसके अनुभव के समक्ष धर्मी को जगत के किसी पदार्थ का अथवा किसी परभाव का स्वामित्व स्वप्न में भी रहा नहीं। इस परम महिमावन्त चैतन्य का स्वामित्व छोड़कर दुःखदायी परभाव का स्वामित्व कौन करे? इस प्रकार मात्र निजस्वरूप के स्वामित्व की निर्मलधारा धर्मी को राग के समय भी वर्त रही है; दोनों धारायें पृथक्-पृथक् वर्तती हैं, उसमें से स्वभावधारा का स्वामित्व है और रागधारा का स्वामित्व धर्मी के ज्ञान में नहीं है।

अहो! धर्मी के अन्तर परिणमन की यह अलौकिक बात!—वह जगत के लिये अटपटी है, परन्तु यदि समझे तो अपने में भेदज्ञान हो जाये—ऐसी अपूर्व है। धर्मी की दृष्टि अलौकिक है, उसका स्वामित्व स्व-भाव में ही समाहित होता है; स्वभाव में से बाहर निकलकर परभाव का अंशमात्र स्वामित्व करने नहीं जाता। जितना अपना निजभाव,

उतना ही अपना स्व और उसका आत्मा स्वामी; जो अपना नहीं, उसके साथ आत्मा को स्वामित्व का सम्बन्ध नहीं है।

देखो! यहाँ धर्मी की बात तो उदाहरणरूप है; उसके द्वारा ऐसा समझाते हैं कि हे जीव! तेरा भी ऐसा ही स्वभाव है। मात्र चेतनमय निजस्वभाव का ही स्वामी रहे, ऐसा आत्मा की सम्बन्धशक्ति का कार्य है। सम्बन्धशक्ति अपने भाव के साथ सम्बन्ध रखती है, पर के साथ सम्बन्ध नहीं रखती। यहाँ अपने भाव अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मल ज्ञानमय भाव समझना, विकारी भाव नहीं; क्योंकि ज्ञानमात्रभाव के साथ परिणमते धर्मों का यह वर्णन है। विकारी भाव तो ज्ञानमात्रभाव से भिन्न हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि 'कोना संबंधे वळगणा छे?....' उसका हे जीव! तू शान्तचित्त से विचार तो कर।

- ✦ आत्मा चेतनस्वरूप है, उसे जड़ के साथ सम्बन्ध नहीं है,
- ✦ इसलिए जड़ पदार्थों के साथ उसे एकता का सम्बन्ध नहीं है;
- ✦ देह के साथ सम्बन्ध नहीं; परिवार और धन के साथ सम्बन्ध नहीं;
- ✦ घर-धन्धा दुकान और राजपाट के साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं;
- ✦ जड़कर्मों के साथ भी सम्बन्ध नहीं, राग के साथ भी सम्बन्ध नहीं।

इसलिए हे जीव! इन सबके साथ सम्बन्ध (एकत्वबुद्धि) तोड़कर, तेरे उपयोगस्वरूप आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़... उसे अनुभव में ले। ऐसा अनुभव, वही परम सुख है।

इस चैतन्यवस्तु में अपने गुण-पर्यायरूप निर्मल भावों में ही स्वामित्व है; इसके अतिरिक्त दूसरे में स्वामित्व माने, उसने चैतन्यवस्तु को नहीं जाना है। जिसके बीच में एकता न हो और भिन्नता हो, उनके बीच स्व-स्वामित्व नहीं होता। इस प्रकार अपने में ही स्व-स्वामीसम्बन्ध जानने से पर के साथ का सम्बन्ध टूटता है और अन्तर्मुख श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, उसका नाम धर्म है। उस निर्मलपर्याय के साथ आत्मा को तादात्म्य—एकमेकपने का सम्बन्ध है। आत्मा को जिसके साथ एकता होती है, वही आत्मा का स्व कहलाता है; जिसके साथ एकता न हो, वह स्व अर्थात् कि अपना नहीं

कहलाता। इस प्रकार 'एकत्व-विभक्त' शुद्ध आत्मा आचार्यदेव ने समस्त निजवैभव से इस समयसार में दिखलाया है।

कर्ता-कर्मपना, स्व-स्वामिपना एक ही वस्तु में होता है, भिन्न वस्तु नहीं होता। जड़ का कर्ता जड़, जड़ का कार्य जड़, जड़ का स्वामी जड़, जड़ के साथ जिसे एकता है, वह जड़; चेतन का कर्ता चेतन, चेतन का कार्य चेतन, चेतन का स्वामी चेतन, चेतन के साथ जिसे एकता है, वह चेतन;—इस प्रकार दोनों को अत्यन्त भिन्नता है। आत्मा से पृथक् हो, उसका स्वामी आत्मा नहीं है; आत्मा का जो स्व हो, वह आत्मा से भिन्न नहीं होता, मेरे निर्मल गुण-पर्यायें मुझसे भिन्न नहीं, उसमें तन्मयता है, इसलिए वह मेरा 'स्व' है,—ऐसा धर्मी जानता है। यह बात गाथा २०७-२०८ में सरस रीति से समझायी है। उसमें कहते हैं कि 'जो जिसका स्व-भाव है, वह उसका स्व है और उसका वह स्वामी है'—ऐसा जानना, वह सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि है; ऐसी तत्त्वदृष्टि द्वारा ज्ञानी अपने आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह नियम से जानता है, इसलिए उसे परद्रव्य को 'यह मेरा स्व नहीं, मैं इसका स्वामी नहीं' ऐसा जानता हुआ परिग्रहता नहीं है।

यदि अजीव परद्रव्य को मैं परिग्रहूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा स्व हो, और मैं भी अवश्यमेव अजीव का स्वामी होऊँ। अजीव का स्वामी तो अजीव ही होता है। मैं कहीं अजीव नहीं। मेरा ज्ञायकभाव वही मेरा स्व है और उसका ही मैं स्वामी हूँ,—ऐसा जानता हुआ धर्मी अपने ज्ञातापने में ही रहता है। उस ज्ञातापने में राग का भी स्वामित्व नहीं। अहो! ऐसी अन्तरदशा ज्ञानी की रहती है। अभी तो यहाँ ज्ञानियों की न्यूनता और उल्टा माननेवाले जीवों के ढ़ेर!—उसमें सत्य समझना जीवों को महँगा हो पड़ा है... भगवान का मार्ग महँगा हो गया है.... परन्तु हे जीव! यह तत्त्व समझे बिना तू भगवान का भक्त और ज्ञानी का सच्चा सेवक नहीं हो सकेगा। तेरा सच्चा स्वतत्त्व क्या है, उसे समझ, वही भगवान की और ज्ञानियों की वास्तविक सेवा है, वही उनकी आज्ञा है।

आत्मा आत्मभावों का स्वामी है। आत्मभाव किसे कहा जाता है ? आत्मस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुए ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि शुद्धभाव, वे ही आत्मा के भाव हैं और उनके साथ ही आत्मा को स्व-स्वामीसम्बन्धरूप एकता है। जिससे कर्म बँधें, ऐसे कोई भी रागादिभाव, वे वास्तव में आत्मा के स्व-भाव नहीं हैं, निज भाव नहीं है

और जो आत्मा का स्व नहीं, वह आत्मा का साधन भी नहीं, उसमें आत्मा का कर्तृत्व भी नहीं। इसलिए शुभराग सम्यग्दर्शन का, मुनिपने का और केवलज्ञान का साधन नहीं है; शुद्धोपयोग ही उनका साधन है, शुद्धोपयोग ही आत्मा का स्व है। साधकभाव, वह शुद्धोपयोगरूप है; शुभरागरूप नहीं।

देखो, यह स्व-पर के विभाजनरूप भेदविज्ञान! सम्यग्दृष्टि को अपने स्व-भाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ अंशमात्र अपनेरूप भासित नहीं होता, अनुभव में नहीं आता। अज्ञानी अपनी पर्याय का स्वामित्व दूसरे को (कर्म इत्यादि निमित्त को) देता है; ज्ञानी तो स्वभाव में से निर्मलपर्याय प्रगट करके स्वयं ही उसके स्वामिरूप परिणमता है; इस प्रकार अपने भाव का स्वामित्व अपने आत्मा को ही देता है। पूर्व में नहीं प्रगट हुई ऐसी निर्मलपर्यायें देनेवाला और प्रगट हुई शुद्धपर्याय की रक्षा करनेवाला—ऐसा स्वामी आत्मा स्वयं ही है। ऐसी दिव्यशक्तिवाले अपने आत्मा को जो जानता है, वह स्वयं अपना अचिन्त्य आत्मवैभव प्रगट करके सिद्धपद को प्राप्त करता है। स्वसन्मुख होकर अभेदरूप से आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ा, वहाँ पर के साथ का सम्बन्ध सर्वथा छूटकर परम सिद्धपद प्राप्त होता है, वह जगत में उत्कृष्ट मंगल है। ऐसे मंगलपूर्वक ४७ शक्तियों द्वारा आत्मवैभव का वर्णन पूर्ण होता है, वह जगत के जीवों को आत्मवैभव प्राप्त कराओ।

* * *

४७ शक्ति के प्रवचन की पूर्णता-प्रसंग पर उसके श्रवण का अपना आह्लाद व्यक्त करते हुए, प्रवचनों के 'भावश्रोता', और इस प्रवचनलेखक की 'धर्ममाता' ऐसे पूज्य आत्मज्ञसन्त बहिनश्री चम्पाबेन और बेन शान्ताबेन—इन दोनों के श्रीमुख से भक्तिपूर्वक जय-जयनाद निकले : 'आत्मा के अनन्त गुण के अमृत भरे गहरे रहस्य खोलनेवाले, अमृत बरसानेवाले परमकृपालु गुरुदेव की जय हो।' 'चैतन्यशक्ति का अचिन्त्य स्वरूप प्रकाशित करनेवाले, चैतन्य के स्वयं आराधक और आराधना करानेवाले श्री सद्गुरुदेव की.... जय हो।'

चैतन्य के आराधक सर्व सन्त जयवन्त वर्तें।

लेखक की प्रशस्ति

आत्मवैभव के दाता ऐसे मंगलमूर्ति महा उपकारी, पूज्य श्री कहानगुरुदेव की चरणछाया में मेरा यह पच्चीसवाँ वर्ष चल रहा है.... एक धारा पच्चीस वर्ष तक गुरुदेव के मंगल चरणों में मंगल वाणी का श्रवण करते हुए, तथा उस वाणी द्वारा अनेकविध साहित्य-रचना करते हुए, उसमें भरे हुए शुद्धात्मरुचिपोषक भावों का सतत्‌रूप से घोलन चलता आया है और इससे मेरे जीवन में गुरुदेव का जो महान उपकार है, उसकी गम्भीरता वचनों में आ सके, ऐसा नहीं है। उसमें भी अन्तिम वर्ष में गुरुदेव की प्रसन्नकारी प्रेरणा झेलकर यह 'आत्मवैभव' की रचना करते समय उनके गहरे आत्मस्पर्शी भावों ने मेरे आत्मा में जो भावनायें जागृत की हैं, उस भावना के जोर से यह आत्मा साक्षी देता है कि गुरुदेव की प्रसन्नता के प्रताप से अल्पकाल में ही आराधना प्राप्त करके यह आत्मा अपना आत्मवैभव प्राप्त करेगा। गुरुदेव के मंगल-आशीर्वाद का ही यह महान फल है। इसलिए भावी तीर्थंकर ऐसे श्री कहानगुरुदेव को परम भक्ति से और आत्मिक आह्लाद से नमस्कार करता हूँ।

इस आत्मवैभव का आलेखन परम प्रिय गिरनार तीर्थ के सहस्राम्रवन में प्रभु श्री नेमिनाथ जिनेन्द्रदेव के चरणसमीप में वीर संवत् २४९२ के ज्येष्ठ कृष्ण दूज को शुरु किया था; वह आज (संवत् २४९४ के अगहन कृष्ण तीज को) तीर्थधाम सोनगढ़ के जिनालय में विराजमान प्रभुश्री नेमिनाथ जिनेन्द्रदेव के चरणस्पर्शपूर्वक आत्मिक उल्लासभाव से समाप्त होता है.... वह मंगलरूप हो.... और स्व-पर को आनन्दमय 'आत्मवैभव' की प्राप्ति कराओ।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

नमूं सिद्धपरमात्मा को, नमूं तीर्थंकरदेव,
नमूं सन्तमुनिराज को, सदा करूँ तुझ सेव।
कुन्दकुन्दभगवन्त अरु अमृतचन्द्र मुनिराज,
आत्मवैभवदातार है, बारम्बार प्रणमुं आज।
जिनवाणी मुझ मात है रत्नत्रयदातार,
रत्नत्रय-संतसह नमूँ, करना भव से पार।
श्री गिरनारतीरथ नमूँ, जग में मंगलकार।
नमूँ देव चैतन्य को, वरते जय जयकार॥

ॐ